हिन्दी

सर्वदर्शन संग्रह

प्रो० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'

चौखम्बा विद्याभवन · वाराणसी-१

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
११३

श्रीमन्माधवाचार्यकृतः

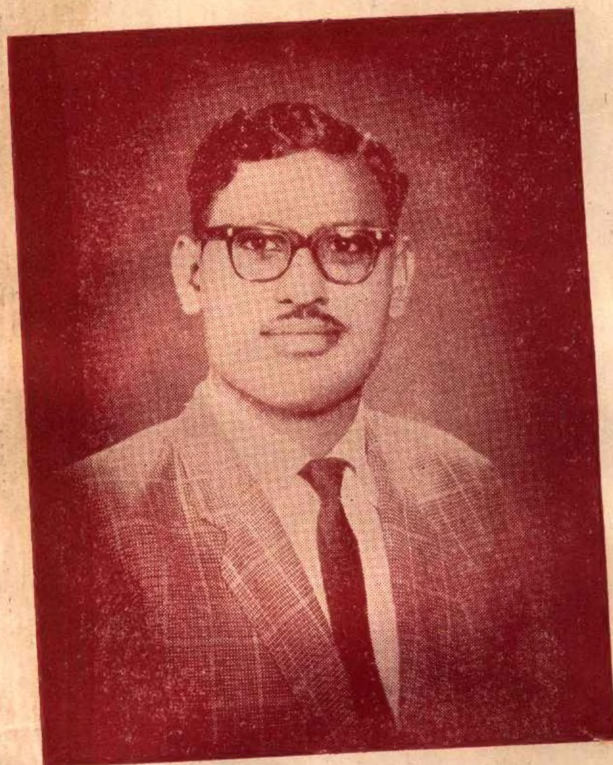
सर्वदर्शनसंग्रहः

सपरिशिष्ट 'प्रकाश' हिन्दीभाष्योपेतः

भाष्यकार :—
प्रो० उमाशंकरशर्मा 'ऋषि'
एम० ए०, साहित्यरत्न
स्नातकोत्तरसंस्कृतविभाग, पटना-विश्वविद्यालय



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१



श्री उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'

समर्पण

पूज्य पितामह

स्वर्गीय पण्डित सर्वदेवप्रसादशर्मा

(सं० १६३३–२००६ वि०)

को

जिनके श्रीचरणों में मेरा शैशव-काल

धर्म, संस्कृति और संस्कृत की

त्रिधारा के प्रवाह में

बहता रहा।

FOREWORD

Dr. Siddheswar Bhattacharya

M. A., Ph. D. (Lond.), D. Litt. (Lille),

Bar-at-Law of Gray's Inn,

Kāvyatīrtha, Nyāya-vaiśeṣikācārya

(Gold-medallist)

Mayurbhanj Professor of Sanskrit

&

Head of the Deptt. of Sanskrit and Pali,

Banaras Hindu University.

The Sarva-darśana-saṁgraha by the great Mādhavāchārya is a unique composition in the realm of Indian philosophical thought. With singular stroke of genius, Mādhavāchārya ransacked all possible sources ranging from the Vedas down to his contemporaries to make his work as representative as possible. It, therefore, embodies what India, in its unabated philosophical speculations for more than 2000 years, has produced. Mādhavāchārya brings into prominence the salient features of as many as 16 streams of philosophical thought. In a language which is both precise and forceful he reorganises the materials and marshalls them into a logical hierarchy to lead ultimately to absolute monism.

To introduce such a masterly work to the scholarly world requires no apology. Unfortunately, it received scanty attention from posterity in the sense that not a single commentary

in Sanskrit was written upon it so far, while the commentators were lavish upon less important compositions. Thanks to the pioneering attempt of Mm. Vāsudeva Shastri Abhyankar, the work has since been endowed with a remarkable commentary besides a very useful introduction and appendixes. Nevertheless, it has remained so far a closed book to the general reader having little or no access to Sanskrit. A Hindi translation of the work published from Bombay was of no serious consequence in its propagation.

Under the circumstances, the edition by Shri Uma Shankar Sharma, Lecturer, Post-Graduate Department of Sanskrit, Patna University, deserves congratulations. Shri Sharma has based his Hindi translation upon the commentary of Mm. Vāsudeva Shasti. He has given a couple of introductions, one in English and the other in Hindi, besides giving as many as five appendixes useful for both the specialist and the common reader. Shri Sharma's occasional notes and the lucidity with which he has given a translation will be a fillip to the philosophical literature in Hindi. Shri Sharma has spent more than 4 years over his venture to make it as useful as possible and he has brought a modern mind to bear upon its execution.

I have no doubt that a work like this will do credit both to Shri Sharma and also to the Chowkhamba Sanskrit Series.

Varanasi,
Dated, the 19th June, 1964.

S. Bhattacharya

काशीस्थाम्नायपीठाधीश्वर जगद्गुरुश्रीशंकराचार्य श्री १०८ स्वामी महेश्वरानन्द सरस्वती (कवितार्किकचक्रवर्ती पं० महादेवशास्त्री)

जी के

आशीर्वचन

सर्वदर्शनसंग्रह का प्रस्तुत हिन्दी-रूपान्तर मैंने ध्यानपूर्वक प्रायः आद्योपान्त देखा है। आज जब कि हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर समासीन है, तब यह बात आवश्यक और सामयिक है कि हिन्दी का साहित्य भी समृद्ध किया जाय। इसकी समृद्धि के लिए कतिपय विद्वान् मौलिक कृतियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं और कतिपय उच्चतर भाषाओं में वाग्बद्ध, परिष्कृत एवम् उच्च साहित्य का रूपान्तर प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ दूसरे ढंग का एक सामयिक प्रयास है।

मौलिक कृतियों में कृतिकार अपनी प्रतिभा और मेधा का मुक्त उल्लास प्रदर्शित करता है, पर रूपान्तरात्मक कृतियों में विद्वान् लेखक दूसरों की प्रतिभा और मेधा का साक्षात्कार करने की क्षमता रखकर ही अपना उत्तरदायित्व निभा सकता है। निष्कर्ष यह हुआ कि मौलिक कृतिकार की भाँति वह उतना मुक्त नहीं रहता। प्रस्तुत रूपान्तरण एक दार्शनिक कृति का रूपान्तरण है, जिसमें विद्वान् रूपान्तरकार ने यह शैली अपनाई है कि पहले मूल-पाठ का तटस्थ ढंग से रूपान्तर प्रस्तुत कर दिया जाय और उस संदर्भ में यदि कतिपय शब्द अतिरिक्त रखा जाना आवश्यक है, तो उसे कोष्ठकान्तर्गत रख दिया जाय। आज ही क्या, सदा से यह ढंग समुचित और सर्वोत्तम समझा जाता है। यही उचित है कि पहले मूल-पाठ का तटस्थ रूपान्तर रख दिया जाय जिससे हिन्दी के माध्यम से मूल को समझने वाला बुद्धिमान् पाठक सीधे मूल रूप को जान ले। इस स्तर पर पल्लवन करने में यह भय रहता है कि कहीं रूपान्तरकार मूल का अनुवाद अपनी दृष्टि से अन्यथा न प्रस्तुत कर दे—और यदि ऐसा हुआ तो वह लेखक और पाठक के बीच के माध्यस्थ्य का उत्तरदायित्व ठीक से निबाह न

सकेगा। मुझे हर्ष है कि रूपान्तरकार ने प्रथम स्तर पर इस वैज्ञानिक अथवा तटस्थ पद्धति का ग्रहण करके इस उत्तरदायित्व का पूरा निर्वाह करना चाहा है।

सर्वदर्शनसंग्रह एक दार्शनिक कृति है, इसलिए रूपान्तरकार–जैसे मध्यस्थ—जो मूल-लेखक और पाठक के बीच है—का कार्य केवल तटस्थतापूर्वक रूपान्तर प्रस्तुत कर देना ही पर्याप्त नहीं है। भारतीय दार्शनिक अपने विचारों को सहस्राब्द से चली आती हुई व्यवस्थित एवं पारिभाषिक पदावलियों में एक विशेष शैली से प्रस्तुत करते हैं, अतः उनके समस्त विचारों को आधुनिक पाठक के सामने हिन्दी-भाषा में रखते समय अनेक प्रकार की सजगता आवश्यक है। पहली तो यह कि भाषा हिन्दी की प्रकृति की हो, दूसरी पुराने आचार्यों की बातों को जहाँ तक हो सके आधुनिक पाठक के अनुभव में उतार देने का प्रयास हो, तीसरी उसकी पारिभाषिकता का दुर्ग तोड़कर, उसमें प्रयुक्त संदर्भ-शब्दों की व्याख्या करते हुए, शास्त्रीय संकेतों का विस्तार देकर बात को सुलझा रूप दिये जाने का प्रयत्न हो। लेखक ने रूपान्तरण में यह प्रयत्न किया है कि रूपान्तर की भाषा की प्रकृति अधिक से अधिक हिन्दी की हो। शेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही तटस्थ रूपान्तर के अनन्तर 'विशेष'–शीर्षक से शास्त्रीय ग्रन्थियों को भी स्पष्ट करने का प्रयास हुआ है। यही नहीं, रूपान्तर के मध्य में भी कहीं-कहीं लम्बे कोष्ठकों के अन्तर्गत आवश्यक स्पष्टीकरण हुआ है। ऐसे प्रयासों में कहीं-कहीं रूपान्तरकार की अनवधानता अवश्य दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ पृष्ठ सं० ११ पर मूल का रूपान्तर प्रस्तुत करते हुए यह कहा गया है—"व्याप्ति का अर्थ है दोनों प्रकार की (शंकित और निश्चित) उपाधियों से रहित [पक्ष* और लिङ्ग का] सम्बन्ध।" यहाँ व्याप्ति को कोष्ठकान्तर्गत पक्ष और लिङ्ग का सम्बन्ध कहना सर्वथा विचारणीय है। स्वयं ही रूपान्तरकार ने अनेक स्थलों पर व्याप्य एवं व्यापक के सम्बन्ध को ही परम्परानुसार शास्त्रीय ढंग से व्याप्ति बतलाया है।

---

* 'साध्य' के स्थान पर 'पक्ष' हो गया है। दे० शुद्धिपत्र।

कार्य बहुत ही व्यापक है। विभिन्न प्रकार की दार्शनिक धारायें हैं। सबों का अधिकारपूर्वक रूपान्तरण और स्पष्टीकरण साधारण श्रम का कार्य नहीं ऐसे बीहड़ क्षेत्र में संचरण करता हुआ बौद्धिक यात्री कभी भटक जाय तो यह सहज संभव है। लेकिन इस प्रकार की भी स्थितियाँ क्वाचित्क ही हैं।

आधुनिक ढंग के पाठकों को ध्यान में अधिक रखा गया है जो सामयिक और समुचित भी है। इसीलिए संस्कृत की पारिभाषिक पदावलियों के समानान्तर अँग्रेजी में प्रचलित प्रयोग भी रख दिये गये हैं। उनकी प्रामाणिकता के लिए रूपान्तरकार स्वयम् उत्तरदायी हैं। आधुनिक पाठकों की रुचि और आधुनिक शैली पर भी ध्यान होने के कारण बीच-बीच में किसी-किसी दर्शन की संक्षिप्त ऐतिहासिक रूपरेखा भी प्रस्तुत कर दी गई है। परन्तु ऐसे प्रसंगों में भी कहीं-कहीं अनवधानता है। उदाहरणार्थ पृ० सं० ३२१ पर शैवागमों के बीच अहिर्बुध्न्य-संहिता को लिया गया है—यह कहाँ तक ठीक है? अहिर्बुध्न्य-संहिता पाञ्चरात्रागम के अन्तर्गत है।

अन्तिम बात जो पुस्तक की उपादेयता के संबन्ध में कही जाने की है वह यह कि ग्रन्थ के अन्त में दार्शनिक पुस्तकों की एक बृहत् सूची संलग्न की गई है। आधुनिक शोध-छात्रों की दृष्टि से ऐसी सूचियों का बड़ा महत्त्व होता है। सूची एक सामान्य रूप में प्रस्तुत कर दी गई हो, ऐसी बात नहीं है। उसमें पुस्तक और उसके रचयिता का नाम तो है ही, महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय बात यह है कि उसमें जो पुस्तक जिस दर्शन की है, उस दर्शन का भी सामने उल्लेख है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात है कि आज का शोध-छात्र मूल ग्रन्थकार का प्रामाणिक काल-ज्ञान चाहता है। रूपान्तरकार ने प्रत्येक कृति के सामने उस कृति का रचना-काल भी दिया है। भारतीय मनीषियों की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति तथा अपना परिचय देने की ओर से निरन्तर तटस्थता दिखाने का भाव उनके इतिवृत्त के ज्ञान में सदा बाधक रहा है। आधुनिक गवेषकों ने नये सिरे से इस पक्ष पर प्रकाश डाला है। परन्तु उन सबों में सभी ग्रन्थकारों को लेकर सर्वत्र मतैक्य नहीं है। रूपान्तरकार ने यदि यह बात ध्यान में रखकर किसी प्रामाणिक इतिहासकार की सहायता कालनिर्धारण में ली है तो तदर्थ वे प्रशंसा के पात्र हैं।

इस कृति में मेरे समक्ष रूपान्तरकार का अपना कोई निजी विचार या मौलिक स्थापना किसी के पक्ष-विपक्ष में नहीं है कि उसके विषय में भी मैं अपनी सम्मति प्रस्तुत करूँ। अतः रूपान्तरण के विषय में जितने पक्षों से उसका मूल्याङ्कन किया जा सकता है, उतना संक्षेप में ऊपर उपस्थापित किया गया है। निश्चय ही इस महान् और सामयिक प्रयास के लिए श्री उमाशंकरशर्मा 'ऋषि' मेरे साधुवाद के पात्र हैं।

धर्मसंघ, काशी,
ज्ये० शु० ४, २०२१
(१३-६-१९६४)।

—महेश्वरानन्द सरस्वती

INTRODUCTION*

[1. Special features of the **Sarvadarśanasaṃgraha**—*discussion—difficult style—summary in verses—impartial treatment—a clear picture of philosophical literature—ample quotations—Sources traced out. 2. Order of the Systems*—**nastika** *and* **āstika**—*rationalists and those dwelling upon* **śruti**. *3. A Synopsis of all the systems. 4. The present edition.]*

I

The *Sarvadarśanasaṃgraha* of Mādhavācārya is the first attempt of its kind ever made in Sanskrit to expose in a lucid but clear, and scholarly but unostentatious manner, all the then extant philosophical systems in India. Haribhadrasūri's *Ṣaḍ-darśana-samuccaya* (9th cent.) had already inaugurated the ceremony of collecting philosophical principles scattered over the different systems of thought—both Vedic (āstika) and non-Vedic (nāstika). It was the liberal attitude of the Jaina doctrine that compelled Haribhadra to write such a review of other systems of philosophy. Still that work could not be welcomed as authority even by the primary works—too small as the treatise was. It contained only a few verses devoted to each system avoiding even the slightest discussion on any debatable issue.

---

* To a considerable number of readers it may appear surprisingly inconsistent that to a Hindi exposition of a Sanskrit philosophical work is prefixed an English Introduction. But the reason is not far off to seek. Some lovers of the Sanskrit language and literature are among the non-Hindi speaking people, and the present work carrying on such a big name and mission attempts at a universal appeal for its perusal far and wide. The great name of the iilustrious Mādhava is esteemed so highly in the realm of Indian philosophical writings that any devotee of the subject becomes eager to grasp any new venture made in this field. It is only to loosen their language barrier—though only to some extent—that this attempt is made herewith.

In absence of any material meant to presuppose the existence of such other works before Mādhava it is rather sufficient to say that his work occupied a very significant place in the philosophical literature. The time had come when such works could be written. The philosophical literature by that time had grown so enormously that for an ordinary man it became quite impossible to grasp even a single system from the beginning till end. Of the three stages in the history of Indian philosophy—the originating stage, the commentary stage and the super-commentary stage, forming different sects or schools[1]—the last was also in a decadent state. The fourteenth century India was witnessing from a very long time an all-round decadence in intellectual sphere. The real philosophical speculation had ceased long before and what remained was that the writers, in their whim for introducing the Naiyāyika style of exposition, had started pedantic dissertations and glosses too brief to be easily intelligible. Consequently, they required other commentaries in the name of which even more difficult style was used with less intelligible phraseology. So was the state of affairs in the field of literature, philosophy and even natural sciences.

The *Sarvadarśanasaṃgraha* contains all that a man is required to know as to the fundamental principles of different systems and a short glimpse of traditional discussion making use of all the logical instruments such as inferential argument, fallacies, *tarka*, *vāda* etc., is also found in it.

It appears to the general reader to be a bit difficult because Mādhava has tried to condense as much material within a short span as possible. Unlike modern works on Indian

1. A start of a system was made in the originating stage, e. g., the Brahma Sūtra, the Nyāya Sūtra, the Sāṃkhya Kārikā, the Pāśupata Sūtra and others. The commentaries to these works were written in the next stage, e. g., the Śāṃkarabhāṣya, the Vātsyāyanabhāṣya etc. In the last stage either more commentaries making a different school were written or commentaries over the previous ones were written. Here a number of schools were formed in a single system. This is what is meant by the three stages.

philosophy in general, this work devotes more to the discussion side than to the description side. This becomes quite obvious especially in dealing with the principles of some more advanced systems as that of the Buddha, Rāmānuja, Gautama or Śaṃkara. In these cases the general reader is more or less perplexed and confused, and very soon likes to get out of the discussions. But the conclusions are also too difficult to be traced out, as the author generally mentions them at the end of the discussion in a sentence closely connected with it. And that too is hardly a simple sentence. There are only few systems as Raseśvara or Mercurial system that are free from such allegation and devote particularly to the description of the categories and other allied things. But whenever the smallest room for debate arises, the author cannot help keeping himself aside and plunges deep into the discussion as if he were quite prepared and longing for it.

Secondly, while refuting some theory either on behalf of the disputant or of the *Siddhāntin* he inexceptionally offers alternatives—varying from two to five in number,[2] and then shows the absurdity of these in such a telegraphic language that unless the reader is well-versed in the technology of Nyāya he is sure to miss the purport of the author. In this way the work becomes more difficult than the original sources from where the author takes the matter freely. It is to be noted that some systems presented herewith had already reached perfection by his time but that perfection was of a decentralised type. It was our author who collected all the different problems with their solutions and arranged them so artistically that nowhere does his elucidation appear to be far from being original. In case of the systems lacking in such a perfection he himself raised the problems and then solved them with his own wonderful erudition. Regarding style he is always thus consistent.

One of the chief difficulties in understanding the post-commentary philosophical literature in general and the *Sarva-darśanasaṃgraha* in particular is this, that though the two

---

2. See, for example, p. 129—Five alternatives of *Sāvayavatva*.

sides of lengthy opposition and reply are quite clear but sentences used on the either side are not entirely of on side. Suppose the *Pūrvapakṣa* is being established in about forty lines, but within this span the questions from the *uttarpakṣa* are also raised which are known as *avāntarpakṣa* and these, though apparently starting with the catch-words '*nanu*' '*na ca*' and others, are generally confused at least in the question as to where they end ; for the length of the context is so much disappointing that a modern mind loses its patience. Traditionally speaking every line of either the opposition or the reply presupposes some problem, but for which the line would not have been written. This same problem is sometimes implied and sometimes explicitly stated. In the latter case it is called *avataraṇa* or *avāntarapakṣa*. Thus its use is well recognised. The present work witnesses the clearest example of the same. While discussing the problem of *avidyā* in the Śāṃkara-darśana, for example, the arguments of the oppositionst are unusually lengthy which bear, to add to our difficulty, various answers given by the Śaṃkarites at regular intervals. And still it is the *Pūrvapakṣa*. Again, the side of the *Uttarapakṣa* which aims at establishing all mundane existence to be caused by *avidyā* raises various queries, perhaps reminding us of their existence in the opposition previously discussed, and then gives their solution. Various new queries are also answered. In spite of its merits the modern student gets confused in this analytic-synthetic method used in the later philosophical works.[3]

Prof. Weber's comparision of Bāṇa's style with the Indian jungle is true also to the present work. The reader has to make his own way himself. He has to keep in his mind the system he is studying and the context in which the arguments are marshalled. After that the catch-words are to be understood with a very cool mind, nay, the weapons in the form of all the Naiyāyika technical terms are to be carried without which his further movement may be checked by the unprecedented enemies, namely, the unintelligible terms of logic.

3. Cf. Rāmānuja's Mahāpūrvapakṣa and uttarapakṣa in the Śrībhāṣya (I. 1. 1.).

But this is not the case everywhere. Generally a monotonous discussion is followed by its summary in śloka verses which are much helpful in understanding the previous discussion itself. Almost all the systems depicted by Mādhava in the present work follow this principle. But there are some less known systems which have little to do with any such presentation. For example, the Raseśvara Darśana is replete with quotations so much so that the author seems to be quite abstaining himself from any discussion. Similar is the case with the first system—the philosophy of the Cārvākas where the author has introduced only one point to be discussed, i. e., the refutation of Perception. This point has made the Cārvāka system a thorough-going tārkika (logical) system. In other respects the system deals with the ethics, religion, ontology and axiology of the materialists.

After a closer examination of the systems dealt with by Mādhava we come to the conclusion that his main aim is to establish the different theories held by different philosophers and it is done at the cost of other philosophical theories held by others. We notice at the beginning of every system that the author finds fault with the chief currents of the system recently discussed. For example, the Buddhists are shown refuting the epistemological theory of the Cārvākas. The Jainas, on the other hand, refute the theory of momentariness championed by the Buddhists. The Jaina doctrine of Anekāntavāda is refuted by the Rāmānujas and so on. It is to be noted that he advances towards betterment in course of his further move. The beginning is with the layman's philosophy and the conclusion is reached in the Śāṃkara philosophy which is rightly called "the crest-jewel of all the systems" by the author himself. It is generally quoted that Indian philosophy is the best critic of its own. We observe this same proverb true to every inch in the present work. It should be borne in mind that a system of philosophy in the *Sarvadarśanasaṃgraha* criticises not only the previous system but also a system which has not yet been attempted. Thus for example the Rāmānujas criticise the Śaṃkarite theory of "universal illusion" or *avidyā* because they have to stand firm on the ground of its refutation.

Sometimes a philosophical question in its entirety is discussed at one place with reference to all the systems dealing with the same. But the place where it occurs is not to be forgotten. Thus when in the Nyāya system the question of *mukti* (emancipation) is discussed it becomes a very good discourse.

Let us now consider the chief merits of the present work vis-a-vis the qualities of the author. In this connection we have to consider the time element as well, for, Mādhava flourished in such an age that was not convenient to write such a work as is possible in the modern age when various indexes and works, dictionaries and libraries are at our disposal. Though the author was brought up in a royal family where various kinds of help might have been available but the quality of being such a writer of erudition assimilating his learning cannot be nurtured in an ordinary man. Thus the first quality to be witnessed in the present writer is his assimilating capacity.

It has been said above that philosophical literature had taken a large shape before the advent of Mādhava who, on his part, did lay no stone unturned in utilising all the material advanced so far. Various scholars speculated in their own way over the different principles and categories of philosophy. It was possible that a blind copy of their thoughts would have resulted into a complete nonsense. It may be seen in modern works of philosophy—especially the histories written by some inferior writers. But Mādhava has shown his intelligence and originality of thoughts throughout this work. His presentation is very synthetic and integrated as is evident from a close perusal of some of the systems, e. g., the Buddhist system and the Śāṃkara system. It is mainly due to his originality of presentation that his style is throughout the work very constant. Be it the Cārvāka system or the Śāṃkara system, or even the Nyāya system, his style is same all over. His originality can be very aptly estimated by an observation of any two works of a system and then studying that system in the present work. How artistically our author has put the same in an integrated way ? In other words, the whole *Sarvadarśanasaṃ-*

graha appears to be dealing with one system as it were so far the style is concerned.

But we should not forget that Mādhava does not intend to impose any idea of his own upon his readers. His main thesis is to explain the system as lucidly and as scholarly as possible—the collection as his motive was. Thus while writing on a system the author becomes a follower of that very system and does not hesitate the least in criticising the others. But in the next system be vehemently criticises the same theory which he established with so much effort. In this regard he may be compared with the celebrated commentator of all the six systems of Indian philosophy, Vācaspati Miśra by name.

The second quality of Mādhava is that he keeps a very keen sense of humour specially when the situation grows tenser. Thus the various nyāyas (popular sayings) and use of alliteration disturbs the gravity of discussion. But such situations are very few and far between. As a general rule the beginning of a system is very interesting.

Quotations in abundance are marked as the third great quality of the work. Sometimes new informations are given by the quotations but very often they are mere reproductions of the things discussed in prose. Here we may infer the motive of Mādhava which was to present a sample of the very important works of the system. It may catch our attention that prose quotations are rare and verses are quoted to a great extent. Here also the Indian tendency to retain everything in the mind must be the reason.

Next, we may consider the sources of Mādhavācārya's *Sarvadarśanasaṃgraha.* Like a good research worker the author consults the oldest available and authentic Sanskrit work for quotations. That is why he quotes from all the sūtra works except that of Kapila. We know that different systems were founded by Śaṃkara, Rāmānuja and Madhva on a single sūtra work, the *Brahmasūtra* of Bādarāyaṇa. Therefore while explaining the first four sūtras (Catuḥsūtrī) of Bādarāyaṇa's work he clarifies the stands held by those three Ācāryas as well in their respective systems. But we must not think on that account

that he was a lover of antiquity alone and not up-to-date like a modern Sanskrit Pandit hovering over the ancient sages alone. On the other hand he made his works up-to-date by quoting even his contemporaries as Vedāntadeśika, Jayatīrtha and others. Though the *Sarvadarśanasaṃgraha* is not a history of philosophy but so far the principles are concerned it accomodates all the thoughts and speculations innovated by scholars upto his age in almost all the systems. But how far these have been represented truthfully is a separate question to be discussed. Thus Mādhava's liberal mind gives us an idea of the whole philosophical literature of his time. For a clear conception of the works and authors quoted by Mādhava an appendix is provided herewith.

II

Before we summarise the contents of the *Sarvadarśanasaṃgraha* we must make at least a passing reference to the systems dealt with by Mādhava. There are altogether sixteen systems of philosophy collected by him in the present work. These are in their serial order as follows :—1. The Cārvāka System, 2. The Buddhist System, 3. The Jaina System, 4. The Rāmānuja System of Qualified Monism, 5. The Mādhva System of Dualism, 6. The Pāśupata System of Nakulīśa, 7. The Śaiva System, 8. The Pratyabhijñā System or Kashmir Śaivism, 9. The Mercurial or Raseśvara System, 10. The Vaiśeṣika System of Kaṇāda, 11. The Nyāya System of Gautama, 12. The Mīmāṃsā System of Jaimini, 13. The Grammatical System of Pāṇini, 14. The Sāṃkhya System, 15. The Yoga System of Patañjali, and lastly, 16. The Śāṃkara System of Absolute Monism.

There is some definite principle upon which the order of these systems is based. As a general rule the less acceptable objects are put in the beginning and the most desirable ones at the end. Hence the nāstika (heterodox or non-Vedic) systems are treated at the outset and then the turn of āstika system comes. The former are of two kinds, *viz.*, those based on perception or holding gross ideas and those based on reasoning. The layman's view is represented by the Cārvākas who

dwell upon the most ordinary and external aspect of the thing. Though they do not possess any philosophy as such to be recorded but their outlook towards life, the world and such objects as soul, God and liberation is noticeable. In doing so Mādhava has recorded the other extreme of Indian philosophy. The nāstika systems based on reasoning are either the Buddhists holding all existence to be momentary or the Jainas propounding it to be conditional. The Buddhists possess a comparatively gross view while maintaining *ākāśa* (the sky) to be a kind of non-existence whereas the Jainas take it to be a positive category. Thus their order of presentation is beyond doubt.

Of the āstika systems the Rāmānuja philosophy of Qualified Monism (Viśiṣṭādvaita) belongs to tārkika class because it is based on inference supported by argument rather than on Scripture (Śruti). The same is the case with the Mādhva system (called Pūrṇaprajña in the present work). But their difference is that while Madhva directly insists on the theory of difference (*bheda*) maintaining Dualism, Rāmānuja, though accepting difference at least in treatment, does not stick to it and explains it in terms of qualification of the Supreme Self or Brahman. This tendency of hiding himself is reproachable and that is why he is placed before Madhva. These two Vaiṣṇava systems, they say, are hidden or indirect rationalists (pracchanna-tārkika).

There are various systems based directly on reasoning which get their treatment next. Their belief in the Vedas is also of varying nature. The Sāṃkhya and Yoga systems believe very little, while the Nyāya-Vaiśeṣikas believe only less. The least belief in the Vedas is exhibited by the Māheśvaras who, therefore, get priority over the others.

Of these Māheśvaras (four in number) the Pāśupatas holding God not to be assisted by the human actions in exercising his powers, are treated first because they reproachfully refute the law of Karman. The Śaivas maintain God to require the actions in order to check the allegations of injustice, unkindness etc. attached to Him. The Pratyabhijñā system accepts the unity of soul and God which is accordingly far

superior to the two mentioned above. But the Raseśvara system which has a special knack for emancipation in this very life (*Jīvanmukti*) by means of medicinal application is far fairer than these.

Now coming to the other *tārkika* systems we notice that the Nyāya-Vaiśeṣikas holding Production of a thing (ārambhavāda or asatkāryavāda) are inferior to the Sāṃkhya-Yoga systems according to which only inference in applied in proving the ultimate cause of the universe. The former take the assistance of *tarka* or argument as well in explaining the ultimate cause which, according to them, is none else than the atoms being congregated together. The Vaiśeṣikas lose superiority over the Naiyāyikas inasmuch as the former do not accept *śruti* or scripture as a separate source of valid knowledge which the latter do.

Other *tārkika* systems, the Mīmāṃsaka, the Pāṇinian, the Sāṃkhya and the Pātañjala, are treated next in this order. The first two of these, though Vedic, believe in Śabda (the eternal word) to be the final cause of the Universe and do not show as much subtlety as the Sāṃkhya system which steps further, i. e., to Prakṛti (the origin of all mundane existence). But they are better placed than the Naiyāyikas because while the latter only proceed upo *ākāśa* (the sky), the former have reached one step further than that, i. e., the attribute of the sky—the eternal word. The Mīmāṃsā system, also called the Vākyaśāstra or philosophy of the sentence as contrasted with the Pāṇinian system or Śabdaśāstra (philosophy of the word), is based on grammar for its treatment of the Vedic sentences (injunctions) which are composed of words and these are further divided into roots and suffixes by the grammarians. It appears[4] that the grammarians postulate the theory of *vivartavāda* in a sense that the universal existence is only an illusory manifestation of the eternal *Śabda* of the form of Brahman. Thus the Mīmāṃsā system being in this respect inferior to that of Pāṇini gets priority in treatment.

4. Some writers criticise the view that grammarians accept *vivarta*. Cf. Vyākaraṇa-darśana-bhūmikā (R. Pandeya).

Of the Sāṃkhya and the Pātañjala (Yoga) systems the former does not believe in God while the latter do. This point is sufficient to determine their mutual position in this work.

As to the problem of the Śāṃkara system there are various opinions. It is a fact that mss. differ in this respect. Some witness the finishing touch of the *Sarvadarśanasaṃgraha* at the end of the Pātañjala system in the following lines :—"After this the Śāṃkara system which is the crest-jewel of all the systems and is recorded elsewhere is left out." Mm. V. S. Abhyankar has specified that Mādhava might have finished the book there because the Śāṃkara system was too famous to be reproduced. But later some contemporaries of his own might have approached him and requested to add to the work the Advaita Vedānta Philosophy of Śaṃkarācārya in all its developed features. Accordingly this system was added later.

There are still some scholars who dispute over the question of authorship and even anthenticity of this system as treated in the *Sarvadarśanasaṃgraha* but no convincing argument is advanced so for. The style of language and the method of treatment are the same in the Śāṃkara system as in others. Therefore there is nothing in the Śāṃkara-darśana which may go against its validity. It was not proper for an author like Mādhavācārya to omit such a reputed system in a work like this.

The author is believed to have attempted a summary as well as some discusion of all the then existing systems of philosophy. But it is a pity that he has discarded the claim of the Śākta Philosophy altogether and some of the divisions of the Vaiṣṇava and the Śaiva sects. In the latter case he cannot be blamed much, for, it was for the first time that Śaivism and Vaiṣṇavism were taken as representing separate systems of philosophy and it is no wonder that at least four Śaiva and two Vaiṣṇava sects are described in this work—it matters very little whether all sections are represented or not. As for the Śākta Philosophy Mādhava offers some vague idea which might be an outcome of some second-hand information or rather some sense of disregard for the Śāktas having a distinct philosophical system of their own.

III

We now propose to analyse the contents of each of these systems in brief. It should be borne in mind that all the systems do not equally possess the well-known three philosophical aspects—Epistemology, Ontology and Ethics. Some lay mach stress upon the one or the other. The Nyāya System, especially in its later development, lays much emphasis on the epistemological aspect while in its *samānatantra*, the Vaiśeṣika System a lion's share is enjoyed by Ontology—the science of existence. The Yoga philosophy dwells more upon the practical and psychological side while its partner is through and through theoretical.

1. **The Cārvāka System** :—After discussing the very name 'Cārvāka' (Cāru = pleasant, Vāk = Speech) and 'Lokāyatika' (a universal acceptance), the author discusses the metaphysics of the Cārvākas that there are four elements, consciousness being an outcome of these when put together. There is only pleasure, though replete with misery, to be the highest good. The Vedas and sacrifices enjoined there are deceptive—only framed by the frauds for their livelihood. God, Liberation and Soul are but the objects of this very life. The Cārvāka views are summed up two times but having different things to state. The most important discussion which is very possibly the original speculation of Mādhava is on the question of inference to be refuted as a source of Valid knowledge. It is scholarly disputed that the basis of inference, the Major Premise or Vyāpti cannot be established by any known source of valid knowledge, and as a consequence, we must accept perception alone. It is noticeable that it is the present work alone where such a long and clear exposition of the materialist's theory is found in the whole history of Sanskrit literature. There are references to the Cārvākas in other systems as well, but they are all in the form of quotations cited on behalf of the oppositionists repudiating a particular tenet of a system. A complete account of the Cārvākas as a separate system can be found only in the *Sarvadarśanasaṃgraha* and a few verses in the *Ṣaḍ-darśana-samuccaya* as well.

2. **The Buddhist System** :—That Perception is the only source of knowledge is severely criticised at the outset, and the law of identity along with the law of causation are offered as the means of establishing *Vyāpti* or the universal proposition. The causal relation is established not by the logician's method of agreement (anvaya) and difference (vyatireka) but in their own way called *Pañcakāraṇī* which, though a distorted form of the logician's method, requires five stages for its functioning. A discussion on the theory of momentariness follows next and in this connection all the arguments given in support of non-momentary existence are properly refuted. The portion has become a bit difficult for an ordinary student inasmuch as various technical words as *arthakriyā*, *atiśaya*, *krama* etc. are used. After refuting generality or *Sāmānya*, a brief description of all the existing four schools of Buddhist philosophy is given. Of these *Śūnyavāda* or nihilism turns all existence, internal as well external, to be above any expression. Yogācāra or *Vijñānavāda* takes it to be explicable but in terms of ideas (Vijñāna). Accordingly, the self-luminous character of intellect is established after criticising external existence as a reality. The *Sautrāntika* view holds the external things as inferable as contrasted with the *Vaibhāṣikas* who find these to be perceptible. It is in this connection that *ālaya-vijñāna* and *pravṛtti-vijñāna* are explained along with the five well-known *skandhas* which are the modifications of *citta* or the mind. The four golden truths (ārya-satya), viz., suffering, its cause, its cessation and the way to its cessation, are also reviewed. With the exposition of the *Vaibhāṣīka* school and a summary of Buddhism as such the chapter comes to a close.

3. **The Ārhata System** :—At the very outset the Jainas criticise in various ways the doctrine of momentariness held by the Buddhists. The Arhat or omniscient (*lit.* adorable) is established next after a long debate with the Mīmāṃsakas and the logicians, the latter's conception of God as the creator of the universe being criticised. An interval is given for discussing the ethical implications of the Jaina metaphysics, and as a result, *tri-ratnas* or three jewel-like ways of attaining liberation are given. These are proper belief, proper knowledge

and proper conduct. The last one is the same as *yama* of the Yoga System. The Jaina metaphysics is treated next in which the number of Ultimate Reality is given as two, five and seven according to the various points of view. The usual discussion on Bondage and Liberation is also done at length. Lastly, the Jaina logic of expressing anything as conditional existence is established. We can know a thing only in a portion and not as a whole. Consequently, the Jaina philosophy teaches us to respect the opinions of others as well. This theory is also called *Syādvāda* (theory of probable existence) or *Anekāntavāda* (theory of a thing having endless aspects). A metrical collection of the Jaina principles concludes the chapter.

4. **The Rāmānuja System** :—Refuting the Jaina logic of probable existence and the peculiar magnitude of the soul, the author establishes three realities according to Qualified Monism of Rāmānuja—the self (*cit*), the world (*acit*) and God (Īśvara), the first two being inseparable attributes of God. Disputing with Śaṃkara's theory of positive ignorance, he finds fault with the unqualified Brahman as well. The nature of the above three realities are discussed separately and some practical devices for pleasing God with devotion are shown. The first four sūtras of the *Brahma-sūtra* are then explained after Rāmānuja. It is noteworthy that Rāmānuja was one of the pioneers of the Bhakti-cult which gained ground in the South and gradually in the Northern India as well. Mādhava brings very clearly the doctrine of Rāmānuja as scattered in the works of the great Ācārya and his disciples.

5. **The Purṇaprajña System** :—The system based on the dualistic principle was started very recently at the time of Mādhava by Ānandatīrtha or Madhvācārya (c. 1150) ; but considering a large number of its followers, our author had to accomodate it in his work as a system of philosophy. At the outset the author distinguishes the system from the last one and then proves the existence of difference as the basis of Dualism. As the system is also a follower of Bhakti-cult it is essential that rules of serving God are framed. It is God's mercy that can grant liberation. God is omnipotent whose desire

is called Māyā. It is discussed after scripture that God and soul are two distinct realities, and as such there is nothing like illusory cognition as held by Śaṃkara. Lastly, the Catuḥ-sūtrī is explained after Madhvācārya and along with that the system is summed up.

6. **The Nakulīśa-Paśupata System** :—It is stated above that Mādhava has systematised four schools of Śaiva Philosophy in all. The first of these called Pāśupata system and professed in the western part of India is extant in the *Pāśupata-sūtras* (having a commentary by Kauṇḍinya). At the first instance the Vaiṣṇava systems are criticised on the ground that they propound slavery in the form of emancipation. Then the *guru* is characterised as the knower of nine *gaṇas*. Liberation called *duḥkhānta* is explained next with all its varieties. *Kārya* (dependent entity as the world), *Kāraṇa* (God), *Yoga* (unity between soul and God) and *Vidhis* (actions leading to Dharma) are elucidated in the next place. A very peculiar feature of the system lies in accepting a category, *Viśeṣa*, in which the system is distinguished from other systems (see page 214). Lastly it is stated that liberation is caused by the knowledge of God.

7. **The S'aiva System** :—The whole system is comprised of three realities, namely, *Pati* (God), *Paśu* (soul) and *Pāśa* (bondage). Of these God means Lord Śiva who is discussed at great length as having *mantra*, *mantreśvara*, *maheśvara*, liberated souls and *Śiva*. He is omniscient because of being the creator of all. Soul is divided into three classes and six different adjectives attributed to it in other systems are criticised here. At the end the fourfold division of bondage into *mala*, *karma*, *māyā* and *rodhaśakti* is explained. The system dominating the culture of southern India gets a lucid treatment at the hands of Mādhava.

8. **The Pratyabhijñā System** :—This branch of Śaiva Philosophy prevalent in Kashmir and propagating idealistic Monism is called also after these two attributes as Kashmir Śaivism and *Śaivādvaita*.[5] The system starts with ascertaining

5. See my notes on the names *Pratyabhijñā*, *Trika* and *Spanda* on p. 349.

its literature which is *Sūtra*, *Vṛtti* and *Vivṛti*, after mentioning in brief the nature of the philsophical thoughts. The *maṅgala*-verse of Abhinavagupta's commentary on the *Pratyabhijñā-sūtra* is taken as a sample to explain the whole system. The two powers of cognition and action being explained the doctrine of Ābhāsavāda implying realistic Idealism is elaborated. It is held that mundane objects are caused by mere wish of Lord Śiva. The necessity of accepting Pratyabhijñā being exposed the conclusion is approached.

9. **The Raseśvara System** :—It is a very peculiar system holding that different preparations of Mercury or *Pārada* can enable a man to be free from old age and death, which is, in other words, called *Jīvanmukti*. It is neither a philosophy of Āyurveda as such nor a full-fledged philosophical system deserving such a distinguished treatment. At best it can be accepted as a means to tāntric exercises so much prevalent among the Śaivas of the mediaeval age. The body is regarded as eternal by these philosophers and in order to turn it into its true nature (Svarūpa) this interesting medicinal application is enjoined.[6]

10. **The Aulūkya System** :—The famous Vaiśeṣika and Nyāya systems are termed as Aulūkya and Akṣapāda, by these unusual names undoubtedly to create laughter at the two great teachers propounding these systems. Consistently enough, the author gives the contents of the sūtra work, section by section at the very outset. The method of śāstric approach he mentions after the two systems as enumeration, definition and examination of the categories belonging to a particular Śāstra. The six Vaiśeṣika categories of substance, quality, action, generality, particularity and inherence are defined in a distinguished way quite usual with the logicians. Then discussions on a number of Vaiśeṣika questions, viz., production and destruction of *dvitva* (the numeral 'two'), activity of fire on substance and division arising out of another division,

---

6. Dr. S. N. Das Gupta has discussed the philosophy of Āyurveda at great length in the second volume of his epoch-making work, the *History of Indian Philosophy*.

follow. These questions, it may be mentioned, are very worthy discussions on modern scientific line. In the last place, the Vaiśeṣika theory of darkness has been explained after refuting other theories of the same, and in this connection non-existence (abhāva) is thoroughly discussed with all its divisions. It should be noted that non-existence is not accepted as a category in the sūtras though references are made to it in the last chapters. Mādhava has very precisely reconciled the views of the Sūtrakāra (mentioning six categories) and of other writers (holding seven categories).

11. **The Akṣapāda System** :—There is practically no difference in the manner of presentation of this system from the previous one. All the sixteen categories are defined just after describing the contents of the *Nyāyasūtra*. This is followed by two long debates on the questions of liberation (*mukti*) and God (*Īśvara*). Regarding the nature of *mukti* the scholars are at daggers drawn. Hence the views of the *Mādhyamikas* (nihilists), *Vijñānavādins*, Jainas, Cārvākas, Sāṃkhyas and Mīmāṃsakas are vehemently criticised, and the logician's theory of *mukti*, *viz.*, absolute destruction of pain is established. In the last place, God is proved as the creator of the universe after repudiating other theories as held by the opponents.

12. **The Jaimini System** :—The contents of the Sūtras being described, the parts of the first *adhikaraṇa* (an enquiry into Dharma) is discussed after the Bhāṭṭa School and the Prabhākara School separately. A discussion on the question of impersonal origin (apauruṣeya) of the Vedas follows next and it is proved that Vedas are not of any personal origin. As an offshoot of this very tenet the words are proved eternal and the Vedas authoritative. An epistemological question whether validity of knowledge arises out of itself is tackled next and the same has been proved after a prolonged discussion. Lastly the conclusion is given. It would not be out of place to say that description side of the system has not been touched at all. The injunctions, *arthavādas*, *bhāvanās* and other allied topics which are described in primary works of Mīmāṃsā are left altogether. But the merit lies in dealing

with the topics of *apauruṣeya* and *Prāmāṇyavāda*, which are the subject-matter of standard works alone.

13. The Pāṇinian System :—The Pāṇini system of grammar, it is said, was established as a system of Philosophy by Vyāḍi in his Saṃgraha containing a hundred thousand verses, but which was lost due to negligence as remarks Bhartṛhari in his *Vākyapadīya*.[7] It was Bhartṛhari to take upon himself the task of evolving a School of philosophy called Verbal Monism (*Śabdādvaita*) in the said work and that is why he is remembered by Mādhava here and there in this particular chapter. But the start of the chapter is made by Patañjali's sentence and its discussion. To clarify, the word 'śabdānuśāsana' is proved to be preferable to the word 'Vyākaraṇa'. Next the word as Brahman is clearly explained. The well-known theory of *sphoṭa* (or the most subtle stage of speech which brings out the meaning of a sentence, a word or even a letter) is elucidated after replying to the allegations made by the opponents against this theory. Existence as the meaning of a word is proved next—whether we refer to the Vyāḍi theory of holding the universal (*Jāti*) as the meaning of a word or to the Vājapyāyana theory of taking the individual (*Vyakti*) as the meaning of it.[8] In the last place Verbal Monism is proved and it is shown that Grammar is sufficient to grant liberation to a person deserving it.

14. The Sāṃkhya System :—It is the common belief that Kapila wrote a *Sāṃkhya-Sūtra* but strangely enough Mādhava gives quotations after quotations from Īśvarakṛṣṇa's *Sāṃkhya-Kārikā*, which is surely accepted by our scholarly author as the first authentic work of the Sāṃkhya System. That the present *Sāṃkhya-Sūtra* is a later creation is accepted unanimously by scholars of the modern age. Anyway, the twenty-five elements of the system are categorised into four,

---

7. Cf. VP. II. 484-90.

8. For a clear exposition and criticism of the two theories see Dr. Gaurinath Sastri's monumental work, the *Philosophy of Word and Meaning*, chapter VII.

namely, the cause (*Prakṛti*), the cause and modification as well, the modification alone, and lastly, the element (Puruṣa) devoid of the two. The various theories on the relation of the Cause and the Effect are then examined. The Naiyāyika theory of *Ārambhavāda* (or non-existence of a thing prior to its production), the Vedāntin's theory of *Vivartavāda* turning all existence to be illusory, and others are criticised, and the theory of *Satkāryavāda* implying the existence of a thing even before its manifestation (Pariṇāma) is proved to be a valid theory. After establishing *Prakṛti* as a separate element and the independence of *Puruṣa*, their mutual relation is described. It is to be noted that Sāṃkhya Philosophy does not accept God which its partner, the Yoga system, does.

15. **The Pātañjala System** :—The contents of the *Yoga-Sūtra* of Patañjali are described at the outset and then a short discussion on liberation follows. The first Sūtra of the *Yoga-Sūtra* is discussed at length and the meaning of the word '*atha*' is proved as the 'Start'. The four *anubandhas* are treated and afterwards the term *yoga* meaning meditation or *Samādhi* is explained with its various implications. Ordinarily *yoga* is defined as obstruction of the activities of the mind. The four kinds of meditation are very concisely brought out. Next the five *kleśas* (pains) of ignorance, egoism, attachment, contempt (*dveṣa*) and fear of death are explained. After explaining in this way the words used in the definition of God, the author discusses the means to *Vṛtti-nirodha*, *viz.*, Exercise and Dispassion. A long discussion on *mantras* is given later. That action (Kriyā) is *yoga* is a sentence to be explained with reference to Pure Superimponent Indication (Śuddhā Śāropā Lakṣaṇā) and in this connection the *Kāvya-Prakāśa* is quoted. Next the eightfold organs (aṅga) of *yoga* are described. These are *yama*, *niyama*, *āsana* (postures), *Prāṇāyāma* (breath-control), *Dhāraṇā*, *Dhyāna* and *Samādhi*. Here a summary of the results of *yoga* are also given. These are called *Vibhūtis* or *Siddhis*.

16. **The S'āṃkara System** :—This system is the largest of all covering over a hundred pages. It is treated as brilliantly

as could be possible for Mādhava, and as such, many objections raised by the opponents are answered. Scripture is taken as the most convincing source of knowledge and everything is established on the basis of that. At the very outset our author tackles the problem created by the Sāṃkhya doctrine of Prakṛti as the root-cause of the universe. The relation between Puruṣa and Prakṛti as accepted by the Sāmkhyas is punctured from all sides. In place of *Pariṇāmavāda*(real manifestation of the cause into its effect), *vivartavāda* (illusory appearance of the same) is offered as the most satisfactory theory to explain the mundane existence which appears due to superimposition of this objective world over Brahman or Absolute Reality. After this short dispute the contents of the *Brahma-sūtra* are described only here. In course of explaining the organs of the first topic (*adhikaraṇa*) the opponent's standpoint implying unnecessity to make an enquiry into Brahman are fully explained. But soon after this the anthor puts a long reply given by the Śaṃkarites to that question. It is stated that the common man cannot distinguish the true nature of Brahman intermixed with worldly qualifications due to illusion as it is. And that is why the enquiry as to its nature is essential. Next that long referred term Brahman, the only reality, is dealt with. It is proved that scriptures (the Vedas) are the only means to know Brahman. These scriptures are questioned by the opponents who are fully crushed by Śaṃkara. Now the different theories regarding the explanation of the apprehension of silver in a piece of conch-shell are examined and lastly, it is proved that such appearance is inexplicable (*anirvacanīya*). Long objections and their replies characterise all these discussions. *Avidyā* and *Māyā* are proved to be one and the same. The universe is only an illusory manifestation of Brahman caused by that *Māyā*. It should be noticed that existence of *Māyā* (or ignorance) is established by Śaṃkara on the perceptible knowledge 'I am ignorant of it.' But other sources of knowledge (*pramāṇas*) are also possible. The purpose of accepting this *Avidyā*, Śaṃkara firmly expresses, is only to explain the *Śruti*-text— *ekam evā'dvitīyam* (Ch. VI. 2. 1.), i. e., there is only one reality

having no second to it. Unless ignorance was considered there could be no satisfactory explanation of the text. The identity of the soul and Brahman being established the powers of *Māyā* are explained. It is asserted by Śaṃkara that a real thing is not obstructed by any knowledge, but the universal appearance is checked by knowledge of Brahman and as a consequence we must take the external objects to be false. In the last place the first four Sūtras are explained in the way of Śaṃkarācārya.

IV

After this analysis of these different systems as depicted by Mādhavācārya it will be clear how exhaustively they are dealt with. The author's erudition and presence in almost all the Indian Śāstras are quite unquestioned. Not only the Systems of Indian Philosophy but even the Sūtras of Pāṇini, the Vedic literature, the different Purāṇas, the Śaivāgamas, the Vaiṣṇava tantras, the Buddhist works, the Jaina writings and works on Poetics were all quite under his command.[9] No collection of the principles of Indian Philosophy has excelled the *Sarvadarśanasaṃgraha* even to this day in quality and exhaustive treatment. All the so-called histories of modern times except one or two are plying on the surface and have not been able to exhibit even the sample of traditional discussion. Thus the work of Mādhava being unsurpassed even today deserves full attention to be paid by every student of Indian Philosophy.

The *Sarvadarśanasaṃgraha* of Mādhavācārya has been published at various places either with or without the Śāṃkara System. The editions of the work are as follows :—

1. SDS.—Published by the Royal Asiatic Society of Bengal (only text without the Śāṃkara system).
2. SDS.—Published by Jīvānanda Bhattacharya, Calcutta (the same with some additional faults).
3. SDS.—Eng. Trans. by Cowell & Gough (without Śāṃkara system), London.

9. See Appendix III for his knowledge of works and authors.

4. SDS.—Hindi Trans. by Udaya Singh and Published by Khemaraja Srikrishnadas, Bombay (without Śāṃkara system).
5. SDS.—Published by Ānandāśrama Granthāvali, Poona (only text with Śāṃkara system).
6. SDS.—Published by Bhandarkar Oriental Institute, Poona, with the first Sanskrit commentary and a scholarly introduction by Mm. Vāsudeva Śāstri Abhyankar with copious indexes.

Though the text of the *Sarvadarśanasaṃgraha* is still defective because the quotations of other works occuring in the present work sometimes present different readings when compared with the original text, still the Abhyankar edition is comparatively in a good position, and as such, it can provisionally be acceptable. Unless a through research is carried on on textual matters, the validity of that edition cannot be challenged. In the present edition I have entirely depended on the text accepted by the late Śāstrī. Though at a place or two the text becomes unintelligible but that could not be helped in absence of any more correct reading. It is a pity that the Mss. of the work are very rare. It is expected that I shall try to examine the text of the *Sarvadarśanasaṃgraha* in the years to come.

The most esteemed translation of Cowell and Gough is based on a defective text but in absence of any other translation it has been oft-quoted even by great authorities on the subject.[10] Besides that the translation is far from being literal and sometimes wrong as well. The Hindi translation is the worst ever-made of any work which has so far come to my knowledge.

Considered in this perspective the present edition with its elaborate explanation and translation as well is expected to arrest the attention of our readers in no time. It would not

10. The late Dr. T. Chowdhury, Head of the Skt. Deptt. of the Patna University, had translated only the first three systems very literally but that work could not see the light of day.

be out of place to explain its special features. The text of each system has been divided into several parts on the basis of the subject-matter they deal with. This is much helpful to a reader seeking any point of discussion in the body of the text. The translation has been kept as close to be original as possible but the beauty of the language into which it is translated has also been left undisturbed. Thus sometimes the translation has become explanatory and notes have throughout been provided having close affinity to the text. As far as possible the technical terms have also been explained at the very place where they occur. In such a case repetitions are unavoidable. Historical notes have also been given everywhere. In a sense no stone has been kept unturned to make the work as thorough as possible.



पूर्वपीठिका

[सर्वदर्शनसंग्रह का महत्त्व—दर्शन की उत्पत्ति—भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन—तत्त्वसाक्षात्कार के साधन—प्रमाण—संख्या पर विचार—दार्शनिकों के भेद—श्रौत और तार्किक—प्रमेय—ईश्वर पर दर्शनों की मान्यता—जीव का निरूपण—संसार की व्याख्यायें—विभिन्न दर्शनों में तत्त्वविचार—नास्तिक-दर्शन—रामानुज और मध्व—अनुमान के अवयव—अद्वैतवेदान्त—मोक्ष का विचार—माधवाचार्य का समय—उपसंहार ।]

माधवाचार्य का सर्वदर्शनसंग्रह बहुत दिनों से विद्वानों की दृष्टि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता आया है। यद्यपि इसके अनेकानेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं किन्तु अपनी राष्ट्रभाषा हिन्दी में कोई उत्तम अनुवाद तथा व्याख्या न देखकर प्रस्तुत संस्करण का प्रयास किया गया है। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा लिखे गये आधुनिक ग्रन्थ यद्यपि दर्शन के अध्ययन के लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करते हैं, किन्तु प्राचीन भारतीय परम्परा का निर्वाह करते हुए माधवाचार्य के द्वारा लिखे गये इस ग्रन्थ का अवमूल्यन किसी भी मूल्य पर नहीं किया जा सकता। जैसी पाण्डित्यपूर्ण शैली में माधवाचार्य ने अपने काल में प्रसिद्ध दर्शनों का संकलन करने का प्रयास किया और उनकी सर्वाङ्गपूर्ण विवेचना करने में कुछ उठा नहीं रखा, उस तरह का संग्रह अन्यत्र मिलना दुष्कर है। दर्शनों की विवेचना में उद्धरणों की पुष्कलता लेखक के अद्वितीय पाण्डित्य की विजय-पताका पंक्ति-पंक्ति में प्रसारित कर रही है। चाहे गम्भीर विवेचन हो, पूर्वपक्ष और सिद्धान्त में भीषण संग्राम छिड़ा हुआ हो अथवा किसी दर्शन के पदार्थों की गणना ही करनी हो, माधवाचार्य की शैली एकरूपता का अद्वितीय दृष्टान्त उपस्थित करती है।

यह प्रायः देखने में आता है कि किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का लेखक दूसरे सम्प्रदायों की विवेचना करते समय अपने विचारों का आरोपण करने लगता है या कम से कम उस विवेच्य सम्प्रदाय की आलोचना भी करता जाता है। किसी भी लेखक से निष्पक्ष या वस्तुनिष्ठ (Objective) होने की आशा करना सरासर भूल है परन्तु माधवाचार्य मानो इस नियम के सबसे बड़े अपवाद हैं। किसी भी सम्प्रदाय की विवेचना में, चाहे वह चार्वाक ही क्यों न हो, आचार्य की निष्पक्षता श्लाघनीय है। प्रत्येक दर्शन के सिद्धान्तों और पदार्थों की व्याख्या

अधिक से अधिक स्पष्ट रूप में निर्विकार भाव से उन्होंने की है। यही कारण है कि भारतीय दर्शनों के अध्ययन में उनके सर्वदर्शनसंग्रह का महत्त्व इतना अधिक अंकित हुआ है।

अब हम कुछ देर के लिए अपने विवेच्य विषय से हटकर दर्शन-शास्त्र के विषय में सामान्य रूप से कुछ विचार करें और उसी परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल्यांकन करें।

दर्शन-शब्द का व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ है देखना, विचारना, श्रद्धा करना। आदि-काल से ही मानव ने अपने जीवन में दर्शन को प्रमुख स्थान दिया था। वस्तुतः जीवन के प्रति मनुष्य का दृष्टिकोण ही दर्शन है जो व्यक्ति-व्यक्ति के लिए भिन्न-भिन्न हुआ करता है। मनुष्य में अपने आस-पास के पदार्थों को समझने के लिए जिज्ञासा की लहरें सदा दौड़ा करती हैं। यही नहीं, उसके साथ इन वस्तुओं का क्या सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध का निरूपण कौन करता हैं, उसके ज्ञान के क्या साधन हैं, इत्यादि कितनी ऐसी शंकायें हैं जिनसे मनुष्य को चिन्तन की प्रेरणा मिलती रहती है। सामान्य रूप से दर्शन के आविर्भाव का यही इतिहास है।

इस विषय में भी भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। ऐसा कहा जाता है कि भारतीय दर्शन दुःख की आधार-शिला पर प्रतिष्ठित है। प्रायः सभी दर्शन दुःख-निवृत्ति के लिए ही उपायों के अन्वेषण में लगे हुए हैं। यह एक निश्चित तथ्य है कि प्राणी संसार में त्रिविधात्मक दुःखों से ग्रस्त है। उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि सुख की प्राप्ति करे। यह तो एक दूसरी विशेषता है कि एक ही उपाय से दुःख का निवारण तथा सुख का आसादन भी हो जाय। लेकिन वह सुख है क्या चीज ? क्या रुपये पा लेना, परीक्षा में प्रथम होना, या नौकरी पा लेना ही सुख है ? उत्तर होगा कि ये सभी सुख न केवल क्षणिक हैं अपितु ये अतिशय से भरे हुए हैं अर्थात् इन सबों में एक से बढ़ कर एक सुख हैं। इनकी कोई सीमा नहीं। एक सुखद वस्तु मिलने पर दूसरी की कामना होती है। यही नहीं, कभी-कभी तो सुख की एक निश्चित परिभाषा देना भी असम्भव हो जाता हैं। जो वस्तु राम के लिए सुखद है, मोहन के लिए नहीं। दर्शनों का लक्ष्य है कि किसी भी उपाय से सर्वोच्च सुख की प्राप्ति का उपाय बतलायें जो साथ ही साथ इस जगत् के दुःखों का आत्यन्तिक निवारण करने में समर्थ हो। सांसारिक दुःखों को बन्धन और उनकी निवृत्ति को दार्शनिक भाषा में मोक्ष के नाम से पुकारते हैं। यही बन्धन और मोक्ष भारतीय दर्शनों का मुख्य प्रश्न रहा है। यह दूसरी बात है कि उनके स्वरूप पर विभिन्न मत हैं अथवा दुःख-निवृत्ति के उपायों के विश्लेषण में मत-भेद है। कोई दार्शनिक कह सकता है कि महेश्वर

की सेवा से मोक्ष मिलता है तो दूसरा कह सकता है कि आत्मस्वरूप के साक्षात्कार से मोक्ष मिलता है। कोई दार्शनिक जीते-जी मोक्ष प्राप्त होने की बात करता है तो कोई मृत्यु के बाद ही मोक्ष की सत्ता निर्धारित करता है। इस तरह दर्शनों में भेद होता है।

आत्यन्तिक दुःख-नाश और आत्यन्तिक सुख दोनों का सम्मिलित नाम मोक्ष (मुक्ति, निर्वाण, महोदय) है। मोक्ष पाने के लिये श्रुतियाँ तो उपाय बतलाती ही हैं तार्किक दृष्टि से भी कई दर्शनों में इस पर विचार किया गया है। जैसे बौद्ध-दर्शन चार आर्य-सत्यों के ज्ञान को ही मोक्ष-साधन समझता है तो न्याय-दर्शन अपने दर्शन में कहे गये पदार्थों के साक्षात्कार को ही मोक्ष का साधन मानता है। दूसरी ओर शंकराचार्य आत्मा के ज्ञान को मोक्ष का साधन स्वीकार करते हैं। यह देखने में आता है कि मोक्ष के विचार को लेकर प्रत्येक दर्शन में कुछ-न-कुछ विचार किया गया है। यहाँ तक कि चार्वाक ने भी कहा है कि देह का नष्ट हो जाना मोक्ष है। कुछ लोग मोक्ष के प्रश्न पर बहुत दूर तक विचार करते हुए पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी मानते हैं। उनका कहना है कि इस संसार में आवागमन का क्रम जब तक चलता रहेगा तब तक तो प्राणी बन्धन में ही पड़ा है। मोक्ष होने पर न तो उसे जन्म लेना पड़ता और न उसकी मृत्यु होती है।

पाश्चात्त्य दर्शन में मोक्ष के प्रश्न पर लोग मौन हैं। यही कारण है कि भारतीय दर्शन से वे एक नयी दिशा का निर्देश पाते हैं। यद्यपि पाश्चात्त्य दर्शन में भी भौतिकवाद के तुच्छ धरातल से बहुत ऊपर उठकर हीगेल (Hegel) के पूर्ण प्रत्ययवाद में प्रवेश करने की चेष्टा हुई है किन्तु भारतीय दर्शनों के तारतम्य तथा गंभीरता का लेश भी उन दर्शनों में नहीं है। कारण यह है कि भारत में दर्शन को जीवन से पृथक् कभी नहीं समझा गया, चाहे चार्वाक हो अथवा शंकर—सब के सब जीवन के धरातल पर ही अपने दर्शनों की प्रतिष्ठा करते हैं। यही कारण है कि भारतीय दर्शन पाश्चात्त्य दर्शनों की भाँति न केवल तत्त्वों की मीमांसा करता है, अपितु आचारशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, क्रियाशास्त्र, मोक्षशास्त्र आदि सभी विषयों को अपने में समेट कर चलता हैं। कहना न होगा कि पाश्चात्त्य दर्शन उक्त पक्षों में सबों पर समान रूप से विचार नहीं करता। तत्त्वों की मीमांसा (Metaphysics) में वह इतना संनद्ध है कि अन्य प्रश्नों पर विचार करने का उसे अवकाश ही नहीं है। जिन वाक्यों और शब्दों पर हमारे यहाँ के वैयाकरणों, नैयायिकों, और मीमांसकों ने बहुत प्राचीन काल में ही विस्तृत विचार किया था उन पर पाश्चात्त्य जगत्

में अभी-अभी अनुसंधान हुए हैं तथा वे भी किसी निश्चित तथ्य पर नहीं पहुँच सके हैं। इसका निष्कर्ष यह निकला कि भारतीय दर्शन एक सर्वांगीण और परिपूर्ण शास्त्र है। इसमें अब कुछ भी परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन की आवश्यकता नहीं है, उसका संकलन हम भले कर सकें, पाश्चात्य दर्शनों से उसकी तुलना भले ही की जाय अथवा उसमें विद्यमान किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न को लेकर अनुसंधान भले ही किया जाय, परन्तु और किसी दूसरे कार्य की आवश्यकता उसमें नहीं है। दूसरी ओर पाश्चात्त्य दर्शन अभी भी अपूर्ण है—जीवन, जगत्, या ईश्वर की व्याख्या में पूर्णतः सफल नहीं है।

तो, मोक्ष का प्रश्न भी ऐसा ही प्रश्न है जिसके विषय में भारतीय दर्शन ही परिपूर्ण समाधान दे सकता है। दर्शनों के तारतम्य से चार्वाक के द्वारा प्रतिपादित मोक्ष की विचारधारा से आरम्भ करके हम बढ़ जाते हैं और शंकराचार्य के अद्वैत-वेदान्त में जिज्ञासा की पूर्णतः शान्ति पाते हैं। माधवाचार्य की यही मान्यता है। अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार दूसरे लोग मध्यवर्ती दर्शनों में प्रतिपादित मोक्ष का भी आश्रय लेते हैं। विभिन्न दर्शनों में अन्य विषयों पर भले ही मतभेद हो किन्तु इस प्रश्न पर सब एकमत हैं कि मूल तत्त्व के साक्षात्कार से ही मोक्ष की उपलब्धि हो सकती है।

किन्तु यह साक्षात्कार हो कैसे ? इसके लिये प्रमाणों के रूप में साधन दिये गये हैं। यह प्रश्न सार्वजनिक है कि हम किसी वस्तु का ज्ञान कैसे प्राप्त करते हैं ? शुद्ध ज्ञान के कौन-कौन से साधन हैं ? प्रत्येक दर्शन में इस पर विचार किया गया है और अपनी रुचि के अनुरूप दार्शनिकों ने प्रमाणों की संख्या निर्धारित की है। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। उसके अनुसार कोई भी ज्ञान इन्द्रिय की अपेक्षा रखता है। इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान ही यथार्थ अनुभव है। चार्वाक-दर्शन में यह विचार किया गया है कि अनुमान के लिये व्याप्ति-ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है और व्याप्ति की स्थापना किसी भी साधन से नहीं हो सकती है। यह हम कह सकते हैं कि धूम और अग्नि का सम्बन्ध हम अपनी आँखों के सामने वर्तमान काल में भले ही जान लें किन्तु इसके लिये कोई प्रमाण नहीं है कि वर्तमान काल में ही हमारी आँखों से दूर किसी स्थान में भी धूम और अग्नि का सम्बन्ध होगा। अतीत काल और अनागत काल के विषय में तो कहना ही कठिन है। स्पष्टतः चार्वाक की यह विचारधारा डेविड ह्यूम के संशयवाद (Scepticism) से बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

दूसरी ओर, बौद्धों और जैनों के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण हैं। इनका कहना है कि व्याप्ति का ज्ञान प्राप्त करना कोई कठिन नहीं।

बौद्ध लोग तो व्याप्ति की स्थापना के लिये कार्य-कारण-सम्बन्ध तथा तादात्म्य-सम्बन्ध को उपाय के रूप में उपस्थित करते हैं किन्तु जैन लोग अन्वय और व्यतिरेक की विधि से ही संतुष्ट हैं। हाँ, इतना वे दोनों मानते हैं कि व्यभिचार की शंका न रहे। शब्द और उपमान आदि प्रमाणों को अनुमान के अन्तर्गत ही रखा जाता है। वैशेषिक लोग भी इसी विधि से केवल दो प्रमाण ही मानते हैं। उनका कहना है कि शब्द-प्रमाण सभी स्थानों पर प्रमाण ही नहीं होता।

माध्व-सम्प्रदाय वाले दो ही प्रमाण मानते हैं किन्तु अनुमान नहीं, प्रत्यक्ष और शब्द को। शब्द के द्वारा प्रतिपादित अर्थ का बोधक होने पर ही अनुमान प्रमाण माना जा सकता है। रामानुज-सम्प्रदाय वाले स्पष्ट रूप से अनुमान को पृथक् गिनकर तीन प्रमाणों की बात करते हैं। इन तीन प्रमाणों को मानने की प्रथा सांख्य-योग में भी है।

प्रमाणों के विशेषज्ञ के रूप में मान्य नैयायिकों ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चारों को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। माहेश्वर-सम्प्रदाय वाले भी घुमा-फिराकर इन्हीं प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। मीमांसकों के अनुसार अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को भी प्रमाण माना गया है। यह दूसरी बात है कि प्रभाकर-मत के मीमांसक अभाव नहीं मानते। अर्थापत्ति का अर्थ है कि जब किसी दूसरे प्रकार से वस्तुस्थिति की असिद्धि हो तो किसी एक स्थिति का आपादन करें, जैसे दिन में भोजन न करने पर भी देवदत्त मोटा हुए चले जा रहे हैं, तो अर्थापत्ति से हम जान सकते हैं कि वे रात में ही डट कर भोजन करते होंगे क्योंकि किसी दूसरे प्रकार से उनकी मोटाई सम्भव नहीं है। अनुपलब्धि का अर्थ है किसी वस्तु का अभाव जानना। सभा में पहुँचते ही हमें मालूम हो गया कि वहाँ हमारा मित्र नहीं है। यह बात अनुपलब्धि-प्रमाण से ही मालूम हुई है। शंकराचार्य भी उपर्युक्त छह प्रमाणों को ही मान्यता देते हैं। पौराणिकों का भी एक सम्प्रदाय है जो सम्भावना और ऐतिह्य को भी प्रमाण मानता है। नवाँ प्रमाण चेष्टा है जिसे तान्त्रिक और साहित्यिक लोग मानते हैं। यद्यपि इन प्रमाणों में प्रत्यक्ष को शिरोमणि कहा गया है किन्तु कई ऐसे विषय हैं जिनकी सिद्धि के लिये हमें अनुमान और शब्द पर अवलम्बित होना पड़ता है जैसे ब्रह्म की सिद्धि के लिये श्रुति को ही शंकराचार्य ने प्रमाण-शिरोमणि माना है।

इस प्रकार प्रमाणों की विवेचना करने के पश्चात् इनके आधार पर दार्शनिकों हम दो कोटियों में रख सकते हैं*—तार्किक, और श्रौत। श्रौत दार्शनिक वे हैं जो मूलतत्त्व के अन्वेषण में श्रुति को ही मुख्य साधन मानते हैं।

* अभ्यंकर—उपोद्घात पृ० ४२।

उन्हें हम वेदवादी भी कह सकते हैं। इनमें शंकराचार्य, जैमिनि, पाणिनि आदि आते हैं। तार्किक दार्शनिक से हमारा अभिप्राय यह है कि मूलतत्त्व के अनुसंधान में ये लोग एकमात्र तर्क का सहारा लेते हैं। तर्क और कुछ नहीं, अनुमान का ही दूसरा नाम है। ये लोग श्रुति में प्रतिपादित विषयों को भी तर्क-निकष पर कसने पर ही प्रमाण मानते हैं। तार्किकों के भी दो भेद हैं—एक तो वे दार्शनिक जो अपने को स्पष्टतः तार्किक कहते हैं और दूसरे वे जो अपने को श्रौत कहने पर भी भीतर-भीतर तर्क का ही सहारा लेते हैं। बादरायण के ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करने वाले रामानुज और माध्व सम्प्रदाय वाले दार्शनिक कहते हैं कि हम लोग उपनिषदों को प्रमाण मानते हैं किन्तु श्रुति-वाक्यों का जो अर्थ उन्होंने पूर्वाग्रह के कारण किया है उससे तो यह स्पष्ट मालूम होता है कि ये प्रच्छन्न तार्किक हैं। उदाहरण के लिये स्पष्ट रूप से जीव और ब्रह्म की एकता का निर्देश करने वाले (तत्त्वमसि) इस वाक्य का उन दोनों ने कैसे निर्वाह किया है यह देखने ही योग्य है। रामानुज की दशा तो और भी दयनीय है।[1] वे अपने श्रीभाष्य में शंकराचार्य की खिल्ली उड़ाते हैं कि शंकर श्रौतमत के बहाने से छिपकर बौद्ध धर्म का प्रचार कर रहे हैं। और रामानुज ? वेद-मत का प्रचार करते हुए क्या छिपे हुए तार्किक वे नहीं हैं ?

सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक आदि भी तार्किक ही हैं क्योंकि इन्होंने भी अपनी प्रतिष्ठा अनुमान के बल पर ही की है। यहाँ स्मरणीय है कि श्रौत और तार्किक दार्शनिकों में भेद का कारण यह है कि श्रौत पक्ष में वेदों को स्वतः-प्रमाण माना गया है जब कि तार्किक पक्ष में उन्हें परतः प्रमाण मानते हैं। स्वतःप्रमाण का अर्थ है कि वेदों की प्रामाणिकता अपने आप में सिद्ध (Self-evident) है, किसी दूसरे प्रमाण को उसे सिद्ध नहीं करना पड़ता। तदनुसार वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। वेदों की शक्ति अकुण्ठित या अप्रतिहत है। दूसरी ओर, जो लोग वेदों को परतः प्रमाण मानते हैं उनका यह कहना है कि वेद पौरुषेय हैं, अनित्य हैं, उनकी सिद्धि के लिए हमें दूसरे साधनों पर निर्भर करना पड़ता है। इस दशा में वेदों को पुरुष अर्थात् ईश्वर की रचना मानते हैं।

पौरुषेय और अपौरुषेय का विचार मीमांसा-दर्शन में अच्छी तरह हुआ है। अन्त में वेदों को अपौरुषेय ही माना गया है। इनका कथन है कि वेद ईश्वर से केवल प्रकाशित हुए हैं। जैसे मनुष्य अनायास ही निःश्वास छोड़ता है, उसे न तो बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है या न किसी परिश्रम की। उसी प्रकार वेद भी ईश्वर से प्रादुर्भूत हुए हैं। अपौरुषेय मानने पर ही

---

१. देखिये, पृ० २४७।

श्रौत दार्शनिकों ने श्रुति की प्रामाणिकता सबसे ऊपर स्वीकार की है। यहाँ यह स्मरणीय है कि सत्ताओं के भेद से श्रुति और प्रत्यक्ष इन दोनों प्रमाणों में कोई विरोध नहीं है। जहाँ तक व्यवहार-जगत् का सम्बन्ध है, हमें प्रत्यक्ष को प्रश्रय देना ही पड़ेगा। लौकिक दृष्टि से द्वैत भी सत्य ही है। किन्तु पारमार्थिक दृष्टिकोण से विचार करने पर श्रुतियों को प्रधानता देनी पड़ेगी। उस दशा में अद्वैतवाद ही सत्य सिद्ध होता है।

प्रमाणों के इस विवेचन में हम दो बातें स्पष्ट रूप से देखते हैं—एक तो प्रमाणों की संख्या और दूसरी प्रमाणों की प्रामाणिकता या पूर्वापरता। यह सर्वमान्य है कि प्रमेय पदार्थों का विचार करने से पूर्व प्रमाणों का संग्रह कर लेना आवश्यक है।

प्रमाण से जिसकी सिद्धि की जाती है उसे प्रमेय कहते हैं। इसमें मुख्य रूप से तीन पदार्थ मिलते हैं। जीव, जगत् और ईश्वर। कोई दार्शनिक तो इन तीनों की पदार्थता मानते हैं, कुछ केवल दो की और कुछ केवल एक की। वस्तुस्थिति चाहे जो भी हो इन तीनों की व्याख्या उन सबों को करनी पड़ती है—चाहे वे तीनों को एक ही में क्यों न समेट लें। तो इनका क्रमशः निरीक्षण करें—

(१) **ईश्वरः**—ईश्वर के विषय में चार्वाक का तो कहना है कि इसकी सत्ता अलौकिक नहीं। पृथ्वी का राजा ही परमेश्वर है। यदि चार्वाकों से पूछा जाय कि ईश्वर के न मानने पर लौकिक और अलौकिक कर्मों का फल कौन देगा ? तो ये बतलायेंगे कि लौकिक कर्म तो राजा के अधीन हैं ही—वही तो निग्रह और अनुग्रह करने में समर्थ है। याचकों को दान देकर और चोरों को दण्ड देकर वह सभी कर्मों का फल यथाविधि देता ही है। अब रही बात अलौकिक कर्मों की। ये अलौकिक कर्म वास्तव में धूर्तों के उपाख्यान हैं जो जनसामान्य को ठगने के लिये वैदिक वंचकों के बकवाद हैं।

बौद्ध और जैन अपने-अपने धर्म प्रवर्तकों को ही ईश्वर मानते हैं। वस्तुतः ये लोग भी ईश्वर की सत्ता मानते ही नहीं। सांख्य में भी ईश्वर नहीं माना जाता। मीमांसक लोग भी ईश्वर नहीं मानते किन्तु मनुष्य के कर्मों का शुभ-अशुभ फल देने के लिये अदृष्ट नाम की एक शक्ति स्वीकार करते हैं। वैयाकरण लोगों से पूछने पर सम्भवतः वे यह कहेंगे कि शब्द की परा अवस्था जिसे स्फोट भी कहते हैं, वही ईश्वर है। रामानुज ईश्वर पर कुछ विशेषणों का आरोपण करते हैं। उनके अनुसार ईश्वर जीवों का नियामक, अन्तर्यामी और उनसे पृथक् पदार्थ है। जीव और जड़ उसके शरीर हैं जीवों को वह उनके कर्मों के अनुसार फल देता हैं। मध्वाचार्य के अनुसार भी ईश्वर इन्हीं विशेषणों से युक्त

है किन्तु यह अन्य पदार्थों से सर्वथा भिन्न है। वह संसार का उपादान-कारण नहीं, केवल निमित्त-कारण है। महेश्वर-सम्प्रदाय, नैयायिक और वैशेषिक-दर्शनों की भी यही मान्यता है। लेकिन इस दर्शन-समूह में दो मत हो जाते हैं। पाशुपत और प्रत्यभिज्ञा दर्शनों में यह माना गया है कि ईश्वर कर्म का फल देने के समय जीवों के द्वारा किये कर्मों की अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि ऐसा मानने पर ईश्वर की स्वतंत्रता नहीं रह सकेगी। दूसरे महेश्वर, वैशेषिक और माध्वमत वाले कहते हैं कि ईश्वर कर्मों की अपेक्षा रखते हुए ही संसार का निर्माण करता है।

योग-दर्शन में यद्यपि ईश्वर जीव से भिन्न है किन्तु वह न तो संसार का निमित्त-कारण है और न उपादान ही। वह सर्वथा निर्लेप और निर्गुण है। शंकराचार्य के अनुसार भी ईश्वर वैसा ही है किन्तु वह पारमार्थिक है। यह स्मरणीय है कि जगत् और ईश्वर की सत्ताओं में अन्तर है। अतः दोनों में कार्य-कारण-भाव होना असम्भव है। माया के आधार पर ईश्वर संसार का उपादान-कारण बनता है किन्तु विवर्त रूप से।

ईश्वर के विषय में दिये गये बहुत से प्रमाण हैं। किन्तु सभी अनुमान और श्रुति पर आधारित हैं। यदि श्रौत-दर्शन हो तो ईश्वर श्रुति-सिद्ध है और यदि तार्किक दर्शन हो तो ईश्वर की सिद्धि अनुमान से करते हैं। फिर भी श्रुति की प्रधानता अन्ततः स्वीकार करनी ही पड़ती है।

(२) **जीव**—ईश्वर के समान ही जीव को लेकर भी दार्शनिकों में बड़ा विवाद है। सर्वप्रथम चार्वाकों की ओर दृष्टिपात करने पर हम देखते हैं कि वे शरीर को ही आत्मा कहते हैं यदि उसमें चैतन्य हो। कर्त्ता और भोक्ता भी वही है। चार महाभूतों (Gross elements) के मिलने से विशेष क्रिया द्वारा चैतन्य उत्पन्न होता है। उसमें चैतन्यांश के द्वारा ज्ञान होता है, देहांश तो जड़ के रूप में ही है। यह दूसरी बात है कि कुछ चार्वाक इन्द्रियों को ही आत्मा मानते हैं। कुछ प्राण को और कुछ मन को भी आत्मा मानते हैं। चार्वाकों का मत विभिन्न दर्शनों में पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित किया गया है, स्वतन्त्र रूप से तो कहीं उनके विचार मिलते ही नहीं।

बौद्धों के अनुसार जीवात्मा विज्ञान के रूप में है। चूँकि विज्ञान क्षण-क्षण बदलने वाले प्रवाह के समकक्ष है इसलिये आत्मा भी क्षण-क्षण बदलने के कारण अनित्य है। पूर्वक्षण में उत्पन्न विज्ञान अपने उत्तर-क्षण में संस्कार के रूप में चला आता है इसलिये स्मृति आदि की सिद्धि की जाती है। शून्यवादी बौद्ध तो आत्मा के मूल रूप को शून्य ही मानते हैं किन्तु व्यवहार की दशा में आत्मा की

प्रतीति भी उन्हें माननी पड़ती है। जैनों के अनुसार जीवात्मा देह से भिन्न ही है किन्तु देह के परिमाण में ही रहती है। देह के बढ़ने और घटने से जीवात्मा भी बढ़ती-घटती रहती है। उनके अनुसार जीवात्मा नित्य तो है किन्तु उसमें विकार होते रहते हैं। दूसरे शब्दों में वह आत्मा कूटस्थ (एक समान रूप में) नित्य नहीं है।

आस्तिक दर्शनों में, नैयायिकों और वैशेषिकों का यह कहना है कि जीवात्मा के गुण बुद्धि, सुख, दुःख आदि जब अनित्य हैं तो जीवात्मा भी विकारी है क्योंकि धर्मी में आने और जाने वाले धर्म धर्मी को विकारशील बना देते हैं। कहने का अभिप्राय है कि जीवात्मा कूटस्थ नित्य नहीं है और आत्मा का स्वरूप जड़ के समान हो जाता है। यही कारण है कि मुक्ति की दशा में ज्ञान का नाश हो जाने से आत्मायें पाषाणवत् हो जाती है। प्रभाकर-मीमांसकों के मत से* यह सिद्धान्त बहुत कुछ मिलता-जुलता है। मीमांसकों का दूसरा सम्प्रदाय भाट्ट-सम्प्रदाय मानता है कि आत्मा अंश के भेद से ज्ञान और जड़ दोनों के रूप में है। शैव, सांख्य और योग के सम्प्रदायों में तथा वेदान्तियों के मत से आत्मा केवल ज्ञान के स्वरूप में है। यह दूसरी बात है कि अद्वैत-वेदान्ती, सांख्य और योग वाले आत्मा को निर्गुण मानते हैं जब कि द्वैत-वेदान्ती, विशिष्टाद्वैत-वेदान्ती, नैयायिक और वैशेषिक आत्मा को सगुण मानते हैं।

जहाँ तक जीवात्मा के परिमाण (Magnitude) का सम्बन्ध है, बौद्ध लोग कहते हैं कि आत्मा विज्ञानों का प्रवाह है अतः उसका कोई परिमाण नहीं हो सकता। वास्तव में आत्मा का आश्रय कोई है ही नहीं जिससे आत्मा उसके अनुरूप कोई परिमाण धारण कर ले। रामानुज, मध्व और वल्लभ-सम्प्रदाय वाले कहते हैं कि जीव का परिमाण अणु के समान (Atomic) है। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, पातञ्जल तथा अद्वैत-वेदान्त वाले जीवात्मा को विभु (All-pervasive) कहते हैं। चार्वाक, शून्यवादी और जैन लोग आत्मा को अणु और विभु के बीच में रखते हैं अर्थात् जीवात्मा मध्यम परिमाण की है।

जीव कर्त्ता या भोक्ता है, इस विषय पर भी मत-भेद है। नैयायिक और वैशेषिक तो जीवात्मा का कर्तृत्व सत्य मानते हैं किन्तु रामानुज और मध्व-सम्प्रदाय वाले उसके सत्य होने पर भी उसे नैमित्तिक मानते हैं स्वाभाविक नहीं। अद्वैत-वेदान्ती कहते है कि जीवात्मा कुछ उपाधियों के कारण ही कर्त्ता बनती है। सांख्य-योग में प्रकृति को कर्त्ता माना गया है। इसीलिये प्रकृति के

---

* दे० पंचदशी (६।८८)।

सम्बन्ध से जीवात्मा में भी कर्त्ता होने की प्रतीति हो जाती हैं। जिस रूप में जीवात्मा कर्त्ता है उसी रूप में भोक्ता भी है।

(३) **संसार**—संसार अर्थात् जड़-वर्ग की सत्ता के विषय में किसी का मतभेद नहीं हो सकता, भले ही वह सत्ता भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से मानी जाय। चार्वाकों का कहना है कि जड़ पदार्थ ही संसार का मूल कारण है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परमाणु ही संसार का निर्माण करते हैं। बौद्ध लोग यद्यपि चार्वाक की तरह ही आकाश-तत्त्व नहीं मानते किन्तु वे चार्वाक के द्वारा सम्मत परमाणुओं में अवयव मानते हैं और उन अवयवों का प्रवाह संसार का निर्माण करता है। जैन लोग एक प्रकार के परमाणुओं को ही संसार के मूल कारण के रूप में स्वीकार करते हैं। आकाश भी इन्हें मान्य है। न्याय-वैशेषिक दर्शनों में सूर्य की किरणों में उड़ने वाले धूल-कणों के अवयवों को परमाणु कहते हैं। दो परमाणुओं के संयोग से एक द्वयणुक बनता है। तीन द्वयणुकों के मिलने से एक त्र्यणुक बनता है। यही सूर्य की किरणों में धूल के रूप में दिखलाई पड़ता है। इसी क्रम से संसार का निर्माण होता है। ये परमाणु नित्य हैं। दूसरी ओर, मीमांसक और वैयाकरण परमाणुओं को भी अनित्य मानते हुए केवल शब्द की नित्यता स्वीकार करते हैं। यह शब्द ही संसार का मूल कारण है; सांख्य-योग के मत से यह शब्द भी कार्य है, नित्य नहीं क्योंकि शब्द का कारण अहंकार है। अहंकार का कारण महत् और महत् का कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति है। रामानुज-सम्प्रदाय वाले इसे ही मान्यता देते हैं। अद्वैत-वेदान्तियों के अनुसार यह प्रकृति भी मूल कारण नहीं हो सकती। यह ब्रह्म का विवर्त है जिससे प्रकृति सद्वस्तु के रूप में प्रतीत होती है। आत्मा ही संसार का मूल कारण है। ये सारे दृश्यमान पदार्थ उसी के विवर्त हैं।

अब हम यह विचार करें कि यह सृष्टि मूल कारण से किस रूप में सम्बद्ध है। इस पर न्याय-वैशेषिकों का कहना है कि कारण तीन प्रकार के हैं—समवायी, असमवायी और निमित्त। ये तीनों मिलकर अपने से भिन्न कार्य को उत्पन्न करते हैं। अर्थात् कारणों से भिन्न रूप में कार्य की उत्पत्ति होती है। इसे ही आरम्भवाद भी कहते हैं। सभी लोग इस मत को नहीं मानते। बौद्धों का कहना है कि समवायी अर्थात् उपादान कारण (जैसे मिट्टी या सूत) अपने से भिन्न कार्य उत्पन्न नहीं करते हैं। तदनुसार समवायी कारण का संघात (Combination) होने से ही कार्य होता है। इसे केवल सौत्रान्तिक और वैभाषिक बौद्ध ही मानते हैं। चूँकि संघात भी क्षण-क्षण में बदल रहा है अतः कारण

के नष्ट होते ही कार्य उत्पन्न हो जाता है। शून्यवादी तो कहेंगे कि कार्य का कारण कभी सद्रूप होता ही नहीं, असत् होते हुए भी क्षण-क्षण में प्रतीत होता रहता है। इस मत को लोग **असत्ख्यातिवाद** कहते हैं। विज्ञानवादियों के अनुसार विज्ञानरूपी आत्मा क्षण-क्षण में नये-नये बाह्य पदार्थों के रूप में प्रतीत होती है। उपादान-कारण जब वास्तव में कार्य के रूप में बदल जाय तो उसे **परिणामवाद** कहते हैं जिसे सांख्य-योग और रामानुज-वेदान्त में माना गया है। जब कारण की परिणति कार्य के रूप में सचमुच नहीं हो, केवल वैसी प्रतीति हो तो उसे **विवर्तवाद** कहते हैं जो शंकराचार्य की मान्यता है।

शंकराचार्य के विवर्तवाद का एक रूप **दृष्टि-सृष्टिवाद** के रूप में देखने में आता है। इसका अर्थ है कि जिस समय हमने देखा उसी समय उसकी सृष्टि हो गई। वस्तुस्थिति यह है कि देखने के समय द्रष्टा की अविद्या के कारण उक्त वस्तु उस रूप में सृष्ट (Created) दिखलाई पड़ती है। पहले से उसकी सत्ता नहीं रहती। राम ने सीपी में रजत देखा तो उस समय उस स्थान पर रजत राम की अविद्या से ही उत्पन्न हुआ है, उसके पूर्व या पश्चात् रजत की प्रतीति नहीं होती। सांसारिक प्रपंच भी व्यक्ति की अविद्या के कारण तात्कालिक और तद्रूप ही सृष्ट होता है। जीवों को नानात्मक मानने पर प्रपंच का भेद भी होगा। वास्तव में 'जीव होना' ही अविद्या के कारण होता है, वह वस्तुतः तो है नहीं। अभिनवगुप्त के सम्प्रदाय (प्रत्यभिज्ञा) में भी यही बात कही गयी है परन्तु वे लोग **प्रतिबिम्बवाद** नाम का सिद्धान्त मानते हैं। यह ठीक है कि जगत् ब्रह्म के कारण है किन्तु न तो ब्रह्म ने संसार का आरम्भ ही किया है, न तो वह ब्रह्म का परिणाम है और न ही विवर्त। जैसे दर्पण में बहिर्भूत पदार्थों का प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है वैसे ही ब्रह्म में अन्तर्भूत जगत् का प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है। बिम्ब के स्थान पर स्वीकृत माया ब्रह्म में अपना सम्बन्ध दिखाकर बिम्ब के अभाव में भी प्रतिबिम्ब उत्पन्न करती है। अतः न तो बिम्ब को अलग मानकर द्वैत-पक्ष में जाना पड़ता और न 'बिम्ब पृथक् नहीं है' कह कर मूलच्छेद ही करने की आवश्यकता है।

तत्त्व-विचार—सभी दार्शनिकों ने, चाहे वे कहीं के हों, किसी-न-किसी रूप में संसार के मूल पदार्थों (Ultimate Reality) पर विचार किया है। इन्हें ही भारतीय दर्शन में पदार्थ या 'तत्त्व' के नाम से पुकारते हैं। चार्वाक लोगों का कहना है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, ये चार तत्त्व हैं। बौद्ध लोग भिन्न-भिन्न प्रकार के तत्त्व मानते हैं। शून्यवादी केवल शून्य को, योगाचार वाले केवल विज्ञानस्कन्ध को तथा अन्य बौद्ध पाँच आन्तरिक-

स्कन्धों को और चार बाह्य परमाणुओं को तत्त्व मानते हैं। भगवान् बुद्ध के विचार से दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और निरोधमार्ग ये चार आर्य-सत्य अर्थात् तत्त्व हैं। जैनों के विचार से दो तत्त्व हैं—जीव और अजीव। इन्हीं का विस्तार पांच तत्त्वों के रूप में किया गया है जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल। उसी प्रकार सात तत्त्वों का वर्णन भी कुछ लोग करते है—जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष। ये नास्तिक दार्शनिकों के विचार हैं।

रामानुज-सम्प्रदाय के अनुसार सभी पदार्थ प्रमाण और प्रमेय के रूप में बँटे हुए हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण हैं और द्रव्य, गुण तथा सामान्य प्रमेय हैं। द्रव्यों के भी छः भेद है —ईश्वर, जीव, नित्यविभूति, ज्ञान, प्रकृति और काल। गुणों के दस भेद हैं—सत्व, रजस् , तमस् , शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति। सामान्य द्रव्य-गुण दोनों के रूप में होता है। ईश्वर पाँच प्रकार का है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार। वैकुण्ठ में निवास करने वाले तथा मुक्त जीवों के द्वारा प्राप्य नारायण ही पर ईश्वर हैं। व्यूह चार तरह का होता है—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। यद्यपि भगवान् एक ही हैं परन्तु प्रयोजनवश उनके चार रूप हो गये हैं। उनमें ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज, इन छः गुणों से युक्त वासुदेव हैं। संकर्षण-व्यूह में ज्ञान और बल की प्रधानता रहती है। प्रद्युम्न में ऐश्वर्य तथा वीर्य की प्रधानता रहती है। अनिरुद्ध में शक्ति और तेज की प्रधानता रहती है। भगवान् के अवतारों को विभव कहते हैं। अन्तर्यामी ईश्वर वह है जो जीवों के हृदय में रहता है। योगी लोग इसे पा सकते हैं तथा जीवों का नियन्त्रण भी यही करता है। देव-मन्दिर में प्रतिष्ठित ईश्वर अर्चावतार है। इस प्रकार ईश्वर-द्रव्य का निरूपण किया गया।

जीव ईश्वर के अधीन होते हैं, प्रत्येक शरीर में भिन्न हैं तथा नित्य हैं। ये तीन तरह के हैं—बद्ध, मुक्त और नित्य। संसारी जीव बद्ध हैं, नारायण की उपासना से वैकुण्ठ में पहुँचे हुए जीव मुक्त हैं और संसार को कभी न छूने वाले अनन्त, गरुड़ आदि जीव नित्य हैं। नित्य-विभूति से वैकुण्ठ-लोक समझा जाता है। ज्ञान का अर्थ है अपने आप में प्रकाशित होने वाला जिसे चैतन्य और बुद्धि भी कहते हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मक तथा चौबीस तत्त्वों से बनी हुई है। ये चौबीस तत्त्व हैं—प्रकृति, महत् , अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्र और पाँच महाभूत। काल जड़ पदार्थ है और विभु है। इन सबों का स्पष्ट विवेचन यतीन्द्रमत-दीपिका में हुआ है।

माध्व-सम्प्रदाय के अनुसार तत्त्वों की संख्या दस है—द्रव्य, गुण कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। द्रव्यों की संख्या बीस है—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत, आकाश-प्रकृति, तीन गुण, महत्तत्त्व, अंहकारतत्त्व, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, तन्मात्र, महाभूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब। गुणों की संख्या अनेक है। रूप, रस आदि चौबीस गुणों के अलावे आलोक, दम, कृपा, बल, भय, लज्जा, गम्भीरता, सुन्दरता, धीरता, वीरता, शूरता, उदारता आदि भी गुण में ही चले आते हैं। कर्म के तीन भेद हैं—विहित, निषिद्ध और उदासीन! नित्य और अनित्य के भेद से सामान्य भी दो तरह के हैं। भेद न होने पर भी भेद के व्यवहार का निर्वाह करने वाले अनन्त विशेष हैं। माध्व लोग समवाय नहीं मानते। विशेषण के सम्बन्ध से विशेष्य में होने वाला आकार ही विशिष्ट नाम का पदार्थ है। अंशी का मतलब है—हाथ, डेग इत्यादि के द्वारा नापा जाने वाला पदार्थ। शक्तियाँ चार हैं, अचिन्त्य-शक्ति, आधेय-शक्ति, सहज-शक्ति और पद-शक्ति। सादृश्य तो लोक में प्रसिद्ध ही है किन्तु यह दोनों पदार्थों में स्थित नहीं रहता। दूसरे के आधार पर एक वस्तु में ही स्थित रहता है। वैशेषिकों के समान ही यहाँ चार प्रकार के अभाव माने जाते हैं प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। अविद्या पाँच खण्डों की होती है—मोह, महामोह, तामिस्र, अन्ध-तामिस्र और तम। वर्णों की संख्या इकावन (५१) मानी गई है इस प्रकार द्वैत-मत में तत्त्वों का विवेचन बहुत अधिक विश्लेषण के साथ हुआ है।

अब महेश्वर-सम्प्रदाय के अनुसार तत्त्वों पर विचार करें। पाशुपत-दर्शन के अनुसार पाँच तत्त्व हैं—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त। कार्य का अर्थ है अस्वतंत्र पदार्थ जिसके तीन भेद हैं—विद्या, कला और पशु। जीव के गुणों को विद्या कहते हैं, अचेतन पदार्थ को कला कहते हैं और पशु तो जीव ही है। कारण के दो भेद हैं—स्वतन्त्र और परतन्त्र। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और तीन अन्तःकरण मिलकर परतन्त्र-कारण बनाते हैं। स्वतन्त्र कारण परमेश्वर है। आत्मा और ईश्वर के सम्बन्ध को योग कहते हैं, धर्म-कार्य की सिद्धि करने वाली विधि है और मोक्ष दुःखान्त।

शैव-दर्शन में पति, पशु और पाश, ये तीन पदार्थ कहे गये हैं। पति का अर्थ है शिव, पशु जीव है और पाश के चार भेद हैं—मल, कर्म, माया और रोध-शक्ति। इन सबों का विचार प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में जीव और परमात्मा दोनों को एकाकार कहा गया है। किन्तु जड़ पदार्थ आत्मा से भिन्न भी है और अभिन्न भी। और बातें तो पाशुपत-दर्शन से मिलती-जुलती ही हैं। रसेश्वर-दर्शन भी तत्त्व-विचार में कोई नयी चीज नहीं देता।

न्याय-वैशेषिक दर्शनों के तत्त्व इतने प्रसिद्ध हैं जितने किसी दर्शन के नहीं। वस्तुतः उनका दर्शन ही तत्त्व-विचार-शास्त्र है। वैशेषिकों के यहाँ सात पदार्थ स्वीकार किये गये हैं जिनमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, ये छह भावात्मक (Positive) है और अभाव नाम का सप्तम पदार्थ भी स्वीकृत है। नैयायिकों ने प्रमाण-प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का निरूपण किया है। यहाँ पर यह ध्येय है कि नैयायिकों ने अनुमान के लिये पाँच अवयवों की आवश्यकता मानी है। वे हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। ये अवयव प्रायः सभी दार्शनिकों को स्वीकृत हैं। फिर भी कुछ दार्शनिकों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से इनका चयन किया है। बौद्ध लोग उदाहरण और उपनय से ही संतुष्ट है। मीमांसक लोग तीन अवयवों को मानते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण। अद्वैत-वेदान्ती केवल तीन अवयवों को लेते हैं चाहे प्रथम तीन या अन्तिम तीन। रामानुज और मध्व-सम्प्रदाय का कोई नियम नहीं है। कभी पाँचों से, कभी केवल तीन से और कभी उदाहरण और उपनय, इन दो अवयवों से ही काम लेते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि उदाहरण तो कोई भी छोड़ता ही नहीं।

मीमांसा-शास्त्र में चूँकि वाक्यार्थ-विचार की प्रधानता है इसलिये तत्त्व का विचार हमें दिखलाई नहीं पड़ता किन्तु समवाय आदि कुछ पदार्थों का उनके द्वारा खण्डन किया जाना देखकर हमारा अनुमान है कि वैशेषिकों की तरह कुछ पदार्थों को वे अवश्य मानते हैं। वैयाकरण लोगों को शब्दार्थ के विचार से अवकाश ही कहाँ है कि तत्त्व पर विचार करें ? किन्तु वास्तव में उन्होंने विचार किया है। तत्त्व-विचार की दृष्टि से वे प्रत्यभिज्ञा, मीमांसा, वैशेषिक और अद्वैत-वेदान्त के बिन्दुओं से बने हुए वर्ग के बीच अवस्थित हैं। द्रव्य, गुण, कर्म (क्रिया) और सामान्य (जाति) इन चार पदार्थों को मानते हुए वे शब्द-ब्रह्म को ही एकमात्र तत्त्व स्वीकार करते हैं।

सांख्य-दर्शन में चार प्रकार के तत्त्व हैं—प्रकृत्यात्मक, विकृत्यात्मक, उभयात्मक और अनुभयात्मक। इनका विचार इस ग्रन्थ में विस्तृत रूप में किया गया है। योग-शास्त्र इससे पृथक् नहीं जाता। अद्वैत-वेदान्त में पदार्थ एकात्मक है। वह आत्मा या ब्रह्म-स्वरूप है। द्वैत की प्रतीति तो अनादि अविद्या के कारण कल्पित है। तो, दृक् और दृश्य के भेद से दो पदार्थ हुए। दृक्-पदार्थ के तीन भेद हैं—ईश्वर, जीव और साक्षी। अज्ञान की उपाधि से युक्त ईश्वर है जिसके ब्रह्म, विष्णु और महेश ये तीन भेद हैं। अन्तःकरण और उसके संस्कार से युक्त अज्ञान वाला पदार्थ जीव है। ईश्वर या जीव ही

उपाधियों से युक्त होकर साक्षी कहलाता है। जो कुछ दिखाई पड़ रहा है वह दृश्य पदार्थ है। उसके तीन भेद हैं—अव्याकृत, मूर्त और अमूर्त। अव्याकृत का अर्थ है—अविद्या, अविद्या के साथ चित् का सम्बन्ध, उसमें चित् की प्रतीति और जीवेश्वर का भेद। 'अमूर्त' शब्द से शब्द, स्पर्श आदि सूक्ष्म भूत और अन्धकार लिये जाते हैं क्योंकि ये अविद्या से उत्पन्न हैं। ये अमूर्त अवस्था में ही सात्त्विक अंश से ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति करते हैं और राजस अंश से कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति करते हैं। सबों के सात्त्विकांश मिलकर मन की और राजसांश मिलकर प्राण की उत्पत्ति करते हैं। तब इन भूतों (Elements) का आपस में मिश्रण अर्थात् पंचीकरण होता है जिससे यह भौतिक संसार प्रतीत होता है। इस प्रकार इन तत्त्वों का निरूपण किया जाता है।

मूल तत्त्वों को जानने से मोक्ष की प्राप्ति होती है और मूल तत्त्वों के विकृत रूपों को जानकर उनमें लिपटे रहने से प्राणी बन्धन में पड़ा रहता है। बन्धन के विषय में जानना चाहिए कि संसार में सबों को सुख-दुःख और मोह का अनुभव होता है। यही बन्धन है। सांख्य और योग वाले कहते हैं कि यह अनुभव वस्तु-निष्ठ है जब कि वेदान्ती इसे आत्मनिष्ठ मानते हैं क्योंकि सुख आदि मन की वृत्तियाँ हैं जो पहले के संस्कार के कारण विभिन्न पदार्थों के ज्ञान से जैसे-तैसे उत्पन्न होती हैं तथा नष्ट होती हैं।

मोक्ष के विषय में भी दार्शनिकों का मतभेद ही है। चार्वाक स्वतंत्रता या देह-नाश को ही मोक्ष कहते हैं। शून्यवादी आत्मा का उच्छेद होना मोक्ष मानते हैं। दूसरे बौद्धों का कथन है कि निर्मल ज्ञान की उत्पत्ति ही मोक्ष है। जैन-सम्प्रदाय वाले कहते हैं कि कर्म से उत्पन्न देह में जब आवरण न हो तो जीव का निरन्तर ऊपर उठते जाना ही मोक्ष है। रामानुज-सम्प्रदाय में ईश्वर के गुणों की प्राप्ति और उनके स्वरूप का अनुभव करना मोक्ष है। द्वैत-वेदान्त में दुःख से भिन्न पूर्ण सुख की प्राप्ति ही मोक्ष है। इस अवस्था में भगवान् के केवल तीन गुण नहीं मिलते, संसार का कर्त्ता होना, लक्ष्मी का पति होना और श्रीवत्स की प्राप्ति—नहीं तो मोक्षावस्था में जीव को सब कुछ मिल जाता है। पाशुपत-दर्शन में परमेश्वर बन जाना, शैव-दर्शन में शिव हो जाना तथा प्रत्य-भिज्ञा में पूर्ण आत्मा की प्राप्ति को मोक्ष माना गया है। रसेश्वर-दर्शन कहता है कि रस से सेवन के देह का स्थिर हो जाना, जीते जी मुक्त हो जाना मुक्ति है। न्याय-वैशेषिक मोक्ष को प्रायः अभावात्मक शब्दों में लेते हैं। वैशेषिक कहते हैं कि सारे विशेष गुणों का नाश हो जाना मोक्ष है जब कि नैयायिक आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति को मोक्ष मानते हैं। यह दूसरी बात है कि कुछ नैयायिक न केवल दुःख-निवृत्ति को, प्रत्युत सुख को भी मोक्ष में ही लेते हैं। मीमांसकों के

यहाँ विविध वैदिक कर्मों के द्वारा स्वर्ग आदि की प्राप्ति ही मोक्ष है। वैयाकरणों की धारणा है कि मूलचक्र में स्थित परा नामक ब्रह्मरूपिणी वाणी का दर्शन कर लेना ही मोक्ष है। सांख्य-दर्शन में प्रकृति के उपरत हो जाने पर पुरुष का अपने रूप में स्थित हो जाना ही मोक्ष माना गया है। उधर अपना काम पूरा करके सत्त्व, रजस् और तमस्, ये तीनों गुण भी मूलप्रकृति में आत्यन्तिक रूप से विलीन हो जाते हैं और प्रकृति को भी मोक्ष मिलता है। योगदर्शन मानता है कि चित्-शक्ति निरुपाधिक रूप से अपने आप में स्थित हो जाती है तो मोक्ष होता है। अन्त में अद्वैतवेदान्त में शंकराचार्य का कहना है कि मूल अज्ञान के नष्ट हो जाने पर अपने स्वरूप की प्राप्ति अर्थात् आत्मसाक्षात्कार ही मोक्ष है। इस प्रकार दर्शनों में अन्तिम तत्त्व (पुरुषार्थ) मोक्ष का सम्यक् निरूपण किया गया है। यहाँ केवल दिशा-निर्देश अथवा पाठकों की रुचि उत्पन्न करने के लिए सारांश दिया गया है।

अपनी अंग्रेजी-भूमिका में दर्शनों के तारतंम्य का संक्षिप्त विवरण मैंने दिया है। अतः यहाँ पर पुनरुक्ति से बचने के लिए केवल यही प्रतिपादित करना लक्ष्य है कि माधवाचार्य का उक्त दर्शन-संग्रह लिखने का क्या लक्ष्य है? यह सर्वमान्य सत्य है कि माधवाचार्य का अपना दर्शन अद्वैत-वेदान्त ही था। इसी की स्थापना के लिए उन्होंने अन्य दर्शनों को भी यथार्थ रूप में रख कर उनकी अपेक्षा शांकर-दर्शन को प्रधानता दी है। यह हम प्रत्येक दर्शन के आरम्भ में देखते हैं कि विगत दर्शन का खण्डन करके किसी दर्शन की नींव रखते हैं। इस तरह क्रमशः दर्शनों की मान्यता वे बढ़ाते चलते हैं।

दूसरे दर्शन-ग्रन्थों में सर्वदर्शनसंग्रह की तरह क्रम नहीं रखा गया है। प्रायः लोग नास्तिक दर्शनों के बाद क्रमशः आस्तिक दर्शनों का विचार करते हैं। कारण यही होता है कि उन्हें किसी दर्शन से कुछ लेना-देना नहीं है पर माधवाचार्य को तो अपने लक्ष्य की सिद्धि करनी थी अतः उन्होंने एक विशेष क्रम का निर्वाह किया है।

अद्वैत-वेदान्त भारतवर्ष का सबसे अधिक मान्य दर्शन है। माधवाचार्य इसीलिए इसे सब दर्शनों का शिरोमणि मानते हैं और उस पर उन्होंने बहुत अधिक विचार किया है। इस पर उठाई गई सारी आपत्तियों का पाण्डित्यपूर्ण समाधान तो किया ही है, मूल पदार्थों के विवेचन को तिलांजलि देकर भी उसके सिद्धान्तों की स्थापना की है। अतः सर्वदर्शनसंग्रह को न केवल दर्शनों का संकलन समझें प्रत्युत एक प्रबन्ध ग्रन्थ (Thesis) के रूप में ले सकते हैं जिसमें अद्वैत-मत की प्रतिष्ठा की गई है। यह बहुत आवश्यक था कि अद्वैत की स्थापना उस

समय में विद्यमान सारे दार्शनिक सम्प्रदायों के पूरे परिप्रेक्ष्य में की जाय। अतः 'आम्राश्च: सिक्ताः पितरश्च प्रीणिताः' के अनुसार एक ही साथ दो-दो काम हो गये—दर्शनों का संग्रह भी हो गया और उनके बीच अद्वैत-वेदान्त की क्या महत्ता है, यह भी जान गये।

अन्त में हम प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक माधवाचार्य* के विषय में भी विचार कर लें। दक्षिण भारत में तुंगभद्रा नदी के किनारे पम्पा-सरोवर के समीप विजयनगर में एक सुप्रसिद्ध साम्राज्य था जिसमें प्रायः १३५५ ई० के आसपास में महाराज बुक्क सम्राट् हुए थे। उक्त साम्राज्य की स्थापना महाराज हरिहर प्रथम ने माधवाचार्य की ही प्रेरणा से की थी। माधवाचार्य इन दोनों राजाओं के यहाँ मुख्य मन्त्री के पद पर सुशोभित थे। इनका परिवार बहुत प्रसिद्ध था क्योंकि विद्या के क्षेत्र में वह बहुत आगे बढ़ा-चढ़ा था। वेदों के प्रसिद्ध भाष्य-कर्त्ता सायणाचार्य इसी वंश में हुए थे। इस वंश का नाम ही सायण-वंश था। सायण और माधव की रचनाओं की तुलना करने से हमें मालूम होता है कि माधवाचार्य सायण के बड़े भाई थे। इनके पिता का नाम मायण और माता का नाम श्रीमती था। ये बौधायन-सूत्र के मानने वाले यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। ये सूचनायें माधवाचार्य ने पराशर-स्मृति की अपनी व्याख्या में प्रस्तुत की है।

माधवाचार्य को एक दूसरे माधव से भी अभिन्न समझने की भूल लोगों ने की है। माधव नाम के एक मन्त्री होने की सूचना १३४७ ई० के शिखालेख में मिलती है जिनकी मृत्यु १३९१ ई० के बाद हुई थी। इस प्रकार प्रायः ४५ वर्षों की अवधि तक इन्होंने मन्त्री का कार्य उत्तरदायित्वपूर्वक सँभाला था। ये अद्वितीय योद्धा थे क्योंकि इनके लिये लेखों में 'भुवनैकवीरः' का विरुद मिलता है। पश्चिमी समुद्र तट पर स्थित कोंकण-प्रदेश में तुरुष्कों (तुर्कों) का उपद्रव जोर-शोर से चल रहा था। उन्होंने उसकी राजधानी गोमन्तक (आधुनिक गोआ) के धार्मिक स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट करना प्रारम्भ कर दिया था। माधव ने उनसे लोहा लिया और उन्हें परास्त करके उस स्थान पर फिर से धर्म की प्रतिष्ठा की। महाराज बुक्क माधव से इस कार्य से इतना प्रसन्न हुए कि उन्हें वनवासी अर्थात् जयन्तीपुर का शासक बना दिया। अपने प्रशासन से माधव ने प्रजा का हृदय जीत लिया। गोआ के शासक के रूप में १३१२ शक संवत् (१३९० ई०) में उन्होंने कुचर नाम गाँव अग्रहार (जागीर) में ब्राह्मणों को

* दे० बलदेव उपाध्याय, आचार्य सायण और माधव, पृ० १३३ तथा आगे।

दे दिया। किन्तु ये विजेता माधव माधवाचार्य से भिन्न हैं। माधवाचार्य और माधव मन्त्री दोनों के व्यक्तित्वों में बड़ा अन्तर भी है। दोनों के माता-पिता तो भिन्न थे ही, उनके गोत्र भी पृथक् थे। यही नहीं, उनकी मृत्यु के समय में भी अन्तर है। माधवाचार्य ने बुक्क के शासन की समाप्ति (१३७९) के कुछ पूर्व ही संन्यास ग्रहण कर लिया था और शृंगेरी मठ में प्रतिष्ठित हो चुके थे। उधर यह दान-पत्र १३९० का है अतः दोनों में कोई तारतम्य दिखलाई नहीं पड़ता। फिर भी माधवाचार्य महाराज बुक्क के यहाँ मुख्य मन्त्री थे तथा दूसरे माधव मन्त्री से भिन्न थे। शृंगेरी मठ में माधवाचार्य बाद में विद्यारण्य के नाम से शंकराचार्य बन गये थे। विद्यारण्य के विषय में अहोबल पण्डित ने अपने तेलुगु-व्याकरण में लिखा है—

वेदानां भाष्यकर्ता विवृतमुनिवचा धातुवृत्तेर्विधाता,
प्रोद्यद्विद्यानगर्यां हरिहरनृपतेः सार्वभौमत्वदायी।
वाणी नीलाहिवेणी सरसिजनिलया किंकरीति प्रसिद्धा,
विद्यारण्योऽग्रगण्योऽभवदखिलगुरुः शंकरो वीतशङ्कः॥

इससे माधवाचार्य (विद्यारण्य) के विषय में सूचना प्राप्त होती है कि ये ही माधवीयधातुवृत्ति के भी रचयिता थे। विद्यारण्य के रूप में भी इन्होंने बहुत से ग्रन्थ लिखे थे जैसे—पंचदशी, वैयासिक-न्यायमाला आदि।

यह किंवदन्ती है कि माधवाचार्य ने ही बुक्क के बड़े भाई हरिहर प्रथम को विजयनगर-साम्राज्य की स्थापना का परामर्श दिया था। उस समय उस स्थान का नाम विद्यानगर रखा गया था। बाद में धीरे-धीरे वह विजयनगर हो गया। यह किसी घटना से या भाषाविज्ञान से अनुप्राणित हुआ होगा। हरिहर की मृत्यु के पश्चात् माधवाचार्य बुक्क के गुरु बने और उस समय शिष्य के आदेश से उन्होंने बहुत से ग्रन्थ लिखे। संन्यास की अवस्था में ये प्रायः १३७९ ई० से १३८५ ई० तक रहे। मृत्यु के समय इनकी अवस्था प्रायः ९० वर्ष की थी (१३८५)। अतः माधवाचार्य का जीवन-काल १२९५ ई० से १३८५ ई० तक मानना ठीक है।

माधवाचार्य और सायणाचार्य ने अपने गुरुओं का उल्लेख बहुत श्रद्धा से किया है। इनके तीन गुरु थे—विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ और श्रीकण्ठ। भारतीतीर्थ माधव के दीक्षागुरु थे जिनकी मृत्यु के पश्चात् (१३८० ई०) माधव (विद्यारण्य) शंकराचार्य के पद पर आये। विद्यातीर्थ और श्रीकण्ठ इनके विद्यागुरु थे। सायण ने वेदभाष्यों के आरंभ में विद्यातीर्थ का नाम देते हुए उल्लेख किया है कि

बुक्कराय ने माधवाचार्य को वेदभाष्य करने का आदेश दिया तो उन्होंने यह काम अपने छोटे भाई सायण को सौंप दिया।*

परम्परा से चले आते हुए माधवाचार्यकृत सर्वदर्शनसंग्रह को सायण के बड़े भाई की रचना मानने में कुछ लोगों ने विवाद खड़ा कर दिया है। उनका कहना है कि माधवाचार्य के किसी गुरु का उल्लेख सर्वदर्शन में नहीं मिलता, मंगलाचरण में लेखक ने शार्ङ्गपाणि के पुत्र किसी सर्वज्ञविष्णु नामक गुरु का उल्लेख किया है। दूसरे, लेखक अपने को 'सायणदुग्धाब्धिकौस्तुभ' कहता है जिससे वह सायण का पुत्र प्रतीत होता है। सायण के तीन पुत्रों में कम्पण, मायण और शिङ्गण थे। कुछ लोगों का कहना है कि द्वितीय पुत्र मायण ही माधव के नाम से प्रसिद्ध थे। अतः यह ग्रन्थ सायण के पुत्र की कृति है।

ध्यान से विचार करने पर यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता क्योंकि सायण उक्त वंश का भी नाम था जिसमें माधव हुए थे। वंश के नाम पर उन्होंने अपने को सायणमाधव कहा है तथा सायण-वंश रूपी क्षीरसागर में उत्पन्न कौस्तुभ से अपनी तुलना की है। ऐसा साहस माधवाचार्य के अलावे और किसी में संभव नहीं था। किसी एक व्यक्ति से उत्पन्न होने के लिए 'दुग्धाब्धिकौस्तुभ' का विशेषण लगाना भी ठीक नहीं है। अब रही बात गुरु की। किसी व्यक्ति के कई नाम होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कहते हैं कि पुण्यश्लोकमंजरी में विद्यातीर्थ के इस दूसरे नाम सर्वज्ञविष्णु का उल्लेख भी है। अतः किसी भी दशा में यह सिद्ध है कि वैयासिकन्यायमाला, विवरणप्रमेय, जैमिनीयन्यायमाला तथा पंचदशी—जैसे सफल ग्रन्थों के लेखक माधवाचार्य ही इसके रचयिता हैं।

माधवाचार्य के पाण्डित्य के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं। परिशिष्ट-३ में दी गई सूची ही इसका निर्णय करती है कि परोक्ष या अपरोक्ष में कितने ग्रन्थों और ग्रन्थकारों से उनका परिचय था। केवल यही कह देना उनकी जिज्ञासु प्रवृत्ति का बोधक हो सकेगा कि अपने काल में ही उत्पन्न वेदान्तदेशिक और जयतीर्थ आदि ग्रन्थकारों का भी उन्होंने उल्लेख किया है। भारतीय दर्शन-शास्त्र के इतिहास में सर्वदर्शनसंग्रह अद्वितीय ग्रन्थ है क्योंकि इसमें दर्शनों के रहस्यों का उद्‌घाटन किया गया है।

---

* यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम्॥
यत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद्बुक्कमहीपतिः।
आदिशन्माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने॥
स प्राह नृपतिं राजन् सायणार्यो ममानुजः।
सर्वं वेत्त्येष वेदानां व्याख्यातृत्वे नियुज्यताम्॥

सर्वदर्शनसंग्रह का उद्धार करने में महामहोपाध्याय पं० वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर का नाम सबसे आगे की पंक्ति में रखा जाता है। अपनी संस्कृत-टीका से युक्त संस्करण में उन्होंने जैसे अध्यवसाय का प्रदर्शन किया हैं वह अन्यत्र दुर्लभ है। पाण्डित्यपूर्ण उपोद्घात में दर्शनों का मन्थन करके उन्होंने नवनीत-रूप सार-संकलन का भी प्रयास किया है। सच पूछें तो आगे की पीढ़ी के लिए उन्होंने बहुत-सा काम सरल कर दिया है। उक्त महामनीषी के ग्रन्थ को उपजीव्य मानकर ही यह संस्करण प्रस्तुत किया गया है अतः उनके सम्मुख मैं नतमस्तक हूँ। इसके अतिरिक्त कॉवेल और गफ के अनुवाद एवं डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् तथा डॉ० धीरेन्द्रमोहनदत्त की पुस्तकों से जो अंगरेजी शब्दावलियाँ ली गई हैं इसलिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

प्रस्तुत व्याख्या मेरे चार वर्षों के अध्यवसाय का परिणाम है। इस अवधि में विभिन्न स्थानों के सहयोगियों, शुभाभिलाषियों एवं शिष्यों से इस कार्य में जो प्रेरणा मिलती रही है वही मेरा सबसे बड़ा बल रहा है। यद्यपि इसे सुन्दर, सरल और आधुनिक बनाने की पूरी चेष्टा की गई है फिर भी दोष रह जाना स्वाभाविक है। ग्रंथ के विषय तथा आकार के अनुरूप विशद भूमिका नहीं दे सका, पाठक क्षमा करेंगे। इस पर तो पृथक् रूप से भूमिका लिखी जानी चाहिए जो भारतीय दर्शन-साहित्य के अध्ययन में अनिवार्य भी मानी जाय। प्रस्तुत भूमिका तो परम्परा का निर्वाह मात्र है।

काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष आदरणीय डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य जी ने इस कृति का निरीक्षण करके जो प्राक्कथन लिखने की कृपा की है, उसके लिए मैं आपका हृदय से आभारी हूँ। सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पूज्यपाद स्वामी श्रीमहेश्वरानन्द सरस्वती (पूर्वाश्रम—कवितार्किकचक्रवर्ती पं० महादेवशास्त्री) जी ने जो प्रस्तुत ग्रन्थ को अपने आशीर्वचनों से अलंकृत किया है इसे मैं अपना भागधेयोत्कर्ष अथवा आपकी अहैतुकी दया ही मानता हूँ।

वाराणसीस्थ बृहत्तर प्रकाशन-संस्थान चौखम्बा संस्कृत सीरीज के अध्यक्ष-बन्धुओं ने इतने बड़े ग्रन्थ का प्रकाशन-भार लेकर मेरे सदुद्देश्य की सफलता में जो तत्पर सहयोग दिया है उसके लिये मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

यदि यह कृति पाठकों के तनिक भी काम आई तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

काशी
२०-६-६४

—उमाशंकरशर्मा 'ऋषि'

विषय-सूची

॥ श्रीः ॥

सर्वदर्शनसंग्रहः

'प्रकाश' व्याख्योपेतः



वन्दे वाणीं वराभीष्टां स्वगुरुं वनमालिनम् ।
कुर्वे व्याख्यां प्रकाशाख्यां सर्वदर्शनसंग्रहे ॥ १ ॥
टीकां यद्यपि वैदुषीविमलितामभ्यङ्करो निर्ममे
नैवं सायणमाधवस्य सरला जाता गभीरा गिरा ।
सर्वेषामुपकारमेव सुचिरं ध्यात्वा स्वभाषामयीं
व्युत्पत्तिप्रहितामिमां वितनुते व्याख्यां मगोऽयं कविः ॥ २ ॥
नाधीतं पदशास्त्रमप्यवगतः कोशो न सम्यङ्मया
साहित्येऽपि न साधना किल कृता तर्के सदा धर्षितः ।
वेदान्तादिविचक्षणैर्गुरुवरैर्विद्योपलब्धिं हृदा
ध्यायं ध्यायमहं मुदं किल लभे ज्ञानं दिशत्वीश्वरः ॥ ३ ॥

ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए भारतीय-परंपरा का पालन करते हुए सायण-माधव इसके आरंभ में मंगलाचरण के श्लोक लिखते हैं—

नित्यज्ञानाश्रयं वन्दे निःश्रेयसनिधिं शिवम् ।
येनैव जातं मह्यादि तेनैवेदं सकर्तृकम् ॥ १ ॥

जिसमें नित्यज्ञान स्थिर होकर रहता है, निःश्रेयस (चरम सुख, मुक्ति) का जो भाण्डार है ऐसे शिव को मैं नमस्कार करता हूँ; उससे ही पृथ्वी आदि [द्रव्य] उत्पन्न हुए हैं और उस (शिव) के कारण ही यह (सारा संसार) कर्तृयुक्त [कहा जाता है] । [इस आरंभिक श्लोक के द्वारा ही माधवाचार्य निर्देश करते हैं कि ईश्वर कर्ता है और संसार उसका कार्य । न्याय-शास्त्र में ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने में यह भी एक तर्क है । पृथ्वी आदि द्रव्य तथा निःश्रेयस और नित्यज्ञान का विमर्श भी न्याय-वैशेषिकों के अनुकूल है । दर्शन-शास्त्र की मुख्य समस्यायें हैं—ईश्वर, मोक्ष, मूलतत्त्व । इनका निर्देश आदि में हुआ है ।] ॥ १ ॥

पारं गतं सकलदर्शनसागराणा-
मात्मोचितार्थचरितार्थितसर्वलोकम् ।
श्रीशार्ङ्गपाणितनयं निखिलागमज्ञं
सर्वज्ञविष्णुगुरुमन्वहमाश्रयेऽहम् ॥ २ ॥

सभी दर्शन-रूपी समुद्रों के पार पहुँचे हुए, अपने अनुकूल तत्त्व के उपदेश से सभी लोगों को कृतार्थ करने वाले, सभी आगमों (शास्त्रों) को जानने वाले, श्री शार्ङ्गपाणि के पुत्र, सर्वज्ञ-विष्णु नामक गुरु का मैं प्रतिदिन आश्रय लेता हूँ (या अनुसरण करता हूँ)। [आत्मोचितार्थ० = काँवेल के अनुसार इसका अर्थ है—'जिसने आत्मा शब्द के उचित अर्थ के द्वारा समस्त मानव को सन्तुष्ट किया है'] ॥ २ ॥

श्रीमत्सायणदुग्धाब्धिकौस्तुभेन महौजसा ।
क्रियते माधवार्येण सर्वदर्शनसंग्रहः ॥ ३ ॥

श्री युक्त सायण-वंशरूपी क्षीर-सागर में कौस्तुभ-मणि के समान तथा महाप्रतापी माधवाचार्य के द्वारा [सभी दर्शनशास्त्रों का संक्षेप] यह 'सर्वदर्शन-संग्रह' बनाया जा रहा है ॥ ३ ॥

पूर्वेषामतिदुस्तराणि सुतरामालोड्य शास्त्राण्यसौ
श्रीमत्सायणमाधवः प्रभुरुपन्यास्यत्सतां प्रीतये ।
दूरोत्सारितमत्सरेण मनसा शृण्वन्तु तत्सज्जना
माल्यं कस्य विचित्रपुष्परचितं प्रीत्यै न संजायते? ॥ ४ ॥

पहले के आचार्यों के अत्यन्त कठिन शास्त्रों का अच्छी तरह मन्थन करके, सायण के वंश में उत्पन्न, सामर्थ्यवान् माधव ने सज्जनों की प्रसन्नता के लिए [उन शास्त्रों को] इस जगह जमा किया; उसे सज्जन लोग मन से मत्सरता (ईर्ष्या) दूर हटाकर सुनें, क्योंकि रंग-बिरंगे फूलों से बनाई गई माला किसे प्रसन्न नहीं करती ? ॥ ४ ॥



(१) चार्वाक-दर्शनम्

प्रत्यक्षमेव किल यस्य कृते प्रमाणं
भूतार्थवादमथ यो नितरां निविष्टः ।
वेदादिनिन्दनपरः सुखमेव धत्ते
सोऽयं बृहस्पतिमुनिर्मम रक्षकोऽस्तु ॥—ऋषिः

(१. चार्वाक और लोकायतिक—नामकरण)

अथ कथं परमेश्वरस्य निःश्रेयसप्रदत्वमभिधीयते ? बृहस्पतिमतानुसारिणा नास्तिकशिरोमणिना चार्वाकेण तस्य दूरोत्सारितत्वात् । दुरुच्छेदं हि चार्वाकस्य चेष्टितम् । प्रायेण सर्वप्राणिनस्तावत्—

१. यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?

इति लोकगाथाम् अनुरुन्धाना नीतिकामशास्त्रानुसारेण अर्थकामौ एव पुरुषार्थौ मन्यमानाः, पारलौकिकमर्थम् अपह्नुवानाः, चार्वाकमतमनुवर्तमाना एवानुभूयन्ते । अत एव तस्य चार्वाकमतस्य 'लोकायतम्' इत्यन्वर्थम् अपरं नामधेयम् ॥

मंगलाचरण के पहले श्लोक में परमेश्वर को 'निःश्रेयसनिधि' (मुक्ति का भाण्डार) कहा गया है। आप परमेश्वर को मुक्ति प्रदान करने वाला कैसे कहते हैं ? बृहस्पति के मत को मानने वाले, नास्तिकों के शिरोमणि (प्रधान) चार्वाक ने तो इस तरह की धारणा ही उखाड़ फेंकी है। चार्वाक के मत का खण्डन करना भी कठिन है। प्रायः संसार में सभी प्राणी तो इसी लोकोक्ति पर चलते हैं—'जबतक जीवन रहे सुख से जीना चाहिए, ऐसा कोई नहीं जिसके पास मृत्यु न जा सके; जब शरीर एक बार जल जाता है तब इसका पुनः आगमन कैसे हो सकता है ?' सभी लोग नीतिशास्त्र और कामशास्त्र के अनुसार अर्थ (धन-संग्रह) और काम (भोग-विलास) को ही पुरुषार्थ समझते हैं, परलोक की बात को स्वीकार नहीं करते हैं तथा चार्वाक-मत का अनुसरण करते हैं—इस तरह मालूम होता है [बिना उपदेश के ही लोग स्वभावतः

चार्वाक की ओर चल पड़ते हैं] इसलिए चार्वाक-मत का दूसरा नाम अर्थ के अनुकूल ही है—लोकायत (लोक = संसार में, आयत = व्याप्त, फैला हुआ)।

विशेष—शङ्कर, भास्कर तथा अन्य टीकाकार लोकायतिक नाम देते हैं। लोकायतिक-मत चार्वाकों का कोई सम्प्रदाय है। चार्वाक = चारु (सुन्दर), वाक (वचन)। मनुष्यों की स्वाभाविक-प्रवृत्ति चार्वाक-मत की ओर ही है। बाद में उपदेशादि द्वारा वे दूसरे दर्शनों को मान्यता प्रदान करते हैं। दूसरे जीव भी (पशु-पक्षी आदि) चार्वाक (= स्वाभाविक-धर्म एवं दर्शन) के पृष्ठपोषक हैं। ग्रीक-दर्शन के एरिस्टिपस एवं एपिक्युरस इसी सम्प्रदाय के समान अपने दर्शनों की अभिव्यक्ति करते हैं। 'लोकायत' शब्द पाणिनि के उक्थगण (क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक् ४।२।६०) में मिलता है जिसमें 'लोकायतिक' शब्द बनाने का विधान है। षड्दर्शन-समुच्चय के टीकाकार गुणरत्न का कहना है कि जो पुण्य-पापादि परोक्षवस्तुओं का चर्वण (नाश) कर दे वही चार्वाक है। काशिका-वृत्ति में (१।३।३६) चार्वी नामक लोकायतिक-आचार्य का भी उल्लेख है।

(२. तत्त्व-मीमांसा)

तत्र पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि। तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वादिभ्यः मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजायते। विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति। तदाहुः—'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, स न प्रेत्य संज्ञास्तीति' (बृह० उप० २।४।१२)। तच्चैतन्यविशिष्टदेह एवात्मा। देहातिरिक्ते आत्मनि प्रमाणाभावात्। प्रत्यक्षैकप्रमाणवादितया अनुमानादेः अनङ्गीकारेण प्रामाण्याभावात्॥

उनके मत से पृथिवी आदि चार महाभूत ही तत्त्व हैं (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) [प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने के कारण आकाश-तत्त्व को ये स्वीकार नहीं करते क्योंकि आकाश अनुमान द्वारा सिद्ध होता है]। जिस प्रकार किण्व आदि (मादक-द्रव्यों) से मादक-शक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शरीर के रूप में बदल जाने पर इन्हीं (चार) तत्त्वों से चैतन्य उत्पन्न होता है। इनके नष्ट हो जाने पर स्वयं चैतन्य का भी विनाश हो जाता है। ऐसा कहा भी है (श्रुति-प्रमाण से भी यही बात सिद्ध होती है)—'(आत्मा) विज्ञान (= शुद्ध चैतन्य) के रूप में इन भूतों से निकल कर उन्हीं में विलीन हो जाता है, मृत्यु के बाद चैतन्य (ज्ञान) की सत्ता नहीं रहती' (बृ० उप०

२।४।१२)। अतएव उपर्युक्त चैतन्य से युक्त शरीर को ही आत्मा कहते हैं। देह के अलावे आत्मा नाम का कोई दूसरा भी पदार्थ है—कोई प्रमाण इसके लिये नहीं। ये केवल प्रत्यक्ष-ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं; अनुमानादि को अस्वीकार करने से उनको प्रमाण नहीं माना जाता ॥

विशेष—किण्व = एक प्रकार की ओषधि या बीज जिससे शराब बनाई जाती थी। 'सुरायाः प्रकृतिभूतो वृक्षविशेषनिर्यासः' (अभ्य०)। जैसे प्रकृति-अवस्था (किण्व, मधु, शर्करादि) में मादक शक्ति नहीं किन्तु उनकी विकृति-अवस्था (शराब) में मादकता आ जाती है, उसी प्रकार पृथ्वी, वायु आदि पदार्थों में चैतन्य न होने पर भी इनके विकार-रूप (शरीर) में चैतन्य हो जाता है। तुलना करें—

जडभूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।
ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद्राग इवोत्थितम् ॥ (स० सि० सं० २।७)

अर्थात् जड़-पदार्थों के विकार से चैतन्य उसी प्रकार उत्पन्न होता है जैसे पान, सुपारी और चूने के योग से पान की लाली निकलती है। आत्मा = शरीर + चैतन्य। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष-प्रमाण मानते हैं। इनके द्वारा अनुमान के खण्डन के लिए आगे देखें। बृहदारण्यकोपनिषद् के वाक्य का उद्धरण चार्वाक अपने अर्थ की सिद्धि के लिए देते हैं, भले ही उसका दूसरा अर्थ है। शङ्कराचार्य इसमें ब्रह्मज्ञान के अनन्तर की अवस्था का वर्णन मानते हैं। देखिये, शबर-भाष्य जै० सू० १।१।५; कहा भी है—A scoundrel quotes the Bible for his own purpose. अर्थात् स्वार्थ-सिद्धि के लिए दुष्ट भी बाइबिल से उद्धरण देते हैं।

(३. सुख की प्राप्ति—दुःख और सुख का मिश्रण)

अङ्गनाद्यालिङ्गनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थः। न च 'अस्य दुःखसंभिन्नतया पुरुषार्थत्वमेव नास्ति' इति मन्तव्यम्। अवर्जनीयतया प्राप्तस्य दुःखस्य परिहारेण सुखमात्रस्यैव भोक्तव्यत्वात्। तद्यथा—मत्स्यार्थी सशल्कान् सकण्टकान् मत्स्यानुपादत्ते। स यावदादेयं तावदादाय निवर्तते। यथा वा धान्यार्थी सपलालानि धान्यानि आहरति, स यावदादेयं तावदादाय निवर्तते। तस्माद् दुःखभयात् नानुकूलवेदनीयं सुखं त्यक्तुमुचितम् ॥

स्त्री-आदि के आलिङ्गनादि से उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ है (दूसरा कुछ

पुरुषार्थ नहीं)। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि दुःख से मिला-जुला होने (संभिन्न) के कारण [सुख] पुरुषार्थ नहीं है, क्योंकि हमलोग [सुख के साथ] अनिवार्य-रूप से मिले-जुले दुःख को हटाकर केवल सुख का ही उपभोग कर सकते हैं। [ऐसा कोई सुख संसार में नहीं जो केवल सुख ही हो, दुःख नहीं। वस्तुतः संसार के सभी सुख-दुःखों से युक्त होते हैं। ऐसा देखकर भी सुख को पुरुषार्थ समझना चाहिए क्योंकि सुख-दुःख से भरी वस्तु से दुःख को हटाकर केवल सुख का ही आनन्द लिया जा सकता है। इसके लिए दृष्टान्त भी लें—] जैसे—मछली चाहनेवाला व्यक्ति छिलके (Scale) और काँटों के साथ ही मछलियों को पकड़ता है, उसे जितने की आवश्यकता है उतना (अंश) लेकर हट जाता है; और जिस प्रकार धान को चाहनेवाला व्यक्ति पुआल के साथ ही धान ले आता है, जितना उसे लेना चाहिए उतना लेकर हट जाता है। इसलिए दुःख के भय से [मन के] अनुकूल लगनेवाले सुख को छोड़ना ठीक नहीं है॥

न हि 'मृगाः सन्ति' इति शालयो नोप्यन्ते। न हि 'भिक्षुकाः सन्ति' इति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते। यदि कश्चिद् भीरुः दृष्टं सुखं त्यजेत्, तर्हि स पशुवत् मूर्खो भवेत्। तदुक्तम्—

२. त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान्हितार्थी॥ इति।

ऐसा नहीं देखा जाता कि हरिण हैं (वे खा जायँगे) इसलिए धान ही न रोपें, या भिखमंगे हैं (माँगने के लिए आवेंगे) इसलिए हाँड़ियों को [चूल्हे पर] ही न चढ़ायें। (लोग यही समझते हैं कि विघ्न अपने स्थान पर हैं, हमारा काम क्यों रुका रहे ?) यदि कोई डरपोक [उपर्युक्त प्रकार के विघ्नों के भय से] दृष्ट (साक्षात्, वर्तमान, दिखलाई पड़नेवाले) सुख को छोड़ देता है तो वह पशु के समान मूर्ख ही है। कहा भी है—'यह मूर्खों का विचार है कि मनुष्यों को सुख का त्याग कर देना चाहिए क्योंकि उनकी उत्पत्ति [सांसारिक] विषयों के साथ होती है तथा वे दुःख से भरे हैं। भला कहिये तो, [अपनी] भलाई चाहनेवाला कौन ऐसा आदमी होगा जो उजले और

सबसे अच्छे दानेवाली धान की बालियों को केवल इसीलिए छोड़ना चाहता है कि इनमें भूँसा और कुण्डा भी है ?' [कण = कुण्डा, कोंढ़ा, कुँड़; चावल के छिलके की धूल, जो पशुओं के खाने के काम में आती है ।]

(४. यज्ञों और वेदों की निस्सारता)

ननु पारलौकिकसुखाभावे बहुवित्तव्ययशरीरायाससाध्येऽग्निहोत्रादौ विद्यावृद्धाः कथं प्रवर्तिष्यन्ते ? इति चेत् , तदपि न प्रमाणकोटिं प्रवेष्टुमीष्टे । अनृत-व्याघात-पुनरुक्तदोषैः दूषिततया वैदिकम्मन्यैरेव धूर्तबकैः परस्परं—कर्मकाण्डप्रामाण्यवादिभिः ज्ञानकाण्डस्य, ज्ञानकाण्डप्रामाण्यवादिभिः कर्मकाण्डस्य च—प्रतिक्षिप्तत्वेन, त्रय्या धूर्तप्रलापमात्रत्वेन, अग्निहोत्रादेः जीविकामात्रप्रयोजनत्वात् । तथा च आभाणकः—

३. अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥ इति ।

यदि [कोई पूछे कि]—पारलौकिक-सुख [का अस्तित्व] न हो तो विद्वान् लोग अग्निहोत्रादि (यज्ञों) में क्यों प्रवृत्त होते हैं जब कि उन यज्ञों में अपार धन का व्यय तथा शारीरिक श्रम भी लगता है ?—तो, यह (तर्क) भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता क्योंकि अग्निहोत्रादि कर्मों का प्रयोजन केवल जीविका-प्राप्ति ही है; तीनों (वेद) केवल धूर्तों (ठगनेवालों) के प्रलाप हैं, क्योंकि अपने को वेदज्ञ समझनेवाले धूर्त 'बगुला-भगतों ने' आपस में ही [वेद को] अनृत (झूठा), व्याघात (आपस में विरोध) और पुनरुक्त (दुहराना) दोषों से दूषित किया है, [उदाहरण के लिए]—कर्मकाण्ड को प्रमाण माननेवालों (पूर्व मीमांसकों) ने ज्ञानकाण्ड को, और ज्ञानकाण्ड को प्रमाण माननेवालों (उत्तरमीमांसकों, वेदान्तियों) ने कर्मकाण्ड को आपस में दोषयुक्त बतलाया है । ऐसी लोकोक्ति भी है—'बृहस्पति का कहना है कि अग्निहोत्र, तीनों वेद, तीन दण्ड धारण करना (संन्यास लेना) और भस्म लगाना उन लोगों की जीविका [के साधन] हैं जिनमें न बुद्धि है, न पुरुषार्थ (शारीरिक-शक्ति) ।'

विशेष—चार्वाक के विरोधी लोग शङ्का करते हैं कि विद्वान् लोग कितना अधिक व्यय और श्रम से अग्निहोत्रादि का सम्पादन करते हैं । पर यह सब किसलिए ? लौकिक-सुख तो इनसे है नहीं । तब तो केवल पारलौकिक-सुख ही

इनसे मिलता है अर्थात् परलोक है। **अनृत-दोष**—पुत्रेष्टि-यज्ञ करने पर भी पुत्र न होना वेद-वाक्यों को झूठा सिद्ध करता है। कर्मकाण्ड में, जैसे 'ओषधे त्रायस्वैनम्' (तै० सं० १।२।१) हे ओषधि ! रक्षा करो, 'स्वधिते मैनं हिंसीः' (तै० सं० १।२।१) ऐ छुरे इसे मत काटो—इन अचेतन वस्तुओं को चेतन के समान सम्बोधित करना असम्भव है। इसी प्रकार ब्रह्मकाण्ड में, 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० उ० ३।२), 'प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ३।३) इनमें अन्न और प्राण को ब्रह्म माना गया है वह झूठा है। **व्याघात-दोष**—कभी कहते हैं 'उदिते जुहोति' और कभी 'अनुदिते जुहोति' (तुल० ऐ० ब्रा० ५।५।५ और तै० ब्रा० २।१।२।३-१२)। कभी 'एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे' (तै० सं० १।८।६) कहते तो कभी हजारों रुद्रों को मानते हुए भी नहीं हिचकते—'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधि भूम्याम्' (तै० सं० ४।५।११)। कभी तो 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) कहते हैं कभी 'द्वा सुपर्णा सयुजा' (मु० ३।१।१) और 'ऋतं पिबन्तौ' (का० ३।१) कहते हैं—इस प्रकार परस्पर विरोधी वाक्यों की सत्ता वेदों में ही है। **पुनरुक्त-दोष**—उसी बात को कहना जिसे लोग पहले से ही जानते हैं जैसे 'आपः उन्दन्तु' (तै० सं० १।२।१) क्षौरकाल में सिर को जल से भिगा दे। 'पृथिवी से पौधे होते हैं, पौधों से अन्न' (तै० २।१।१)—इन सबों में उसी का वर्णन है जिसे हम जानते हैं। इन दोषों के लिए देखिए—सायण की ऋग्वेद भाष्य भूमिका में मन्त्रों और ब्राह्मणों का प्रामाण्य-विचार और न्याय-सूत्र २।१।५७—'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः'।

मीमांसक लोग ज्ञानकाण्ड को अप्रामाणिक मानते हैं तथा वेदान्ती लोग कर्मकाण्ड को। दो के लड़ने पर तीसरे का लाभ होता ही है—इस तरह चार्वाक पूरे वेद को ही अप्रामाणिक मान लेते हैं। उनके अनुसार धूर्तों ने यज्ञादि का विधान करनेवाले वेदों का निर्माण करके, श्रद्धा से अन्धी जनता में विश्वास दिलाकर, लोगों से यज्ञ कराकर धन चूसने का एक साधन बना लिया है, उनकी यह जीविका ही हो गई है। अग्निहोत्र=अग्नि में होनेवाले सभी श्रौत, स्मार्त कर्म। तीन वेद=ऋग्, यजुः, साम। ये धूर्तों के बनाये हैं किन्तु अपौरुषेय कहकर इनका प्रचार किया गया है। त्रिदण्ड—तीनों प्रकार के कर्मों का त्याग करके संन्यास लेना और उन कर्मों को दण्ड देने के लिए दण्ड धारण करना। भस्म लगाकर सन्ध्यावन्दन, देवपूजा, जपादि करना। जिनके पास बुद्धि है वे तरह-तरह के उपाय करके (साम, दानादि उपायों से देश, काल के अनुसार परामर्श देकर) जीविका पाते हैं। पुरुषार्थ वाले पराक्रम दिखाकर वृत्ति पाते हैं। किन्तु जिनके पास ये दोनों चीजें नहीं हैं वे जीविका

का कोई दूसरा साधन न देखकर सभी जीवों को कर्म के बन्धन में पड़ा हुआ बताकर उनसे मनमाना धन ऐंठते रहते हैं।

(५. ईश्वर-मोक्ष-आत्मा)

अत एव कण्टकादिजन्यं दुःखमेव नरकः। लोकसिद्धो राजा परमेश्वरः। देहच्छेदो मोक्षः। देहात्मवादे च 'स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, कृष्णोऽहम्' इत्यादि सामानाधिकरण्योपपत्तिः। 'मम शरीरम्' इति व्यवहारो 'राहोः शिरः' इत्यादिवदौपचारिकः॥

इसलिए कण्टकादि [भौतिक कारणों से] उत्पन्न [भौतिक] दुःख ही **नरक** है (पुराणों में वर्णित कुम्भीपाकादि नरक नाम की कोई वस्तु नहीं)। संसार में स्वीकृत राजा ही **परमेश्वर** है (संसार का नियन्ता, उत्पत्ति, पालन और संहारकर्त्ता, पुनर्जन्म का प्रदाता ईश्वर नहीं क्योंकि उत्पत्ति आदि तो स्वाभाविक है, पुनर्जन्म है ही नहीं)। [देह ही आत्मा है अतः] देह या आत्मा का विनाश ही **मोक्ष** है। देह को आत्मा मानने पर ही 'मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ, मैं काला हूँ' इत्यादि वाक्यों को सिद्ध करना सरल हो सकता है क्योंकि [उद्देश्य और विधेय दोनों का] आधार एक ही हो जाता है। [मैं = आत्मा, मोटा = देह का गुण। 'अहं स्थूलः' कहने पर दोनों शब्दों का आधार समान हो जाता है, आत्मा पर शरीर के गुणों का आरोपण हुआ है इसलिए ऐसे वाक्यों की सिद्धि के लिए हमें आत्मा (अहं) और देह (स्थूलः) को समान समझना होगा। यदि आत्मा-देह एक नहीं हैं तो 'अहं स्थूलः' वाक्य कैसे बन सकता है ? उपर्युक्त देहात्मवाद को स्वीकार कर लेने पर समस्या सुलझ जाती है। अस्तु, यदि शरीर आत्मा है तो हमें 'अहं शरीरम्' कहना चाहिए, 'मम शरीरम्' कैसे कहेंगे ?] 'मेरा शरीर' यह प्रयोग 'राहु का सिर' के समान आलंकारिक या गौण-प्रयोग है। ['मम शरीरम्' तभी कह सकते हैं जब आत्मा (अहं) और शरीर में भेद हो किन्तु यह मुख्यार्थ नहीं है, आलंकारिक-दृष्टि से प्रयुक्त है। राहु और उसका सिर दो पृथक् चीजें नहीं, एक ही चीज है। 'राम का सिर' कहने पर तो पार्थक्य स्पष्ट मालूम पड़ता है क्योंकि एक ओर राम तो समस्त अङ्ग-संस्थान को कहते हैं और दूसरी ओर सिर एक अंग विशेष है। इसी के सादृश्य से 'राहु का सिर' भी कहते हैं किन्तु वस्तुतः सिर का ही नाम राहु है फिर भी 'राहोः शिरः' कहते हैं। उसी प्रकार आत्मा और शरीर के एक रहने पर भी 'मम शरीरम्' कहते हैं।]

(६. मत-संग्रह)

तदेतत्सर्वं समग्राहि—

४. अङ्गनालिङ्गनाज्जन्यसुखमेव पुमर्थता ।
कण्टकादिव्यथाजन्यं दुःखं निरय उच्यते ॥
५. लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशो नापरः स्मृतः ।
देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते ॥
६. अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः ।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥
७. किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः ॥
८. देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः ।
मम देहोऽयमित्युक्तिः संभवेदौपचारिकी ॥ इति ।

इन सबों का संग्रह कर दिया गया है—स्त्री के आलिंगन से उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ का लक्षण है। काँटे इत्यादि [गड़ने की] पीड़ा से उत्पन्न दुःख ही नरक कहलाता है ॥ ४ ॥ संसार के द्वारा माना गया राजा ही परमेश्वर है, कोई दूसरा नहीं, देह का नाश ही मुक्ति है, ज्ञान से मुक्ति नहीं होती ॥ ५ ॥ इस मत में चार तत्त्व हैं—भूमि, जल, अग्नि और वायु। इन्हीं चारों भूतों से चैतन्य (ज्ञान) उत्पन्न होता है, जिस प्रकार किण्वादि द्रव्यों के मिलने से मदशक्ति (निकलती है)। 'मैं मोटा हूँ', 'मैं पतला हूँ' इस प्रकार [दोनों के] एक आधार होने के कारण तथा मोटाई आदि से संयोग होने के कारण देह ही आत्मा है, कोई दूसरा नहीं। 'मेरा शरीर' यह उक्ति आलंकारिक है ॥ ६–८ ॥

(७. अनुमान-प्रमाण का खण्डन)

स्यादेतत् । स्यादेष मनोरथो यद्यनुमानादेः प्रामाण्यं न स्यात् । अस्ति च प्रामाण्यम् । कथमन्यथा धूमोपलम्भानन्तरं धूमध्वजे प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरुपपद्येत ? 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इति वचनश्रवणसमनन्तरं फलार्थिनां नदीतीरे प्रवृत्तिरिति ?

तदेन्मनोराज्यविजृम्भणम् । व्याप्तिपक्षधर्मताशालि हि लिङ्गं गमकम् अभ्युपगतमनुमानप्रामाण्यवादिभिः । व्याप्तिश्च

उभयविधोपाधिविधुरः सम्बन्धः । स च सत्तया चक्षुरादिवन्नाङ्ग-भावं भजते, किं तु ज्ञाततया । कः खलु ज्ञानोपायो भवेत् ?

खैर यही सही, किन्तु आपकी यह इच्छा तो तब पूरी होती जब अनुमानादि को प्रामाणिक नहीं मानते (यह चार्वाक के विरोधियों की शंका है)। लेकिन अनुमानादि तो प्रमाण हैं ही, नहीं तो धुआँ देखकर अग्नि (धूमध्वज) के प्रति बुद्धिमान् लोगों की प्रवृत्ति कैसे सिद्ध होती (= अनुमान-प्रमाण से ही यह सम्भव है) ? अथवा, 'नदी के किनारे फल हैं' इस बात को सुनकर फल चाहनेवाले नदी के किनारे क्यों चल पड़ते हैं ? (= शब्द या आगम-प्रमाण से यह सम्भव है जब कि आप्त या यथार्थवक्ता की बात सुनकर उस पर विश्वास करें)। [इस प्रकार इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि अनुमान और शब्द प्रमाण हैं—यह पूर्वपक्षी अर्थात् चार्वाक के विरोधियों का वचन है]।

यह सब केवल मन के राज्य की कल्पना है। अनुमान को प्रमाण माननेवाले लोग, सम्बन्ध बतलानेवाला लिङ्ग (हेतु Middle term) मानते हैं जो व्याप्ति (Major premise) और पक्षधर्मता (Minor premise) से युक्त रहता है। व्याप्ति का अर्थ है दोनों प्रकार की (शंकित और निश्चित) उपाधियों से रहित [पक्ष और लिङ्ग का] सम्बन्ध। आँख की तरह यह सम्बन्ध केवल अपनी **सत्ता** से ही [अनुमान का] अङ्ग नहीं बन सकता, प्रत्युत इसके **ज्ञान** से [अनुमान संभव है]। (कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार आँख दर्शन-क्रिया का एक सहायक अङ्ग है उसी प्रकार व्याप्ति भी अनुमान का अङ्ग है। किन्तु इन दोनों की सहायता की विधियों में बड़ा अन्तर है। **देखने** में, स्वयं आँखों के ज्ञान की आवश्यकता नहीं, केवल सत्ता की आवश्यकता है किन्तु **अनुमान** में. सहायता देनेवाली व्याप्ति की सत्ता की आवश्यकता नहीं, उसका ज्ञान होना चाहिए)। अब व्याप्ति के ज्ञान का कौन-सा उपाय है ? [इसके बाद प्रत्यक्षादि साधनों के द्वारा व्याप्ति का ज्ञान असम्भव है—यह दिखलाया जायगा।]

विशेष—किसी अनुमान (यदि परार्थानुमान न हो) में तीन वाक्य होते हैं—व्याप्ति (Major premise), पक्षधर्मता (Minor premise) तथा निगमन (Conclusion)।

(व्याप्ति) यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः,
(पक्षधर्मता) पर्वते धूमः,
(निगमन) ∴ पर्वते वह्निः।
या, All smoky objects are fiery (Major),

The hill is smoky (Minor),
∴ The hill is fiery (Concl,).

इनमें 'पर्वत' **पक्ष** (Minor term जिसमें साध्य की सत्ता सन्दिग्ध हो) है, 'वह्नि' **साध्य** (Major term सिद्ध करने योग्य) और 'धूम' **हेतु** या **लिङ्ग** (Middle term)। हेतु वह पद है जो Major और Minor premise में विद्यमान हो किन्तु निगमन (Conclusion) में न रहे। व्याप्तिवाक्य (Major premise) में हेतु और साध्य का सम्बन्ध होता है, पक्षधर्मता-वाक्य (Minor premise) में हेतु और पक्ष का सम्बन्ध होता है तथा निगमन (Conclusion) में पक्ष और साध्य का। मूल-ग्रन्थ की पंक्ति में कहा है कि अनुमान में लिङ्ग या हेतु को व्याप्ति और पक्षधर्मता के वाक्यों में स्थित रहना चाहिए। प्रत्येक अवस्था में अनुमान की सफलता व्याप्ति पर ही अवलम्बित है अतः व्याप्ति ज्ञान के लिए न्याय-दर्शन में अनेक उपाय बतलाये गये हैं। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में तो इसके लिए पूरा आगमन तर्कशास्त्र ही पड़ा हुआ है (Inductive Logic)। चार्वाक सिद्ध करते हैं कि व्याप्ति को न तो प्रत्यक्ष से जान सकते, न अनुमान से; उपमान और शब्द भी इसमें असफल हैं।

व्याप्ति के ज्ञान में दो उपाधियाँ (Conditions) होती हैं—**निश्चित** और **शंकित**। यह तो स्पष्ट है कि व्याप्ति में उपाधि रहने पर निगमन भी सोपाधिक होगा अर्थात् अशुद्ध होगा। निम्नलिखित अनुमान सोपाधिक है—

सभी हिंसायें अधर्म का साधन हैं,
यह हिंसा भी हिंसा ही है,
∴ यह हिंसा अधर्म का साधन है।

यहाँ पर व्याप्तिवाक्य में 'निषिद्ध' उपाधि है अर्थात् व्याप्ति को इस प्रकार होना चाहिए—'सभी निषिद्ध हिंसायें अधर्म का साधन हैं'। यदि ऐसा नहीं किया जाय तो वेदविहित-हिंसा भी अधर्म का साधन हो जाय! इसी उपाधि के चलते निगमन भी सोपाधिक (Conditional) हो गया कि 'यदि यह निषिद्ध हिंसा है तो अधर्म का साधन है'। अस्तु, ऊपर कहा जा चुका है कि व्याप्ति की सत्ता से ही अनुमान लाभान्वित नहीं होता, जब तक कि उसका निश्चित ज्ञान न हो। इसी प्रकार व्याप्ति में यदि उपाधि **निश्चित** हो तब तो अनुमान हो नहीं सकता। उपाधि के **शंकित** होने पर भी कहीं व्याप्ति होगी, कहीं नहीं। ऐसी अवस्था में व्याप्ति होने पर भी उसके निश्चित ज्ञान के अभाव में अनुमान नहीं हो सकता, व्याप्ति न रहने पर तो अनुमान का प्रश्न ही नहीं

उठता। इसीलिए व्याप्ति को उभयविध-उपाधि से विधुर (रहित) होना कहा गया है।

(८. प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता)

न तावत्प्रत्यक्षम्। तच्च बाह्यमान्तरं वाऽभिमतम्। न प्रथमः। तस्य संप्रयुक्तज्ञानजनकत्वेन भवति प्रसरसंभवेऽपि भूतभविष्यतोस्तदसंभवेन सर्वोपसंहारवत्याः व्याप्ते दुर्ज्ञानत्वात्। न च व्याप्तिज्ञानं सामान्यगोचरमिति मन्तव्यम्। व्यक्त्योरविनाभावाभावप्रसङ्गात्। नाऽपि चरमः। अन्तःकरणस्य बहिरिन्द्रियतन्त्रत्वेन बाह्येऽर्थे स्वातन्त्र्येण प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तदुक्तम्— चक्षुराद्युक्तविषयं परतन्त्रं बहिर्मनः (त० वि० २०)। इति॥

प्रत्यक्ष-प्रमाण से तो [व्याप्ति का ज्ञान] नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष या तो बाह्य (External) होता है या आन्तर (Internal)। इनमें पहले (बाह्य) प्रत्यक्ष से [व्याप्तिज्ञान होना असम्भव है; बाह्य-प्रत्यक्ष केवल बाहरी इन्द्रियों से उत्पन्न होता है]। बाह्य-प्रत्यक्ष [बाह्येन्द्रियों से] सम्बद्ध (बाहरी) विषयों का ही ज्ञान उत्पन्न कर सकता है। [बाह्येन्द्रियों का सम्बन्ध तो केवल वर्तमानकाल की वस्तुओं के साथ ही हो सकता है, अतएव] इस तरह का ज्ञान भले ही वर्तमानकाल (भवत्) की वस्तुओं के विषय में सफल हो, परन्तु भूतकाल और भविष्यत्काल की वस्तुओं का ज्ञान देने में तो असफल हो जायगा। व्याप्ति तो सभी अवस्थाओं (कालों) का संग्रह करनेवाली है अतः [बाह्य-प्रत्यक्ष से] इसका ज्ञान होना दुष्कर है। ऐसा भी न समझें कि व्याप्ति का ज्ञान सामान्य (जाति General class) के विषय में होता है (अर्थात् यद्यपि तीनों काल में धूम, अग्नि आदि के वैयक्तिक उदाहरण हम नहीं पा सकते किन्तु इनकी जाति—धूमत्व, अग्नित्व आदि—का तो त्रैकालिक-ज्ञान एक बार ही हो सकता है। तीनों कालों के धूमों में धूमत्व तो वही है इसलिए सामान्य द्वारा व्याप्तिज्ञान हो सकता है। ऐसा नहीं समझना चाहिए) क्योंकि तब दो व्यक्तिगत उदाहरणों में अविनाभाव (व्याप्ति) का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता [क्योंकि यह निश्चित नहीं कि जाति में प्राप्त सभी गुण उसके प्रत्येक व्यक्ति में होंगे ही। धूमत्व (जाति) की न व्याप्ति हमने जान ली, किसी विशेष धूम की तो नहीं न ? वैयक्तिक-धूम की व्याप्ति न जानने से व्यक्ति के विषय में अनुमान भी नहीं हो सकता]।

प्रत्यक्ष का दूसरा भेद (आन्तर प्रत्यक्ष) भी [व्याप्तिज्ञान] नहीं करा सकता, [आन्तर प्रत्यक्ष मन-रूपी अन्तरिन्द्रिय द्वारा ज्ञान देता है किन्तु] अन्तःकरण बाह्येन्द्रियों के अधीन है (जो ज्ञान बाहरी इन्द्रियाँ पाती हैं, मन उसी की छाप ग्रहण कर लेता है) इसलिए बाह्य-वस्तुओं (धूम-अग्नि आदि) में स्वतंत्रतापूर्वक उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती (= बाह्यवस्तुओं के ज्ञान के लिए निश्चय ही अन्तःकरण बाह्येन्द्रियों की सहायता लेगा)। कहा भी गया है—'आँख आदि बाहरी इन्द्रियों के द्वारा प्रदर्शित (उक्त) विषयों को ग्रहण करने वाला मन बाह्येन्द्रियों (बहिः) के अधीन है' (तत्त्व-विवेक, २०) ॥

(९. अनुमान और शब्द से व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता)

नाप्यनुमानं व्याप्तिज्ञानोपायः तत्रतत्रापि एवमित्यनवस्था-दौःस्थ्यप्रसङ्गात् । नापि शब्दस्तदुपायः काणादमतानुसारेण अनुमाने एवान्तर्भावात् । अनन्तर्भावे वा वृद्धव्यवहाररूपलिङ्गा-वगतिसापेक्षतया प्रागुक्तदूषणलङ्घनाजङ्घालत्वात् । धूमधूमध्व-जयोरविनाभावोऽस्तीति वचनमात्रे मन्वादिवद्विश्वासाभावाच्च । अनुपदिष्टाविनाभावस्य पुरुषस्यान्तरदर्शनेन अर्थान्तरानुमित्य-भावे स्वार्थानुमानकथायाः कथाशेषत्वप्रसङ्गाच्च कैव कथा परानु-मानस्य ?

अनुमान भी व्याप्तिज्ञान नहीं दे सकता; यदि अनुमान से व्याप्ति बने तो व्याप्ति को सिद्ध करने वाले अनुमान की सिद्धि के लिए एक दूसरा अनुमान चाहिए, पुनः उस अनुमान के लिए तीसरा अनुमान चाहिए। इस प्रकार अनवस्था-दोष (जिसकी समाप्ति कभी न हो) उत्पन्न होगा। [अभ्य०—अग्नि को धूम में सिद्ध करनेवाली व्याप्ति जिस दूसरे अनुमान से ज्ञात होती है उस अनुमान को सिद्ध करने वाली व्याप्ति किसी तीसरे अनुमान से ज्ञात होगी—इस प्रकार अनवस्था-दोष हुआ।]

शब्द-प्रमाण भी व्याप्ति ज्ञान नहीं दे सकता क्योंकि कणाद (वैशेषिक-दर्शनकार) के मत के अनुसार शब्द अनुमान के ही अन्तर्गत है[1], [इसलिए अनुमान के खण्डन के साथ शब्द का भी खण्डन हो गया]। यदि शब्द को

---

१. देखिये—भाषा-परिच्छेद, १४०—

शब्दोपमानयोर्नैव पृथक्प्रामाण्यमिष्यते ।
अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम् ॥

अनुमान के अन्तर्गत न भी मानें तो भी वृद्ध-पुरुष के व्यवहार-रूपी लिङ्ग (चिह्न middle term) की तो आवश्यकता पड़ेगी ही, इसलिए फिर ऊपर कहा हुआ दोष (अनवस्था) आ जायगा जिसे लाँघना टेढ़ी खीर है (= शब्द-प्रमाण में शक्तिग्रह द्वारा वस्तुओं का बोध होता है। शक्तिग्रह के भिन्न-भिन्न उपाय हैं जैसे—व्याकरण, उपमान, कोश, आप्त-वाक्य, वृद्धव्यवहार इत्यादि। शक्तिग्रह का अभिप्राय है किसी शब्द के द्वारा निश्चित अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित करना जैसे गौ कहने से एक चतुष्पद, सींगवाले, खुरसहित प्राणी को समझ लेना। यही वैयाकरणों का शक्तिवाद या अर्थविज्ञान है जिसका वर्णन भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में विस्तृत-रूप से किया है। हाँ, तो शक्तिग्रह के साधनों में वृद्ध पुरुष का व्यवहार भी एक है। किन्तु यह (वृद्धपुरुष वाला) शक्तिग्रह या शक्तिज्ञान अनुमान-प्रमाण से होता है। जैसे—कोई बालक उत्तम वृद्ध के 'गामानय' कहने पर मध्यम वृद्ध को गौ लाते हुए—इस लिङ्ग को—देखकर 'गामानय' शब्दों का अर्थ 'गौ लाओ' समझ लेता है, वैसे ही 'धूम-अग्नि में व्याप्ति है' इस प्रकार किसी के कहे हुए वाक्य से शब्दप्रमाण द्वारा उत्पन्न व्याप्तिज्ञान—जो अनुमान का साधन है, 'धूम', 'अग्नि' और 'व्याप्ति' शब्दों के शक्तिग्रह (अर्थज्ञान) होने के बाद ही, हो सकता है, उसके पहले नहीं। फिर, शक्तिग्रह के लिए दूसरे व्यवहार'रूपी लिङ्ग की आवश्यकता होगी अर्थात् दूसरा अनुमान चाहिए और उस अनुमान में भी शक्तिग्रह चाहिए—इस प्रकार पुनः अनवस्था आ जाती है)।

यदि यह कहें कि धूम और अग्नि (धूमध्वज) में अविनाभाव-सम्बन्ध पहले से ही है तो इस बात पर वैसे ही विश्वास नहीं होगा जैसे मनु-आदि ऋषियों की बातों पर। इस तरह अविनाभाव-सम्बन्ध को न जाननेवाला व्यक्ति दूसरी चीज (धूमादि) देखकर, दूसरी चीज (अग्नि-आदि) का अनुमान नहीं कर सकता इसलिए स्वार्थानुमान की बात केवल नाममात्र को रह जाती है, परार्थानुमान की तो बात ही क्या? (= यदि व्याप्तिज्ञान का साधन केवल शब्द को मानते हैं तब तो जिस व्यक्ति को धूम-अग्नि के अविनाभाव-सम्बन्ध का ज्ञान नहीं दिया गया वह तो धूम से अग्नि का अनुमान करेगा ही कैसे? इस तरह आपके अपने तर्क से ही स्वार्थानुमान—जिसमें प्रमाणान्तर से व्याप्ति जानकर अनुमान होता है—का दुर्ग ध्वस्त हो जाता है। पञ्चावयव-वाक्यों का प्रयोग सम्भव न होने से परार्थानुमान का प्रयोक्ता भी नहीं मिल सकता। दोनों अनुमानों के लिये तर्कसंग्रह देखें।

विशेष—अनवस्था दोष—नैयायिकों के यहाँ कई दोष हैं जिनमें ये साधारण हैं। जब किसी वस्तु को उसी के आधार पर सिद्ध करते हैं तब

आत्माश्रय-दोष होता है। दो वस्तुओं में एक को दूसरे के आधार पर सिद्ध किया जाय तो **अन्योन्याश्रय**-दोष होता है। तीन या उससे अधिक वस्तुओं के बीच वृत्त के रूप में घूमने वाले तर्क को **चक्रक**-दोष कहते हैं। यदि तर्क को अनन्त काल तक चलने दिया जाय तो **अनवस्था**-दोष होता है। (इण्डियन रिसर्च इंस्टिच्यूट की सायण-ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका, डॉ० सातकडि मुखोपाध्याय अनूदित, पृ० ७, पाद-टिप्पणी)। शक्तिग्रह के ये साधन हैं—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानात्कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सांन्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥ (वा० प०)

(१०. उपमानादि से भी व्याप्तिज्ञान संभव नहीं)

उपमानादिकं तु दूरापास्तम्। तेषां संज्ञासंज्ञिसंबन्धादिबोधकत्वेन अनौपाधिकसंबन्धबोधकत्वासंभवात्॥

[व्याप्ति-ज्ञान कराने में] उपमानादि तो दूर से ही खिसक गये (= उपमान से व्याप्तिज्ञान नहीं होता)। इसका कारण यह है कि उपमान में संज्ञा (गवय) और संज्ञी (गो सदृश पिण्ड) का सम्बन्ध होता है, उसी सम्बन्ध का बोध कराना उपमान का काम है; उपाधि से रहित सम्बन्ध (= व्याप्ति) का बोध कराना उसके लिये साध्य नहीं।

विशेष—उपमान का लक्षण तर्कसंग्रह में इस प्रकार किया गया है— 'उपमितिकरणमुपमानम्। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः।' (पृ० १६) अर्थात् किसी वस्तु (संज्ञी) से उसके नाम (संज्ञा) का सम्बन्ध जानना **'उपमिति'** कहलाता है। इस उपमिति का करण (= असाधारण कारण, साधन) **'उपमान'** कहलाता है। यहाँ करण का अभिप्राय है सादृश्य-सम्बन्ध को जानना। कोई व्यक्ति गवय को नहीं जानता किन्तु किसी जंगली आदमी से सुनता है कि 'गवय' 'गौ के समान' होता है—वह वन में जाकर देखता है कि गौ के समान ही कोई जीव चर रहा है, वह पहली बात को याद करके तुरत समझ लेता है कि वर्त्तमान जीव गवय है। उपमान यही है—यहाँ 'गवय' संज्ञा या नाम है, 'गौ के समान पिण्ड' संज्ञी है अर्थात् उस परार्थ का बोध कराता है। उपमान संज्ञा और संज्ञी का सम्बन्ध मात्र बतलाता है, किसी दूसरे सम्बन्ध को बतलाने की शक्ति इसमें नहीं अतः व्याप्ति का ज्ञान कराना उसके लिए साध्य नहीं क्योंकि व्याप्ति में उपाधि-रहित सम्बन्ध का बोध होता है। इसी प्रकार अभावादि प्रमाण भी इस काम में सफल नहीं हो सकते क्योंकि अभाव में तो केवल अभाव का ज्ञान होगा उससे भिन्न (व्याप्ति आदि) का ज्ञान वह नहीं करा सकता।

(१०. व्याप्तिज्ञान का दूसरा उपाय भी नहीं है)

किं च—उपाध्यभावोऽपि दुरवगमः। उपाधीनां प्रत्यक्षत्वनियमासम्भवेन प्रत्यक्षाणामभावस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि, अप्रत्यक्षाणामभावस्य अप्रत्यक्षतयाऽनुमानाद्यपेक्षायामुक्तदूषणानतिवृत्तेः। अपि च, 'साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्तिः' इति तल्लक्षणं कक्षीकर्त्तव्यम्। तदुक्तम्—

इसके अलावे, यदि उपाधि के अभाव को [व्याप्ति समझते हैं, तो उसे] भी जानना कठिन ही है। इसका कारण यह है कि 'सभी उपाधियाँ प्रत्यक्ष ही होंगी'—यह नियम रखना असंभव है; यद्यपि प्रत्यक्ष वस्तुओं का अभाव भी प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है, किन्तु अप्रत्यक्ष (न दिखलाई पड़ने वाली) वस्तुओं का अभाव भी अप्रत्यक्ष ही रहेगा (= किसी वस्तु के अभाव का ज्ञान तभी होता है जब उस वस्तु को जानते हैं—अभावज्ञानं प्रतियोगिज्ञानसापेक्षम्—अर्थात् अभाव का ज्ञान अपने विरोधी = भाव के ज्ञान की अपेक्षा रखता है)। इसलिए [अप्रत्यक्ष वस्तुओं के अभाव को जानने के लिए] दूसरे प्रमाण—अनुमानादि—की आवश्यकता होगी और तब फिर वही उपर्युक्त (अनवस्था) दोष आ जायगा जिसे हम हटा नहीं सकते। (कहने का अभिप्राय यह है—यदि व्याप्ति का लक्षण 'उपाधिहीनता' हो तो इसे सभी प्रकार की उपाधियों से रहित होना चाहिए। उपाधि का अभाव तभी जाना जा सकता है जब उपाधि का ज्ञान हो। उपाधियाँ सभी प्रत्यक्ष ही नहीं रहतीं—कुछ द्रव्यरूप-धर्मी, कुछ गुणादिरूप-धर्म, कुछ मूर्त, अमूर्त, प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष—इस प्रकार कई तरह की हो सकती हैं। जैसा कि ऊपर कह चुका हूँ कुछ शङ्कित और निश्चित भी होती हैं। प्रत्यक्ष उपाधियों का अभाव तो प्रत्यक्ष होगा, किन्तु अप्रत्यक्ष उपाधियों का अभाव अप्रत्यक्ष ही होगा। अप्रत्यक्ष का ज्ञान अनुमान से ही होगा और अनुमान में उपाधि-हीन सम्बन्ध (व्याप्ति) की पुनः अपेक्षा होगी। फिर उस व्याप्ति के लिए तीसरा अनुमान और उस अनुमान के लिए पुनः व्याप्ति—इस प्रकार यह तर्कशृंखला अनन्तकाल तक चलती रहेगी)।

उपाधिका दूसरा लक्षण—इसके अलावे [दूसरा दोष भी है—] उपाधि का यह लक्षण स्वीकार करना चाहिए—जो साधन (हेतु Middle term) को सदा व्याप्त न करने पर भी साध्य (Major term) के साथ सम-व्याप्ति रखे [व्याप्ति दो प्रकार की होती है—सम और विषम। दोनों वस्तुओं की व्याप्ति बराबर-बराबर रहने पर समव्याप्ति होती है जैसे (Man)

और (Rational Animal) में। विषम व्याप्ति जैसे धूम और अग्नि में—यहाँ धूम के साथ अग्नि की व्याप्ति होने पर भी अग्नि के साथ धूम की व्याप्ति नहीं है क्योंकि धूम नहीं रहने पर भी अग्नि हो सकती है]। ऐसा कहा भी है—

विशेष—उपाधि का उपर्युक्त लक्षण ही सभी न्याय-ग्रन्थों में स्वीकृत किया गया है। भाषा-परिच्छेद (१३८) में कहा गया है—

साध्यस्य व्यापको यस्तु हेतोरव्यापकस्तथा।
स उपाधिर्भवेत्तस्य निष्कर्षोऽयं प्रदर्श्यते॥

अर्थात् साध्य के रूप में स्वीकृत वस्तु का जो व्यापक हो तथा साधन के रूप में स्वीकृत वस्तु का व्यापक न हो वही उपाधि है (मुक्तावली०)। तर्कसंग्रह में तो मानो माधव के शब्द ही हैं (पृ० १५)—'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः। साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्। साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वम्। यथा 'पर्वतो धूमवान्, वह्निमत्त्वात्' इत्यत्र आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। तथाहि, 'यत्र धूमस्तत्रार्द्रेन्धनसंयोगः' इति साध्यव्यापकत्वम्। 'यत्र वह्निस्तत्रार्द्रेन्धनसंयोगो नास्ति, अयोगोलके आर्द्रेन्धनसंयोगाभावात्' इति साधनाव्यापकत्वम्। एवं साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वात् आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः।' साध्य का व्यापक कोई तभी बन सकता है जब कि साध्य के समान आधार वाली वस्तु के अत्यन्ताभाव का विरोधी हो, जैसे—

सभी वह्निमान् पदार्थ धूमवान् हैं,
पर्वत वह्निमान् है,
∴ पर्वत धूमवान् है,

इस अनुमान में 'भींगी लकड़ी से संयोग' उपाधि है जो निष्कर्ष को भी सोपाधिक (Conditional) बना देती है। यह उपाधि 'धूमवान्' (साध्य major term) का व्यापक है कि जहाँ धूम होगा अग्नि में भींगी लकड़ी का संयोग भी अवश्य होगा। इस तरह उपाधि साध्य का व्यापक होती है। साधन का अव्यापक कोई तब हो सकता है जब साधन (हेतु middle term) से युक्त वस्तु में रहने वाले के अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी हो जैसे उपर्युक्त अनुमान में—'जहाँ अग्नि है वहाँ भींगी लकड़ी नहीं होती, लोहे के गोले (या बिजली) में भींगी लकड़ी नहीं रहती है'—इस प्रकार साधन (वह्निमान्) में उपाधि की अव्याप्ति रहती है। इसी लक्षण को आचार्यों ने कहा भी है। स्मरणीय है कि उपाधियुक्त अनुमान में व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास होता है।

अव्याप्तसाधनो यः साध्यसमव्याप्तिरुच्यते स उपाधिः ।
शब्देऽनित्ये साध्ये सकर्तृकत्वं घटत्वमश्रवतां च ॥ ९ ॥
व्यावर्त्तयितुमुपात्तान्यत्र क्रमतो विशेषणानि त्रीणि ।
तस्मादिदमनवद्यं समासमेत्यादिनोक्तमाचार्य्यैश्च ॥१०॥ इति ।

जो (१) साधन को व्याप्त न करे, (२) साध्य को व्याप्त करे और (३) साध्य के समान व्याप्ति रखे—उसे उपाधि कहते हैं । [उपाधि के उपर्युक्त लक्षण में] तीन विशेषण इसलिए रखे गये हैं कि [इनमें से प्रत्येक के द्वारा] शब्द को अनित्य सिद्ध करने के समय क्रमशः निम्नोक्त तीन उपाधियाँ हटाई जायँ—(१) कर्त्ता से युक्त होना, (२) घट होना, (३) श्रवणीय न होना । इसलिए यह निर्दोष (लक्षण) है और आचार्यों ने भी 'समासमा' इत्यादि श्लोक के द्वारा कहा है ।

विशेष—उपाधि के लक्षण में तीन खण्ड हैं और इन खण्डों में किसी एक के भी अभाव में दोष उत्पन्न होगा । तभी तो लक्षण की पूर्णता समझी जायगी । हम यहाँ देखें कि कैसे, किसके अभाव में, कौन-सा दोष उत्पन्न होता है । एक अनुमान है—

सभी उत्पन्न वस्तुएँ अनित्य हैं,
शब्द उत्पन्न होता है, (शब्दोऽनित्यः उत्पन्नत्वात्)
∴ शब्द अनित्य है,

इस अनुमान में 'अनित्यत्व' साध्य है, 'उत्पन्नत्व' साधन । हमें उपाधि के उपर्युक्त लक्षण की परीक्षा इसी अनुमान के आधार पर करनी है ।

सबसे पहले उपाधि के लक्षण से प्रथम विशेषण—साधनाऽव्यापकत्व—को हटा दें; बचा, 'साध्यव्याप्तिः उपाधिः' । अब ऊपर वाले शुद्ध अनुमान (अनौपाधिक) में इस लक्षण को लगाने पर उपाधि निकल आवेगी—सकर्तृकत्व (किन्तु पहले से वह अनुमान उपाधि-हीन है) । इसका कारण यह है कि सकर्त्तृकत्व के साथ अनित्यत्व (साध्य) की व्यापकता है—सभी सकर्त्तृक वस्तुएँ अनित्य हैं (इस प्रकार साध्य को व्याप्त करने के कारण यह उपाधि हो गई) । किन्तु उपर्युक्त अनुमान उपाधिहीन है, 'सकर्तृकत्व' उपाधि उसमें आ न जाय, इसलिए 'साधनाव्यापक'—यह विशेषण रखा गया । उसे रखने से 'सकर्तृक' उपाधि नहीं आ सकती क्योंकि 'सकर्तृक' (उपाधि) के साथ 'उत्पन्नत्व' (साधन) की अव्यापकता नहीं, व्यापकता ही है; अतः उस अवस्था में ऐसी किसी उपाधि को आने का अवसर नहीं मिलेगा ।

अब दूसरे विशेषण—साध्यव्यापकत्व—पर आपत्ति आयी, इसे हटा दें; बचा, 'अव्याप्तसाधनः उपाधिः'। इस लक्षण को उपर्युक्त अनुमान में लगाने पर एक उपाधि निकल आती है—घटत्व। घटत्व (उपाधि) उत्पन्नत्व (साधन) का अव्यापक है क्योंकि जो घटत्व होगा वह तो उत्पन्न नहीं होगा (इस प्रकार साधन को अव्याप्त करने के कारण यह उपाधि हो गई)। 'घटत्व' उपाधि का वारण करने के लिए 'साध्यव्यापक'—यह विशेषण दिया गया। उसे रखने से 'घटत्व' उपाधि नहीं आ सकती क्योंकि 'घटत्व' (उपाधि) में साध्य (अनित्यत्व) को व्याप्त करने की शक्ति नहीं, घटत्व (जाति) नित्य है।

इतने पर भी 'अश्रावणत्व' उपाधि के आने का अवकाश है यदि हम 'साध्य-सम-व्याप्ति'—यह विशेषण नहीं रखें। अश्रावणत्व (उपाधि) उपर्युक्त अनुमान के साधन (उत्पन्नत्व) को व्याप्त नहीं करता (साधनाव्यापकत्वे सति), क्योंकि शब्द—जैसी उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं में अश्रावणत्व का अभाव है (अर्थात् श्रवणीयता)। पुनः, अश्रावणत्व (उपाधि) अपने साध्य (अनित्यत्व) को व्याप्त कर लेता है। यहाँ अनित्यत्व का अभिप्राय समझें—द्रव्यत्व-मात्र से व्याप्त (अवच्छिन्न) अनित्यत्व अर्थात् अनित्य कहलाने वाले सारे द्रव्य। किन्तु कुछ द्रव्य (आत्मा, आकाश आदि) नित्य हैं जिनमें भी अश्रावणत्व है, इसलिए 'अश्रावणत्व' (उपाधि) [द्रव्यत्व-मात्र से व्याप्त] अनित्यत्व के साथ समव्याप्ति नहीं रखता और उपाधि के रूप में दिखलाई पड़ता है। यदि समव्याप्ति होती तो उपाधि नहीं दिखलाई पड़ती। अतः उपाधि के लक्षण में तीसरे विशेषण—साध्यसमव्याप्ति—की भी आवश्यकता है तभी अश्रवत्व-नामक उपाधि से बच सकते हैं।

'समासमा' से पूरा यह श्लोक समझें—

समासमाविना भावावेकत्र स्तो यदा तदा।
समेन यदि नो व्याप्तस्तयोर्हीनोऽप्रयोजकः॥

यह श्लोक श्रीहर्ष-रचित **'खण्डन-खण्ड-खाद्य'** की आनन्दपूर्णीय-टीका में अनुमान-खण्डन (पृ० ७०७) के प्रकरण में उद्धृत किया गया है। ऊपर कहा जा चुका है कि व्याप्ति के दो भेद हैं—सम और असम। निरन्तर एक साथ रहने वाले दो पदार्थों की व्याप्ति सम कहलाती है जैसे—पृथिवी और गन्ध की। निरन्तर एक साथ न रहनेवाले (असमनियतयोः) दो पदार्थों की व्याप्ति असम कहलाती है जैसे—अग्नि और धूम की। आर्द्रेन्धनसंयोग (उपाधि) और धूम में समव्याप्ति होती है। किन्तु आर्द्रेन्धनसंयोग और अग्नि में असमव्याप्ति है। इस प्रकार दो व्याप्तियाँ हैं=धूम और अग्नि में 'अग्नि' असम या हीन व्याप्ति वाला है, किन्तु 'धूम' सम व्याप्तिवाला। तो, श्लोक का अर्थ है कि जब

सम और असम दोनों व्याप्तियाँ (अविनाभाव) एक स्थान पर ही विद्यमान हों और सम (धूम) के द्वारा अग्नि (असम) व्याप्त न किया जा सके तो वह हीन व्याप्ति वाला (अग्नि) प्रयोजक नहीं होता अर्थात् धूम रूपी साध्य का साधक (हेतु) नहीं बन सकता। किसी भी तरह, समव्याप्ति की अनिवार्यता स्पष्ट है।

(११. व्याप्तिज्ञान और उपाधिज्ञान में अन्योन्याश्रय दोष)

तत्र विध्यध्यवसायपूर्वकत्वान्निषेधाध्यवसायस्य उपाधिज्ञाने जाते तदभावविशिष्टसम्बन्धरूपव्याप्तिज्ञानं, व्याप्तिज्ञानाधीनं चोपाधिज्ञानमिति परस्पराश्रयवज्रप्रहारदोषो वज्रलेपायते। तस्मादविनाभावस्य दुर्बोधतया नानुमानाद्यवकाशः ॥

विधि (Affirmative) का निश्चय हो जाने के बाद ही उसके निषेध (Negative) का निश्चय होता है, इसलिए उपाधिज्ञान (विधि) हो जाने पर ही इसके निषेध (अभाव) से युक्त सम्बन्ध वाली व्याप्ति का ज्ञान होता है (= व्याप्ति में उपाधि का अभाव होना चाहिए इसलिए उपाधि का ज्ञान हो जाने के बाद ही व्याप्ति का ज्ञान संभव है)। दूसरी ओर उपाधि का ज्ञान भी व्याप्तिज्ञान पर निर्भर करता है (क्योंकि उपाधि के लक्षण में ही व्याप्ति की बात आती है—साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्यापकः उपाधिः)। इस प्रकार अन्योन्याश्रय-दोष-रूपी वज्र-प्रहार [विरोधियों के मुख पर] वज्रलेप (सिमेंट के पलस्तर) के समान दृढ़ हो जाता है। इस प्रकार अविनाभाव (व्याप्ति Universal Proposition) दुर्बोध है और अनुमानादि प्रमाणों का कोई स्थान नहीं।

(१२. लौकिक-व्यवहार और वस्तुएँ)

धूमादिज्ञानानन्तरमग्न्यादिज्ञाने प्रवृत्तिः प्रत्यक्षमूलतया भ्रान्त्या वा युज्यते। क्वचित्फलप्रतिलम्भस्तु मणिमन्त्रौषधादिवद् यादृच्छिकः। अतस्तत्साध्यमदृष्टादिकमपि नास्ति। नन्वदृष्टानिष्टौ जगद्वैचित्र्यमाकस्मिकं स्यादिति चेत्—न तद्भद्रम्। स्वभावादेव तदुपपत्तेः। तदुक्तम्—

११. अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात्स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः ॥ इति।

धूमादि जानने के बाद अग्न्यादि जानने की जो प्रवृत्ति [लोगों में देखी

जाती] है वह या तो पूर्वकाल के प्रत्यक्ष पर आधारित है (=पहले अग्नि को प्रत्यक्ष रूप से देखा था, कुछ देर के बाद धुएँ को देखने से संस्कार जग गया और मनुष्य अग्नि को याद करते हुए प्रवृत्त होता है), या यह बिल्कुल भ्रम है (=धूम-अग्नि के साहचर्य से धूम को देखकर अग्नि का भ्रम होता है)। कभी-कभी इससे फल की प्राप्ति हो जाती है, वह तो मणि, मन्त्र, औषध-आदि के समान स्वाभाविक है (अर्थात् मणिस्पर्श, मन्त्र-प्रयोग और औषध-सेवन से कभी कार्य होता है, कभी नहीं। कभी-कभी तो इनके बिना भी कार्य की सिद्धि हो जाती है। इसलिए अन्वय-व्यतिरेक की विधियों में ठहर न सकने (व्यभिचरित होने) के कारण इनमें कार्य-कारण-भाव (Causal relation) नहीं है। ऐश्वर्यादि की प्राप्ति मणिस्पर्श से नहीं, स्वभावतः ही होती है। रोगादि निवृत्ति भी कभी स्वभावतः, कभी किसी विशेष अन्न के खाने से होती है—इसमें औषधसेवन का क्या प्रयोजन है। फिर भी काकतालीय न्याय (Accidental coincidence) से होने वाले कार्य को देखकर लोग इनमें कार्यकारणभाव मान लेते हैं। उसी तरह धूम और अग्नि में भी कार्यकारणभाव नहीं है, लोग मान लेते हैं]।

इसलिए उसका साध्य अदृष्ट-आदि कुछ नहीं। (कुछ लोगों के अनुसार अच्छे और बुरे कर्मों से उत्पन्न, पुण्य और पाप के रूप में अदृष्ट रहता है वही ऐश्वर्य देता है या रोग उत्पन्न करता है। इसे कर्मफल भी कहते हैं। ऐश्वर्यादि कार्यों को देखकर अदृष्ट-कारण की सिद्धि होती है जैसे धूम से अग्नि। किन्तु जब अनुमान मानते ही नहीं, ऐश्वर्यादि स्वाभाविक ही हैं तब अदृष्ट-रूपी कारण रहेगा क्या खाकर ?)

अब, यदि प्रश्न करे कि अदृष्ट यदि नहीं है तो संसार की विचित्रता तो आकस्मिक हो जायगी ! नहीं, यह ठीक नहीं है—वह तो स्वभाव से ही सिद्ध है (Self-evident)। कहा भी है—'अग्नि उष्ण है, जल शीतल, वायु समशीतोष्ण; यह सब विचित्रता किसने की ? अपनी-अपनी प्रकृति से ही इनकी व्यवस्थायें हुई हैं।'

(१३. चार्वाक-मत-सार)

तदेतत्सर्वं बृहस्पतिनाप्युक्तम्—

१२. न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ॥

१३. अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता ॥

१४. पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ?॥

१५. मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम्॥

बृहस्पति ने भी यह सब कहा है—न तो स्वर्ग है, न अपवर्ग (मोक्ष) और न परलोक में रहने वाली आत्मा; वर्ण, आश्रम आदि की क्रियायें भी फल देने वाली नहीं हैं ॥ १२ ॥ अग्निहोत्र, तीनों वेद, तीन दण्ड धारण करना और भस्म लगाना—ये बुद्धि और पुरुषार्थ से रहित लोगों की जीविका के साधन हैं जिन्हे ब्रह्मा ने बनाया ॥ १३ ॥ यदि ज्योतिष्टोम-यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग जायगा, तो उस जगह पर यजमान अपने पिता को ही क्यों नहीं मार डालता ? ॥ १४ ॥ मरे हुए प्राणियों को श्राद्ध से यदि तृप्ति मिले तो बुझे हुए दीपक की शिखा को तो तेल अवश्य ही बढ़ा देगा ॥ १५ ॥[1]

---

१. तुलना करें-विष्णुपुराण में चार्वाक-वर्णन (३।१८।२५-२८), पृ० २७०

नैतद्युक्तिसहं वाक्यं हिंसा धर्माय चेष्यते।
हवींष्यनलदग्धानि फलायेत्यर्भकोदितम्॥
यज्ञैरनेकैर्देवत्वमवाप्येन्द्रेण भुज्यते।
शम्यादि यदि चेत्काष्ठं तद्वरं पत्रभुक्पशुः॥
निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते।
स्वपिता यजमानेन किन्नु तस्मान्न हन्यते ?॥
तृप्तये जायते पुंसो भुक्तमन्येन चेत्ततः।
कुर्याच्छ्राद्धं श्रमायान्नं न वहेयुः प्रवासिनः॥

"हिंसा से भी धर्म होता है—यह बात किसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं है। अग्नि में हवि जलाने से फल होगा—यह भी बच्चों की सी बात है। अनेक-यज्ञों के द्वारा देवत्व लाभ करके यदि इन्द्र को शमी आदि काष्ठ का ही भोजन करना पड़ता है तो इससे तो पत्ते खाने वाला पशु ही अच्छा है। यदि यज्ञ में बलि किये गये पशु को स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो यजमान अपने पिता को ही क्यों नहीं मार डालता ? यदि किसी अन्य पुरुष के भोजन करने से भी किसी पुरुष की तृप्ति हो सकती है तो विदेश-यात्रा के समय खाद्य-पदार्थ ले जाने का परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है; पुत्रगण घर पर ही श्राद्ध कर दिया करें ?"

१६. गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम् ।
गेहस्थकृतश्राद्धेन पथि तृप्तिरवारिता ॥
१७. स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः ।
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते ? ॥
१८. यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ? ॥
१९. यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः ।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः ? ॥

[विदेश] जाने वाले लोगों के लिए पाथेय (मार्ग का भोजन) देना व्यर्थ है, घर में किये गये श्राद्ध से ही रास्ते में तृप्ति मिल जायगी ॥ १६ ॥ स्वर्ग में स्थित (पितृगण) यदि यहाँ दान कर देने से तृप्त हो जाते हैं तो महल के ऊपर (कोठे पर) बैठे हुए लोगों को यहीं पर क्यों नहीं दे देते हैं ? ॥१७॥ जब तक जीना है सुख से जीना चाहिए, ऋण लेकर भी घी पीना चाहिए (विलास करें) क्योंकि [मरने पर] भस्म के रूप में परिणत शरीर फिर [संसार में ऋणशोध के लिए] कैसे आ सकता है ? ॥ १८ ॥ [यदि आत्मा शरीर से पृथक् है और] शरीर से निकल कर दूसरे लोक में चला जाता है तब बन्धुओं के प्रेम से व्याकुल होकर लौट क्यों नहीं जाता ? ॥ १९ ॥

२०. ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह ।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित् ॥
२१. त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः ।
जर्भरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ॥
२२. अश्वस्यात्र हि शिश्नं तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम् ।
भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्तितम् ॥
मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम् ॥ इति ॥

तस्माद्बहूनां प्राणिनामनुग्रहार्थं चार्वाकमतमाश्रयणीयमिति रमणीयम् ॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसङ्ग्रहे चार्वाकदर्शनम् ॥



इसलिए ब्राह्मणों के द्वारा बनाया हुआ यह जीविकोपाय है—मृत व्यक्तियों के सारे मरणोत्तर कार्य; इसके अतिरिक्त ये सब कुछ नहीं हैं ॥ २० ॥ वेद के रचयिता तीन हैं—भाँड़, धूर्त (ठग) और राक्षस। 'जर्भरी, तुर्फरी' आदि पण्डितों की वाणी समझी जाती है ॥ २१ ॥ इस (अश्वमेध) में घोड़े के लिङ्ग को पत्नी द्वारा ग्रहण कराने का विधान है—यह सब ग्रहण करने का विधान भाँड़ों का कहा हुआ है ॥ २२ ॥ [यज्ञ में] मांस खाना भी राक्षसों (मांस के प्रेमियों) का कहा हुआ है। इसलिए बहुत से प्राणियों के कल्याण के लिए चार्वाक-मत का आश्रय लेना चाहिए, यही अच्छा है।

इस प्रकार सायण-माधव के बनाये हुए सर्वदर्शन संग्रह में चार्वाक-दर्शन समाप्त हुआ ॥

विशेष—'जर्भरी' से चार्वाकों का संकेत ऋग्वेद के इस मन्त्र पर है—

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु ॥ (१०।१०६।६)

हे दोनों अश्विनीकुमार! आप (सृण्यौ इव) अंकुश के योग्य मत्त हाथी के समान हैं, (जर्भरी) शरीर को झुकानेवाले हैं, (तुर्फरीतू) मारनेवाले हैं, (नैतोशौ इव) अत्यन्त सन्तोषदाता पुरुष के पुत्रों के समान (तुर्फरी) शत्रुओं के विनाशक हैं और (पर्फरीका) धन से भरनेवाले हैं। (उदन्यजौ इव) जल से उत्पन्न वस्तुओं से निर्मल हैं, (जेमना) विजय करनेवाले हैं, (मदेरू) मत्त या स्तवनीय हैं (ता = तौ) वे दोनों अश्विनीकुमार (मे) मेरे (जरायु) बुढ़ापे से युक्त (मरायु) मरणशील शरीर को (अजरं) जरामरण रहित कर दें।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसङ्ग्रहस्य
प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां चार्वाकदर्शनमवसितम् ॥



(२) बौद्ध-दर्शनम्

शून्यं जगत् क्षणिकमात्रमथाप्तदुःखं
स्वस्यैव लक्षणमयं तनुते स्वभावम् ।
दुःखादितत्त्वमखिलं च दिदेश देशे
बुद्धाय शिष्यसहिताय नमोऽस्तु तस्मै ।।—ऋषिः

(१. चार्वाक-मत का खण्डन—व्याप्ति की सुगमता)

अत्र बौद्धैरभिधीयते—यदभ्यधायि, 'अविनाभावो दुर्बोध इति' तदसाधीयः । तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामविनाभावस्य सुज्ञानत्वात् । तदुक्तम्—

१. कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् ।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात् ॥
(प्र० वा० १।३३) । इति ।

इस (व्याप्ति) के विषय में बौद्ध लोग कहते हैं—[चार्वाकों ने] जो यह कहा है कि अविनाभाव अर्थात् व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता, वह ठीक (सिद्ध, तर्कसम्मत) नहीं । व्याप्ति का ज्ञान तो तादात्म्य (दो वस्तुओं की एकरूपता) तथा तदुत्पत्ति (कार्य-कारण का सम्बन्ध) से आसानी से हो सकता है । यही कहा भी है—'कार्य-कारण के सम्बन्ध से अथवा नियम रखनेवाले (=साध्य-साधन का अव्यभिचार—साक्षात्सम्बन्ध—सिद्ध करनेवाले) स्वभाव के द्वारा अविनाभाव (व्याप्ति) का निर्णय होता है, अदर्शन (व्यतिरेक—एक के न होने पर दूसरे का न होना) या दर्शन (अन्वय—एक के होने पर दूसरे का होना) से नहीं ।' (प्रमाण-वार्तिक में व्याप्तिचिन्ता-परिच्छेद (१।३३) में या न्यायबिन्दु में भी यह श्लोक मिलता है । दोनों ग्रन्थ धर्मकीर्ति के हैं) ।

विशेष—अविनाभाव व्याप्ति का ही दूसरा नाम है । इसकी व्याख्या प्रमाणवार्तिक की स्ववृत्ति में इस प्रकार है—'कार्यस्य स्वभावस्य च लिङ्गस्याविनाभावः = साध्यधर्मं विना न भवतीत्यर्थः' (पृ० ८७) अर्थात् अविनाभाव = कार्य (तदुत्पत्ति) और स्वभाव (तादात्म्य) रूपी लिङ्ग का साध्य के बिना न देखा जाना । उपर्युक्त श्लोक में धर्मकीर्ति ने बौद्धों के अविनाभाव का निर्णय

करनेवाली दो विधियों (तादात्म्य और तदुत्पत्ति) का तो प्रतिपादन किया ही है, साथ-साथ नैयायिकों की व्याप्ति का निश्चय करनेवाली अन्वय और व्यतिरेक-विधियों का खण्डन भी कर दिया है। जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु की आत्मा (आत्मरूप) ही है वह उसके बिना कैसे हो सकती है ? इसलिए तादात्म्य अर्थात् नियामक स्वभाव को अविनाभाव का कारण बतलाया गया है, जैसे—शिंशपा और वृक्ष में तादात्म्य है, शिंशपा वृक्षत्व से पृथक् नहीं जा सकता। कार्य तो कारण के अधीन रहता है, कारण के बिना वह सम्भव नहीं—अतः इससे भी (दोनों विधियों से) अविनाभाव का निश्चय होता है। इसे आगे स्पष्ट किया गया है।

(२. अन्वय-व्यतिरेक से व्याप्तिज्ञान सम्भव नहीं)

'अन्वयव्यतिरेकौ अविनाभावनिश्चायकौ' इति पक्षे साध्यसाधनयोरव्यभिचारो दुरवधारणो भवेत्। भूते भविष्यति वर्तमाने चानुपलभ्यमानेऽर्थे व्यभिचारशङ्काया अनिवारणात्। ननु तथाविधस्थले तावकेऽपि मते व्यभिचारशङ्का दुष्परिहरा—इति चेत्; मैवं वोचः। विनापि कारणं कार्यमुत्पद्यतामित्येवंविधायाः शङ्काया व्याघातावधिकतया निवृत्तत्वात्। तदेव ह्याशङ्क्येत यस्मिन्नाशङ्क्यमाने व्याघातादयो नावतरेयुः। तदुक्तम्—'व्याघातावधिराशङ्का' (कुसु० ३।७) इति ॥

'अन्वय और व्यतिरेक-विधियाँ अविनाभाव (व्याप्ति) का निश्चय करती हैं' यदि [नैयायिकों के] इस पक्ष को स्वीकार करें तो साध्य (Major term) और साधन (हेतु, लिङ्ग Middle term) में कभी भी व्यभिचार (पार्थक्य) नहीं होगा, यह जानना बड़ा कठिन हो जायगा। इसका कारण यह है कि [यद्यपि सन्निहित वर्तमानकाल में हम साध्य-साधन का सम्बन्ध स्थिर कर सकते हैं किन्तु] भूतकाल, भविष्यत्काल या अनुपस्थित अर्थ (वस्तु) वाले वर्तमानकाल में व्यभिचार की शङ्का हटाई नहीं जा सकती (सामने आये हुए वर्तमानकाल में व्यभिचार नहीं हो सकता किन्तु दूर के काल में साध्य-साधन का सम्बध नहीं भी रह सकता है)।

[नैयायिक लोग पूछ सकते हैं कि] ऐसी स्थिति में (भूत, भविष्य और दूरवर्ती वर्तमानकाल के विषय में प्रश्न उठाने पर) आप [बौद्धों] के मत में भी तो व्यभिचार (साध्य-साधन के नित्य सम्बन्ध में व्यवधान) होने की

शङ्का रहती ही है, उसे बचाना बड़ा कठिन है। ऐसा प्रश्न होने पर [हमारा उत्तर होगा कि] ऐसे मत कहो, क्योंकि 'कारण के बिना भी कार्य उत्पन्न हो जायगा' इस प्रकार की शङ्का होने से उसकी निवृत्ति व्याघात (विपरीत उदाहरण, रुकावट, Contrary instance) मिल जाने पर हो ही जायगी (व्याघात हो जाने से शङ्का का अवकाश नहीं रहता)। कारण यह है कि शङ्का ऐसी ही करें जिससे व्याघात इत्यादि न मिलें। [उदयनाचार्य ने] कहा भी है—'व्याघात के प्राप्त होने के समय तक ही आशङ्का बनी रहती है' (न्या० कु० ३।७)।

विशेष—किसी अनुमान में व्याप्ति की आवश्यकता होती है, जबतक साध्य और साधन में स्थायी सम्बन्ध न दिखलाया जाय, अनुमान हो नहीं सकता। पक्ष (पर्वत) में साध्य (अग्नि) को सिद्ध करने के लिए साध्य (अग्नि) और साधन या हेतु (धूम) में व्याप्ति दिखलानी पड़ती है। व्याप्ति को जानने के लिए नैयायिकों के यहाँ दो विधियाँ हैं—(१) अन्वय (Method of Agreement) और (२) व्यतिरेक (Method of Difference) उदाहरणतः, (१) अन्वय-विधि—जहाँ-जहाँ (जैसे—रसोई घर, कारखाना, चूल्हा आदि में) धूम है, वहाँ अग्नि है। इस तरह विशिष्ट उदाहरणों में धूम देखकर अग्नि की सत्ता जानकर दोनों के व्याप्ति-सम्बन्ध को अन्वय-विधि से जानते हैं। (२) व्यतिरेक विधि—जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं है (जैसे झील, मैदान, नदी, बगीचा आदि में) वहाँ-वहाँ धूम नहीं है। अतः, एक के अभाव वाले उदाहरणों में दूसरे का भी अभाव देखकर दोनों का कार्य-कारण सम्बन्ध जान लेना व्यतिरेक-विधि है। पाश्चात्त्य तर्क-शास्त्र (आगमन) में कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करने के पाँच नियम हैं—(१) Method of Agreement, (साहचर्य की विधि) (२) Method of Difference, (भेद-विधि) (३) Joint Method of Agreement and Difference, (साहचर्य और भेद की संयुक्त-विधि) (४) Method of Concomitant Variation (सहचारी विकार-विधि) (५) Method of Residue (अवशेष-विधि)—इनकी जानकारी के लिए किसी तर्कशास्त्र (आगमन) की पुस्तक को देखा जाय।

बौद्ध लोग उपर्युक्त दोनों विधियों को इसलिए नहीं मानते कि इनसे समीपवर्ती वर्तमान काल में देखे गये उदाहरणों का पता भले लग सके किन्तु कालान्तर और देशान्तर में विद्यमान पदार्थों की व्याप्ति तो नहीं हो सकती। कभी न कभी धूम और अग्नि में व्यभिचार (पार्थक्य) हो ही जायगा—ऐसी संभावना है (सहचार = साध्य-साधन का नियत संबंध, व्यभिचार = दोनों का

अलग हो जाना); इस प्रकार डेविडह्यूम के संशयवाद (Scepticism) में प्रवेश किया जा सकता है। इससे बौद्ध लोगों ने तादात्म्य और तदुत्पत्ति को ही व्याप्ति का साधन माना है। इससे भी निस्तार नहीं है। जो आक्षेप बौद्ध लोग नैयायिकों पर लगाते हैं वही आक्षेप बौद्धों पर भी लग सकता है। तदुत्पत्ति और तादात्म्य के द्वारा व्याप्ति जानने में भी साध्य-साधन के संबन्ध-विच्छेद की संभावना है।

किन्तु बौद्ध लोग इस संशयवादी भ्रम को आड़े हाथों लेते हैं। तर्क और व्याघात का आश्रय लेकर शंकाओं को दूर किया जा सकता है। तर्क का अभिप्राय है विरोधी वाक्य को असिद्ध सिद्ध करना जैसे—'सभी धूमवान् पदार्थ अग्नियुक्त हैं' यदि वाक्य ठीक नहीं तो इसका विरोधी (Contradictory) वाक्य 'कुछ धूमवान् पदार्थ अग्नियुक्त हैं' अवश्य सत्य है। इसका अर्थ है कि अग्नि के बिना भी धूम हो सकता है (विनापि कारणं कार्यमुत्पद्यताम्)। लेकिन सामान्य कार्य-कारण-सिद्धान्त (Universal Causation) से उपर्युक्त तथ्य खंडित हो जायगा। अर्थ यह होगा कि बिना कारण के भी कार्य होने लग जायगा (स्मरणीय है कि धूम का एक मात्र कारण अग्नि ही है)। यदि कोई हठपूर्वक यह कहना शुरू कर दे कि कारण के बिना कार्य होता है तो यह व्यावहारिक असंगति (व्याघात Practical absurdity) हो जायगी। यदि कार्य कारण के बिना होता ही है तो रसोई बनाने के लिए आग की क्या आवश्यकता ? इस प्रकार व्याघात होने तक ही शंका रहती है। अपनी क्रिया के व्याघात से व्यभिचार की शंका नहीं उठती। इस विधि को पाश्चात्य तर्कशास्त्र में Reductio ad absurdum (व्यावहारिक असंगति दिखाना) कहते हैं जिसमें विरोधी वाक्य को मिथ्या सिद्ध कर देते हैं।

उदयनाचार्य की कुसुमांजलि में निम्नलिखित श्लोक है—

शङ्का चेदनुमास्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः ॥ (न्या० कु० ३।७)

(अनुमा = अनुमान)। यह अनुमान को सिद्ध करने वाली कारिका है जिसमें अनुमान से व्यभिचार की शंका का सम्बन्ध बतलाया गया है। शंका हो या नहीं, अनुमान दोनों स्थितियों में हैं। यदि शंका (= देशान्तर या कालान्तर में साध्य-साधन के बीच उपाधि या व्यभिचार होने की आशंका) रहे तो भी अनुमान सिद्ध होता है क्योंकि अनुमान-प्रमाण से ही उपाधि या व्यभिचार का ज्ञान होता है (भले ही इसके लिए दूसरे अनुमान की आवश्यकता है, पर वह है तो अनुमान ही न ?)। अगर शंका नहीं हो तब तो और भी

आनंद, क्योंकि अब तो शंका दूर करने की भी जरूरत नहीं है। शंका की अवधि तर्क को ही माना गया है। तर्क शंका का निवर्तक है। इसे हम ऊपर देख चुके हैं। लेकिन तर्क में भी व्याप्ति की आवश्यकता पड़ेगी और फिर दूसरा तर्क खोजना पड़ेगा जिससे अनवस्था-दोष (Argumentum ad Infinitum) उत्पन्न हो जायगा। इसलिए व्याघात (व्यावहारिक असंगति) का आश्रय लेना पड़ेगा। तर्कमूल व्याप्ति में जब अपनी क्रिया का व्याघात या असंगति आवेगी तब व्यभिचार-शंका समाप्त हो जायगी—पुनः दूसरे तर्क की आवश्यकता नहीं। इसलिए शंका की अवधि व्याघात है। शंका तभी तक है जब तक व्याघात नहीं मिलता।

(३. तदुत्पत्ति से अविनाभाव का ज्ञान—पंचकारणी)

तस्मात्तदुत्पत्तिनिश्चयेनाविनाभावो निश्चीयते। तदुत्पत्तिनिश्चयश्च कार्यहेत्वोः प्रत्यक्षोपलम्भानुपलम्भपञ्चकनिबन्धनः। कार्यस्योत्पत्तेः प्रागनुपलम्भः, कारणोपलम्भे सति उपलम्भः, उपलब्धस्य पश्चात्कारणानुपलम्भादनुपलम्भः इति पञ्चकारण्या धूमधूमध्वजयोः कार्यकारणभावो निश्चीयते ॥

इसलिए तदुत्पत्ति (कार्य-कारण-संबंध) के निश्चय के द्वारा अविनाभाव (व्याप्ति) का निश्चय होता है। तदुत्पत्ति का निश्चय कार्य और हेतु (कारण) के प्रत्यक्ष उपलम्भ (प्राप्ति) और अनुपलम्भ (अप्राप्ति) रूपी पाँच [अवयवों] पर निर्भर करता है। (दो बार उपलम्भ और तीन बार अनुपलम्भ)। धूम और धूमध्वज (अग्नि) में कार्य-कारण-सम्बन्ध इन पाँच कारणों की समन्विति से निश्चित किया जाता है—(१) उत्पत्ति होने के पहले कार्य का नहीं प्राप्त होना, (२) कारण की प्राप्ति होने पर, (३) [कार्य का] प्राप्त होना। (४) [कार्य] प्राप्त होने के बाद कारण का प्राप्त नहीं होना और जिसके फलस्वरूप (५) [कार्य का] प्राप्त नहीं होना।

विशेष—बौद्धों ने अन्वय–व्यतिरेक की विधियों को ही तोड़-मोड़ कर पंचकारणी–विधि का निर्माण किया है। वैसी कोई इसमें नवीनता नहीं मिलती। कार्य और कारण की अप्राप्ति और प्राप्ति—दोनों से पाँच अवयव (Combinations) निकाले गये हैं। अप्राप्ति से तीन अवयव और प्राप्ति से दो। इन पाँचों को मिलाने के बाद ही कार्य–कारण का निर्णय होता है, पृथक्-पृथक् नहीं। इन्हें इस प्रकार समझें—

अनुपलम्भ	उपलम्भ
(१) उत्पत्ति के पूर्व कार्यानुपलम्भ	
(४) कारणानुपलम्भ होने पर—	(२) कारणोपलम्भ होनेपर—
(५) कार्यानुपलम्भ।	(३) कार्योपलम्भ,

हम देखते हैं कि (१) [धूम की] उत्पत्ति होने के पहले धूम का ज्ञान नहीं होता, अब (२) अग्नि देख रहे हैं तो (३) धूम का भी ज्ञान होता है। धूम का ज्ञान हो जाने पर जब (४) अग्नि की सत्ता नहीं रहे तो वैसी अवस्था में (५) धूम की भी सत्ता मिट जाती है। इन पाँच अवस्थाओं से पार करने के बाद धूम-धूमध्वज (अग्नि) में कार्यकारण का निर्धारण हो जाता है।

(४. तादात्म्य से अविनाभाव का ज्ञान)

तथा तादात्म्यनिश्चयेनाप्यविनाभावो निश्चीयते। 'यदि शिंशपा वृक्षत्वमतिपतेत्', स्वात्मानमेव जह्यादिति विपक्षे बाधकप्रवृत्तेः। अप्रवृत्ते तु बाधके भूयः सहभावोपलम्भेऽपि व्यभिचारशङ्कायाः को निवारयिता ? शिंशपावृक्षयोश्च तादात्म्यनिश्चयो 'वृक्षोऽयं शिंशपेति' सामानाधिकरण्यबलादुपपद्यते। न ह्यत्यन्ताभेदे तत्संभवति। पर्यायत्वेन युगपत्प्रयोगायोगात्। नाप्यत्यन्ताभेदे, गवाश्वयोरनुपलम्भात्। तस्मात्कार्यात्मानौ कारणात्मानौ अनुमापयत इति सिद्धम्॥

इसी प्रकार तादात्म्य का निश्चय करने के बाद भी अविनाभाव का निश्चय होता है। [उदाहरण स्वरूप, 'शिंशपा वृक्ष है' इस उदाहरण में शिंशपा और वृक्ष में तादात्म्य-सम्बन्ध है, दोनों की आत्मा, आधार या धर्म एक ही—वृक्षत्व—है। शिंशपा में भी वृक्षत्व (वृक्ष का सामान्य धर्म) है और वृक्ष में भी। दोनों के सामान्य धर्म एक ही हैं]। यदि इस प्रकार विरोधी वाक्य (विपक्ष-वाक्य) कहा जाय कि 'यदि शिंशपा वृक्षत्व का अतिक्रमण कर दिया जाय (=उससे पृथक् हो)' तो बाधक-वाक्य (असंगति) की प्रवृत्ति हो जायगी कि तब तो यह (शिंशपा) अपनी आत्मा या सामान्य धर्म को ही छोड़ देगा। अभिप्राय यह है कि तादात्म्य-सम्बन्ध दिखाने वाले वाक्य 'शिंशपा के धर्म वृक्ष के धर्म हैं' का विपक्षी-वाक्य 'शिंशपा वृक्ष नहीं है' रखने पर असंगति हो जायगी तब तो शिंशपा का अपना धर्म भी साथ नहीं देगा—अतः तादात्म्य द्वारा अविनाभाव स्वीकार करना ही पड़ेगा।] यदि दैवात् असंगति (बाधक) न भी आवे और

पुनः सहचार (सदा साथ रहना) का उपलम्भ (प्राप्ति) भी हो तो व्यभिचार की शंका को कौन बचा सकता है ?

शिंशपा और वृक्ष में तादात्म्य-संबंध का निश्चय समानाधिकरणता के बल से सिद्ध होता है। (समानाधिकरण=एक ही आधार होना, जैसे शिंशपा और वृक्ष दोनों का अधिकरण वृक्षत्व है) कि, 'यह वृक्ष शिंशपा है'। तादात्म्य-संबंध दो पदार्थों के अत्यन्त अभेद (एक ही पदार्थ का बोधक) होने पर संभव नहीं है। [जैसे-'यह घट-घट है' इस उदाहरण में दोनों पृथक् नहीं हैं और इसलिए] पर्यायवाची होने के कारण दोनों का एक साथ प्रयोग नहीं हो सकता ('यह घट-घट है' का प्रयोग नहीं हो सकता)। और न दोनों के अत्यन्त-भेद (एक दूसरे से पृथक् होना (Mutual exclusion) होने पर ही यह संभव है क्योंकि वैसी दशा में 'गौ अश्व है' [इसका प्रयोग होने लगेगा] जो प्राप्त (संगत) नहीं।

इसलिए यह सिद्ध हुआ कि कार्य (कार्य-कारण संबंध से) तथा आत्मा (तादात्म्य संबंध से) क्रमशः कारण और आत्मा का अनुमान करते हैं (कार्य से कारण का अनुमान तदुत्पत्ति द्वारा और आत्मा का अनुमान तादात्म्य द्वारा होता है)।

विशेष—तादात्म्य का अर्थ है उसके स्वरूप में रहना, दो वस्तुओं का अभेद संबंध। जब दो वस्तुओं में धर्म समान रहता है जैसे—नर और प्राणी में 'प्राणित्व' तो दोनों के बीच तादात्म्य संबंध समझा जाता है। इसका दूसरा द्योतक शब्द है सामानाधिकरण्य=एक ही आधार पर टिका रहना, एक विभक्ति में ही रहना जैसे—वृक्षोऽयं शिंशपा। शाब्दिक दृष्टि से यहाँ वृक्ष और शिंशपा में समानाधिकरणता (समविभक्तित्व) है किन्तु अर्थदृष्टि से दोनों में 'वृक्षत्व' नामक सामान्य धर्म होने से तादात्म्य-संबंध है। तादात्म्य-संबंध न तो दो पदार्थों में अत्यन्त भेद होने पर ही हो सकता है (जैसे—'अश्वोऽयं महिषः' नहीं कह सकते यद्यपि दोनों में 'पशुत्व' सामान्य-धर्म है) और न अत्यन्त अभेद ही रहने पर (जैसे—'अश्वोऽयं घोटकः' नहीं कह सकते क्योंकि दोनों पर्याय ही हैं)। स्मरणीय है कि केवल बौद्ध लोग ही तादात्म्य द्वारा अविनाभाव स्थापित करने की चेष्टा करते हैं।

(५. अनुमान का खण्डन करने वालों को उत्तर)

यदि कश्चित्प्रामाण्यमनुमानस्य नाङ्गीकुर्यात्तं प्रति ब्रूयात्— अनुमानं प्रमाणं न भवतीत्येतावन्मात्रमुच्यते, तत्र न किंचन

साधनमुपन्यस्यते, उपन्यस्यते वा ? न प्रथमः। अशिरस्क-वचनस्योपन्यासे साध्यासिद्धेः।

एकाकिनी प्रतिज्ञा हि प्रतिज्ञातं न साधयेत्।

इति न्यायात्। नापि चरमः। अनुमानं प्रमाणं न भवतीति ब्रुवाणेन वचनप्रमाणमनभ्युपगच्छता त्वया स्वपरकीयशास्त्रे प्रामाण्येनोपगृहीतस्य वचनस्योपन्यासे मम माता वन्ध्येतिवद् व्याघातापातात्॥

यदि [इतना होने पर भी] कोई व्यक्ति अनुमान-प्रमाण की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करता है तो उससे इस प्रकार [द्विविधात्मक Dilemmatic] प्रश्न पूछें—"आप केवल 'अनुमान प्रमाण नहीं है' इतना भर कहते हैं, इसमें कोई हेतु (साधन, प्रमाण) उपस्थित नहीं करते हैं या करते हैं ?" (१) यदि पहली बात [पर अड़ते हैं तो] ठीक नहीं। [किसी सिद्धान्त को बिना कारण के रखने में] बिना सिर या हेतु के वाक्य उपस्थापित करने में साध्य (Major Term) की सिद्धि होगी ही नहीं। (अनुमान में किसी वाक्य को निगमन में रखने के लिए उचित और उपाधिहीन हेतु की आवश्यकता है, उसके नहीं रहने से अनुमान नहीं होगा। पर्वत में अग्नि (साध्य) सिद्ध करने के लिए उसमें धूमवत्त्व (हेतु, साधन) रखना ही पड़ेगा। अशिरस्क-वचन = बिना साधन का वाक्य, अप्रामाणिक बात)। न्याय (उक्ति) भी है—'अकेली प्रतिज्ञा (स्वीकृति) स्वीकृत वस्तु को सिद्ध नहीं करती' (= केवल सिद्धान्त रख देने से कि अनुमान प्रमाण नहीं है यह सिद्ध नहीं हो जायगा प्रत्युत इसके लिए साधन देना पड़ेगा। यदि साधन नहीं देते तो आपकी यह बात गलत हो जायगी कि अनुमान प्रमाण नहीं है अर्थात् अनुमान को आप भी प्रमाण स्वीकृत करेंगे।)

(२) दूसरा पक्ष [कि अनुमान को प्रमाण न मानने के लिए साधन देना चाहिए—यह] भी ठीक नहीं। कारण यह है कि जब आपलोग कहते हैं—'अनुमान प्रमाण नहीं होता है' तब तो वचन (= शब्द-प्रमाण) को भी स्वीकार नहीं ही करते हैं (क्योंकि अनुमान-प्रमाण मानने के बाद ही आप्त-पुरुषों की बात—शब्द-प्रमाण को स्वीकृत कर सकते हैं)। दूसरी ओर आपकी स्थिति है कि अपने से भिन्न दूसरों के शास्त्रों में प्रमाण-रूप से स्वीकृत 'वचन' या शब्द-प्रमाण का उपयोग कर रहे हैं (यदि आप अनुमान को प्रमाण नहीं मानकर कुछ साधन देते हैं तो दूसरों की लीक पर चलने का दोषारोपण आप पर होगा। कम से कम न्यायशास्त्र की विधि को प्रामाणिक

मानना होगा और उसकी बातों को यथावद् स्वीकार करना शब्द-प्रमाण को मानना है)। ऐसा करने पर व्यावहारिक असंगति होगी जैसी 'मेरी माता वन्ध्या है' इस वाक्य में होती है। (अभिप्राय यह है कि यदि माता है तो वन्ध्या नहीं, यदि वन्ध्या है तो माता नहीं। दोनों की स्थिति एक दशा में असम्भव है। उसी प्रकार अनुमान को प्रमाण नहीं मानते तो शब्द को भी नहीं मानना होगा लेकिन ये पूर्वपक्षी-चार्वाक आदि—अनुमान की प्रामाणिकता काटने के लिए और भी बड़े प्रमाण—प्रत्यक्ष से दूर प्रमाण—शब्द का आश्रय लेते हैं, यह व्यावहारिक असंगति है)।

किं च प्रमाणतदाभासव्यवस्थापनं तत्समानजातीयत्वादिति वदता भवतैव स्वीकृतं स्वभावानुमानम्। परगता विप्रतिपत्तिस्तु वचनलिङ्गेनेति ब्रुवता कार्यलिङ्गकमनुमानम्। अनुपलब्ध्या कञ्चिदर्थं प्रतिषेधयतानुपलब्धिलिङ्गकमनुमानम्। तथा चोक्तं तथागतैः—

२. प्रमाणान्तरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्॥ इति।

पराक्रान्तं चात्र सूरिभिरिति ग्रन्थभूयस्त्वभयादुपरम्यते।

यही नहीं, [तीन तरह के अनुमान तो आप स्वयं स्वीकार करते हैं।] प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था उसके समानजातीय होने के कारण होती है—यह कहते हुए आप ही स्वभावानुमान को स्वीकार करते हैं। (**प्रमाण और प्रमाणाभास** की व्यवस्था—राह में जाते हुए जब जल दिखलाई पड़ता है तब यह जलज्ञान प्रमाण है कि प्रमाणाभास, ऐसा सन्देह होता है। अगर ठीक निकला तो प्रमाण मानेंगे क्योंकि 'यथार्थानुभवः प्रमा,' और 'प्रमायाः करणं प्रमाणम्'। यदि जल नहीं मिला तो प्रमाणाभास मानेंगे। यह निर्णय कैसे करेंगे? विधि स्वभावानुमान की होगी और साधन रहेगा समानजातीयत्व। (१) **प्रमाण**—जब एक बार ऐसा ज्ञात हुआ था तब उसमें जल निकला था, इस बार भी उसी तरह का या समानजातीय ज्ञान है, यह जलज्ञान भी **प्रमाण** है। यह निश्चय स्वभावानुमान से आप करते हैं, दूसरी ओर, (२) **प्रमाणाभास**—जब एक बार ऐसा ज्ञान हुआ था तो जल नहीं मिला था, इस बार भी सजातीय होने से जल नहीं मिलेगा—अतः यह भी **प्रमाणाभास** है। यहाँ भी स्वभावानुमान की आवश्यकता पड़ी। स्वभावानुमान में पक्ष, साध्य और लिंग तथा तीन अवयव-वाक्य रहते हैं।)

दूसरे, 'विरोधियों की विपरीत सम्मति (विरुद्ध सिद्धान्त या ज्ञान) का ज्ञान उनके वचन-रूपी लिंग या साधन से होता है' यह कहकर [आप] कार्य को देखकर कारण को जाननेवाला 'कार्यलिंगक' अनुमान भी स्वीकार करते हैं। [अभिप्राय यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने ज्ञान के अनुसार ही बोलता है। ज्ञान कारण है और उसके वचन कार्य। चार्वाक लोग परपक्षियों के शब्दों को सुनकर उनकी मान्यताओं का अनुमान कर लेते हैं। यह भी अनुमान ही हुआ, भले ही इसमें कार्य (वचन) लिंग या हेतु का काम कर रहा है। विपक्षियों की विप्रतिपत्ति (विरुद्ध सिद्धान्त) साध्य है।]

तीसरे, जब आप किसी वस्तु की अनुपलब्धि या अभाव देखते हैं तथा उसके आधार पर किसी पदार्थ की सत्ता का निषेध करते हैं (जैसे—आकाश-तत्त्व, आत्मा, मोक्ष, परलोक आदि का), तो यहाँ भी आप अनुमान का सहारा ले रहे हैं जिसका लिङ्ग है अभाव। (अभाव के आधार पर ही आप इन वस्तुओं का निषेध करते हैं। फिर अनुमान को खण्डित करने में तुक ही क्या रहा ? जब तीन-तीन प्रकार के अनुमान आप धड़ाधड़ दे रहे हैं फिर कैसे कहते हैं कि अनुमान है ही नहीं ?)।

इसलिए तथागत (बुद्ध) के अनुयायियों ने कहा है—(१) दूसरे प्रमाण (अनुमान) में सामान्य (समान जातीयता) की स्थिति होने के कारण, (२) दूसरे की सम्मति में गति या उसका अनुमान करने के कारण तथा (३) किसी के प्रतिषेध के कारण—दूसरे अनुमान प्रमाण की सत्ता [स्वीकार करनी पड़ती] है। ऊपर कहे तीनों प्रकार के अनुमानों का संग्रह इस श्लोक में हुआ है।) इस विषय पर विद्वानों ने बहुत विचार-विमर्श किया है इसलिए यहाँ ग्रन्थ बड़ा हो जाने के भय से रुका जाय।

(६. बौद्धदर्शन के चार भेद—भावना-चतुष्टय)

ते च बौद्धाश्चतुर्विधया भावनया परमपुरुषार्थं कथयन्ति। ते च माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक-वैभाषिकसंज्ञाभिः प्रसिद्धा बौद्धा यथाक्रमं सर्वशून्यत्व-बाह्यार्थशून्यत्व-बाह्यार्थानुमेयत्व-बाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववादानातिष्ठन्ते। यद्यपि भगवान्बुद्ध एक एव बोधयिता तथापि बोद्धव्यानां बुद्धिभेदाच्चातुर्विध्यम्। यथा 'गतोऽस्तमर्कः' इत्युक्ते जारचौरानूचानादयः स्वेष्टानुसारेणाभिसरणपरस्वहरणसदाचरणादिसमयं बुध्यन्ते। सर्वं क्षणिकं

क्षणिकं, दुःखं दुःखं, स्वलक्षणं स्वलक्षणं, शून्यं शून्यमिति भावना-चतुष्टयमुपदिष्टं द्रष्टव्यम् ।

ये बौद्ध लोग चार प्रकार की भावना (दृष्टिकोण) से परम पुरुषार्थ का वर्णन करते हैं। ये बौद्ध माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा क्रमशः इन वादों या सामान्य-सिद्धान्तों पर अड़े हुए हैं—सब कुछ शून्य होना (माध्यमिक), बाह्य-पदार्थों का शून्य होना (योगाचार), बाह्य-पदार्थों का अनुमान से ज्ञान होना (सौत्रान्तिक) और बाह्य-पदार्थों का प्रत्यक्ष से ज्ञान होना (वैभाषिक)। यद्यपि समझाने वाले भगवान् बुद्ध एक ही थे फिर भी समझने वाले पात्रों के बुद्धि-भेद से ये चार प्रकार बन गये। जिस प्रकार 'सूर्य डूब गया' ऐसा कहने पर जार (उपपति, प्रेमी), चोर और अनूचान (वेदपाठी) आदि अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार अभिसरण (प्रेयसी से मिलने के लिए संकेतस्थल पर जाना), परधन का हरण और सदाचरण आदि के समय समझ लेते हैं।

देखना चाहिए कि चारों भावनायें (या दृष्टिकोण) इस प्रकार उपदिष्ट हुई हैं—(१) सब कुछ क्षणिक है क्षणिक, (२) सब कुछ दुःख है दुःख, (३) सबों का लक्षण अपने आप में है तथा (४) सब कुछ शून्य है शून्य।

विशेष—बौद्ध-दर्शन के सुप्रसिद्ध चार सम्प्रदायों का वर्णन यहाँ हुआ है। यद्यपि आगे हमें इनका विस्तृत वर्णन मिलेगा किन्तु यहाँ संक्षेप में कुछ जान लेना आवश्यक है।

(१) **माध्यमिक (शून्यवाद** Nihilism)—यह मत नागार्जुन (२ री शती ई०) से सम्बद्ध है जिनके माध्यमिक-शास्त्र (कारिका) के अनुसार संसार असत् या शून्य है—द्रष्टा, दृश्य, दर्शन सभी स्वप्न के समान भ्रम हैं। फिर भी शून्य का अभिप्राय ऐसा सत् है जो चतुष्कोटि (सत् , असत् , सदसत् , असन्नासत्) से विलक्षण, अनिर्वचनीय है। व्यावहारिक वस्तुयें सभी शून्य या असत् हैं किन्तु उनकी पृष्ठभूमि में ऐसी सत्ता है जो अनौपाधिक और अविकृत है। माध्यमिक-कारिका (१।७) में कहा गया है—

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥

स्मरणीय है कि शंकराचार्य ने अनुभयात्मक के अलावे सभी को स्वीकार कर ब्रह्म की शक्ति माया को कोटित्रयशून्य कहा है जिसके फलस्वरूप कट्टर हिन्दुओं ने उन्हें 'प्रच्छन्न (छिपा हुआ) बौद्ध' की संज्ञा दे रखी थी। उनके अनुसार माया 'सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो' (विवे० चूडा०) है।

(२) योगाचार (Subjective Idealism)—दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, असंग आदि आचार्यों की छत्रच्छाया में यह सम्प्रदाय फलता-फूलता रहा है। इसके अनुसार बाह्य अर्थ तो शून्य है, किन्तु चित्त जो सभी वस्तुओं का ज्ञाता है, कभी भी असत् नहीं हो सकता अन्यथा हमारे ज्ञान भी असत् हो जायँगे। मन के द्वारा गृहीत सभी पदार्थ धारणामात्र (ideas) हैं। मानसिक धारणायें ही बाह्य वस्तुओं के रूप में भ्रमवत् दृष्टिगोचर होती हैं। विषयी (Subject) ही बाह्य-वस्तुओं पर अपनी तत्सम्बन्धी धारणाओं का आरोपण करता है (Subjective Idealism)। इस विचार में अंग्रेज दार्शनिक बर्कले से यह मत मिलता है। इसका दूसरा नाम विज्ञानवाद भी है जिसमें विज्ञान या शुद्ध चैतन्य ही एकमात्र सत् है। इस मत में चित्त के आठ प्रकार हैं—चक्षुर्विज्ञान आदि वैभाषिकों के सम्मत ६ विज्ञान, मनोविज्ञान और आलय विज्ञान। इस मत का प्रसिद्ध ग्रन्थ है—लंकावतारसूत्र।

(३) सौत्रान्तिक (Representationism)—उपर्युक्त दोनों सम्प्रदाय जहाँ महायान के हैं, सौत्रान्तिक और वैभाषिक हीनयान के भेद हैं। सौत्रान्तिक का विशेष संबंध सूत्र-पिटक से है। इसके अनुसार मानसिक और बाह्य दोनों पदार्थ सत् हैं यद्यपि बाह्य-पदार्थों का ज्ञान अनुमान से होता है। उनके प्रत्यक्ष के लिए विषय, चित्त, इन्द्रियाँ, तथा सहायक तत्त्वों (जैसे प्रकाश, आकार)—इन चार वस्तुओं की अपेक्षा है। इनके परस्पर मिलने से मन में उत्पन्न होनेवाले विषय का विचार (idea) या अनुकृति (copy) प्राप्त होती है। इस प्रकार बाह्य वस्तुएँ मन में रहनेवाले विषय के विचारों (idea) के प्रतिनिधिमात्र हैं। मानसिक धारणाओं से ही मन बाह्य-पदार्थों का अनुमान कर लेता है। केवल वर्तमान काल की सत्ता ये लोग मानते हैं। वैभाषिक लोग सभी कालों की सत्ता मानने के कारण 'सर्वास्तिवादी' कहलाते हैं। विज्ञानवादियों के खण्डन में ये उसी प्रकार दत्तचित्त हैं जिस प्रकार बर्कले (Berkeley) के खण्डन में मूर (Moore)। मूर का सिद्धान्त वस्तुवादी (realistic) है जब कि बर्कले आत्मनिष्ठ विचारवादी (Subjective Idealist) हैं। सौत्रान्तिक मत बहुत कुछ लौक (Locke) की 'विचारों की अनुकृति' (Copy theory of ideas) से मिलता है।

(४) वैभाषिक (Direct Realism)—बाहरी वस्तुओं को अनुमेय न मानकर वे पूर्णतया प्रत्यक्षगम्य मानते हैं क्योंकि जब तक उनका प्रत्यक्ष न हो, उनकी सत्ता किसी दूसरे साधन से सिद्ध नहीं हो सकती। पहले से अग्नि का प्रत्यक्ष जिस व्यक्ति ने नहीं किया है कभी भी धूम के आधार पर उस का अनुमान नहीं कर सकता। बाह्य-पदार्थों से सम्पर्क नहीं रहने पर मनोजगत्

में कभी भी बाहरी चीज की धारणा नहीं बन सकती। इसलिए या तो विज्ञानवाद मानें या बाह्य-वस्तुओं का साक्षात्प्रत्यक्ष मानें। अभिधर्म-दर्शन से ही वैभाषिक-सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ है।

माध्यमिक = पूर्ण असत् या पूर्ण सत् को अस्वीकार कर दोनों की सोपाधिक सत्ता मानने वाला, मध्यम-मार्ग का अवलम्बन करने वाला (दोनों के बीच के मार्ग पर चलनेवाला)। **योगाचार** = योग (चित्तवृत्ति की प्रवीणता) और आचार का समन्वय करनेवाला। योग के द्वारा मानसिक सत्ता (आलय-विज्ञान) को ही स्वीकार करके बाह्य पदार्थों में विश्वास हटा देना। **सौत्रान्तिक**—सुत्त-पिटक से सम्बद्ध, इसके बहुत से ग्रन्थ सुत्तान्त नाम से ही विख्यात हैं। **वैभाषिक**—विभाषा (अभिधर्म-महाविभाषा) नामक ग्रन्थ में इनके सिद्धान्त प्रतिपादित हैं इसलिए यह नाम इनका पड़ा।

इसके बाद चारों भावनाओं पर पृथक् विचार किया गया है तथा क्षणिकत्व भावना के अनुपम होने के कारण उस पर कुछ अधिक विस्तारपूर्वक विचार है।

(७. क्षणिकत्व की भावना—अर्थक्रियाकारित्व)

तत्र क्षणिकत्वं नीलादिक्षणानां सत्त्वेनानुमातव्यं—यत्सत्तत्क्षणिकं, यथा जलधरपटलं, सन्तश्चामी भावा इति। न चायमसिद्धो हेतुः, अर्थक्रियाकारित्वलक्षणस्य सत्त्वस्य नीलादिक्षणानां प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। व्यापकव्यावृत्त्या व्याप्यव्यावृत्तिरिति न्यायेन व्यापकक्रमाक्रमव्यावृत्तौ अक्षणिकात्सत्त्वव्यावृत्तेः सिद्धत्वाच्च। तच्चार्थक्रियाकारित्वं क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्। न च क्रमाक्रमाभ्यामन्यः प्रकारः संभवति।

> ३. परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः।
> नैकतापि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधतः॥ (कुसु० ३।८)

इति न्यायेन व्याघातस्योद्भटत्वात्॥

इन भावनाओं में क्षणिकत्व-भावना का अनुमान नील आदि क्षणों (= क्षणिक पदार्थों) की सत्ता देखकर करना चाहिए। [चूँकि नील आदि पदार्थ क्षणिक हैं इसलिए एक साधारण क्षणिकत्व की भावना मान लेनी चाहिए। इस भावना का साधक अनुमान इस प्रकार होगा]—जिसकी सत्ता है वह क्षणिक है, जैसे (उदाहरण)—मेघमंडल। [अब चूँकि सामने दिखलाई

पढ़ने वाले] इन भावों की सत्ता है, [इसलिए ये भाव भी क्षणिक होंगे]। यह नहीं कह सकते कि उपर्युक्त अनुमान में हेतु ('सत्ता') असिद्ध है। (असिद्ध हेतु उसे कहते हैं जो व्यवहारतः असंगत कारण हो, साध्य की तरह ही हेतु को भी सिद्ध करने की आवश्यकता पड़े। न्यायदर्शन में इस हेत्वाभास को साध्यसम कहा गया है, नव्य नैयायिकों ने असिद्ध मानकर इसके तीन भेद किये हैं। यहाँ पर कुछ लोग सन्देह करते हैं कि 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' में वस्तुओं का सत् होना ही असिद्ध है क्योंकि सभी दार्शनिक पदार्थों को सत्तावान् नहीं मानते। लेकिन इस 'सत्' रूपी हेतु को असिद्ध मानना ठीक नहीं है— ग्रन्थकार ऐसा कहते हैं। असिद्ध इसलिए नहीं मानते कि सत्त्व (सत्ता) में प्रयोजनमूलक कार्य करने की क्षमता रहती है (अर्थक्रियाकारित्व = कोई भी काम किसी उद्देश्य या अर्थ से किया जाता है, उक्त प्रकार के कार्य करने की शक्ति जब रहे तभी सत् होता है); यह सत्त्व नील आदि क्षणिक पदार्थों के प्रत्यक्ष से ही सिद्ध होता है [सत्त्व का लक्षण 'अर्थक्रियाकारी होना' प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होता है जब कि हम नील आदि पदार्थों को क्षणिक पाते हैं—नील आदि पदार्थ क्षण भर में अपनी अर्थसाधक क्रिया करके नष्ट हो जाते हैं, इसलिए ऊपर के अनुमान में भावों का सत् होना असिद्ध हेतु नहीं]।

दूसरा कारण:—एक नियम है कि व्यापक (व्याप्त करनेवाला) का निष्कासन (व्यावर्तन) करने से व्याप्य का भी निष्कासन (exclusion) होता है (व्यापक में नहीं रहने वाली वस्तु व्याप्य में भी नहीं रहती), इस नियम के द्वारा व्यापक पदार्थ से क्रम (आगे-पीछे होना) और अक्रम (साथ-साथ होना) का निष्कासन (व्यावृत्ति) करने पर, क्षणिक होनेवाली वस्तुओं से सत्ता का निष्कासन भी सिद्ध होता है। [अभिप्राय यह है कि व्यापक से किसी को अलग करना व्याप्य से भी उसे अलग कर देना है, अब व्यापक से क्रम-अक्रम (जो अर्थक्रियाकारित्व या सत्ता को व्याप्त करता है) को पृथक् कर देते हैं जिससे स्वभावतः अक्षणिक (व्याप्य) वस्तुओं से सत्ता पृथक् हो जाती है ∴ क्षणिक सत् है क्योंकि अक्षणिक से सत् व्यावृत्त होता है। इससे 'यत्सत्तत्क्षणिकं' सिद्ध होता है और उपर्युक्त अनुमान हेतु के ठीक रहने से उचित प्रतीत होता है।]

यह सार्थक कार्य करने की शक्ति (जिसे यहाँ पर सत्ता कहा जा रहा है) क्रम (पूर्वापरता) तथा अक्रम (एक साथ होना) से व्याप्त है और क्रम तथा अक्रम के बीच तीसरा विकल्प भी सम्भव नहीं है। वैसा करने पर निम्नलिखित नियम के अनुसार व्यावहारिक दृष्टि से विकट असंगति हो जायगी—"आपस में विरोधी [पदार्थों] के बीच किसी तीसरे प्रकार (विकल्प) की सत्ता नहीं हो

सकती। वचन में ही विरोध होने के कारण विरोधियों (विरुद्ध पदार्थों) में कभी भी एकता नहीं होती) [आशय यह है कि क्रम और अक्रम परस्पर विरोधी हैं, दोनों के बीच में तीसरे विकल्प की आशंका नहीं है जो अर्थक्रियाकारित्व को व्याप्त कर सके। किसी वस्तु की सत्ता या तो क्रमिक होगी = आगे पीछे करके, या अक्रमिक अर्थात् एक साथ ही होगी। बाद में यह दिखलाया जायगा कि ये दोनों क्रम और अक्रम स्थायी वस्तु से पृथक् हैं और अर्थक्रिया को भी व्यावृत्त करते हुए क्षणिकत्व-भावना को सिद्ध करते हैं। अर्थमूलक क्रिया की शक्ति केवल क्षणिक में ही है।]

विशेष—अर्थक्रियाकारित्वलक्षणं सत् = प्रयोजनभूता या क्रिया तत्कारित्वमेव सत्त्वम् (अभ्य०) अर्थात् प्रयोजन के रूप में जो कार्य है उसे करने की क्षमता होना ही सत्ता का लक्षण है। दूसरे शब्दों में, सत्ता वह है जो कुछ कार्य उत्पन्न करने की क्षमता रखे। शश-विषाणके सदृश असत् वस्तु कभी भी कोई कार्य उत्पन्न नहीं कर सकती। सत्ता का यह लक्षण स्वीकार करने पर सभी पदार्थों को क्षणिक मानने में सुविधा होती है। मान लें कि बीज क्षणिक नहीं है, स्थायी है तो इसकी सत्ता होने के कारण क्षण-क्षण में यह नए-नए कार्य उत्पन्न करता रहेगा। यदि बीज सभी क्षणों में समान ही रहे, अपरिवर्तित हो, तो सदा वह उसी प्रकार का कार्य उत्पन्न करेगा किन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। घर में रखा बीज वही नहीं जो खेत में डाला गया है। दोनों के कार्य भिन्न-भिन्न हैं। यदि यह तर्क किया जाय कि वस्तुतः बीज वही कार्य उत्पन्न नहीं करता किन्तु उसमें क्षमता है जो उचित उपादानों (जैसे-पृथ्वी, जल आदि) के संसर्ग से अभिव्यक्त हो जाती है। अतः बीज सदा वही है। यह तर्क असहाय है क्योंकि ऐसी दशा में यह स्वीकार करते ही हैं कि पहले क्षण का बीज अंकुरण का कारण नहीं प्रत्युत विभिन्न उपादानों के संसर्ग से परिष्कृत बीज ही उसका कारण है। अतः बीज तो परिवर्तित हो गया। इसी प्रकार कोई भी वस्तु दो क्षण नहीं ठहरती। सभी वस्तुयें क्षणिक हैं। इसकी सिद्धि के लिए सत्ता का एक विशिष्ट लक्षण (अर्थक्रियाकारित्व) करना पड़ता है।

नीलादिक्षण—नील एक उदाहरण है, वस्तुतः इसे रंग से कोई सम्पर्क नहीं। प्राचीन नैयायिक (बौद्ध और गौतमीय दोनों) लोग उदाहरण देने में नील का प्रयोग करते थे। जिस प्रकार नव्य-न्याय में 'घट' को उदाहरण के रूप में रखते हैं। इसलिए नील वस्तुवाचक है। क्षण = क्षणिक-पदार्थ या पदार्थ।

तौ च क्रमाक्रमौ स्थायिनः सकाशाद् व्यावर्तमानौ अर्थ-

क्रियामपि व्यावर्तयन्तौ क्षणिकत्वपक्ष एव सत्त्वं व्यवस्थापयतः इति सिद्धम् ।

और ये दोनों क्रम-अक्रम स्थायी पदार्थ से पृथक् होकर, अर्थक्रिया को भी (स्थायी-पदार्थ से) पृथक् कर देते हैं तथा क्षणिकत्व के पक्ष में ही सत्ता होने की व्यवस्था करते हैं—यही सिद्ध करना था ।

विशेष—यदि सत्ता स्थायी होती तो क्रम और अक्रम नहीं होता । स्थायी होने पर आगे-पीछे होने का प्रश्न तो उठता ही नहीं, पदार्थों की एककालिकता भी नहीं होगी क्योंकि सत्ता के खण्ड नहीं होंगे । इसलिए क्रम और अक्रम दोनों स्थितियों से स्थायी पृथक् है, अस्थायी पदार्थ में ही ये हो सकते हैं । सत्ता का लक्षण अर्थक्रिया के रूप में दिया गया है, स्थायी पदार्थ में अर्थक्रिया नहीं हो सकती क्योंकि स्थायी यदि कारण बनकर अपनी सत्ता के नाश के बाद कार्य उत्पन्न करे तभी यह संभव है । सो हो नहीं सकता, यदि स्थायी है तो फिर नाश कैसे ? अर्थक्रिया (कार्योत्पादन) जब होगी तब क्षणिक-पक्ष में । इसलिए अर्थक्रिया को स्थायी पदार्थ से पृथक् करके, स्वयं भी क्रम-अक्रम स्थायी से पृथक् रहते हैं (excluded) जिससे केवल क्षणिक वस्तुओं की सत्ता सिद्ध होती है । इस प्रकार क्षणिकत्व-भावना की सिद्धि हुई ।

(८. अक्षणिक पदार्थ का 'क्रम' से अर्थक्रियाकारी नहीं होना)

नन्वक्षणिकस्य अर्थक्रियाकारित्वं किं न स्यादिति चेत्—तदयुक्तम् । विकल्पासहत्वात् । तथा हि—वर्तमानार्थक्रियाकरण-कालेऽतीतानागतयोः किम् अर्थक्रिययोः स्थायिनः सामर्थ्यमस्ति नो वा । आद्ये तयोरनिराकरणप्रसङ्गः, समर्थस्य क्षेपायोगात् । यद्यदा यत्करणसमर्थं तत्तदा तत्करोत्येव यथा सामग्री स्वकार्यं० समर्थश्चायं भाव इति प्रसङ्गानुमानाच्च ।

द्वितीये कदापि न कुर्यात् । सामर्थ्यमात्रानुबन्धित्वादर्थ-क्रियाकारित्वस्य । यद्यदा यन्न करोति तत्तदा तत्रासमर्थं यथा हि शिलाशकलमङ्कुरे । न चैष वर्तमानार्थक्रियाकरणकाले वृत्त-वर्तिष्यमाणे अर्थक्रिये करोतीति तद्विपर्ययाच्च ॥

[ऊपर यह सिद्ध कर चुके हैं कि अर्थक्रियाकारित्व (कार्योत्पादन की क्षमता) केवल क्षणिक पदार्थ मानने से होता है इसपर विरोधी लोग पूछ सकते हैं कि]

अ-क्षणिक पदार्थों (जैसे दूसरे दर्शनों में ईश्वर, घट, पट आदि जो स्थायी या नित्य माने गये हैं उनमें) में कार्योत्पादन की क्षमता क्यों नहीं होगी। [इसपर हमारा पक्ष है कि] ऐसा प्रश्न करना युक्तिसंगत नहीं क्योंकि [निम्नलिखित] दोनों विकल्पों से यह असिद्ध हो जायगा (शब्दशः—दोनो विकल्पों को सहन नहीं कर सकेगा)। वह इस प्रकार है—वर्तमान कार्योत्पादन के (सम्पादन के) समय स्थायी, पदार्थ (अ-क्षणिक) में भूतकालिक और भविष्यत्कालिक कार्योत्पादन की सामर्थ्य है कि नहीं ? (अभिप्राय यह है कि जब कुम्भकार एक घड़े का निर्माण करता है तब भूतकालिक घट और भविष्यत् घट रूपी अर्थ को उत्पन्न करने वाली क्रिया करने की शक्ति उसमें है कि नहीं ?)।

यदि पहला पक्ष लेते हैं [कि सामर्थ्य है] तब भूत और भविष्यत् दोनों काल के कार्योत्पादनों (=अर्थक्रियाओं) को आप छोड़ नहीं सकते—ऐसी स्थिति आ जायगी (=एक समय में ही तीनों कालों के घटों के उत्पादन का प्रसंग हो जायगा, जो होता ही नहीं)। जो वस्तु किसी काम के करने में समर्थ होती है, वह तो कभी कालक्षेप (समय काटना) नहीं सहेगी [तुरत कार्य-संपादन कर देगी, क्षेप का योग उसमें कहाँ ?] इस प्रसंग या स्थिति का अनु-मान हम यों कर सकते हैं—जो पदार्थ जिस काम को करने में जब भी समर्थ होता है, वह उसे उसी समय कर देता है जैसे—सामग्री (कारण के विभिन्न सहायक-तत्व (Conditions) अपने कार्य को उत्पन्न कर देती है। और यह भाव (अ-क्षणिक) चूँकि समर्थ है [इसलिए एक साथ ही भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालों का कार्योत्पादन होने लगेगा—इस दोष से बचने के लिए पहले विकल्प को छोड़ देना ही अच्छा है।]

यदि दूसरा विकल्प (स्थायी में भूत और वर्तमान अर्थक्रिया बतलाने की शक्ति नहीं है) लेते हैं तब तो [और भी आनन्द है कि] कभी भी यह कुछ नहीं कर सकता। कारण यह है कि कार्योत्पादन केवल सामर्थ्य पर ही अवलम्बित है। (स्थायी पदार्थ यदि एक समय में असमर्थ हो गया तो दूसरे समय में भी असमर्थ ही रहेगा। दूसरे, असमर्थ वस्तु की अपेक्षा समर्थ वस्तु के स्वरूप में भेद करना आवश्यक हो जाता है, इससे वस्तु स्थायी नहीं रह सकती और मूल पर ही कुठाराघात हो जायगा।) जो पदार्थ किसी भी समय किसी काम को नहीं करता, वह उसके लिए असमर्थ समझा जाता है जैसे—अंकुर को उगाने में चट्टान। और यह (भाव = स्थायी पदार्थ) वर्तमान क्रिया उत्पन्न करने के समय विगत और अनागत अर्थक्रियाओं को उत्पन्न नहीं करता—इस प्रकार का विपर्यय या विरोध होता है।

विशेष—१. यदि स्थायी पदार्थ वर्तमान अर्थक्रिया के समय भूत और भविष्य की अर्थक्रियाओं को उत्पन्न करने की शक्ति रखता है तो दोष होगा कि एक साथ ही सभी काल की अर्थक्रियायें उत्पन्न हो जायंगी। समर्थ पुरुष तो उत्पादन करता है। क्या वह विचार करता है कि हम कब उत्पादन करें? जब काम, तब समाप्ति। २. यदि वह वैसी शक्ति नहीं रखता तब कभी कोई क्रिया उत्पन्न नहीं कर सकता; अगर असमर्थ हो तो क्रिया उत्पन्न करेगा कैसे? जो समर्थ होगा वही न कुछ उत्पन्न कर सकता है? इस प्रकार दोनों विकल्पों के खण्डित हो जाने से स्थायी में अर्थक्रियाकारित्व स्वीकार नहीं करना होगा।

(९. सहकारियों की सहायता पाकर भी अक्षणिक अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकता।)

ननु क्रमवत्सहकारिलाभात् स्थायिनोऽतीतानागतयोः क्रमेण करणमुपपद्यत इति चेत्—तत्रेदं भवान्पृष्टो व्याचष्टाम्। सहकारिणः किं भावस्योपकुर्वन्ति न वा? न चेन्नापेक्षणीयास्ते। अकिंचित्कुर्वतां तेषां तादर्थ्यायोगात्। अथ भावस्तैः सहकारिभिः सहैव कार्यं करोति इति स्वभाव इति चेत्—अङ्ग! तर्हि सहकारिणो न जह्यात्। प्रत्युत पलायमानानपि गले पाशेन बद्ध्वा कृत्यं कुर्यात्। स्वभावस्यानपायात्।

फिर भी कोई कह सकता है—क्रम (पूर्वापरता, आगे-पीछे होना) से युक्त सहकारी क्रियाओं को स्वीकार करने पर, भूत और भविष्यत्काल में, स्थायी या अ-क्षणिक पदार्थ का क्रम के द्वारा अर्थक्रियाकारी होना (करण, कार्योत्पादन) सिद्ध तो हो ही जाता है। [अर्थ यह है कि अक्षणिक या स्थायी पदार्थ वही है जो तीनों कालों की क्रियाओं के उत्पादन में समर्थ हो तथा सदा एक ही तरह का हो। दूसरी ओर क्षणिक सत्ता एक क्षण में क्रिया उत्पन्न करके नष्ट हो जाती है, तीनों कालों में इसके रूप विभिन्न प्रकार के होते हैं। अस्तु, स्थायी एकरूप होने पर भी, जब जैसी सहकारी क्रियायें मिलती हैं तब वैसी ही कार्योत्पत्ति कर सकता है। इससे पदार्थों में होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या करके, उनके होने पर भी, सत्ता को स्थायी मान लेते हैं। ऐसा मान लेने पर उपर्युक्त दोनों दोष—१. सब समय सभी वस्तुओं का उत्पादन और २. कभी भी किसी क्रिया का उत्पादन नहीं करना—मिट जायेंगे। इस प्रकार कार्यों का क्रम सहकारी क्रियाओं के कार्यक्रम पर निर्भर करता है, न कि वस्तुओं की सामर्थ्य और असामर्थ्य पर। निष्कर्ष यह निकला कि सत्ता अक्षणिक = स्थायी है जिसमें

परिवर्तन सहकारी क्रियाओं के आने से होते हैं, विशेषतया उनके क्रम के कारण। अतः सत्ता क्षणिक नहीं, अक्षणिक है— यह तर्क पूर्वपक्षियों का है, अब इसका उत्तर क्षणिकवादी क्या देते हैं, देखा जाय।]

अगर ऐसी बात है तो जो आपसे पूछा जाता है, उसे बतावें—सहकारी क्रियायें (या पदार्थ) क्या भाव (स्थायी) का उपकार (सहायता) करती हैं कि नहीं ? [आशय यह है कि पूर्वपक्षियों के मत में जो घट, पट आदि स्थायी पदार्थ हैं उनके सहकारी जल, मिट्टी, वायु आदि पदार्थ घटादि के निर्माण में सहायता करते हैं कि नहीं—आप लोग क्या कहते हैं ?] यदि सहायता नहीं करते तो उनकी आवश्यकता ही नहीं है। वे (सहकारी) तो कुछ करते नहीं, इसलिए वे तदर्थ (भाव की सहायता के लिए) होंगे—ऐसा प्रसंग नहीं होगा (अर्थात् क्रियाहीन सहकारी पदार्थ भाव की सहायता नहीं करते तो उनके रहने की जरूरत ही नहीं—सहकारी के बिना ही भाव को सत्ता होने का प्रबन्ध करना पड़ेगा)।

इसी पक्ष में यदि एक और विकल्प दिया जाय कि स्थायी-भाव (घट, पट आदि) उन परिवर्तनशील सहकारियों (जल, मिट्टी, हवा, सूर्य की किरणें) के साथ-साथ कार्य करता है इसलिए स्वभाव के रूप में सहकारियों को लिया जाय, [तो क्या हानि है ?] [यदि उपर्युक्त विकल्प के आधार कर स्थायी के स्वभाव के रूप में सहकारियों को ग्रहण करें तब समस्या यह उठेगी कि स्थायी पदार्थ] तब तो सहकारियों को छोड़ ही नहीं सकता, बल्कि भागने वाले (सहकारियों) के गले में फन्दा डालकर कृत्य (करने योग्य) कार्य स्वयं करेगा। कारण यह है कि स्वभाव को हटा नहीं सकते। [सहकारी यदि स्थायी के स्वभाव हैं, अपने ही रूप हैं तब तो उन्हें पृथक् किया ही नहीं जा सकता; सभी सहकारी खोज-खोज कर कार्य की उत्पत्ति के लिए लाये जावेंगे। इस प्रकार, सत्ता = अक्षणिक + सहकारी (एक ही स्वभाव के रूप में)]।

उपकारकत्वपक्षे सोऽयमुपकारः किं भावाद्भिद्यते न वा। भेदपक्ष आगन्तुकस्यैव तस्य कारणत्वं स्यात्। न भावस्याक्षणिकस्य। आगन्तुकातिशयान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्कार्यस्य। तदुक्तम्—

४. वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः॥ इति।

यदि सहकारियों को भाव (स्थायी) का उपकार करनेवाला मानते हैं तो इसमें भी प्रश्न होगा कि यह उपकार क्या वे भाव से अलग होकर करते हैं या नहीं (= बिना अलग हुए ही) ? [सहकारी पदार्थ जैसे मिट्टी आदि, स्थायी पदार्थ जैसे घटादि की उत्पत्ति में सहायता करते हुए उससे पृथक् रहते हैं या नहीं ? दूसरे शब्दों में, सहकारियों से उत्पन्न, स्थायी में रहने वाला विशेष (उपकार), अपने आश्रय स्थायी भाव से भिन्न है या नहीं ? इसके बाद भेद-पक्ष के विकल्प को लेकर बहुत बड़ा विवेचन किया गया है। यह दिखाया जायगा कि भेदपक्ष को स्वीकार करने पर अनवस्था-दोष (Argumentum ad Infinitum) होगा। इसलिए अन्तिम निर्णय होगा कि क्षणिक के रूप में ही सत्ता है।]

यदि यह कहें कि सहकारी स्थायी से भिन्न है तो जो सहकारी पदार्थ आगन्तुक (जैसे पानी, हवा, मिट्टी) हैं वे ही कारण कहलायेंगे (जो कार्य के उत्पादन में प्रधान होता है वही कारण है, जिसका निर्णय अन्वय व्यतिरेक से होता है) । अक्षणिक-भाव कारण नहीं होगा [क्योंकि कार्योत्पत्ति में उसका कोई हाथ नहीं, असल में कार्य तो सहकारी पदार्थ अक्षणिक से पृथक् होकर कर रहे हैं]। कार्य तो आगन्तुक सर्वाधिक (सहायक) के अन्वय और व्यतिरेक से सिद्ध होता है (आगन्तुक के साथ कार्य का अन्वय और व्यतिरेक ठीक-ठीक बैठ जाता है, अक्षणिक के साथ नहीं—इसलिए आगन्तुक कारण है और बाद में आनेवाला पदार्थ कार्य है।) अतिशय = वहून्गुणांश्चिन्तयित्वा सामान्यजनसंभवान्। विशेषः कीर्त्यते यस्तु ज्ञेयः सोऽतिशयो बुधैः। [उक्त स्थिति को यों स्पष्ट करें—बीज स्थायी पदार्थ (भाव) है, उसमें आने वाले सहकारी अतिशय (सबसे बड़े उपयोगी) के होने पर अंकुर की उत्पत्ति होती है, यह अन्वय हुआ। इस प्रकार के अतिशय के अभाव में अंकुर का उत्पन्न न होना, यह व्यतिरेक है। अब इस प्रकार अंकुर (कार्य) की उत्पत्ति अतिशय (सहकारी) के अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध होती है जिसका फल है कि अतिशय ही अंकुरोत्पत्ति का कारण है न कि बीज। जो जिसके रहने पर रहे, नहीं रहने पर नहीं रहे—वही तो उस पदार्थ का कारण होता है ! यह बात हम सहकारी अतिशय के साथ देखते हैं स्थायी बीज के साथ नहीं। इसलिए स्थायी (पदार्थ, बीज) कारण नहीं होगा। उसे कारण मान लेने पर अन्वय-व्यतिरेक की सिद्धि नहीं होती। बीजाभाव में अंकुराभाव ठीक है (व्यतिरेक), परन्तु बीज होने पर अंकुर होना (अन्वय) ठीक नहीं है। इसलिए स्थायी पदार्थ कारण नहीं होगा, उसका सहकारी (सहकारियों में भी सर्वाधिक उपयोगी अतिशय) ही कारण हो सकता है।]'

कहा भी है—वर्षा और धूप से आकाश को क्या ? दोनों का फल चमड़े पर हो सकता है। यदि [वह स्थायी भाव] चमड़े के समान हो तब तो वह अनित्य हो जाता है, यदि वह आकाश के समान हो. तो फलहीन (निष्फल) हो जाता है। [आशय यह है कि आकाश अविकारी है, उस पर वर्षा और धूप का कोई प्रभाव नहीं पड़ता—वर्षा हो या धूप, आकाश ज्यों-का-त्यों रहता है। हाँ, प्रभाव पड़ता है तो चमड़े पर, वर्षा से चमड़ा ठंढा हो जायगा, धूप से गर्म। इस प्रकार मनुष्यों के शरीर पर उसका प्रभाव है क्योंकि चर्म विकारी है। अब पूछा जाय कि स्थायी भाव विकारी (चर्मवत्) है कि अविकारी (आकाशवत्) ? दोनों दशाओं में दोष हैं। स्थायी के रूप में माना गया बीज यदि विकार के योग्य (विकारी) है तथा सहकारियों से उत्पन्न होने वाले अतिशय के द्वारा विकृत होता है तब तो वह भाव अनित्य है क्योंकि नित्य पदार्थ में तो विकार होता ही नहीं। दूसरी ओर, यदि वह आकाश के समान अविकारी माना जाय तब तो निष्प्रयोजन ही हो जायगा। सहकारियों से उत्पन्न विशेष फल (अतिशय) की आवश्यकता ही नहीं क्योंकि अतिशय के होने पर भी तो स्थायी पदार्थ बदल सकेगा ही नहीं। जल, वायु आदि सहकारियों की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। फल यह हुआ कि स्थायी पदार्थ को सत्ता के रूप में मानने से दोष ही दोष उत्पन्न होंगे।]

(१०. अतिशय का दूसरा अतिशय उत्पन्न करने में दोष)

किं च, सहकारिजन्योऽतिशयः किमतिशयान्तरमारभते न वा ? उभयथाऽपि प्रागुक्तदूषणपाषाणवर्षणप्रसङ्गः। अतिशयान्तरारम्भपक्षे बहुमुखानवस्थादौःस्थ्यमपि स्यात्। अतिशये जनयितव्ये सहकार्यन्तरापेक्षायां तत्परम्परापात इत्येकानवस्थाऽऽस्थेया।

तथा सहकारिभिः सलिलपवनादिभिः पदार्थसार्थैराधीयमाने बीजस्यातिशये बीजमुत्पादकमभ्युपेयम्। अपरथा तदभावेऽप्यतिशयः प्रादुर्भवेत्।

इसके अतिरिक्त [हम यह भी पूछते हैं कि] सहकारियों से उत्पन्न अतिशय (सर्वाधिक सहयोगी वस्तु) क्या दूसरे अतिशय को [कार्योत्पत्ति के लिए] उत्पन्न करता है कि नहीं ? दोनों स्थितियों में पूर्वोक्त दोषों के पाषाण की वर्षा होगी। [सलिल, पवनादि से उत्पन्न, बीज में रहने पर भी बीज से बिल्कुल

भिन्न अतिशय बीज में दूसरे अतिशय को यदि उत्पन्न नहीं करता तो सहकारियों से उत्पन्न अतिशय होने का फल ही क्या है ? यही नहीं, सहकारिजन्य अतिशय की उत्पत्ति के पूर्व बीज से अंकुर की उत्पत्ति भी हो जा सकेगी। दूसरी ओर, यदि सहकारिजन्य प्रथम अतिशय बीज में ही द्वितीय अतिशय उत्पन्न कर देता है, तो फिर वह द्वितीय अतिशय भी जो बीज से अत्यन्त भिन्न है बीज में तृतीय अतिशय उत्पन्न करेगा कि नहीं—इस प्रश्न के साथ-साथ अनवस्था बढ़ती ही जायगी (अभ्यंकर)। अतिशय को बीज (स्थायी) से अभिन्न करके भी दोष दिखाया गया है—'अथ भावादभिन्नोऽतिशयः'०। भेदपक्ष में ही और भी दोष होंगे, यह आगे दिखाते हैं—] यदि हम इस पक्ष को लें कि एक अतिशय दूसरे अतिशय को उत्पन्न करता है तो बहुत प्रकार की अनवस्था होने का दोष संभव है। (दूसरे अतिशय को इसलिए आरंभ करते हैं कि एक अतिशय से काम नहीं चलता। यह उत्पत्ति सहकारियों में दूसरे सहकारियों से होती है या स्थायी बीज में दूसरे सहकारियों से या अतिशयों में बीजादि स्थायी पदार्थों से या बीजादि में ही अतिशयों से होती है। जहाँ जैसी आवश्यकता पड़ती है वहाँ वैसा ही विशेष उत्पन्न करना चाहिए। इसके बाद अनवस्थाओं का ताँता लग जाता है।)

जो अतिशय उत्पन्न करता है उसमें दूसरे सहकारी की आवश्यकता होगी तथा उनकी अनन्त परंपराओं के आ जाने से **एक अनवस्था** तो तुरत मान लेनी पड़ेगी। (अतिशय के उत्पादन में यदि दूसरे सहकारी की आवश्यकता नहीं रहे तो यह उत्पत्ति स्वाभाविक मानी जायगी और सलिलादि सहकारी गण बीजादि से ही अतिशय का उत्पादन करने लगेंगे। अब दूसरे प्रकार से तीन अनवस्थायें दिखाते हैं—) वैसा होने पर सलिल, पवन-आदि सहकारी पदार्थों की सहायता से रखे गये बीज के अतिशय में बीज को ही उत्पादक समझ लें; नहीं तो, उन (सहकारियों) के अभाव में भी अतिशय उत्पन्न हो सकता है। (ऊपर के वाक्य में यदि बीज के अतिशय में ही बीज को उत्पादक समझ लेते हैं तो बीज में स्थित अतिशय ही नैमित्तिक कारण सिद्ध हो जाता है। अपरथा= बीज में स्थित अतिशय यदि दूसरे अतिशय को उत्पन्न करे तब; अतिशय के स्वाभाविक होने पर)।

(११. दूसरा अतिशय उत्पन्न करने में अनवस्था सं० १)

बीजं चातिशयमादधानं, सहकारिसापेक्षमेवाधत्ते। अन्यथा सर्वदोपकारापत्तौ अङ्कुरस्यापि सदोदयः प्रसज्येत। तस्मादति-

शयार्थमपेक्ष्यमाणैः सहकारिभिः अतिशयान्तरमाधेयं बीजे । तस्मिन्नप्युपकारे पूर्वन्यायेन सहकारिसापेक्षस्य बीजस्य जनकत्वे सहकारिसंपाद्यबीजगतातिशयानवस्था प्रथमा व्यवस्थिता ।

बीज एक अतिशय का ग्रहण करते हुए, दूसरे सहकारी भाव की आवश्यकता होने के कारण ही ऐसा करता है। नहीं तो (= अर्थात् यदि अतिशय का ग्रहण करना दूसरे सहकारी की आवश्यकता के कारण न हो बल्कि उसे स्वभावतः माना जाय), यदि [जल आदि सहकारियों को पकड़कर] सदैव बीज से अतिशय ग्रहण किया जाय तब ऐसा प्रसंग हो जायगा कि बीज से सदा अंकुर निकलता रहेगा। (फलित यह है कि बीज यदि सहकारी भाव की आवश्यकता न रखे और अतिशय से ही काम चला ले तो सदा अंकुर की उत्पत्ति होती रहेगी क्योंकि कारणस्वरूप बीज से अतिशय ग्रहण करने पर कार्यस्वरूप अंकुर भी उसी प्रकार उत्पन्न होता रहेगा)।

इसलिए प्रथम अतिशय को धारण करने के लिए अपेक्षित दूसरे सहकारी भावों को चाहिए कि वे बीज में दूसरे अतिशय को भी धारण करें। इस प्रकार से उपकार हो जाने पर (= अतिशयान्तर के मिल जाने पर) तथा पहले की तरह सहकारियों की अपेक्षा रखनेवाले बीज के [आधाररूप में] उत्पादक बन जाने पर (= जब बीज सहकारियों की सहायता से उत्पादक बन जाय तब), पहली अनवस्था उत्पन्न हो जाती है जो सहकारियों की सहायता से संपन्न होने वाले बीज के अतिशय से सम्बद्ध रहती है। (बीज के सहकारियों और अतिशय की एक अनन्त परम्परा चल पड़ती है जब कभी भी एक अतिशय दूसरे को उत्पन्न करने लगता है)।

(११. अनवस्था सं० २)

अथोपकारः कार्यार्थमपेक्ष्यमाणोऽपि बीजादिनिरपेक्षं कार्यं जनयति तत्सापेक्षं वा । प्रथमे बीजादेरहेतुत्वमापतेत् । द्वितीयेऽपेक्ष्यमाणेन बीजादिनोपकारेऽतिशय आधेयः । एवं तत्र तत्रापीति बीजादिजन्यातिशयनिष्ठातिशयपरम्परापात इति द्वितीयानवस्था स्थिरा भवेत् ।

[अब हम पूछते हैं कि] इस प्रकार का उपकार (अतिशय का धारण) कार्योत्पत्ति के लिए अपेक्षित होने पर भी बीज-आदि से पृथक् होकर कार्य को उत्पन्न करता है या उनकी अपेक्षा भी रखता है ? यदि पहला विकल्प लेते हैं

तो बीज-आदि कभी भी कारण नहीं हो सकते (क्योंकि कारण वही है जो कार्योत्पत्ति में सहायक हो लेकिन यहाँ बीज वैसा नहीं है)। दूसरे विकल्प को लेने पर, अपेक्षित बीज-आदि को उपकार होने पर अतिशय लेना चाहिए। इस तरह उन-उन अवस्थाओं में भी, बीजादि से उत्पन्न अतिशय में अतिशयों की एक अनन्त परम्परा चल पड़ेगी जिससे दूसरी अनवस्था भी दृढ़ हो जाती है।

(११. अनवस्था सं० ३)

एवमपेक्ष्यमाणेनोपकारेण बीजादौ धर्मिण्युपकारान्तरमाधेयम्—इत्युपकाराधेयबीजाश्रयातिशयपरम्परापात इति तृतीयानवस्था दुरवस्था स्यात् ।

इस प्रकार अपेक्षित उपकार को चाहिए कि वह [अतिशय के] धर्मी (विषयी) बीजादि में दूसरे उपकार का ग्रहण करे—इस तरह उपकार से उत्पन्न बीज के आश्रय (अतिशय) में रहनेवाले अतिशयों की अनन्त परम्परा फिर शुरू हो जायगी और यह तीसरी अनवस्था भी हटाना कठिन है।

विशेष—ऊपर एक अतिशय से दूसरे अतिशय को उत्पन्न किये जाने पर अनवस्थायें होती हैं—यह दिखाया गया। कुल तीन अनवस्थायें दिखलाई गई हैं। यह पूरा अवतरण उस विकल्प की व्याख्या है जिसमें कहा गया है कि उपकार भाव से भिन्न है। यह विकल्प यहाँ से शुरू किया गया है—सोऽयमुपकारः किं भावाद्भिद्यते न वा ? (देखिये–९वें परिच्छेद का दूसरा खंड)। इसके बाद, उपकार स्थायी भाव से अभिन्न है, इस विकल्प की परीक्षा होनेवाली है।

(१२. स्थायी भाव से अतिशय के अभिन्न होने पर आपत्ति)

अथ भावादभिन्नोऽतिशयः सहकारिभिराधीयत इत्यभ्युपगम्येत, तर्हि प्राचीनो भावोऽनतिशयात्मा निवृत्तोऽन्यश्चातिशयात्मा कुर्वद्रूपादिपदवेदनीयो जायत इति फलितं ममापि मनोरथद्रुमेण। तस्मात्क्रमेण अक्षणिकस्य अर्थक्रिया दुर्घटा।

दूसरी ओर अगर यह स्वीकार करते हैं कि अतिशय भाव (स्थायी पदार्थ) से भिन्न नहीं है और सहकारियों के द्वारा गृहीत होता है (अर्थात् भाव और अतिशय दोनों समान हों, अतिशय स्थायी भाव का ही अवस्था-विशेष हो), तब तो प्राचीन भाव जो अतिशय नहीं है अवश्य ही निवृत्त (समाप्त) हो जायगा और एक दूसरा भाव अतिशय के रूप में उत्पन्न हो जायगा जिसे 'कुर्वद्रूप' (कार्योत्पादक वस्तु) आदि शब्दों से जानते हैं। मेरे मनोरथ के

वृक्ष का भी तो यही फल है (अर्थात् मेरी ही बात सिद्ध हो गई)। इस प्रकार **'क्रम'** के द्वारा अक्षणिक (स्थायी) की अर्थक्रिया (कार्योत्पादिका) सिद्ध करना कठिन है।

विशेष—उपर्युक्त लम्बे विवेचन में यह सिद्ध किया जा रहा था कि क्रम-नियम (एक के बाद दूसरे का होना) से स्थायी अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकता—क्षणिक-पदार्थ ही अर्थक्रियाकारी होगा; क्षणिक ही सत् है। इस परिच्छेद में कहने का अभिप्राय यह है कि जलादि सहकारियों के द्वारा अतिशय के उत्पन्न होने पर भी यदि स्थायी बीजादि दूसरी अवस्था (कार्य रूप) में नहीं पहुँच जाते किन्तु अपनी पूर्वावस्था में ही अवस्थित रहते हैं, तब तो अतिशय का होना ही व्यर्थ है इसलिए सहकारी जलादि का मिलना भी व्यर्थ है। यदि दूसरी अवस्था में पहुँच जाते हैं तब तो 'क्षणिक' की ही सिद्धि हो जाती है—एक अवस्था से दूसरी अवस्था में आना ही सिद्ध करता है कि पहली अवस्था क्षणिक है ∴ पूरी सत्ता ही क्षणिक है।

(१३. अक्षणिक पदार्थ का 'अक्रम' से अर्थक्रियाकारी नहीं होना)

नाप्यक्रमेण घटते। विकल्पासहत्वात्। तथाहि—युगपत्सकलकार्यकरणसमर्थः स्वभावस्तदुत्तरकालमनुवर्तते न वा? प्रथमे तत्कालवत्कालान्तरेपि तावत्कार्यकरणमापतेत्। द्वितीये स्थायित्ववृत्त्याशा मूषिकभक्षितबीजादौ अङ्कुरादिजननप्रार्थनामनुहरेत्।

अक्रम (एक साथ उत्पन्न होना) के नियम से भी [अक्षणिक-पदार्थ का अर्थक्रियाकारी होना] सिद्ध नहीं होता। कारण यह है कि विकल्पों को यह सह नहीं सकता (= दो विकल्पों के खण्डन से इस वाक्य का भी खण्डन हो जाता है)। वह इस प्रकार होता है—एक ही साथ सभी काम करने में समर्थ स्वभाव[1] कार्य की उत्पत्ति के बाद भी रहता है या नहीं (या नहीं = या एक साथ कार्य उत्पन्न करके रह जाता है)? यदि पहले विकल्प को लेते हैं तो स्वभाव एक काल में जितना काम करता है उतना ही दूसरे काल में भी करने लगेगा [क्योंकि कार्य की उत्पत्ति के बाद भी स्वभाव तो बदलेगा ही नहीं, दूसरे काल में उसकी सत्ता रहेगी ही और वह उसी परिमाण में निरन्तर—कालान्तर

---

१. स० द० सं० की कुछ प्रतियों में **स्वभावः** के स्थान में **स भावः** पाठ है लेकिन वह ठीक नहीं। भाव नहीं रहने से ही विरुद्ध धर्म पर आरोपित आश्रय की विभिन्नता रूपी साधन अनुपयोगी हो सकता है।

में भी—कार्य उत्पन्न करते रहेगा । लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि कार्योत्पत्ति केवल एक बार होती है, उसी स्वभाव से पुनः पुनः कार्योत्पत्ति, एक ही परिमाण में, नहीं होती । यही तो सत्ता को स्थायी मानने का परिणाम है ! इसलिए अक्रम-नियम (Method of Simultaneity) के प्रथम विकल्प से अक्षणिक-सत्ता का खण्डन हो जाता है क्योंकि इसमें कठिनाई (absurdity) उत्पन्न हो जाती है] ।

यदि दूसरे विकल्प (स्वभाव एक साथ कार्योत्पत्ति करके निवृत्त हो जाता है) को लेते हैं तो स्वभाव के स्थायी होने की आशा उतनी ही सफल होगी जितनी चूहे के खाये हुए बीजादि में अंकुरादि उत्पन्न होने की प्रार्थना ! (अर्थात् जिस प्रकार चूहे के खाये हुए बीज नहीं उग सकते उसी प्रकार यह मानकर कि स्वभाव कार्योत्पत्ति करके निवृत्त हो जाता है, स्वभाव का स्थायित्व स्वीकार नहीं कर सकते । जब कोई भाव अपना कार्य करके समाप्त हो जाय तो इसका अभिप्राय है कि वह क्षणिक है । इस दृष्टिकोण से भी बौद्धों के मत—क्षणिक-वाद—की पुष्टि होती है । इसके लिए अभी प्रयोग दिये जायँगे कि बीजादि भाव क्षण-क्षण में भिन्न होते हैं क्योंकि उनसे क्षण-क्षण में विरुद्ध धर्म आते-जाते हैं इत्यादि……) ।

(१३ क. असामर्थ्य-साधक प्रसंग और उसका विपर्यय)

यद्विरुद्धधर्माध्यस्तं तन्नाना, यथा शीतोष्णे । विरुद्धधर्माध्यस्तश्चायमिति जलधरे प्रतिबन्धसिद्धिः । न चायमसिद्धो हेतुः । स्थायिनि कालभेदेन सामर्थ्यासामर्थ्ययोः प्रसङ्गतद्विपर्ययसिद्धत्वात् । तत्रासामर्थ्यसाधकौ प्रसङ्गतद्विपर्ययौ प्रागुक्तौ ।

जिन वस्तुओं पर विरुद्ध धर्म आरोपित होते हैं वे नाना प्रकार की (एक प्रकार की नहीं) हैं उनमें परस्पर भेद है, जैसे शीत और उष्ण । यहाँ स्वभाव पर विरुद्ध-धर्मों का आरोप हुआ है—इसी तरह मेघ में भी व्याप्ति की सिद्धि होती है । (प्रतिबन्ध = व्याप्ति । मेघ को भी सिद्ध करते हैं कि इसकी सत्ता स्थायी नहीं, क्षणिक ही है । वह कैसे ? मेघ प्रतिक्षण में नये-नये स्वरूप का प्रदर्शन करता है इसलिए उसमें क्षण-क्षण विरुद्ध धर्म तो आते ही हैं और इसीलिए वह नाना प्रकार का है । न्याय की भाषा में कहेंगे कि विरुद्ध धर्म के आरोपण और नानात्व में व्याप्ति है । यही व्याप्ति जलधर के नानात्व की सिद्धि करती है) । वहाँ यह हेतु (विरुद्धधर्म का आरोपित होना) असिद्ध नहीं है । कारण यह है कि स्थायी (बीजादि) पदार्थ में काल के भेद से सामर्थ्य और

असामर्थ्य दोनों का प्रसंग (असत् से सत् की सिद्धि) और प्रसंगविपर्यय (सत् से सत् की सिद्धि)—ये सिद्ध होते हैं। इनमें असामर्थ्य के साधक प्रसंग और उसका विपर्यय पहले ही कहे जा चुके हैं (देखिये-परि० ८)।

विशेष—असिद्ध हेतु उसे कहते हैं जब हेतु या अनुमान का साधन (Middle Term) साध्य के समान ही सिद्धि की अपेक्षा करे; उसकी सत्ता सन्दिग्ध हो जैसे—

गगनारविन्द सुगन्धित है (निष्कर्ष)
क्योंकि वह (गगनारविन्द) अरविन्द (कमल) है—हेतु,
जो कमल हैं वे सुगन्धित हैं जैसे तालाब का कमल।

यहाँ अरविन्दत्व हेतु है जिसका आश्रय है गगनारविन्द। वह होता ही नहीं इसलिए यहाँ हेतु आश्रय के विषय में असिद्ध अर्थात् आश्रयासिद्ध है। असिद्ध हेत्वाभास को प्राचीन नैयायिक साध्यसम कहते हैं। असिद्ध के तीन भेद हैं—(१) आश्रयासिद्ध (उपर्युक्त उदाहरण) (२) स्वरूपासिद्ध (हेतु का स्वरूपतः पक्ष में न रहना) और (३) व्याप्यत्वासिद्ध (सोपाधिक हेतु)। इनके विस्तृत विवेचन के लिये न्यायदर्शन देखें।

यहाँ पर प्रतिपक्षी लोग शंका उठाते हैं कि 'यद्विरुद्धधर्मा०' वाले अनुमान में भी स्वरूपासिद्ध नामक दोष है। पहले स्वरूपासिद्ध समझ लें। उदाहरण है—

सभी चाक्षुष (Visual) पदार्थ गुण हैं (बृहत् वाक्य),
शब्द चाक्षुष पदार्थ है (लघु वाक्य),
∴ शब्द गुण है (निष्कर्ष)।

यहाँ लघुवाक्य में जो चाक्षुषत्व (हेतु Middle Term) का सम्बन्ध शब्द से दिखाया गया है वह स्वरूपतः असिद्ध है क्योंकि शब्द चाक्षुष नहीं, उसका अपना गुण है श्रावण होना, अर्थात् श्रवण (कानों) से सम्बद्ध है। उसी प्रकार इस अनुमान में—

जो विरुद्धधर्मों से परिपूर्ण है वह नानाप्रकारक है (Major Pr.)
बीजादि विरुद्ध धर्मों से परिपूर्ण हैं (Minor Pr.)
∴ बीजादि नानाप्रकारक (diverse) हैं। (concl.)

शंका यह है कि बीजादि (पक्ष) में काल का भेद होने पर भी तो विरुद्ध धर्मों से परिपूर्णता नहीं देखते। इसीलिए वे लोग असिद्ध हेतु मानते हैं जिसका खण्डन 'न चायमसिद्धो हेतुः' कहकर किया जा रहा है।

प्रसंग और उसका विपर्यय—व्यतिरेक व्याप्ति के द्वारा जिस अनुमान का प्रदर्शन होता है उसे प्रसंगानुमान कहते हैं। दूसरी ओर, अन्वय-व्याप्ति के द्वारा

प्रदर्शित अनुमान को प्रसंगविपर्ययानुमान कहते हैं। यों असत् से सत् को सिद्ध करना प्रसंग कहलाता है। उदाहरण लें—पर्वत अग्निमान् है, क्योंकि वहाँ धूम (हेतु) है। इसमें जहाँ अग्नि का अभाव है वहाँ धूम का भी अभाव है जैसे तालाब में—यही व्यतिरेक-व्याप्ति है। इस प्रकार पर्वत में धूमाभाव असत् है उसे सत् सिद्ध कर रहे हैं—यदि तालाब के समान पर्वत में भी अग्नि नहीं है तब तो धूम भी नहीं हो सकता। इस धूमाभाव की सिद्धि के साथ पर्वत में धूम देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है। यही हुआ प्रसंगानुमान।

इस स्थान पर स्थायी पदार्थ (बीजादि) में वर्तमान अर्थक्रिया-करण (कार्योत्पत्ति) के समय अतीत और भविष्यत् में अर्थक्रियाकरण की असमर्थता सिद्ध करनी है (साध्य है)। हम इसे इस प्रकार सिद्ध करते हैं कि एक समय (वर्तमान) में तो यह अतीत और भविष्य के कार्यों को उत्पन्न नहीं करता (करण को अकरण के द्वारा सिद्ध करते हैं)। तब हम व्यतिरेक व्याप्ति की सहायता लेते हैं—जो समर्थ है वह तो काम तो करता ही है। इससे वर्तमान अर्थक्रियाकरण के समय अतीत और भविष्य की अर्थक्रिया का करण सिद्ध होता है। इस तरह की सिद्धि के साथ-साथ वर्तमानकाल में अतीत और भविष्य की अर्थक्रिया के अकरण को देखकर उसकी असमर्थता सिद्ध हो गई। आठवें परिच्छेद में इसका विचार 'आद्ये तयोरनिराकरणप्रसङ्गः' आदि कह कर किया गया है। यहाँ उसकी आवश्यकता देखकर पुनः विस्तृत व्याख्या की गई।[1]

दूसरी ओर प्रसंगविपर्यय उसे कहते हैं जहाँ सत् से सत् का ज्ञान दिखाया जाय। उदाहरणतः, 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है यह अन्वय-व्याप्ति दिखाकर पर्वत में सत् (existent) धूम को दिखाया जाय। इससे अग्नि का अनुमान होता है। असामर्थ्य-साधक प्रसंगविपर्यय भी उसी क्रम में वर्णित हो चुका है—'यद् यदा यन्न करोति०' इत्यादि। उसमें भी सिद्ध हुआ है कि वर्तमान अर्थक्रिया के काल में अतीत और भविष्य की कार्योत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार असामर्थ्य के द्वारा स्थायी पदार्थ सिद्ध नहीं होता। अब 'सामर्थ्य' का सामर्थ्य भी देखें।

(१३ ख. सामर्थ्य-साधक प्रसंग और तद्विपर्यय)

सामर्थ्यसाधकावभिधीयेते। यद्यदा यज्जननासमर्थं तत्तदा तन्न करोति यथा शिलाशकलमङ्कुरम्। असमर्थश्चायं वर्तमानार्थ-

---

१—(१) यद्यदा यत्करणसमर्थं तत्तदा तत्करोत्येव—प्रसङ्गानुमानम्।
(२) यद्यदा यन्न करोति तत्तदा तत्रासमर्थम्—प्रसङ्गानुमानविपर्ययः।

क्रियाकरणकालेऽतीतानागतयोरर्थक्रिययोरिति प्रसङ्गः। यद्यदा यत्करोति तत्तदा तत्र समर्थं यथा सामग्री स्वकार्ये। करोति चायमतीतानागतकाले तत्कालवर्तिन्यावर्थक्रिये भाव इति प्रसङ्गव्यत्ययो विपर्ययः।

अब हम सामर्थ्य के साधक [प्रसंग और उसके विपर्यय] का वर्णन करते हैं। एक समय में जो पदार्थ जिस किसी दूसरे पदार्थ को उत्पन्न करने में असमर्थ है, उस समय वह उसे उत्पन्न नहीं करता जैसे पत्थर का टुकड़ा अंकुर को [उत्पन्न नहीं करता क्योंकि पत्थर के टुकड़े में असमर्थता है]। यह (बीजादि भाव) अर्थक्रिया करने के समय अतीत और अनागत (भविष्य) की अर्थ-क्रियाओं के करने में असमर्थ है—इस प्रकार प्रसंग हुआ (= प्रसंगानुमान)।

एक समय में जो जिसे उत्पन्न करता है वह उस समय में उसके लिए समर्थ है जैसे कारणों की पूरी सामग्री अपने कार्य को उत्पन्न करने के लिए। यह भाव अतीत और अनागत काल में उस समय में चलनेवाली अर्थ क्रियाओं को उत्पन्न करता है (∴ वह उनके लिए समर्थ है)।—इस प्रकार प्रसंग का उल्लंघन करनेवाला उसका विपर्यय है।

विशेष—सामर्थ्यसाधक और असामर्थ्य-साधक के निम्नोक्त प्रकार से अनुमान होते हैं जिनमें ये व्याप्तियाँ हैं। क्रिया-करण और सामर्थ्य के समनियत होने के कारण दोनों (क्रियाकरण तथा सामर्थ्य) में व्याप्त और व्यापक का परस्पर भाव रहता है इसलिए दो व्याप्तियाँ होती हैं—(१) यत्करोति तत्समर्थम् (क्रियाकरण—व्याप्य, सामर्थ्य—व्यापक), (२) यत्समर्थं तत्करोति (सामर्थ्य—व्याप्य, क्रियाकरण—व्यापक)। इसी प्रकार क्रिया के अकरण और असामर्थ्य में भी व्याप्य-व्यापक का भाव है जिससे दो व्याप्तियाँ हो सकती हैं—(३) यन्न करोति तदसमर्थम् (क्रिया-अकरण—व्याप्य, असामर्थ्य—व्यापक), (४) यदसमर्थं तन्न करोति (असामर्थ्य—व्याप्य, क्रिया-अकरण—व्यापक)। इन चारों व्याप्तियों पर विचार करने पर पहली सामर्थ्यसाधिका अन्वयव्याप्ति निकलती है, दूसरी असामर्थ्यसाधिका व्यतिरेकव्याप्ति, तीसरी असामर्थ्यसाधिका अन्वयव्याप्ति और चौथी सामर्थ्यसाधिका व्यतिरेकव्याप्ति है। इन्हीं का संकलन ऊपर के अनुमानों में किया गया है।

(१४. निष्कर्ष—क्षणिकवाद की स्थापना)

तस्माद्विपक्षे क्रमयौगपद्यव्यावृत्त्या, व्यापकानुपलम्भेन अधिगतव्यतिरेकव्याप्तिकं, प्रसङ्गतद्विपर्ययबलाद् गृहीतान्वय-

व्याप्तिकं च सत्त्वं क्षणिकत्वपक्ष एव व्यवस्थास्यतीति सिद्धम् । तदुक्तं ज्ञानश्रिया—

५. यत्सत्तत्क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा अमी
सत्ता शक्तिरिहार्थकर्मणि मितेः सिद्धेषु सिद्धा न सा ।
नाप्येकैव विधान्यथा परकृतेनापि क्रियादिर्भवेद्
द्वेधापि क्षणभङ्गसंगतिरतः साध्ये च विश्राम्यति ॥

इसलिए [अब सारे तर्कों का निष्कर्ष निकालते हुए कहते हैं कि] सत्ता क्षणिकत्व के पक्ष में ही व्यवस्थित होती है—यही सिद्ध हुआ । इसके ये कारण हैं—(१) विपक्ष (अक्षणिक, स्थायी) में क्रम और यौगपद्य (अक्रम, एक साथ होना)—दोनों की असिद्धि हो जाती है । [विपक्ष वह है जो निश्चित साध्य का अभाव धारण करे—निश्चितसाध्याभाववान्विपक्षः । जब बौद्ध लोग क्षणिकत्व की स्थापना करते हैं तो उनके लिए क्षणिकत्व साध्य है और उसके विरुद्ध अक्षणिक माने गये ईश्वर, घट, पटादि विपक्ष हैं । ∴ विपक्ष = स्थायी (यहाँ पर) । ऊपर दिखला चुके हैं कि स्थायी भाव क्रम या अक्रम से भी अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकता ।] इसके फलस्वरूप व्यापक के अनुपलम्भ से सत्त्व में व्यतिरेक-व्याप्ति प्राप्त होती है । [आशय यह है—अर्थक्रियाकारित्व व्याप्य है और क्रम या अक्रम में से कोई एक व्यापक बन जाता है । जब ईश्वरादि स्थायी पदार्थ में क्रम या अक्रम का अभाव सिद्ध करते हैं तो व्याप्य अर्थक्रियाकारित्व का भी अभाव हो जाता है । व्यापक के अभाव में व्याप्य का अभाव होना व्यतिरेक व्याप्ति है, इसलिए यहाँ भी व्यतिरेक व्याप्ति से सिद्ध होता है कि अक्षणिक पदार्थ का अर्थक्रियाकारित्व नहीं होगा और चूँकि सत्ता के लिए अर्थक्रियाकारी होना आवश्यक है, सत्ता को क्षणिक होना चाहिए ।] (२) प्रसंग और उसके विपर्यय के बल से सत्त्व में अन्वयव्याप्ति का ग्रहण होता है । [व्याप्य के सत् होने से व्यापक का सत् होना, यही अन्वयव्याप्ति है । उदाहरणार्थ—जो सत् है वह क्षणिक है । सत्ता अर्थक्रियाकारी होती है । यदि उसे क्षणिक न मानकर (विपक्ष में) नित्य स्वीकार करते हैं तो उसमें सामर्थ्य होने से भाव (सत्ता) सदा सभी कार्यों को उत्पन्न करने लगेगा—यह प्रसंग है । सामर्थ्य न होने से कभी नहीं करेगा—यह विपर्यय है; इसलिए अर्थक्रियाकारी को (साथ-साथ, सत्ता को) क्षणिक होना परम आवश्यक है—यह अन्वयव्याप्ति है । इस प्रकार दोनों से क्षणिक-सत्ता की सिद्धि होती है ।]

ज्ञानश्री ने भी कहा है—'जिसकी सत्ता है, वह क्षणिक है जैसे—जलधर

और ये सत्ता सम्पन्न भाव (वस्तुएँ—घट, पटादि)। अर्थ-कर्म की जो शक्ति (=कुछ चीज उत्पन्न करने का सामर्थ्य) है वही सत्ता है, इसमें प्रमाण (मिति) है [जिससे न तो कोई वस्तु ही उत्पन्न होती और न ज्ञान ही, वैसी वस्तु की सत्ता नहीं है। उसके अस्तित्व का प्रमाण कौन देगा ? अर्थकर्म की शक्ति रखने वाले पदार्थ की सत्ता का प्रमाण तो है]। यह सत्ता सिद्ध (स्थिर) पदार्थों में स्थिर नहीं है (किन्तु क्षणिक पदार्थों में ही सिद्ध है और स्वयं भी यह सत्ता क्षणिक ही है) । [अक्षणिक से कार्योत्पत्ति का] एक ही प्रकार नहीं है [किन्तु स्वाभाविक होने पर क्रम से या अक्रम से (एक साथ) होता है।] नहीं तो दूसरे के द्वारा भी दूसरे की क्रिया उत्पन्न हो सकती है। (=कार्योत्पादन अगर नैमित्तिक नहीं हो तो सहकारी उपकार के द्वारा भी कार्योत्पत्ति होगी, कारण की आवश्यकता ही नहीं है—इससे भी कारण अक्षणिक नहीं होता, वह क्षणिक ही रहता है।) इस प्रकार दोनों रीतियों (क्रम और अक्रम) से क्षण में पदार्थों के भंग (विनाश) को संगति (सिद्धि) होती है और अंत में हमारे साध्य (क्षणिकं क्षणिकम्) को ही सिद्ध करती है।'

विशेष—ऊपर बौद्धों की एक भावना 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्' की व्याख्या विधिवत् की गई है। इसमें सत्ता-विषयक विरोधी वाद (स्थायिवाद) का युक्तियुक्त खण्डन करके अपने पक्ष की सम्यक् प्रतिष्ठा हुई है। तदनुसार संसार में जितनी भी वस्तुएँ हैं, परिवर्तनशील हैं। उनकी परिवृत्ति क्षण-क्षण में होती जा रही है। एक ही चीज को हम दो बार नहीं देख सकते, एक ही नदी में दो बार स्नान नहीं कर सकते और न एक ही मनुष्य को दो बार प्रणाम कर सकते हैं। किसी की भी सत्ता क्षणमात्र के लिए है—कार्योत्पत्ति ही वस्तुओं का उद्देश्य है। एक क्षण में रहना, दूसरे क्षण में अर्थक्रिया और विनाश—यही है बौद्धों का सत्ताविषयक सिद्धान्त। वैभाषिक और सौत्रान्तिक लोग तो इस पर और भी जोर देते हैं। पाश्चात्य-दार्शनिक वस्तुओं की क्षणिकता में देश और काल को बड़ा महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार क्षण-क्षण में वस्तुओं का देश (Space, place) और काल (Time) बदलता जा रहा है। इन दोनों गुणों से विशिष्ट होने पर एक सेकंड में भी उसी वस्तु के दो रूप देखे जा सकते हैं।

(१५. सामान्य का खण्डन)

न च कणभक्षाक्षचरणादिपक्षकक्षीकारेण सत्तासामान्ययोगित्वमेव सत्त्वमिति मन्तव्यम्। सामान्यविशेषसमवायानामसत्त्वप्रसङ्गात्।

न च तत्र स्वरूपसत्तानिबन्धनः सद्व्यवहारः। प्रयोजक-गौरवापत्तेः। अनुगतत्वाननुगतत्वविकल्पपराहतेश्च। सर्षपमहीध-रादिषु विलक्षणेषु क्षणेष्वनुगतस्याकारस्य मणिषु सूत्रवद्, भूत-गणेषु गुणवच्चाप्रतिभासनाच्च।

कणाद (कणों को एकत्र करके खानेवाले कणाद—वैशेषिक-सूत्रकार) और अक्षपाद (गौतम—न्याय-सूत्रकार, किंवदन्ती के अनुसार जिनके चरणों में आखें थीं) आदि के पक्षों को स्वीकार करने वालों को यह नहीं समझना चाहिए कि सत्ता की सामान्य-दशा में भाग लेना (योगदान करना) ही सत्ता है (=वस्तु के सामान्य जैसे गोत्व, पशुत्व आदि को सत्ता नहीं कहते जैसा कि कणाद, गौतमादि मानते हैं), नहीं तो सामान्य, विशेष और समवाय—इन वैशेषिक-सम्मत पदार्थों की भी सत्ता न होने का भय उत्पन्न हो जायगा (क्योंकि ये पदार्थ सामान्य में भाग नहीं लेते =सामान्य का, विशेष का और समवाय का सामान्य नहीं होता। इन पदार्थों की सत्ता न रहने से वैशेषिक-दर्शन का मूल ही नष्ट हो जायगा)।

ऐसा भी नहीं कह सकते कि वहाँ (=सामान्य, विशेष और समवाय पर) सत्ता का आरोप करना अपने रूप की सत्ता पर निर्भर करता है (=चूँकि इन पदार्थों की अपनी सत्ता तो निःसन्दिग्ध है इसलिए इन पर सत्ता का आरोप भी कर सकते। जैसी अपनी सत्ता, वैसी सामान्य सत्ता)। ऐसा करने से बहुत से प्रयोजकों (स्वरूप-सत्ताओं) की आवश्यकता होगी (और वह बहुत श्रमसाध्य होगा)।

यही नहीं, सामान्य की सत्ता को (अनेक में एक की) उपस्थिति और अनुपस्थिति-विषयक विकल्पों की द्विविधा में डालकर असिद्ध कर सकते हैं। (अनेक में एक सामान्य होता है, यदि उसकी उपस्थिति है तो भी दोष, नहीं है तो भी दोष—इसलिए सामान्य की सत्ता नहीं है)। इसके अलावे क्षणों (पदार्थों) में सामान्य रूप से, मणियों [की माला] में सूत्र की तरह या भूत-गणों में (पृथ्वी, जल आदि में) गुणों (रूप, रसादि) की तरह, वर्तमान कोई भी आकार दिखलाई नहीं पड़ता [जिसे हम सामान्य कहकर पुकार सकें]।

किं च सामान्यं सर्वगतं स्वाश्रयसर्वगतं वा? प्रथमे सर्व-वस्तुसंकरप्रसङ्गः। अपसिद्धान्तापत्तिश्च। यतः प्रोक्तं प्रशस्त-पादेन—'स्वविषयसर्वगतमिति'।

किं च विद्यमाने घटे वर्तमानं सामान्यमन्यत्र जायमानेन संबध्यमानं तस्मादागच्छत्संबध्यते अनागच्छद्वा ? आद्ये द्रव्यत्वापत्तिः। द्वितीये सम्बन्धानुपपत्तिः।

इसके अतिरिक्त [यह बतावें कि] सामान्य सभी में है अथवा अपने आश्रय में सर्वत्र स्थित है ? यदि पहले विकल्प को लेते हैं (सामान्य सर्वगत है) तो सभी वस्तुएँ आपस में मिल जायँगी (कोई भेद नहीं रहेगा, विशृंखलता हो जायगी)। दूसरे, आपका विरोधी सिद्धान्त आ धमकेगा क्योंकि प्रशस्तपाद (वैशेषिक-सूत्रभाष्य के लेखक) का कथन है—'अपने विषयों या आश्रयों में सर्वत्र विद्यमान है'।

अब [यदि सामान्य केवल अपने आश्रयों में सर्वतोभावेन विद्यमान है तो बतावें कि] पहले से विद्यमान घट में उपस्थित सामान्य, दूसरे स्थान पर उत्पन्न होने वाले (घट) से संबद्ध कर दिये जाने पर, पहले घट से निकलकर [दूसरे से] संबद्ध होता है या बिना निकले ही हुए ? अगर निकलकर दूसरे से संबद्ध होता है तो [सामान्य को] द्रव्य कहें (क्योंकि द्रव्य में ही गुण और क्रिया—गमनादि—होती है)। यदि बिना आये ही संबद्ध होता है तब सम्बन्ध ही नहीं हो सकता (सम्बन्ध के लिए संनिकर्ष आवश्यक है)।

किं च विनष्टे घटे सामान्यमवतिष्ठते, विनश्यति, स्थानान्तरं गच्छति वा ? प्रथमे निराधारत्वापत्तिः। द्वितीये नित्यत्ववाचोयुक्त्ययुक्तिः। तृतीये द्रव्यत्वप्रसक्तिः। इत्यादि दूषणग्रहग्रस्तत्वात्सामान्यमप्रामाणिकम्। तदुक्तम्—

६. अन्यत्र वर्तमानस्य ततोऽन्यस्थानजन्मनि।
तस्मादचलतः स्थानाद् वृत्तिरित्यतियुक्तता॥

[अब फिर बतावें कि] घट के नष्ट हो जाने पर, यह सामान्य वहीं अवस्थित रहता है या नष्ट हो जाता है या दूसरी जगह चला जाता है ? अगर वहीं रहता है तो बिना आधार के ही रहेगा कैसे ? अगर नष्ट हो जाता है तो उसे नित्य कहने की बात अयुक्त हो जाती है (नित्य का कभी विनाश नहीं होता, सामान्य को न्याय-वैशेषिक में नित्य माना गया है)। यदि तीसरा विकल्प (स्थानान्तरण) लेते हैं तो यह द्रव्य हो जायगा (गुण और क्रिया के चलते)। इस तरह के दोषों के ग्रह से ग्रस्त होने के कारण सामान्य को अप्रामाणिक कहते हैं। यह कहा भी है—'[सामान्य] दूसरी जगह वर्तमान है

(एक घट में घटत्व है) और उससे भिन्न स्थान में [घट के] उत्पन्न होने पर, प्रथम स्थान से अचल [सामान्य का दूसरे घट में] जाना (वृत्ति)—इससे बढ़कर और युक्ति क्या हो सकती है !!'

७. यत्रासौ वर्तते भावस्तेन संबध्यते न तु ।
तद्देशिनं च व्याप्नोति किमप्येतन्महाद्भुतम् ॥
८. न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत् ।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसंततिः ॥ इति ।

अनुवृत्तप्रत्ययः किमालम्बन इति चेत्—अङ्ग, अन्यापोहालम्बन एवेति संतोष्टव्यमायुष्मता, इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

"जहाँ पर वह भाव है उस स्थान से तो उसका सम्बन्ध नहीं है लेकिन उस स्थान में रहने वाले पदार्थ को व्याप्त करता है—क्या ही वह विचित्र दृश्य है ? (उदाहरणार्थ, घटरूपी भाव जिस भूतल में है उस भूतल से घटत्व का सम्बन्ध नहीं है । भूतल-देश में वर्तमान घट को लेकिन घटत्व व्याप्त कर लेता है । जब घट को घटत्व व्याप्त करता है तो उसके आधार भूतल से तो उसका संबन्ध होना ही चाहिए लेकिन ऐसा क्यों नहीं है ?) [सामान्य] न तो जाता है, न वह वहाँ था ही, न वह बाद में टुकड़े होकर ही रहता है, न यह अपने पहले आधार को ही छोड़ता—कठिनाइयों की परम्परा विचित्र है !"

यदि आप पूछें कि 'एक की सत्ता अनेक में है' यह विश्वास किस पर अवलम्बित है, तो इसका उत्तर होगा—हे मित्र, आप चिरायु हों, संतोष करें कि अन्य पदार्थ के अपोह (तद्-भिन्न-भिन्न) पर ही अवलम्बित है ('यह घट है' यह वाक्य आप कैसे मानते हैं जब कि घटत्व सामान्य को नहीं मानते ? यही शंका है । अपोहवाद को स्वीकार करके ही यह विश्वास होता है—यह घट घटेतर से भिन्न है । घट से भिन्न जिन पदार्थों का बोध होता है, यह घट उन सबों से भिन्न हैं । उत्तर यही है) । अब इसे अधिक बढ़ाना व्यर्थ है ।

विशेष—आठवें श्लोक में जाति या सामान्य के विरुद्ध आपत्तियाँ उठाई गई हैं । सामान्य एक जगह से दूसरी जगह जाता नहीं है क्योंकि क्रिया केवल द्रव्य में ही रहती है, सामान्य में नहीं । ऐसा होने पर घटोत्पत्ति के समय उसमें घटत्व नहीं रहेगा—यह दोष सम्भव है । यदि यह कहें कि मृत्पिण्ड में ही घटत्व था और उत्पन्न होते ही घट में आ गया, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि घटोत्पत्ति के पूर्व मृत्पिड में घटत्व था ही नहीं; घटोत्पत्ति के बाद ही घट में घटत्व सामान्य रहता है । यह भी अयुक्त है । यदि फिर भी यह कहें कि

दूसरे घट में विद्यमान घटत्व बढ़कर दूसरे से संबद्ध हो जाता है, तो उत्तर होगा कि बाद में घटत्व टुकड़े होकर भी नहीं रहता। अवयव-सहित पदार्थ की ही वृद्धि होती है, घटत्व में तो अवयव नहीं—तो यह बढ़ेगा कैसे ? यदि वृद्धि नहीं हो और फिर भी संबन्ध को स्वीकार करें तो सामान्य की सत्ता पहले नहीं रह सकती। लेकिन ऐसी बात है नहीं, प्रत्युत वह तो पूर्व आधार को छोड़ता ही नहीं। यह जाति को स्वीकार करनेवालों की दोष-परम्परा है।

(१६. दुःख और स्वलक्षण की भावनायें)

सर्वस्य संसारस्य दुःखात्मकत्वं सर्वतीर्थकरसम्मतम्। अन्यथा तन्निविवृत्सूनां तेषां तन्निवृत्त्युपाये प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तस्मात्सर्वं दुःखं दुःखमिति भावनीयम्।

ननु किंवदिति पृष्टे दृष्टान्तः कथनीय इति चेत्—मैवम्। स्वलक्षणानां क्षणानां क्षणिकतया सालक्षण्याभावादेतेन सदृशम-परमिति वक्तुमशक्यत्वात्। ततः स्वलक्षणं स्वलक्षणमिति भावनीयम्।

समूचे संसार को दुःखात्मक समझना सभी शास्त्रकारों (आस्तिक, नास्तिक दोनों) से सम्मत है। [यदि संसार दुःखमय] न हो तो उस (दुःख) से बचने की इच्छा करने वाले व्यक्तियों की प्रवृत्ति दुःखों से निवृत्त होने के उपायों के प्रति कैसे होगी ? यही कारण है कि [बौद्ध लोग] यह भावना (विचार) रखते हैं—'सब कुछ दुःख है, दुःख है।'

यदि कोई पूछे कि—'किसकी तरह (यह होता है) ? कोई उदाहरण तो कहिये।' [तब हम उत्तर देंगे कि] ऐसी बात नहीं, सभी पदार्थों का अपना-अपना लक्षण है (All are types in themselves) और वे क्षणिक भी हैं। किसी साधारण लक्षण (या समान लक्षण) के अभाव में यह कहना संभव नहीं है कि इसके समान यह दूसरा है। इसलिए यह भावना रखनी चाहिए कि सभी पदार्थों का अपना लक्षण है, अपना लक्षण है।

विशेष—बौद्धों की भावना है—सर्वं दुःखं दुःखम्। संसार में सब कुछ दुःख है। दुःख की सत्ता मानने में सभी दर्शनकार सहमत हैं। वस्तुतः भारतीय दर्शन का प्रमुख अंश बंधन और मोक्ष का ही विवेचन करता है। बन्धन का अर्थ है संसार के दुःखों में पड़ा रहना; जरा-मरण, आवागमन आदि दुःख ही तो हैं। इनसे बचना ही मुक्ति है। क्या चार्वाक और क्या शंकराचार्य—सभी

दुःख की अनिवार्य (कम-से-कम व्यावहारिक-रूप से) सत्ता मानते हैं। सांख्यकारिका की पहली कारिका में ही कहा गया है—

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे सापार्था चेन्नैकान्तात्यन्तोऽभावात् ॥

सारांश यह कि दर्शनों का मतभेद दुःख की प्रकृति और उससे बचने के उपायों को लेकर है। दुःख की व्याख्या भगवान् बुद्ध यों करते हैं—

'इदं खो पन भिक्खवे, दुक्खं अरिय सच्चं। जाति पि दुक्खा, जरापि दुक्खा, मरणम्पि दुक्खं, सोक-परिदेव-दोमनस्सुपायासापि दुक्खा, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं, संख्यित्तेन पञ्चूपादानक्खन्धापि दुक्खा ॥' अर्थात् हे भिक्षुगण, यह दुःख प्रथम आर्य-सत्य है। जन्म लेना भी दुःख है, वृद्धावस्था भी दुःख है, मरण भी दुःख है। शोक, परिदेवना (पश्चात्ताप), उदासीनता तथा परिश्रम भी दुःख है। अप्रिय वस्तु के साथ समागम होना दुःख है, प्रिय का वियोग भी दुःख है। जो ईप्सित वस्तु को नहीं पाता तो वह भी दुःख है। संक्षेप में ये राग द्वारा उत्पन्न पाँचों स्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान) भी दुःख है।

बुद्ध का कहना है कि हँसी और आनन्द कैसे हो जब यह भव-रूपी भवन नित्य जल रहा है? (को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति। धम्मपद, १४६)।

बौद्धों की दूसरी भावना है—सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणम्। क्षणिक होने के कारण सभी पदार्थों का अपना-अपना लक्षण या असाधारण लक्षण है। सामान्य को ये मानते नहीं जिससे उन क्षणिक पदार्थों को भी किसी समान-धर्म द्वारा लक्षण का विषय (लक्ष्य) बनाकर साधारण लक्षण दे सकें। वस्तुओं के स्वलक्षण होने के कारण दो पदार्थों में सादृश्य नहीं दिखलाया जा सकता। इस पर अंगुलियों का दृष्टान्त दिया गया है जो कभी समान नहीं होतीं—

एतासु पञ्चस्ववभासिनीषु प्रत्यक्षबोधे स्फुटमङ्गुलीषु।
साधारणं रूपमवेक्षते यः शृङ्गं शिरस्यात्मन ईक्षते सः ॥

यही नहीं, सभी पदार्थों के क्षणिक होने के कारण ज्ञाता भी तो दो क्षण नहीं ठहर सकता। कोई भी ज्ञाता साधारण-धर्म को जानकर 'यह घट है' इस प्रकार का घट-रूप पदार्थ नहीं जान सकता।

(१७. शून्य की भावना—माध्यमिक-सम्प्रदाय)

एवं शून्यं शून्यमित्यपि भावनीयम्। स्वप्ने जागरणे च न मया दृष्टमिदं रजतादीति विशिष्टनिषेधस्योपलम्भात्। यदि

दृष्टं सत्तदा तद्विशिष्टस्य दर्शनस्येदंताया अधिष्ठानस्य च तस्मिन्नध्यस्तस्य रजतत्वादेस्तत्संबन्धस्य च समवायादेः सत्त्वं स्यात्। न चैतदिष्टं कस्यचिद्वादिनः। न चार्धजरतीयमुचितम्। न हि कुक्कुट्या एको भागः पाकायापरो भागः प्रसवाय कल्प्यतामिति कल्प्यते।

उसी प्रकार यह भावना भी करनी चाहिए कि सब कुछ शून्य है। स्वप्न में या जागरण की दशा में भी मैंने यह रजतादि (चाँदी आदि) नहीं देखा—इस तरह एक विशेष प्रकार के निषेध की प्राप्ति होती है। जो कुछ दिखलाई पड़े वह यदि सत् हो तो उससे संबद्ध दर्शन की इस रूप में उसके (इदंता के) आधार की (जैसे शुक्ति की), उस पर आरोपित रजतत्व आदि की तथा उन दोनों (रजत और शुक्ति) के समवाय (नित्य सम्बन्ध जैसे गन्ध और पृथिवी में) आदि सम्बन्ध की भी सत्ता हो जायगी। लेकिन यह किसी भी वादी (विपक्षी, शास्त्रार्थी) को अभीष्ट नहीं है। लेकिन अर्धजरतीय-सत्ता (आधा में एक, आधा में दूसरी) ठीक नहीं। 'मुर्गी का एक भाग पचाने के लिए है, दूसरा भाग अण्डे देने के लिए छोड़ दें'—ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

विशेष—शून्य की भावना नागार्जुन ने उठाई है जिन्होंने शून्यवाद या माध्यमिक सम्प्रदाय की स्थापना की है। यद्यपि प्रज्ञापारमिता, रत्नकरण्ड आदि प्राचीन सूत्रों में भी शून्य का विचार है किन्तु उसे सिद्धान्त का रूप देकर सप्रमाण विवेचन करने का सारा श्रेय नागार्जुन को ही है। इन्होंने अपनी माध्यमिक-कारिका में शून्यवाद का पाण्डित्यपूर्वक विश्लेषण किया है (समय २०० ई०)। इसके अन्य आचार्य हैं—**आर्यदेव** (नागार्जुनशिष्य २०० ई०, कृतियाँ—चतुःशतक, चित्तविशुद्धिप्रकरण आदि), **बुद्धपालित** (मा० का० की व्याख्या, ५वीं शताब्दी), **भावविवेक** (संस्कृत में इनके ग्रन्थ अप्राप्य, मा० का० व्याख्या, मध्यमार्थसंग्रह, करमणि), **चन्द्रकीर्ति** (षष्ठशती, माध्यमिकावतार, प्रसन्नपदा = मा० का० व्याख्या, चतुःशतक टीका), **शान्तिदेव** (नालन्दा के जयदेव के शिष्य, बोधिचर्यावतार, ७वीं शती), **शान्तरक्षित** (नालन्दा के प्रधान, तिब्बतयात्रा करके वहाँ सम्मे विहार की ७४९ ई० में स्थापना, तत्त्वसंग्रह)।

इसकी स्थापना—सीपी (शुक्ति) में चाँदी के भ्रम से कोई उसके पास गया किन्तु चाँदी नहीं देख सका। अब एक निषेध की प्राप्ति हो गई—मैंने

स्वप्न या जागरण में चाँदी नहीं देखी। यहाँ पर 'नहीं' (नञ्) का सम्बन्ध कारक आदि से मिली हुई क्रिया के साथ है। इसलिए यहाँ पर त्रिविधात्मक निषेध प्राप्त हुआ—दर्शन क्रिया का, उसके कर्त्ता देखनेवाले का, उसके कर्म दृश्य वस्तु का। यही नहीं, दूसरे रूप में धर्मी, धर्म और उनके संबन्ध का भी निषेध हो जाता है। धर्मी सीपी है, उसका धर्म (इदं रजतम् में इदंता का आधार) रजतत्व है,—दोनों के निषेध से रजतत्व के समान ही शुक्ति-आदि (दोनों के संम्बन्ध आदि) का भी निषेध हो जाता है जिससे शून्यवाद में सहायता मिलती है।

दूसरे दार्शनिक जैसे नैयायिक-आदि पूरे का निषेध नहीं करते, कहीं विशेषण का निषेध होता है, कहीं क्रिया का। 'अन्धकार में मैंने घड़ा नहीं देखा'—इसमें केवल दर्शनक्रिया का निषेध है, न कि द्रष्टा या अंधकार या घड़े का। 'पैरों से जाता है, रथ से नहीं जाता'— इसमें प्रधानभूत गमनक्रिया का भी निषेध नहीं है। विधि और प्रतिषेध विशेषण पर ही लगते हैं यदि विशेष्य की बाधा हो—इसलिए केवल रथ का ही निषेध है। शून्यवादियों को यह ठीक नहीं जँचता। आधा निषेध और आधा विधि—यह क्या तमाशा है ? विधान हो तो सबों का, निषेध हो तो सबों का, लेकिन विरोधी लोग तो मानेंगे ही नहीं। अर्धजरतीय-न्याय (आधा बूढ़ा, आधा जवान) हो नहीं सकता। शून्यवाद में सबों का निषेध होता है।

तस्माद्ध्यस्ताधिष्ठान-तत्संबन्ध-दर्शन-द्रष्टॄणां मध्य एकस्यानेकस्य वा असत्त्वे निषेधविषयत्वेन सर्वस्यासत्त्वं बलादापतेदिति भगवतोपदिष्टे 'माध्यमिकाः' तावदुत्तमप्रज्ञा इत्थमचीकथन्—भिक्षुपादप्रसारणन्यायेन, क्षणभङ्गाद्यभिधानमुखेन, स्थायित्वानुकूलवेदनीयत्वानुगतत्व-सर्वसत्यत्व-भ्रमव्यावर्तनेन सर्वशून्यतायामेव पर्यवसानम्। अतस्तत्वं सदसदुभयानुभयात्मकचतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यमेव।

इसलिए, (१) आरोपित वस्तु (रजतत्व) के अधिष्ठान (आधार, जैसे सीपी), (२) उनके सम्बन्ध, (३) दर्शन-क्रिया और (४) द्रष्टा—इनके बीच एक के या अनेक के असत् होने से, निषेध का विषय होकर सबों की अ-सत्ता बलात् (जबर्दस्ती) आ जाती है। इस प्रकार भगवान् बुद्ध के उपदेश देने पर उत्तम बुद्धिवाले माध्यमिकों ने ऐसा कहा—भिक्षुओं के पैर फैलाने की तरह (मन्थर-गति से), क्षणभंग इत्यादि शब्दों के कहने से तथा स्थायित्व

(स्थिर होना), अनुकूल वेदना होना, उपस्थित होना (सामान्य), सब सत्य होना—इन भ्रमों को हटाने से [बुद्ध के वचनों का] यही अभिप्राय है कि सब कुछ शून्य। इसलिए तत्त्व (दर्शन का मूल पदार्थ) शून्य ही है जो इन चार कोटियों से नितान्त मुक्त है—(१) सत्, (२) असत्, (३) उभयात्मक (४) अनुभयात्मक। [अभिप्राय यह है कि शून्य उसे कहते हैं जो सत् भी नहीं हो, न असत् हो, न सदसत् हो, न सदसत् से भिन्न ही हो। शून्य एक अनिर्वचनीय तत्त्व है जिसका केवल ज्ञान ही है।]

विशेष—माध्यमिकों का अनिर्वचनीय शून्य-तत्त्व अद्वैतवेदान्तियों के अद्वैत-तत्त्व से मिलता है। विवेकचूडामणि में माया के विषय में लिखा गया है—

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा॥

मायावाद में ऐसे ही शब्दों का प्रयोग करने के कारण शंकराचार्य को उनके विरोधियों ने 'प्रच्छन्नबौद्ध' तक कह दिया है। इसके अलावे बुद्ध को भी लोगों ने अद्वयवादी, अद्वैती आदि विशेषण दिये हैं। वस्तुतः, शून्यवाद और अद्वैतवाद में मौलिक अन्तर होते हुए भी इतना साम्य है कि विद्वानों को भी चकित रह जाना पड़ता है।

तथा हि—यदि घटादेः सत्त्वं स्वभावस्तर्हि कारकव्यापार-वैयर्थ्यम्। असत्त्वं स्वभाव इति पक्षे प्राचीन एव दोषः प्रादुःष्यात्। यथोक्तम्—

**९. न सतः कारणापेक्षा व्योमादेरिव युज्यते।
कार्यस्यासंभवी हेतुः खपुष्पादेरिवासतः॥ इति।**

जैसे (इसका विश्लेषण करने पर)—यदि घटादि का स्वभाव सत् होना है तब तो इसके बनाने वाले की चेष्टायें व्यर्थ ही होंगी। (घट सत् ही है तो इसे बनाना क्या ?) यदि 'स्वभाव असत् होना है' यह पक्ष लेते हैं तो वही पुराना दोष इसे घेर लेगा। (यदि घट असत् है तो क्या कुम्भकार इसे कभी बना सकता है ? किसी भी दशा में कारक या निर्माता की आवश्यकता नहीं, उसकी स्थिति सन्दिग्ध हो जाती है—नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। गीता २।१६)। जैसा कि कहा गया है—'आकाश आदि की तरह सत् वस्तु के कारण की आवश्यकता ठीक नहीं लगती और दूसरी ओर, आकाश-कुसुम की तरह असत् कार्य का हेतु (कारण) भी असम्भव है।

विशेष—शून्यवाद चूँकि चार कोटियों से विनिर्मुक्त है इसलिए प्रस्तुत संदर्भ में प्रथम दो कोटियों का खण्डन किया गया है। तदनुसार घट न सत् है और न असत्। पिछली दो कोटियों (उभयात्मक और अनुभयात्मक) का खण्डन अब किया जायगा।

विरोधादितरौ पक्षावनुपपन्नौ। तदुक्तं भगवता लङ्कावतारे—

१०. बुद्धया विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च दर्शिताः॥ इति।

११. इदं वस्तु बलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः।
यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा॥ इति च।
न क्वचिदपि पक्षे व्यवतिष्ठत इत्यर्थः।

बाद के दोनों पक्ष (सत् असत् दोनों होना, सत् असत् दोनों में एक भी न होना) स्वयं ही विरोधी हैं इसलिए [बिना प्रयास के ही] असिद्ध हो जाते हैं। भगवान् ने जैसा कि लंकावतार-सूत्र[1] में कहा है—'जिन पदार्थों का विवेचन बुद्धि से होता है, उनके स्वभाव का निर्णय नहीं होता। इसलिए वे (पदार्थ) अनिवचनीय तथा स्वभावहीन दिखलाये गये हैं।' और भी—'यह वस्तु बलात् उत्पन्न हुई है, यह विद्वान् लोग बोलते हैं। जैसे-जैसे पदार्थों का चिन्तन होता है वैसे-वैसे ही वे नष्ट हो जाते हैं।' अभिप्राय यह है कि पदार्थ को किसी भी पक्ष (कोटि) में रहने की व्यवस्था नहीं दी जा सकती।

दृष्टार्थव्यवहारश्च स्वप्नव्यवहारवत्संवृत्या संगच्छते। अत एवोक्तम्—

१२. परिव्राट्-कामुक-शुनामेकस्यां प्रमदातनौ।
कुणपः कामिनी भक्ष्य इति तिस्रो विकल्पनाः॥ इति।

तदेवं भावनाचतुष्टयवशान्निखिलवासनानिवृत्तौ परनिर्वाणं शून्यरूपं सेत्स्यतीति वयं कृतार्थाः, नास्माकमुपदेश्यं किंचिदस्तीति।

१—लंकावतार-सूत्र विज्ञानवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाला संस्कृत ग्रन्थ है। कुल १० परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में ग्रंथ की रचना के कारणों का वर्णन है जिसमें कहा है कि बुद्ध ने लंका में जाकर रावण को ये शिक्षायें दी थीं। इसीलिए ग्रंथ का नाम लंकावतार-सूत्र है।

देखी जानेवाली वस्तुओं का व्यवहार स्वप्न-व्यवहार के समान अविद्या (या कल्पना) से चलता है। (सबों को शून्य मानने के बाद दृश्यमान जगत् स्वप्न-व्यवहारवत् कल्पना है। ठीक इसी प्रकार शंकर को अनिर्वचनीय ब्रह्म मान लेने पर संसार की व्याख्या के लिए माया-शक्ति और व्यावहारिक-सत्ता माननी पड़ती है)। इसलिए कहा है—'एक स्त्री-शरीर में संन्यासी, कामी और कुत्ते की तीन विभिन्न कल्पनायें होती हैं कि यह अस्थिपंजर है, कामिनी है या खाने की चीज है।' (इसी तरह संसार में लोगों के विकल्प हैं)।

तो इसी प्रकार चारों भावनाओं (क्षणिक, दुःख, स्वलक्षण, शून्य) के वश, सारी वासनाओं के निवृत्त हो जाने पर, शून्य के रूप में परम (अंतिम) निर्वाण (मोक्ष) मिल जायगा—इस तरह हमारा काम समाप्त हो गया, अब हमें किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं। [उपर्युक्त उक्तियाँ आचार्यों की हैं जो स्वयं निर्वाण पाकर (हीनयानी होकर) निवृत्त हो गये। अब शिष्यों के मुक्त होने की भी विधि बतलाई जायगी।]

शिष्यैस्तावद्योगश्चाचारश्चेति द्वयं करणीयम् तत्राप्राप्तस्यार्थस्य प्राप्तये पर्यनुयोगो योगः। गुरूक्तस्यार्थस्याङ्गीकरणमाचारः। गुरूक्तस्याङ्गीकरणादुत्तमाः, पर्यनुयोगस्याकरणादधमाश्च। अतस्तेषां माध्यमिका इति प्रसिद्धिः॥

अब शिष्यों को दो काम करना है—योग और आचार। उनमें अप्राप्त ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रश्न करना **योग** कहलाता है। गुरु की कही हुई बातों को स्वीकार करना **आचार** कहलाता है। गुरु की कही बातों को अंगीकृत करनेवाले ये (बौद्ध) उत्तम हैं। दूसरी ओर, ये प्रश्न नहीं करने के कारण अधम भी हैं, इसलिए इनकी **माध्यमिक** के रूप में विशेष ख्याति है।

विशेष—माधवाचार्य माध्यमिक नाम पड़ने का एक विचित्र कारण देते हैं। चूँकि ये उत्तम और अधम दोनों हैं इसलिए माध्यमिक (बीचवाला एक तीसरा संप्रदाय) कहलाते हैं। किन्तु वस्तुस्थिति दूसरी है। ऐतिहासिक दृष्टि से बुद्ध के मध्यम-मार्ग (भोग और तपस्या के बीच का मार्ग) का प्रतिपादन करने से ये माध्यमिक हुए। तत्पश्चात्, तत्त्व-विवेचन की दृष्टि से शाश्वतवाद और उच्छेदवाद की ऐकान्तिक विचारधाराओं को छोड़कर इन्होंने मध्य-पथ का आलम्बन लिया। शाश्वतवाद वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार आत्मा और परलोक भी नित्य है। दीघनिकाय में ६२ मतवादों में इसका उल्लेख है। दूसरी ओर, उच्छेदवाद अजितकेशकम्बल का मत था जिसमें मृत्यु के अनन्तर आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं किया जाता। पृथिवी आदि चार तत्त्वों से बना हुआ

शरीर मरने के बाद इन्हीं तत्त्वों में विलीन हो जाता है, कुछ भी नहीं बचता। इसके अलावे शून्यवाद की स्थापना सत् और असत् के मध्य-बिन्दु पर ही हुई है इसलिए भी इस सम्प्रदाय को माध्यमिक कहते हैं।

(१८. योगाचार-मत—विज्ञानवाद)

गुरूक्तं भावनाचतुष्टयं बाह्यार्थस्य शून्यत्वं चाङ्गीकृत्यान्तरस्य शून्यत्वं चाङ्गीकृतं कथमिति पर्यनुयोगस्य करणात् केषांचिद्योगाचारप्रथा। एषा हि तेषां परिभाषा—स्वयंवेदनं तावदङ्गीकार्यम्। अन्यथा जगदान्ध्यं प्रसज्येत। तत्कीर्तितं धर्मकीर्तिना—

अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति। इति।

दूसरे कुछ (बौद्धों) को योगाचार के नाम से पुकारते हैं क्योंकि आध्यात्मिक गुरुओं की बताई हुई चारों भावनाओं और बाह्य-पदार्थों की शून्यता का अंगीकरण (आचार) करके पुनः यह प्रश्न (योग) भी करते हैं कि आन्तरिक-पदार्थों (जैसे—चित्तादि) की शून्यता क्यों स्वीकार करते हैं? चूँकि उनकी यह परिभाषा (सिद्धान्त) है—कम-से-कम अपना ज्ञान (स्वयंवेदन Self-Subsistent Knowledge) तो स्वीकार करें, नहीं तो ऐसा प्रसंग हो जायगा कि समूचे संसार को अन्धा मानना पड़ेगा (यदि अपना ज्ञान या ज्ञाता का ज्ञान भी शून्य ही हो तो जाननेवाला कौन रहेगा? ज्ञाता के अभाव में पूरा संसार ही अन्धा है, किसी को कुछ भी नहीं सूझता—अन्तर-बाह्य सभी तो शून्य हैं। इसीलिए योगाचार-मत में बाह्य-पदार्थ शून्य है, आन्तर सत्य)।

ऐसा ही धर्मकीर्ति ने कहा भी है—'जो प्रत्यक्ष को भी नहीं मानता, पदार्थों की दृष्टि भी उसकी ठीक नहीं है।' (धर्मकीर्ति के कथन का अभिप्राय है कि जिस बुद्धि से हम पदार्थों का ज्ञान पाते हैं उसे तो मानना होगा, उसे शून्य मानने पर पदार्थों के विचार की शक्ति कहाँ से आवेगी? यहां पर प्रत्यक्ष का अभिप्राय है बुद्धि की क्षमता, ज्ञाता का ज्ञान, स्वसंवेदन इत्यादि। प्रसिद्धयति=सामर्थ्य है)।

विशेष—योगाचार का दूसरा नाम विज्ञानवाद है। इसका जन्म शून्यवाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ था। माध्यमिकों के अनुसार समस्त संसार असत्य प्रतीत होता है किन्तु इनका कहना है कि जिस बुद्धि से यह प्रतीत

होता है उसे तो सत्य मानें। अतएव बुद्धि, चित्त, मन या विज्ञान ही एकमात्र सत्य पदार्थ है। विज्ञान को मानने से ही इसका नाम विज्ञानवाद है। अपेक्षाकृत इस मत का प्रचार देश-विदेश में अधिक हुआ तथा इसी सम्प्रदाय ने नैयायिकों से लड़कर बौद्ध न्याय का जन्म दिया। बौद्ध-न्याय का अर्थ है योगाचार-सम्प्रदाय के ग्रन्थ। लंकावतार-सूत्र इस सम्प्रदाय का बहुत प्रामाणिक ग्रंथ है जो मूल संस्कृत में दस परिच्छेदों में है।

इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं—**मैत्रेयनाथ** (मूल संस्कृत में कई ग्रन्थ अप्राप्य, केवल 'अभिसमयालंकारिका' ८ परिच्छेदों में प्राप्त), **आर्य असंग** (मैत्रेयशिष्य, ४थी शती, कृतियाँ—महायानसंपरिग्रह, योगाचारभूमिशास्त्र, महायान-सूत्रालंकार), **वसुबन्धु** (असंग के छोटे भाई, पहले वैभाषिक बाद में भाई के संपर्क से विज्ञानवादी, कृ०—सद्धर्मपुंडरीकटीका, महापरिनिर्वाण-सूत्रटीका, वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिता टीका, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि—विंशिका और त्रिंशिका दो संस्करण), **स्थिरमति** (वसुबन्धु के शिष्य, उनके सभी ग्रंथों पर टीकायें और भाष्य), **दिङ्नाग** (कांची के ब्राह्मण, वसुबन्धु के शिष्य, ५वीं शती, तान्त्रिक, शास्त्रार्थी, कृतियाँ—प्रमाण-समुच्चय तथा उसकी वृत्ति, आलंबन-परीक्षा, हेतुचक्रनिर्णय, त्रिकालपरीक्षा, न्यायप्रवेश—केवल यही ग्रंथ संस्कृत में पूरा प्राप्त। घोर नैयायिक, गौतम और वात्स्यायन का खंडन, उद्योतकर द्वारा न्यायवार्तिक में स्वयं खंडित, बौद्ध न्याय के प्रतिष्ठापक), **शंकरस्वामी** (दिङ्नाग के शिष्य), **धर्मपाल** (नालन्दा बिहार के कुलपति, शीलभद्र के गुरु, बौद्ध ग्रन्थों की टीकायें), **धर्मकीर्ति** (कुमारिल के समकालिक, इत्सिंग द्वारा उल्लेख, धर्मपाल के शिष्य ६२५ ई०, प्रचंड तार्किक, कृतियाँ—प्रमाण-वार्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु, सम्बन्धपरीक्षा, हेतुबिन्दु, वादन्याय, सन्तानान्तरसिद्धि)।

(१९. बाह्य पदार्थ का खण्डन)

बाह्यं ग्राह्यं नोपपद्यत एव। विकल्पानुपपत्तेः। अर्थो ज्ञानग्राह्यो भवन्नुत्पन्नो भवति अनुत्पन्नो वा ? न पूर्वः, उत्पन्नस्य स्थित्यभावात्। नापरः, अनुत्पन्नस्यासत्त्वात्। अथ मन्येथाः—'अतीत एवार्थो ज्ञानग्राह्यस्तज्जनकत्वादिति' तदपि बालभाषितम्। वर्तमानतावभासविरोधात्। इन्द्रियादेरपि ज्ञानजनकत्वेन ग्राह्यत्वप्रसङ्गाच्च।

[माध्यमिकों की तरह यह तो हम मानते ही हैं कि] बाह्य ग्राह्य (प्रत्यक्षीकरणीय, सत्य) के रूप में सिद्ध नहीं ही होता (=बाह्य पदार्थ को असत् तो हम भी मानते हैं)। कारण यह है कि इसके विषय में दिये गये दोनों विकल्प असिद्ध हो जाते हैं। वे हैं—[घटादि] पदार्थ ज्ञान के द्वारा ग्राह्य है, [तो हम पूछते हैं कि] वह उत्पन्न होने के बाद ज्ञान-ग्राह्य होता है या बिना उत्पन्न हुए ही ? उत्पन्न होने के बाद वह ज्ञानग्राह्य हो नहीं सकता (शब्दशः—पहला विकल्प ठीक नहीं) क्योंकि उत्पन्न पदार्थ की स्थिति नहीं हो सकती (कोई भी वस्तु उत्पन्न होने पर एक क्षण ही ठहर सकती है दूसरे क्षण में उसका विनाश हो जाता है। उत्पत्ति वाले क्षण में तो ज्ञान द्वारा वह ग्राह्य नहीं है क्योंकि पदार्थ की सत्ता का कारण ज्ञान ही है। कारण कार्य के पूर्व होता है इसलिए ज्ञान अर्थ के पहले रहना चाहिए। ज्ञान से ग्रहण करते-करते तो अर्थ नष्ट हो जाता है तो कैसे बाह्यार्थ ज्ञानग्राह्य होंगे ?) दूसरा विकल्प भी संभव नहीं (बिना उत्पन्न हुए कोई पदार्थ ज्ञानग्राह्य हो ही नहीं सकता) क्योंकि बिना उत्पन्न हुए किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं होगी (और इस दशा में हमारा सिद्धान्त—बाह्यार्थशून्यत्ववाद—खरा ही उतरता है)।

फिर भी यदि यह मानते हो कि भूतकालिक पदार्थ ही ज्ञान के द्वारा ग्राह्य हैं क्योंकि उसे (ज्ञान को) उत्पन्न करते हैं तो यह भी मूर्खों की-सी बात हो जायगी। (अभिप्राय यह है कि ज्ञानकाल में अर्थ भले ही विद्यमान न हो किन्तु ज्ञानोत्पादन के सम्बन्ध से तो ज्ञानग्राह्य हो सकता है।) कारण यह है कि ऐसा मानने पर वस्तुओं के वर्तमान काल में प्रतीति का विरोध हो जायगा। (यदि भूतकाल में ही पदार्थ ज्ञानग्राह्य होते हैं तो वर्तमान में उनकी प्रतीति कैसे संभव है ?) दूसरी आपत्ति यह है कि इन्द्रियाँ भी [चूँकि ज्ञान का साधन हैं इसलिए वे] ज्ञान उत्पन्न करके ग्राह्य बन जायेंगी (अर्थ यह है कि जब ज्ञान के उत्पादन-सम्बन्ध से ही कोई वस्तु ग्राह्य होती है तब तो इन्द्रिय आदि जो अप्रत्यक्ष हैं इनका भी ग्रहण होने लगेगा। इससे विश्रृंखलता आ जायगी)।

किं च, ग्राह्यः किं परमाणुरूपोऽर्थोऽवयविरूपो वा। न चरमः, कृत्स्नैकदेशविकल्पादिना तन्निराकरणात्। न प्रथमः अतीन्द्रियत्वात्। षट्केन युगपद्योगस्य बाधकत्वाच्च। यथोक्तम्—

१३. षट्केन युगपद्योगात्परमाणोः षडंशता।
तेषामप्येकदेशत्वे पिण्डः स्यादणुमात्रकः॥ इति।

[हम फिर पूछते हैं कि] यह ग्राह्य अर्थ परमाणु (atom) के रूप में है या अंग-प्रत्यंग से युक्त कोई शरीरी है ? दूसरा (शरीरधारी का) विकल्प हो नहीं सकता क्योंकि 'पूरे में ग्राह्य है या एक भाग में' इस प्रकार के विकल्पादि लगाकर उसका निराकरण कर सकते हैं। (अवयवी के रूप में घटादि कृत्स्न या पूर्णरूप में ज्ञानग्राह्य है कि उसका एक भाग ज्ञानग्राह्य होता है ? पहला विकल्प संभव नहीं क्योंकि पूर्णरूप का इन्द्रिय से संबन्ध हो नहीं सकता। दूसरा विकल्प भी असंभव है क्योंकि एक भाग को हम घट नहीं कह सकते तो फिर अवयवी घटादि ज्ञानग्राह्य कैसे होगा ?) पहला विकल्प (परमाणु के रूप में ग्राह्य होना) भी कठिन है क्योंकि परमाणु का ग्रहण इन्द्रियों से होता ही नहीं। दूसरे, छह (दिशाओं) के साथ उसके एक साथ योग होने में बाधा पहुँचती है। (छह दिशायें हैं—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊपर और नीचे। परमाणु चूँकि निरवयव है इसलिए इन छहों के साथ परमाणु का एक साथ (युगपत्) संबन्ध नहीं हो सकता। यदि होता है तो परमाणु अवयव-हीन कैसे होगा ? यही षट्क परमाणु के अवयवहीन होने में बाधक है।)

जैसा कि कहा भी गया है—'छह (दिशाओं) के साथ युगपत् (समकालिक) योग होने से परमाणु के छह तल (अंश, भाग) सिद्ध होते हैं (जैसे परमाणु का ऊपरी भाग, पश्चिमी भाग, दक्षिणी भाग आदि)। और इन्हें एक-एक भाग करके लिया जाय तो अणु के आकार का कोई भी पिण्ड (ठोस पदार्थ) बन सकता है।' (इस प्रकार ग्राह्यता के अभाव में परमाणु असत् है, यह अवयवहीन नहीं)।

(२०. बुद्धि का स्वयं प्रकाशित होना)

तस्मात्स्वव्यतिरिक्तग्राह्यविरहात्तदात्मिका बुद्धिः स्वयमेव स्वात्मरूपप्रकाशिका प्रकाशवदिति सिद्धम्। तदुक्तम्—

१४. नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते ॥ इति।

ग्राह्यग्राहकयोरभेदश्चानुमातव्यः। यद्वेद्यते येन वेदनेन, तत्ततो न भिद्यते यथा ज्ञानेनात्मा। वेद्यन्ते तैश्च नीलादयः।

इसलिए, चूँकि बुद्धि को अपने अतिरिक्त कोई दूसरा ग्राह्य नहीं अतः उन विषयों के स्वरूप में रहने वाली वह बुद्धि स्वयं ही, प्रकाश की तरह अपने रूप को प्रकाशित करनेवाली है—यह सिद्ध हुआ। ऐसा कहा भी है—'बुद्धि के

द्वारा ग्राह्य (अनुभव करने योग्य) दूसरा कोई पदार्थ नहीं (बुद्धि के द्वारा स्वयं बुद्धि ही ग्राह्य, दूसरी चीजें नहीं; बुद्धि किसी दूसरे पदार्थ को विषय नहीं बनाती)। न तो उससे बढ़कर कोई अनुभव ही है। [इसलिए बुद्धि के अलावे बाहर] किसी भी ग्राह्य और ग्राहक के अभाव के कारण वह अपने-आप ही प्रकाशित होती है।' (प्रकाश तो अपने-आप को प्रकाशित करके संसार के अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है किन्तु बुद्धि केवल अपने को प्रकाशित करती है, बाह्य अर्थों को नहीं।)

ग्राह्य और ग्राहक में भेद नहीं है—यह अनुमान कर लें। जिस वेदन (ज्ञान) से जिसको जाना जाता है, वह उससे भिन्न नहीं है (ज्ञान और ज्ञातवस्तु में अन्तर नहीं है) जैसे ज्ञान से आत्मा [पृथक् नहीं है]। (ज्ञान से आत्मा को जानते हैं इसलिए वहाँ आत्मा और ज्ञान एक ही हैं —अद्वैत-वेदान्तियों का अनुसरण करके यह दृष्टान्त लिया गया है)। उन ज्ञानों से ही नीलादि पदार्थों को जाना जाता है। (क्षणिक पदार्थों का ज्ञान भी उसी से होता है)।

भेदे हि सति अधुना अनेनार्थस्य संम्बन्धित्वं न स्यात्। तादात्म्यस्य नियमहेतोरभावात्। तदुत्पत्तेरनियामकत्वात्। यश्चायं ग्राह्यग्राहकसंवित्तीनां पृथगवभासः स एकस्मिश्चन्द्रमसि द्वित्वावभास इव भ्रमः। अत्राप्यनादिरविच्छिन्नप्रवाहा भेदवासनैव निमित्तम्। यथोक्तम्—

१५. सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ॥ इति।

१६. अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥ इति च।
(स० सि० सं० पृ० १२)

[इस प्रकार विषय और विज्ञान में अभेद दिखलाकर, भेद होनें पर आपत्ति दिखलाते हैं कि यदि विषय और विज्ञान में] भेद माना जाय तो इस समय ज्ञान के साथ वस्तु का कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा क्योंकि [सम्बन्ध] का नियम बतलाने वाला कोई तादात्म्य ही नहीं रहेगा। [आशय यह है कि 'जब ज्ञान है तो विषय के साथ है' इस प्रकार ज्ञान के साथ अर्थ का नियत सम्बन्ध है।

किन्तु उसका मूल है तादात्म्य क्योंकि ज्ञान और सविषय—ये दोनों समानार्थक हैं। यह तादात्म्यसम्बन्ध नहीं रह सकता यदि ज्ञान और विषय को पृथक् मानें। इस प्रकार सम्बन्ध का नियम असिद्ध हो जायगा।] (इतना होने पर भी यदि भेदपक्ष में अर्थ का निमित्त ज्ञान को स्वीकार करें तब तो विषय से उत्पन्न होनेवाली ज्ञानोत्पत्ति ही सम्बन्ध बतला सकेगी। इसलिए फिर उत्तर देते हैं—) दूसरे, तदुत्पत्ति (कार्यकारण भाव) भी सम्बन्ध का नियमन नहीं कर सकती (ऐसी बात नहीं कि घटरूपी कार्य के साथ कुम्भकार, चक्र, दण्डादि कारणों का सम्बन्ध नित्य हैं। निष्कर्ष यह है कि तादात्म्य या तदुत्पत्ति किसी से भी विषय और विज्ञान में भेद सिद्ध करना कठिन है)।

यह जो ग्राह्य और ग्राहक की धारणाओं (संवित्ति = चेतना Consciousness) के पृथक् होने की प्रतीति होती है वह एक चन्द्रमा में दो (चंद्र) होने की प्रतीति की तरह भ्रम है। यहाँ भी भ्रम का निमित्त कारण भेद की वासना (जन्मजात संस्कार) है जिसका आदि नहीं और न जिसका प्रवाह ही कभी टूटता है। जैसा कि कहा गया है—"एक साथ प्राप्त होने का [इन दोनों में] नियम है इसलिए नील (क्षणिक पदार्थ) और उसके ज्ञान में कोई भेद नहीं। भेद तो भ्रान्त ज्ञान के कारण, एक चन्द्र में [दो चन्द्र के] भ्रम की तरह दृष्टिगोचर होता है।[1] (नील और उसका ज्ञान क्रमशः विषय और विज्ञान है, ये दोनों साथ देखे जाते हैं। एक के न रहने पर दूसरा रहेगा— ऐसा हो नहीं सकता। जो जिसके साथ नियमतः उपलब्ध होता है वह उससे अभिन्न है। जैसे घट मिट्टी से अभिन्न है उसी तरह यहाँ भी समझें)।"

और भी—"यद्यपि बुद्धि की आत्मा (= स्वरूप) अविभक्त है, एक ही है तथापि भ्रम (विपर्यास) से भरी आँखों के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि ग्राह्य और ग्राहक की चेतना (ज्ञान) से इसमें भेद बना हुआ है।" (बुद्धि एक है पर अनादि भेदवासना से इसमें तीन भेद—ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान—तो स्पष्ट अवभासित होते हैं)।

न च रसवीर्यविपाकादि समानमाशामोदकोपार्जितमोदकानां स्यादिति वेदितव्यम्। वस्तुतो वेद्य-वेदकाकारविधुराया

---

१ तुलनीय—सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
अन्यच्चेत्संविदो नीलं न तद्भासेत संविदि॥
भासते चेत्कुतः सर्वं न भासेतैकसंविदि।
नियामकं न सम्बन्धं पश्यामो नीलतद्धियोः॥
(विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ० ७५)।

अपि बुद्धेः व्यवहर्तृपरिज्ञानानुरोधेन विभिन्नग्राह्यग्राहकाकार-रूपवत्तया तिमिराद्युपहताक्ष्णां केशोण्डुकनाडीज्ञानभेदवत् अनाद्युपप्लववासनासामर्थ्यात् व्यवस्थोपपत्तेः पर्यनुयोगायोगात्। यथोक्तम्—

१७. अवेद्यवेदकाकारा यथा भ्रान्तैर्निरीक्ष्यते।
विभक्तलक्षणग्राह्यग्राहकाकारविप्लवा ॥

[कुछ लोग शायद समझते होंगे कि जब विज्ञानवादी समस्त बह्यार्थ को असत् के रूप में एक समान मानते हैं तब तो काल्पनिक वास्तविक पदार्थ में भी कुछ अन्तर नहीं मानते होंगे। विरोधियों की इस शंका की आशा विज्ञानवादियों ने पहले से की थी और इसलिए वे कहते हैं] ऐसा न समझें कि काल्पनिक मिठाई (आशामोदक) और वास्तविक मिठाई (उपार्जित मोदक) दोनों के खाने पर रस, वीर्य, विपाक (पचना) आदि एक ही तरह के होंगे (आशामोदक की तरह ही उपार्जित मोदक भी कल्पनामय है और दोनों के खाने का समान फल होगा—ऐसी बात नहीं है)।

आप इस तरह का प्रश्न (पर्यनुयोग) नहीं कर सकते हैं। वास्तविकता यह है कि बुद्धि भले ही ज्ञेय (वेद्य) और ज्ञाना (वेदक) के रूपों से बिल्कुल पृथक् (विधुर) हो तथापि प्रयोग करनेवालों (व्यवहर्त्ता) के ज्ञान का अनुरोध यही है (कि बुद्धि के ज्ञाता-ज्ञेय रूप से भेद हैं—'मैं घट जानता हूँ'—इसमें 'मैं' ज्ञाता और 'घट' ज्ञेय है)। यही कारण है कि [यद्यपि बुद्धि न तो ज्ञात्राकार है, न ज्ञानाकार और न ज्ञेयाकार फिर भी] ग्राह्य-ग्राहक के आकार में विभिन्न रूप धारण कर लेती है। यह व्यवस्था (भेद-दशा) एक अनादि मिथ्या ज्ञानविषयक वासना (चित्त में जमी हुई भावना) की शक्ति के कारण है (=मिथ्याज्ञान एक अनादि वासना है इसी से ग्राह्य-ग्राहक के रूप में बुद्धि के भेद प्रतीत होते हैं। (उदाहरणार्थ—) जिनकी आँखें तिमिर (एक नेत्र रोग) आदि (पित्त-आदि) दोषों से दूषित हैं उन्हें [आकाश में] कभी केश की तरह, कभी उण्डुक (मकड़जाल) की तरह और कभी नाड़ी की तरह [रेखा दिखलाई पड़ती है]—इसी ज्ञान के भेद की तरह (उपर्युक्त व्यवस्था भी है)। [सारांश यह हुआ कि वासना के कारण ही उपार्जित मोदक खाकर तृप्त होने का ज्ञान होता है, आशामोदक से ऐसा नहीं होता। ज्ञान का भेद वासना के भेद से ही सिद्ध होता है।]

जैसा कि कहा गया है—'[वस्तुतः] वेद्य और वेदक के आकार में बुद्धि

नहीं है, किन्तु भ्रम में पड़े हुए लोग इसके लक्षण (स्वरूप) को विभक्त—ग्राह्य (घटादि) और ग्राहक (आत्म-व्यवसाय) के आकारों से सम्पन्न—देखते हैं।' (इसका कारण आगे के श्लोक में है)।

१८. तथा कृतव्यवस्थेयं केशादिज्ञानभेदवत्।
यदा तदा न संचोद्या ग्राह्यग्राहकलक्षणा ॥ इति।

तस्माद् बुद्धिरेवानादिवासनावशात् अनेकाकारावभासत—इति सिद्धम्। ततश्च प्रागुक्त-भावना-प्रचय-बलात् निखिल-वासनोच्छेद-विगलित-विविध-विषयाकारोपप्लव-विशुद्ध-विज्ञानोदयो महोदय इति ॥

'ठीक उसी प्रकार इस (बुद्धि) में ग्राह्य और ग्राहक के दो स्वरूपों की व्यवस्था (भेद) जब केशादि-ज्ञान के भेद की तरह की जाती है तब संदेह नहीं रहना चाहिए [कि बुद्धि के दो भेद वस्तुतः ही हैं]।' इसलिए हमारी यह बुद्धि ही अनादि वासना के वश अनेक आकारों में प्रतीत होती है—यह सिद्ध हुआ। [पाश्चात्त्य-दर्शन का प्रत्ययवाद—Idealism—इस विज्ञानवाद से बिल्कुल मिलता-जुलता है। उसके अनुसार प्रत्यय या ideas ही संसार की मूलसत्ता अर्थात् Ultimate Reality है। संसार में जो कुछ देखते हैं वे प्रत्ययों के ही प्रक्षेप हैं, बाह्यार्थ कुछ नहीं है। इसके विवेचन के लिए भूमिका-भाग देखें]।

इसके बाद पहले कही गयी चार भावनाओं (क्षणिक, दुःख, स्वलक्षण और शून्य) की वृद्धि के बल से, सभी वासनाओं का उच्छेद (विनाश) हो जाता है जिससे विविध प्रकार के विषयों के आकार में जो मिथ्याज्ञान (उपप्लव) होते हैं वे गल जाते हैं तथा विशुद्ध विज्ञान (Consciousness) का जन्म होता है—यही मोक्ष (महोदय) है।

(२१. सौत्रान्तिक-मत—बाह्यार्थानुमेयवाद)

अन्ये तु मन्यन्ते—यथोक्तं 'बाह्यं वस्तुजातं नास्तीति' तदयुक्तम्। प्रमाणाभावात्। न च सहोपलम्भनियमः प्रमाणमिति वक्तव्यम्। वेद्यवेदकयोरभेदसाधकत्वेनाभिमतस्य तस्याप्रयोजकत्वेन सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वात्।

ननु भेदे सहोपलम्भनियमात्मकं साधनं न स्यादितिचेन्न। ज्ञानस्यान्तर्मुखतया, ज्ञेयस्य बहिर्मुखतया च भेदेन प्रतिभासमानत्वात्। एकदेशत्वैककालत्व-लक्षणसहत्व-नियमासंभवाच्च।

लेकिन दूसरे (सौत्रान्तिक-सम्प्रदाय वाले बौद्ध) मानते हैं—यह जो आप कहते हैं कि बाहरी वस्तुओं की सत्ता ही नहीं, यह युक्तियुक्त नहीं है। इसके लिए कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। आप यह नहीं कह सकते कि साथ-साथ पाये जाने का जो नियम है वही प्रमाण है (नील और उसके ज्ञान में सहोपलम्भ-नियम है जिससे दोनों अभिन्न हैं; बुद्धि की सत्ता इससे सिद्ध होती है)। इसका कारण यह है कि वेद्य और और वेदक में अभेद सिद्ध करने के लिए [जिस सहोपलम्भ-नियम का] प्रयोग आप करते हैं वह अभेद को सिद्ध करने में कारण (प्रयोजक) नहीं बन सकता क्योंकि 'विपक्ष में वह नहीं रहेगा' (= विपक्ष-व्यावृत्ति)—यह संदेहपूर्ण है। [आशय है कि जैसे धूम और अग्नि में सम्बन्ध दिखलाने के समय अग्नि का अभाव धारण करनेवाले पदार्थ विपक्ष हैं, उनमें देशान्तर या कालान्तर में कभी धूम हो सकता है। विपक्ष में कभी नहीं होगा, यह नियम कहाँ है ? ऐसी आशंका धूम और अग्नि के कार्य-कारण-भाव नष्ट हो जाने के भय से नहीं की जाती (आशंका का खंडन हो जाता है)। यह तर्क ठीक है, प्रयोजक है। किन्तु उसी प्रकार यहाँ 'भेद होने पर भी सहोपलम्भ-नियम रह सकता है'—इस आशंका का निरसन नहीं होता। इसलिए विपक्ष में हेतु को व्यावृत्ति होगी, अतएव यह संदिग्ध है और अनुमान नहीं हो सकता।]

[यदि विज्ञानकारी शंका करें कि] भेद को भी सिद्ध करने के लिए सहोपलम्भ का नियम साधन नहीं बन सकता, तो (हम कहेंगे कि) ऐसी बात नहीं है, क्योंकि [प्रत्यक्ष प्रमाण से ही विरोध हो जायगा] ज्ञान तो आन्तर-वस्तु है, और (घटादि) ज्ञेय पदार्थ बाह्य है—इस प्रकार भेद तो स्पष्ट (प्रत्यक्ष रूप) प्रतीत होता है। [इस प्रकार उपर्युक्त अनुमान प्रत्यक्ष-विरोधी है।]

दूसरी युक्ति यह है कि सहोपलम्भ का नियम होना ही असंभव है क्योंकि [आत्मनिष्ठ ज्ञान है और बाह्य-वस्तुनिष्ठ विषय है, दोनों के दो स्थान हैं; विषय पूर्वक्षण में रहता है, ज्ञान उत्तर क्षण में, इसलिए] विषय और ज्ञान का एक देश में या एक काल में होना संभव नहीं है, इसलिए दोनों के स्वरूप (लक्षण) मिलेंगे ही कब [कि सहोपलम्भ आपको दिखलाई पड़ेगा] ?

किं च नीलाद्यर्थस्य ज्ञानाकारत्वेऽहमिति प्रतिभासः स्यात् । न तु 'इदमिति' प्रतिपत्तिः । प्रत्ययादव्यतिरेकात् । अथोच्यते—ज्ञानस्वरूपोऽपि नीलाकारो भ्रान्त्या बहिर्वत् भेदेन प्रतिभासत इति, न च तत्राहमुल्लेख इति । तथोक्तम्—

१९. परिच्छेदान्तराद्योऽयं भागो बहिरिव स्थितः ।
ज्ञानस्याभेदिनो भेदप्रतिभासोऽप्युपप्लवः ॥ इति ।

२०. यदन्तर्ज्ञेयतत्त्वं तद्बहिर्वदवभासते । इति च ।

इसके अतिरिक्त. नीलादि अर्थ यदि ज्ञान (बुद्धि) के ही स्वरूप हों [तो जिस प्रकार ज्ञाता आत्मा को 'अहम्' कहते हैं उसी प्रकार उन] बाहरी पदार्थों में भी 'अहम्' ऐसी प्रतीति होगी, 'इदम्' (यह) ऐसा ज्ञान नहीं होगा । कारण यह है कि [बाह्य पदार्थ] प्रत्यय (ज्ञान ideas) से भिन्न नहीं हैं (प्रत्युत आप लोग ज्ञान और विषयों को अभिन्न समझते हैं) ।

यदि आप लोग उत्तर में कहें कि—नीलादि आकार, ज्ञान के अपने रूप में होने पर भी भ्रान्ति के कारण, भेद से बाह्य पदार्थ-जैसा प्रतीत होता है और यही कारण है कि उसमें 'अहम्' द्वारा अभिव्यक्ति नहीं होती, जैसा कि कहा भी है—"ज्ञान के आन्तर (भीतरी) परिच्छेद (विषयों का प्रकाश करनेवाले भाग) से पृथक् जो बाह्यवत् (विषयों के रूप में) दिखलाई पड़नेवाला भाग है, भेद-रहित ज्ञान में जो भेद की प्रतीति होती है—वह मिथ्याज्ञान (उपप्लव) ही है ।" और भी—'जो आन्तरिक-रूप से जानने योग्य तत्त्व है वह बाह्य-जैसा प्रतीत होता है ।'

विशेष—सौत्रान्तिकों ने एक गम्भीर आशंका योगाचारों के समक्ष रखी कि बुद्धि का बोध 'अहम्' से होता है बाह्य-पदार्थों का 'इदम्' से । यदि सभी पदार्थ बुद्धि के रूप ही हैं तो उन सबों का बोध 'अहम्' द्वारा क्यों नहीं होता—अहं घटः, अहंभूमिः, अहं नीलः, क्यों नहीं कहते ? उत्तर में विज्ञानवादी फिर पुराना राग अलापने लगते हैं—मिथ्याज्ञान और अध्यास । उसी अनादि वासना से 'विज्ञान' भ्रम द्वारा बाह्य 'विषय'-सा प्रतीत होता है, वस्तुतः है नहीं । दार्शनिक-भाषा में यों कहें कि अभेद पर भेद का अध्यास (projection) मिथ्याज्ञान (illusion) द्वारा होता है । इसीलिए भ्रमवश ही बाह्य वस्तुओं पर 'अहम्' का आरोपण नहीं करते । जैसे शंख पर पीलापन का आरोपण होता है । यद्यपि शंख पीला नहीं परन्तु पित्तादि के दोष से (विशेषतया पाण्डुरोग

होने पर) शंख के उजलापन को छिपाकर (आवरण) पीलापन की प्रतीति होती है। उसी तरह 'अहम्' का अर्थवाली ज्ञानस्वरूप आत्मा (या बुद्धि) के आन्तरत्व को छिपाकर बाह्यत्व अवभासित होता है, पीलापन के अध्यास होने पर भी शंख का स्वरूप भासित होता है, तथैव ज्ञेयाकार के अध्यास के बाद भी ज्ञान प्रतीत होता ही है। कारण यह है 'मैं घट को जानता हूँ' ऐसी प्रतीति जो होती है!

सौत्रान्तिक लोग बाहरी पदार्थों को शून्य नहीं मानते, उन्हें अनुमेय मानते हैं। नील, पीतादि विचित्र पदार्थ बुद्धि के आकार के हैं और आन्तर ज्ञान से उनका अनुमान होता है। सर्वसिद्धान्त संग्रह में कहा गया है—

नीलपीताभिश्चित्रैर्बुद्ध्याकारैरिहान्तरैः।
सौत्रान्तिकमते नित्यं बाह्यार्थस्त्वनुमीयते॥

ज्ञान और विषय को लोक का व्यवहार भी मानता है। ज्ञान का विषय दूसरा ही है, फल दूसरा (ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यत्फलमन्यदुदाहृतम्। काव्यप्रकाश, २)। विज्ञानवादियों के ऊपर दिये गये उत्तर का खंडन अब ये सौत्रान्तिक लोग करेंगे।

तदयुक्तम्। बाह्यार्थाभावे तद्व्युत्पत्तिरहिततया बहिर्वदित्युपमानोक्तेरयुक्तेः। न हि वसुमित्रो वन्ध्यापुत्रवदवभासत इति प्रेक्षावानाचक्षीत। भेदप्रतिभासस्य भ्रान्तत्वेऽभेदप्रतिभासस्य प्रामाण्यं, तत्प्रामाण्ये च भेदप्रतिभासस्य भ्रान्तत्वमिति परस्पराश्रयप्रसङ्गाच्च। अविसंवादान्नीलतादिकमेव संविदाना बाह्यमेवोपाददते, जगत्युपेक्षन्ते चान्तरमिति व्यवस्थादर्शनाच्च।

आपका यह कहना ठीक नहीं क्योंकि जब बाहरी वस्तुओं की सत्ता ही नहीं (= विज्ञानवादियों के मत में) तो उसकी व्युत्पत्ति ('बहिः' शब्द का अर्थ-ज्ञान) भी तो नहीं होगा? और ऐसी दशा में 'बाह्य पदार्थ के समान (प्रतीत होता है)' यह उपमान की उक्ति भी व्यर्थ हो जायगी। (उपमान वही हो सकता है जिसकी सत्ता हो, जिससे कुछ अर्थ निकले किन्तु आप लोग बाह्यार्थ को मानते नहीं और ऊपर से कहते हैं कि आन्तर बुद्धि 'बाह्यार्थ के समान' प्रतीत होती है। यह कैसे?) कोई भी चेतनाशील व्यक्ति नहीं कहता कि वसुमित्र वन्ध्यापुत्र की तरह लगता है। दूसरी आपत्ति यह भी है कि [विषय और विज्ञान के बीच] भेद की प्रतीति को भ्रान्त मानकर अभेद (ऐक्य) की प्रतीति को प्रामाणिक मानना, तथा ऐक्य की प्रतीति को

प्रामाणिक मानकर भेद की प्रतीति को भ्रान्त मानना—इससे अन्योन्याश्रय-दोष का प्रसंग हो जायगा। [आशय यह है कि विज्ञानवादी ज्ञाता और ज्ञेय में भेद की प्रतीति को मानते हैं भ्रान्त, और इसे ही साधन बनाकर सिद्ध करते हैं कि ज्ञाता और ज्ञेय में कोई भेद नहीं है। अब जो यहाँ साध्य था वही साधन बन जाता है। वह भी किसका? उसे ही सिद्ध करने का जिसके द्वारा वह स्वयं सिद्ध हुआ है। इसे पाश्चात्य तर्कशास्त्र में Petitio Principi कहते हैं। अभेद की प्रतीति को साधन मानकर भेद की प्रतीति को भ्रान्त सिद्ध करेंगे। इस प्रकार तार्किक वृत्त में फँसें।]

[हम देखते हैं कि] कुछ लोग किसी के साथ विना कुछ भी विरोध (विसंवाद) किये ही नीलादि पदार्थों को ज्ञान का विषय मानकर, बाह्य-पदार्थ को ही केवल ग्रहण करते हैं, संसार में आन्तर की तो उपेक्षा ही कर देते हैं—ऐसी व्यवस्था देखी जाती है। [बाह्यार्थ को सिद्ध करते हुए सौत्रान्तिकों का कहना है कि नैयायिकादि विद्वान् तो लौकिक-दृष्टिकोण से आन्तर पदार्थ को स्वीकार नहीं करते किन्तु बाह्यार्थ की सत्ता तो मानते ही हैं—हम भी उनसे यहाँ पर सहमत हैं। बाह्यार्थ के विषय में तो किसी का कोई विरोध ही नहीं है। केवल ये लोग ही विरोध खड़ा करते हैं। स्मरणीय है कि सौत्रान्तिक और वैभाषिक आन्तर बाह्य दोनों को मानते हैं, माध्यमिक दोनों में किसी को नहीं मानते, विज्ञानवादी केवल आन्तर को मानते हैं, नैयायिकादि बाह्य को ही केवल मानते हैं।]

(२२. बाह्यार्थ की सत्ता—निष्कर्ष)

एवं चायमभेदसाधको हेतुर्गोमयपायसीयन्यायवत् आभासतां भजेत्। अतो बहिर्वदिति वदता बाह्यं ग्राह्यमेवेति भावनीयमिति भवदीय एव वाणो भवन्तं प्रहरेत्।

इस प्रकार [विज्ञान और विषय के बीच] अभेद सिद्ध करने के लिए जो हेतु आप देते हैं वह गोमयय-पायसी-न्याय से केवल आभासमात्र (हेत्वाभास) है। [जिस प्रकार यह अनुमान देकर—'गोमय (गोबर) पायस है क्योंकि गव्य है', हम गोमय को पायस सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि गव्यत्व हेतु यहाँ अप्रयोजक है, इसलिए हेत्वाभास होगा, उसी प्रकार आपका भी अनुमान हेत्वाभास से युक्त है क्योंकि हेतु शुद्ध-हेतु न होकर हेत्वाभास है। गोमय-पायसीय न्याय का उल्लेख व्यास ने पातंजल-योगसूत्र (१।३२, तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः) के अपने भाष्य में किया है। इसकी विशद व्याख्या वाचस्पतिमिश्र की तत्त्ववैशारदी टीका में है।]

इसलिए जब आप 'बाह्य के समान' यह कहते हैं तब बाह्यार्थ को तो ग्राह्य ही समझते हैं और इसकी भावना (विचार) करनी चाहिए—अतः आपका ही चलाया बाण आप ही पर प्रहार करेगा। (अपने तर्क से आप स्वयं खण्डित हो गये)।

(२३. बाह्यार्थ प्रत्यक्ष नहीं, अनुमेय है)

ननु ज्ञानाद्भिन्नकालस्यार्थस्य ग्राह्यत्वमनुपपन्नमिति चेत्—तदनुपपन्नम्। इन्द्रियसंनिकृष्टस्य विषयस्योत्पाद्ये ज्ञाने स्वाकारसमर्पकतया समर्पितेन चाकारेण तस्यार्थस्यानुमेयतोपपत्तेः। अतएव पर्यनुयोगपरिहारौ समग्राहिषाताम्—

२१. भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः।
हेतुत्वमेव च व्यक्तेर्ज्ञानाकारार्पणक्षमम्॥ इति।

कोई यह आशंका कर सकता है कि ज्ञान से अर्थ का काल भिन्न है अतएव ज्ञान के द्वारा विषय का ग्रहण असंभव है। (सभी पदार्थ क्षणिक हैं अतः ज्ञान भी क्षणिक, विषय भी क्षणिक। ज्ञान के समय के अर्थ का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि विषय कार्य है, ज्ञान कारण। कार्यकारण एक साथ उत्पन्न नहीं होते। यदि पूर्वापर के क्रम से होते हैं तब जिस क्षण में ज्ञान है उस क्षण में विषय नहीं, जब विषय है तो उस क्षण में ज्ञान नहीं। इसलिए दोनों में सम्बन्ध ही नहीं होगा। यह समस्या विज्ञानवादियों के समक्ष भी थी, उसका हल दूसरे प्रकार से उन्होंने किया था।) यह आशंका युक्त नहीं है—विषय का [प्रथम क्षण में] इन्द्रिय से संनिकर्ष (सम्बन्ध) होता है, इससे ज्ञान की उत्पत्ति होती है। उसी ज्ञान में वह [पहला विषय] अपने आकार का समर्पण कर देता है (द्वितीय क्षण में), इसी समर्पित किये हुए आकार से उस (पहले) अर्थ का अनुमान कर लेते हैं। अब तो सिद्ध हुआ ? [इसे यों समझें—घटादिविषय एक क्षण में नष्ट होकर अपने अर्थक्रियाकारित्व के बल से दूसरे क्षण में अपने आकार के सदृश दूसरे घट को उत्पन्न करता है। पूर्वक्षणवाला वह घट ही इन्द्रिय के साथ मिलकर अपने दूसरे क्षण में अपने आकार के सदृश स्वरूप वाले ज्ञान को भी उत्पन्न करता है। अब इस ज्ञान-स्वरूप के द्वारा अपने कारण—पूर्वक्षणवाले घट—का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार विषय ज्ञानग्राह्य बनता है किन्तु वह अनुमेय हो जाता है।]

इसलिए [इस विषय में] प्रश्न और उत्तर का संग्रह किया गया है'— 'यदि प्रश्न हो कि भिन्न कालवाली वस्तु का ग्रहण कैसे होगा, [तो उत्तर है कि घटादि] पदार्थ के ज्ञानाकार को अर्पित करने में समर्थ हेतु को ही लोग ग्राह्य समझते हैं।' (घट के ज्ञान में अपने आकार के समान आकार उत्पन्न करने की जो शक्ति है वही हेतु है जिसे हम ग्रहण करते हैं।)

तथा च यथा पुष्ट्या भोजनमनुमीयते, यथा च भाषया देशः, यथा वा संभ्रमेण स्नेहः, तथा ज्ञानाकारेण ज्ञेयमनुमेयम्। तदुक्तम्—

२२. अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम्।
तस्मात्प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता ॥ इति।

तब, जिस तरह पोषण (भरा हुआ शरीर) देखकर भोजन का अनुमान होता है, भाषा से देश का, अथवा आदर से प्रेम का—उसी तरह ज्ञानाकार से ज्ञेय पदार्थ का अनुमान करना चाहिए। यह कहा भी है—'इस ज्ञान को [ज्ञाता] जो अर्थ के साथ मिलाता है वह उस ज्ञान से अर्थाकार (अपने आकार के समान आकार) को हटाकर नहीं [मिलाता, बल्कि संयुक्त करके ही]। इसलिए ज्ञान (संविद्) का मेयरूप (या विषय के रूप में) होना ही विषय के ज्ञान (प्रमेय = विषय, अधिगति = ज्ञान) का प्रमाण है (विषयों का ज्ञान इसलिए होता है कि बुद्धि विषयों के आकार के समान ही आकार ग्रहण करती है)।'[२]

(२४. आलय-विज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञान)

न हि वित्तिसत्तैव तद्वेदना युक्ता। तस्याः सर्वत्राविशेषात्। तां तु सारूप्यमाविशत् सरूपयितुं घटयेदिति च। तथा बाह्यार्थसद्भावे प्रयोगः—ये यस्मिन्सत्यपि कादाचित्कास्ते सर्वे तदतिरिक्तसापेक्षाः। यथा—अविवक्षति अजिगमिषति मयि वचनगमनप्रतिभासा विवक्षु-जिगमिषु-पुरुषान्तर-सन्तानसापेक्षाः।

१—पर्यनुयोग = प्रश्न, परिहार = उत्तर।

२—स० द० सं० की कुछ प्रतियों में यहाँ पर पाठ है—अर्धेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्धरूपताम्। 'अर्थं' के स्थान में 'अर्धं' का कुछ लिप्यन्तर सम्भव है। गफ ने इसीका अनुवाद किया है किन्तु संगति नहीं बैठती।

तथा च विवादाध्यासिताः प्रवृत्तिप्रत्ययाः सत्यप्यालयविज्ञाने कदाचिदेव नीलाद्युल्लेखिन इति ।

यह नहीं कह सकते कि ज्ञान की सत्ता ही उन (विषयों) का ज्ञान है क्योंकि [ऐसा करने पर] ज्ञान (वित्ति) सर्वत्र एक-सा हो जायगा [चूँकि ज्ञान की सर्वत्र सत्ता है इसलिए घटज्ञान (तद्वेदना) और पटज्ञान में अन्तर नहीं होगा । अतः वित्ति की सत्ता और विषय-वेदना दोनों भिन्न हैं] । लेकिन सारूप्य (विषयों की समानाकारता) ही उस (वित्ति या ज्ञान) में प्रविष्ट होकर [उस ज्ञान को] सरूप (विषय के आकार के समान आकारयुक्त) करने के लिए [विषय के साथ] संयुक्त करता है । (यदि दोनों एक होते तो सरूप बनाने की अपेक्षा ही नहीं होती ।]

बाह्यार्थ की सत्ता के लिए एक प्रयोग (Formal argument) यह है—जो (कार्य, जैसे अंकुर) जिस (कारण, जैसे बीज) के रहने पर भी कभी-कभी उत्पन्न होते हैं (कभी होते हैं, कभी नहीं जैसे—कोठी में रखे बीज अंकुर नहीं उत्पन्न करते), वे सभी (कार्य) उस (विशिष्ट कारण) के अतिरिक्त अन्य कारणों (जैसे—मिट्टी, जल, वायु) के साथ सम्बद्ध हैं । उदाहरण के लिए, जब मैं बोलना या जाना नहीं चाहता (कभी बोलता हूँ, कभी नहीं, कभी जाता हूँ कभी नहीं) तब वचन या गमन की जो भी प्रतीतियाँ (प्रतिभास) होंगी वे दूसरे पुरुषों के समूह के विषय में (सापेक्ष) हैं जो (पुरुष) बोलने और जाने के अभिलाषी रहते होंगे ।

उसी प्रकार, प्रस्तुत प्रसंग के अन्तर्गत आये हुए प्रवृत्ति के प्रत्यय (क्रियाशीलता की प्रतीतियाँ = प्रवृत्तिविज्ञान), आलयविज्ञान (आत्मा, ज्ञाता) के रहने पर भी, कभी-कभी ही नीलादि-पदार्थों के रूप में व्यक्त होते हैं । [आशय यह है कि नीलादि के रूप में व्यक्त होनेवाले (बाह्य-पदार्थ) घट, पट आदि के विषय में 'अयं घटः' 'अयं पटः' आदि प्रवृत्तियों (विषयों) की प्रतीति होती है । ये ही प्रवृत्ति प्रत्यय या प्रवृत्तिविज्ञान कहलाते हैं । इनका ज्ञाता 'अहम्' के रूप में व्यक्त आलय विज्ञान है । आलयविज्ञान के साथ ये कभी-कभी रहते हैं (कादाचित्क हैं, बीजांकुर के समान) । इसलिए आलयविज्ञान के अतिरिक्त बाह्य घटादि विषयों के साथ ये सम्बद्ध हैं । इस अनुमान से भी बाह्य पदार्थों की सिद्धि होती है ।]

विशेष—आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान वस्तुतः विज्ञानवादियों के सिद्धान्त हैं । इनका प्रयोग सौत्रान्तिक लोग उन्हीं के सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए करते हैं । योगाचार लोग अद्वैतवादी हैं, शुद्ध विज्ञान (Consciousness),

प्रत्यय (idea), चैतन्य या चित्त (mental phenomenon) को ही एक मात्र सत्ता मानते हैं। यद्यपि बुद्धि एकरूपा ही है परन्तु अनादि वासना के कारण प्रतीत होने वाले इसके विभिन्न स्वरूपों को कौन रोक सकता है ? ग्राह्य-ग्राहक-ग्रहण, वेद्य-वेदक-वेदन की त्रितयी अविच्छिन्न है। विज्ञानवादी बौद्ध अवस्था के भेद से चित्त (विज्ञान) के दो भेद करते हैं—आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान। **आलयविज्ञान**, धर्मों के बीजों का स्थान है। ये धर्म बीज के रूप में यहाँ समवेत रहते हैं और विज्ञान के रूप में बाहर निकल कर जगत् के व्यवहार का निर्वाह करते हैं आधुनिक मनोविज्ञान का 'उपचेतनमन' (Sub-conscious Mind) प्रायः वैसा ही है। लंकावतार सूत्र (२।९९-१००) में आलय-विज्ञान को समुद्र के समान कहा है। जिस प्रकार समुद्र में वायु-प्रेरित तरंगें उठती रहती हैं, कभी विराम नहीं लेतीं—उसी प्रकार आलय-विज्ञान में भी बाह्य-विषयों के झकोरों की चित्र-विचित्र विज्ञानरूपी तरंगें उठती हैं। ये कभी भी नष्ट नहीं होतीं। आलयविज्ञान समुद्र है, विषय पवन है तथा विज्ञान (सात प्रकार के प्रवृत्तिविज्ञान) तरंगें हैं—

तरङ्गा उदधेर्यद्वत्पवनप्रत्ययेरिताः।
नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते व्युच्छेदश्च न वर्तते ॥
आलयौघस्तथा नित्यं विषयपवनेरितः।
चित्रैस्तरङ्गविज्ञानैः नृत्यमानः प्रवर्तते ॥

इससे स्पष्ट है कि प्रवृत्तिविज्ञान भी इसमें डूबते-उतराते हैं।

दूसरी ओर, **प्रवृत्ति-विज्ञान** क्रियाशील चित्त है जिससे विषयों की प्रतीति होती है, यह आत्मा के समान नहीं है किन्तु आलय विज्ञान से ही उत्पन्न होता है और उसीमें विलीन हो जाता है। इसके सात भेद हैं—(१) चक्षुर्विज्ञान, (२) श्रोत्रविज्ञान, (३) घ्राणविज्ञान, (४) जिह्वाविज्ञान, (५) कायविज्ञान, (६) मनोविज्ञान और (७) क्लिष्ट मनोविज्ञान। इन सबों का विवेचन इतने सूक्ष्म ढंग से बौद्धों ने किया है कि आधुनिक मनोविज्ञान को भी इनके समक्ष नतमस्तक हो जाना पड़ेगा। इन पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त अनुसंधान और अध्यवसाय की अपेक्षा है। विद्वानों के सत्प्रयास से यह संभव है। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में इनका सम्यक् विवेचन है।

तत्रालयविज्ञानं नामाहमास्पदं विज्ञानम्। नीलाद्युल्लेखि च विज्ञानं प्रवृत्तिविज्ञानम्। यथोक्तम्—

२३. तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम्।
तत्स्यात्प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत् ॥ इति।

तस्मादालयविज्ञानसंतानातिरिक्तः कादाचित्कप्रवृत्तिविज्ञानहेतुर्बाह्योऽर्थो ग्राह्य एव, न वासनापरिपाकप्रत्ययकादाचित्कत्वात् कदाचिदुत्पाद इति वेदितव्यम् ।

उनमें आलयविज्ञान वह चैतन्य (बुद्धि) है जो 'अहम्' (मैं = आत्मा) का स्थान है (अहम् के आकार में है) । नीलादि पदार्थों को व्यक्त करने वाला [इदम् से संबद्ध] विज्ञान प्रवृत्तिविज्ञान है । जैसा कि कहा गया है—'वह आलयविज्ञान है जो आत्मा (Ego) का स्थान है, और वह प्रवृत्तिविज्ञान है जो नीलादि पदार्थों को अभिव्यक्त करता है ।

इसलिए आलयविज्ञान के संतान (प्रवाह, क्योंकि सब कुछ क्षणिक है अतः उनका प्रवाह ही संभव है) के अतिरिक्त, कभी-कभी होनेवाले प्रवृत्तिविज्ञान का कारण [घटादि] बाह्य पदार्थ है, अतः उसे तो ग्रहण करना ही होगा । ऐसा न समझें कि वासना के परिणाम की प्रतीति कभी-कभी होती है इसलिए बाह्यार्थ भी कभी-कभी ही उत्पन्न होगा । (विज्ञानवादियों के मत से ही वासना के परिणाम की प्रतीति सदा ही होती है—उसे 'कभी-कभी होना' सिद्ध करने के लिए कोई साधन या हेतु नहीं है । इसे ही अब स्पष्ट किया जायगा—) ।

(२५. विज्ञानवादियों के मत पर दोषारोपण)

विज्ञानवादिनये हि वासना नाम एकसंतानवर्तिनामालयविज्ञानानां तत्तत्प्रवृत्तिविज्ञानजननशक्तिः । तस्याश्च स्वकार्योत्पादं प्रत्याभिमुख्यं परिपाकः । तस्य च प्रत्ययः कारणं स्वसंतानवर्तिपूर्वक्षणः कक्षीक्रियते । संतानान्तरनिबन्धनत्वानङ्गीकारात् ।

विज्ञानवादियों के मत से 'एक प्रवाह (संतान, परंपरा) में विद्यमान रहनेवाले जो आलयविज्ञान हैं वे जब अपने से संबद्ध प्रवृत्तिविज्ञानों को उत्पन्न करते हैं तब उनकी उसी शक्ति का नाम **वासना** है ।' ('अहम्' इस आकार में रहनेवाले क्षणिक आलयविज्ञानों की परंपरा प्रत्येक जीव के लिए भिन्न है । उससे प्रवृत्तिविज्ञान की उत्पत्ति होती है । राम के आलयविज्ञानों की परंपरा पर आधारित आलयविज्ञान राम से ही सम्बद्ध प्रवृत्तिविज्ञान को उत्पन्न करता है । इस तरह आलयविज्ञान में प्रवृत्तिविज्ञान उत्पन्न करने की जो शक्ति है उसी को वासना कहते हैं) । उस (वासना) का अपने कार्योत्पादन (प्रवृत्तिविज्ञान की उत्पत्ति) के प्रति उन्मुख या प्रवृत्त होना ही परिपाक (वासना का परिणाम) कहलाता है ।

[वासनायें क्षणिक हैं, क्षण-क्षण बदलती हुई वासनाओं के बीच किसी-किसी का ही परिपाक हो पाता है, सबों का नहीं। कारण यह है कि परिपाक से उत्पन्न प्रवृत्तिविज्ञान की उत्पत्ति सदा नहीं देखी जाती। इस कादाचित्क परिपाक का कोई कादाचित्क कारण अवश्य देना चाहिए। सौत्रान्तिक लोग तो कहेंगे कि इसका कारण घटादि बाह्यार्थ है। विज्ञानवादी तो इसे कारण नहीं मानेंगे क्योंकि वे तो बाह्यार्थ को मानते ही नहीं। वे लोग कहेंगे कि] उस परिपाक की जो प्रतीति होती है उसका कारण अपने प्रवाह में स्थित पूर्वक्षण को हम स्वीकार करते हैं। [पूर्वक्षण की वासना उत्तरक्षण की वासना के परिपाक का कारण है उसी तरह सभी वासनायें आलयविज्ञान की परंपरा होने के कारण तुल्य होंगी और सभी अपने-अपने उत्तरक्षण की वासनाओं के परिपाक का कारण बन जायंगी। प्रवृत्तिविज्ञान भी सदा उत्पन्न होने लगेगा।] कारण यह है कि वासना के परिपाक को हम किसी दूसरे संतान (ज्ञानसंतान से भिन्न घटादि ज्ञेयसंतान) के अधीन नहीं मानते। (हम ज्ञान को ही मानते हैं इसीके अधीन वासना का परिपाक है।)

ततश्च प्रवृत्तिविज्ञानजनकालयविज्ञानवर्तिवासनापरिपाकं प्रति सर्वेऽप्यालयविज्ञानवर्तिनः क्षणाः समर्था एवेति वक्तव्यम्। न चेदेकोऽपि न समर्थः स्यात्। आलयविज्ञानसंतानवर्तित्वाविशेषात्। सर्वे समर्था इति पक्षे कालक्षेपानुपपत्तिः। ततश्च कादाचित्कत्वनिर्वाहाय शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषयाः सुखादिविषयाः षडपि प्रत्ययाश्चतुरः प्रत्ययान् प्रतीत्योत्पाद्यन्त इति चतुरेणानिच्छताप्यच्छमतिना स्वानुभवमनाच्छाद्य परिच्छेत्तव्यम्॥

इसलिये, प्रवृत्ति-विज्ञान को उत्पन्न करने वाले आलय-विज्ञान में रहने वाली वासना का परिपाक (उत्पन्न) करने में, आलयविज्ञान में स्थित सारी क्षणिक-वासनायें समर्थ हैं—ऐसा कहें। (आलयविज्ञान समुद्रवत् है, इससे ही प्रवृत्ति विज्ञान की उत्पत्ति होती है। आलयविज्ञान में क्षणिक वासनायें हैं जो वासना का परिपाक कर सकती हैं अर्थात् वासना को कार्योत्पादन में लगा सकती हैं।) [यदि सभी क्षणिक वासनाओं में यह सामर्थ्य] नहीं होती तो एक भी क्षणिक वासना समर्थ नहीं होती क्योंकि आलयविज्ञान की परम्परा में रहने पर कोई भेद-भाव नहीं होता ('कुछ' का प्रश्न नहीं है, सभी समर्थ हैं)।

यदि यह कहें कि सभी क्षणिक वासनायें समर्थ हैं तो कालक्षेप (समय बिताना) नहीं होगा (सभी वासनायें तुरत ही कार्योत्पादन करेंगी क्योंकि जो

अपने कार्य के उत्पादन में समर्थ है वह कालक्षेप नहीं सह सकता—तुरत कार्य उत्पन्न करेगा। फिर कार्य भी एक समान होंगे)। अब इसलिए वासनाओं का 'कभी-कभी होना' सिद्ध करने के लिए (क्योंकि यह जरूरी है अन्यथा विश्व के रङ्गमञ्च पर कभी-कभी होने वाले कार्यों की उत्पत्ति विज्ञानवादी कैसी वासना से सिद्ध करेंगे ?), चतुर व्यक्ति को, इच्छा न होते हुए भी, स्वच्छ बुद्धि से, अपनी अनुभूति को बिना ढँके हुए, विचार करना चाहिए कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के विषय तथा सुखादि के विषय (objects)—ये छह प्रकार की प्रतीतियाँ चार प्रत्ययों (कारणों) को पाकर ही उत्पन्न की जाती हैं। [शब्दादि पाँच विषय बाह्य हैं, सुखादि विषय मन के हैं अतः आन्तरिक हैं—इन छह प्रतीतियों का कुछ बाह्य कारण खोज लें (वे हैं चार कारण) नहीं तो 'कादाचित्क' का निर्वाह नहीं होगा क्योंकि समर्थ वासनायें परिपाक उत्पन्न करती रहेंगी—सभी उत्पन्न होंगे, 'कभी-कभी' नहीं हो सकेगा।]

(२६. ज्ञान के चार कारण)

ते चत्वारः प्रत्ययाः प्रसिद्धा आलम्बन-समनन्तर-सहकार्यधिपतिरूपाः। तत्र ज्ञानपदवेदनीयस्य नीलाद्यवभासस्य चित्तस्य नीलादालम्बनप्रत्ययान्नीलाकारता भवति। समनन्तरप्रत्ययात् प्राचीनज्ञानोद्बोधरूपता। सहकारिप्रत्ययात् आलोकात् स्पष्टता। चक्षुषोऽधिपतिप्रत्ययाद्विषयग्रहणप्रतिनियमः ॥

ये चार कारण प्रसिद्ध हैं—(१) आलम्बन (Substratum), (२) समनन्तर (Suggestion), (३) सहकारी (Medium) और (४) अधिपति (Dominant organ)। उनमें 'ज्ञान' (= साकार चित्त) शब्द से समझे जाने वाले नीलादि की प्रतीति का, जिसे चित्त भी कहते हैं, नील (पदार्थ) से, **आलम्बन** के कारण ही नील-रूप बनता है। **समनन्तर** के कारण ही पूर्वक्षण के ज्ञान से आकार-ग्रहण की शक्ति आती है। **सहकारी** के कारण ही प्रकाश से स्पष्टता होती है (किसी एक का स्पष्टीकरण होता है)। **अधिपति** के कारण आँख द्वारा विषय के ग्रहण का नियन्त्रण होता है।

विशेष—साकार चित्त को ही ज्ञान कहते हैं और बोधरूपता का अर्थ है उसके स्वरूप (आकार) को ग्रहण करने की शक्ति। जिस प्रकार पूर्वक्षण के घट से उसी के आकार में उत्तरक्षण में घट उत्पन्न होता है उसी तरह पूर्वक्षण में वर्तमान, आकार को ग्रहण करने में समर्थ ज्ञान से उत्तरक्षण में तदाकार ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान की यह परम्परा (सन्तान) बराबर चलती रहती है।

आकार भी दो तरह का है—अहम् का आकार, इदम् का आकार। अहमाकार पूर्वक्षण के ज्ञान से उत्पन्न होता है, दूसरे कारण की अपेक्षा इसमें नहीं है। यह अनादि है, सब समय रहता है और एक रूप वाला है। यही आलयविज्ञान है। 'यह घट है' इस प्रकार के प्रवृत्तिविज्ञान में भी अहमाकार है ही क्योंकि आलयविज्ञान से ही प्रवृत्तिविज्ञान जन्म लेता है। दूसरा इदमाकार कभी-कभी होता है (कादाचित्क), इसलिए दूसरे कारणों (आलम्बनादि) की अपेक्षा रहती है, इसका आदि भी होता है और इसके विविध रूप हैं। ज्ञान में अपने आकार के सदृश आकार डालने वाले शब्दादि अनेक प्रकार के विषय अपने-अपने आकार के प्रवृत्तिविज्ञान को उत्पन्न करते हैं। यहीं चार कारणों की अपेक्षा होती है।

विषय के आधार को आलम्बन कहते हैं जिस पर आश्रित होकर प्रवृत्तिविज्ञान उत्पन्न होता है। उत्तरक्षण के ज्ञान को आकार-ग्रहण की शक्ति देते हुए पूर्वक्षण का ज्ञान समनन्तर कहलाता है। ज्ञान को स्पष्ट करने वाला प्रकाश (light) सहकारी है। मन से वस्तु का संयोग होना भी सहकारी ही है। इन्द्रिय को अधिपति कहते हैं। यही सबों पर नियन्त्रण रखता है। इसलिए ज्ञान में यह अपने अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत ही आकार प्रदान करता है। चक्षु-इन्द्रिय ज्ञान के उत्पादन में रूप का आकार ही दे सकती है। रसना रस के आकार को तथा मन जो अन्तःकरण की इन्द्रिय है उसका अवदान सुखादि आन्तरिक विषयों तक ही सीमित है। इस प्रकार ये चारों कारण मिलकर प्रवृत्तिविज्ञान में, 'इदम्' के आकार वाले, कभी-कभी होने वाले ज्ञान को जन्म देते हैं।

उदितस्य ज्ञानस्य रसादिसाधारण्ये प्राप्ते नियामकं चक्षुरधिपतिर्भवितुमर्हति। लोके नियामकस्याधिपतित्वोपलम्भात्। एवं चित्तचैत्तात्मकानां सुखादीनां चत्वारि कारणानि द्रष्टव्यानि॥

रस आदि विषयों को भी समान रूप से ग्रहण करने के कारण उत्पन्न ज्ञान का नियंत्रण करने वाली चक्षु-इन्द्रिय अधिपति होने के योग्य है (क्योंकि एक विशिष्ट प्रकार के ज्ञान से तो वह संबद्ध है)। संसार में पाते हैं कि जो नियंत्रण करता है, वही अधिपति होता है। इसी प्रकार चित्त और उसके विभिन्न विकारों के रूप में सुख आदि (आन्तरिक विषयों) के भी चार कारण देख लें [क्योंकि वह भी प्रवृत्तिविज्ञान ही है]।

(२७. चित्त और उसके विकार—पाँच स्कन्ध)

सोऽयं चित्तचैत्तात्मकः स्कन्धः पञ्चविधो रूप-विज्ञान-वेदना-संज्ञा-संस्कारसंज्ञकः। तत्र रूप्यन्त एभिर्विषया इति

रूप्यन्त इति च व्युत्पत्त्या सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः। आलयविज्ञान-प्रवृत्तिविज्ञानप्रवाहो विज्ञानस्कन्धः। प्रागुक्तस्कन्ध-द्वयसंबन्धजन्यः सुखदुःखादिप्रत्ययप्रवाहो वेदनास्कन्धः। गौरित्यादिशब्दोल्लेखिसंवित्प्रवाहः संज्ञास्कन्धः। वेदनास्कन्ध-निबन्धना रागद्वेषादयः क्लेशाः उपक्लेशाश्च मदमानादयो धर्मा-धर्मौ च संस्कारस्कन्धः॥

तो चित्त और चित्त के विकारों के रूप में यह स्कन्ध (अमूर्त्त तत्त्व) पाँच प्रकार का है—(१) रूपस्कन्ध (Sensational), (२) विज्ञानस्कन्ध (Perceptional), (३) वेदनास्कन्ध (Affectional), (४) संज्ञा-स्कन्ध (Verbal), और (५) संस्कारस्कन्ध (Impressional)। उनमें विषयों के साथ इन्द्रियों का नाम **रूपस्कन्ध** है जिसकी व्युत्पत्तियाँ हैं—जिनसे विषयों का निरूपण होता है (=इन्द्रियाँ) और जो निरूपित होते हैं (=विषय)। आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान का प्रवाह **विज्ञानस्कन्ध** है (केवल यही स्कन्ध चित्त है, अन्य चैत्त या चित्त के विकार हैं)। पहले कहे गये इन दोनों स्कन्धों के संबन्ध से उत्पन्न सुख-दुःख आदि प्रतीतियों का प्रवाह (परंपरा) **वेदनास्कन्ध** है। 'गौ' इत्यादि शब्दों को व्यक्त करने वाले ज्ञानों का प्रवाह **संज्ञास्कन्ध** है। वेदनास्कन्ध पर आधारित रागद्वेषादि क्लेश (कष्ट), मद-मानादि उपक्लेश (अल्प कष्ट) तथा धर्म-अधर्म को **संस्कारस्कन्ध** कहते हैं।

विशेष—स्कन्धों का यह क्रम वस्तुतत्त्व के ज्ञान के लिए अच्छा है किन्तु बौद्ध ग्रन्थों में विज्ञानस्कन्ध को दूसरा स्थान न देकर पाँचवाँ स्थान दिया गया है। वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश में इसके लिए कारणों की मीमांसा की है। उनके विचार से क्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर गया है। संस्कार की अपेक्षा विज्ञान सूक्ष्म है और सुगम नहीं है। ये स्कन्ध चित्त और उसके विकारों से संबद्ध हैं। इनमें विज्ञानस्कन्ध चित्त है तथा अन्य स्कन्ध उसके विकार स्वरूप हैं। चैत्त के बाद चित्त का वर्णन संभव भी है।

विज्ञान दो प्रकार के हैं—आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान। 'अहम्' के आकार वाले आलयविज्ञान का प्रवाह ही आत्मा है। 'इदम्' के आकार में प्रवृत्तिविज्ञान है। विषयों के आकार में आने पर यह रूपस्कन्ध कहलाता है। इसमें इन्द्रियाँ भी हैं जो भौतिक नहीं, चैत्त (Mental) ही हैं। जब विज्ञानस्कन्ध (चित्त) रूपस्कन्ध (विषय + इन्द्रिय) के साथ मिलता है तब सुख-दुःख की अनुभूति होती है—यही वेदनास्कन्ध है। सुख-दुःख चूँकि चित्त

के परिणाम हैं इसलिए भौतिक नहीं हैं। घट, पट आदि नाम संज्ञास्कन्ध (Symbolical world) है। ये केवल संकेत हैं जो अवयवों के आधार पर दिये जाते हैं। इस विषय में सुविख्यात मिलिन्दप्रश्न का नागसेन-मिलिन्द-संवाद देखने योग्य है। घटादि में नाम-रूप (Name and Form) दो भाग हैं। रूप भौतिक है किन्तु नाम चित्त की एक विशेष विकृति के कारण अमूर्त है। राग, द्वेषादि क्लेश हैं, मान-मद-मोहादि उपक्लेश, धर्म-अधर्म—ये संस्कार स्कन्ध है। ये भी चैत्त है। स्मरणीय है कि इन स्कन्धों के पूर्ण विनाश के बाद निर्वाण की प्राप्ति होती है।

(२८. चार आर्य सत्य—दुःख, समुदाय,[1] निरोध, मार्ग)

तदिदं सर्वं दुःखं दुःखायतनं दुःखसाधनं चेति भावयित्वा तन्निरोधोपायं तत्त्वज्ञानं संपादयेत्। अत एवोक्तम्—दुःखसमुदायनिरोधमार्गाश्चत्वार आर्यबुद्धस्याभितानि तत्त्वानि। तत्र दुःखं प्रसिद्धम्॥

तो यह समूचा संसार दुःख है, दुःख का घर है और दुःख का साधन है (यहीं से दुःख मिलता है)—यह ध्यान करके, उससे बचने के उपाय—तत्त्व-ज्ञान—को प्राप्त करना चाहिए। इसीलिए कहा है—(१) दुःख (Suffering), (२) समुदाय (Cause of Suffering), (३) निरोध (Cessation of Suffering) तथा मार्ग (Way to Cessation)—ये चार तत्त्व आर्य-बुद्ध के द्वारा सम्मत हैं। इनमें दुःख तो प्रसिद्ध है (संसार में दुःख की सत्ता अनिवार्यरूप से है—देखिये इसी दर्शन का विगत अंश)।

विशेष—आश्चर्य है कि दुःख, समुदाय, निरोध और मार्ग—ये चार तत्त्व प्रसिद्ध होने पर भी गफ ने अपने अंग्रेजी-अनुवाद में इन्हें द्वन्द्व-समास में न लेकर षष्ठी तत्पुरुष में लिया है और लिखा है—'दुःख के समूह को रोकने के चार मार्ग हैं' (······are to the saints the four methods of suppressing the aggregate of pain. p. 30.)। माना कि अर्थ वही है पर ये निरोध के चार मार्ग कौन-कौन हैं ? गिना तो दें सही। भगवान् बुद्ध के मूल उपदेश ये ही चार आर्य सत्य हैं। वस्तुतः दर्शन शास्त्र मात्र के ही ये चार व्यूह या पहलू (Aspects) हैं। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में चार व्यूह

१—बौद्ध लोग 'समुदय' (दुःखकारण) कहते हैं किन्तु सर्वदर्शनसंग्रह में इसे समुदाय कहा गया है। सम्भव है दुःख के कारणों को शृंखला—द्वादश निदानों—को देखकर समूहवाचक समुदाय नाम दिया गया हो।

हैं—रोग, रोग का कारण, आरोग्य और भैषज्य, उसी प्रकार यहाँ भी संसार, संसार का कारण मोक्ष, और मोक्ष का उपाय—ये चार पहलू हैं (द्रष्टव्य, व्यास भाष्य २।१५)। वैद्यक-शास्त्र की इसी समता के कारण बुद्ध को महा-भिषक् कहा गया है।

बुद्ध ने दार्शनिक प्रश्नों का विवेचन न करके सीधे आर्यसत्यों का ही उपदेश दिया। सारनाथ में दिया गया उनका प्रथम उपदेश द्रष्टव्य है (धम्मचक्कप्पवत्तण-सुत्त)। उनका कथ्य था कि संसार में लोग दारुण व्यथा से संतप्त हैं। उन्हें बचाने का उपाय न करके दार्शनिक गुत्थियों जैसे—आत्मा, ईश्वर, कार्य, कारण आदि को सुलझाना मूर्खता है। किसी को बाण लग जाय तो निकाल कर मरहम-पट्टी करनी चाहिए, न कि यह पता लगाते फिरें कि किसने बाण फेंका ? क्षत्रिय ने, ब्राह्मण ने···? वह किधर बैठा था ? वह किस रंग का था ? आदि-आदि। अन्य प्रश्नों पर बुद्ध मौन ही हो जाते थे। किन्तु उनके शिष्यों ने मौन का पूरा लाभ उठाया और वे दर्शन के दुरूह दलदल में धँस गये। फल स्पष्ट था कि अपनी-अपनी बुद्धि लोगों ने दौड़ाई तथा वैभाषिक-सौत्रान्तिक आदि सम्प्रदाय बन गये। बुद्ध ने वास्तव में दर्शन (Philosophy) नहीं दिया, उनका बस नीतिशास्त्र (Ethics) है। आर्यसत्यों में सिद्धान्त और व्यवहार का अनुपम समन्वय है।

समुदायो दुःखकारणम्। तद् द्विविधं—प्रत्ययोपनिबन्धनो हेतूपनिबन्धनश्च। तत्र प्रत्ययोपनिबन्धनस्य संग्राहकं सूत्रम्—'इदं प्रत्ययफलम्' इति। इदं कार्यं ये अन्ये हेतवः प्रत्ययन्ति-गच्छन्ति, तेषामवमानानां हेतूनां भावः प्रत्ययत्वं कारणसम-वायः, तन्मात्रस्य फलं, न चेतनस्य कस्यचिदिति सूत्रार्थः।

समुदाय का अर्थ है दुःख का कारण। वह (कारण) दो प्रकार का है—(१) प्रत्यय पर आधारित और (२) कारण (हेतु) पर आधारित। इनमें प्रत्यय पर आधारित (दुःखकारण) को समझाने वाला सूत्र है—'यह (कार्यसमूह) प्रत्यय (कारणसमवाय) का ही परिणाम है।' इस कार्य [के उत्पादन] की ओर जो दूसरे हेतु जाते हैं (कार्य उत्पन्न करते हैं—कार्य प्रति अयन्ति), उन जाने वाले (दूसरे कारणों के साथ मिलने वाले) कारणों का भाव ही प्रत्यय है जिसे कारण-समवाय भी कह सकते हैं। [कार्य] उन प्रत्ययों का ही फल है किसी चेतन का नहीं—यही सूत्र का अर्थ है। [आशय यह है कि कारणों के समूह के स्वभाव से ही कार्य की उत्पत्ति होना—प्रत्ययोपनिबन्धन

समुदाय है। अंकुर को उत्पन्न करने में मिट्टी, जल, बीज आदि कारण हैं कोई चेतन सत्ता ('अहम् करोमि' के रूप में) इन पदार्थों में नहीं है। न तो मिट्टी ही चेतन है न अंकुर ही। चेतन सत्ता के अभाव में केवल कारणों से कार्य होता है। हेतूपनिबन्धन में क्रमिक कार्य होता है—अंकुर से काण्ड, काण्ड से नाल, नाल से गर्भ······आदि। यहाँ भी चेतन-सत्ता नहीं रहती। न तो अंकुर ही समझता है कि मैं उत्पन्न कर रहा हूँ और न काण्ड ही अपने को उत्पादित समझता।]

यथा बीजहेतुरङ्कुरो धातूनां षण्णां समवायाज्जायते। तत्र पृथिवीधातुरङ्कुरस्य काठिन्यं गन्धं च जनयति। अब्धातुः स्नेहं रसं च जनयति। तेजोधातू रूपमौष्ण्यं च। वायुधातुः स्पर्शनं चलनं च। आकाशधातुरवकाशं शब्दं च। ऋतुधातुर्यथायोगं पृथिव्यादिकम्।

उदाहरण के लिए बीज-हेतु वाला अंकुर छह धातुओं (मूल कारणों) के समवाय (मेल) से उत्पन्न होता है (न तो कार्य ही चेतन है और न कारण, यह भी नहीं कि कोई दूसरी चेतनशक्ति इनकी सहायता कर रही है। इसलिए फल निकलता है कि अंकुरादि कार्य केवल कारणों के मेल से ही बनते हैं)।

इनमें पृथिवी-धातु (the element of earth) अंकुर में कठोरता और गन्ध उत्पन्न करता है। जल-धातु चिकनाहट और रस (स्वाद) उत्पन्न करता है। तेज (अग्नि)-धातु रूप और उष्णता, वायुधातु स्पर्श और गति देता है, आकाश-धातु शब्द और स्थान की पूर्ति करता है। ऋतु-धातु योग्यता (या आवश्यकता) के अनुसार पृथिवी-आदि तत्त्वों को प्रदान करता है। (जिस ऋतु में पदार्थ होता है उसकी विशेषतायें लिए हुए रहता है। उसके अनुसार पृथिवी-आदि तत्वों में न्यूनाधिकता पर प्रभाव पड़ता है)।

(२८ क. हेतूपनिबन्धन समुदाय का स्वरूप)

हेतूपनिबन्धनस्य च संग्राहकं सूत्रम्—'उत्पादाद्वा तथागतानामनुत्पादाद्वा स्थितैवैषां धर्माणां धर्मता धर्मस्थितिता धर्मनियामकता च प्रतीत्यसमुत्पादानुलोमता।' तथागतानां बुद्धानां मते धर्माणां कार्यकारणरूपाणां या धर्मता कार्यकारणभावरूपा, एषा उत्पादादनुत्पादाद्वा स्थिता। यस्मिन्सति यदुत्पद्यते, यस्मिन्नसति यन्नोत्पद्यते तत्तस्य कारणस्य कार्यम्—इति। 'धर्मता' इत्यस्य

विवरणं धर्मस्थितितेत्यादि। धर्मस्य कार्यस्य कारणानतिक्रमेण स्थितिः। स्वार्थिकः तल् प्रत्ययः। धर्मस्य कारणस्य कार्यं प्रति नियामकता।

हेतूपनिबन्धन समुदाय का वर्णन करने वाला सूत्र यह है—'तथागतों के मत से इन धर्मों (कार्यकारण) की धर्मता (कार्य-कारण होना) उत्पत्ति (अन्वय) तथा अनुत्पत्ति (व्यतिरेक) से सिद्ध ही हो जाती है; इसमें धर्म (कार्य) की स्थिति, धर्म (कारण) की नियन्त्रणशक्ति, तथा प्रतीत्य-समुत्पाद (कारण पाकर कार्य होना) की अनुकूलता भी है।'

[इसका यह अर्थ है—] तथागतों अर्थात् बुद्धों (निर्वाणप्राप्त लोगों) के मत से कार्यकारण के रूप में जो धर्म हैं उनकी धर्मता प्रकृति (nature) कार्य-कारण के भाव के रूप में है। यह उत्पाद (अन्वय-विधि) और अनुत्पाद (व्यतिरेक-विधि) से सिद्ध हो गई है। जिसके रहने पर जिसकी उत्पत्ति होती है (उत्पाद) और जिसके न रहने पर जो उत्पन्न नहीं होता (अनुत्पाद) वह उस कारण का कार्य है। 'धर्मता' शब्द की 'धर्मस्थितिता' इत्यादि शब्दों के द्वारा व्याख्या की गई है। (धर्मस्थितिता =) धर्म अर्थात् कार्य का कारण का उल्लङ्घन न करके स्थित रहना। 'स्थितिता' में तल् (ता) प्रत्यय उसी अर्थ का बोधक है (∴ निरर्थक है)। (धर्मनियामकता =) धर्म अर्थात् कारण का कार्य के प्रति नियामक होना। (इसलिए धर्मता का अर्थ है 'कार्य का कारण के बिना न रहना' और 'कारण का कार्य पर नियन्त्रण रखना'।)

नन्वयं कार्यकारणभावश्चेतनमन्तरेण न संभवतीत्यत उक्तम्—प्रतीत्येति। कारणे सति तत्प्रतीत्य प्राप्य समुत्पादेऽनुलोमता = अनुसारिता या, सैव धर्मतोत्पादादनुत्पादाद्वा धर्माणां स्थिता। न चात्र कश्चिच्चेतनोऽधिष्ठातोपलभ्यत— इति सूत्रार्थः॥

यहाँ पर कोई पूछ सकता है कि कार्य कारण का सम्बन्ध किसी चेतन सत्ता के [हस्तक्षेप किये] बिना संभव नहीं है, इसीलिए [उनकी शंका के निराकरण के लिए] कहा है—प्रतीत्यसमुत्पाद की अनुकूलता। कारण के रहने पर उसे पाकर (प्रतीत्य) उत्पत्ति (समुत्पाद) होने पर अनुलोम होना अर्थात् अनुसरण (पीछे-पीछे रहना)—यही धर्मता (कार्यकारण भाव) उत्पत्तिनियम और अनुत्पत्ति नियम से धर्मों के विषय में सिद्ध होती है (कार्य

कारण का सम्बन्ध सिद्ध होता है)। इसमें कोई भी चेतन अधिष्ठाता (संबन्ध जोड़नेवाला) नहीं मिलता—यही सूत्र का अर्थ है।

विशेष—चेतन के खंडन में बौद्धों का विशेष लक्ष्य नैयायिकों पर है क्योंकि वे ही ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए ऐसे अनुमान का आश्रय लेते हैं—पृथ्वी अंकुरादि सकर्तृक हैं, क्योंकि ये कार्य हैं घटवत्। बौद्धों का राद्धान्त है कि न तो बीज को अपने कारणत्व का ज्ञान है और न अंकुर को ही अपने कार्यत्व का। कारण तो अपने कार्य के आगे सदा रहता है। चेतन कहाँ है? जिनमें कार्यकारण भाव है उनमें चैतन्य नहीं पाते और जिन ईश्वरादि में चैतन्य है वे कार्य करते नहीं दिखालाई पड़ते।

प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूपनिबन्धनो यथा—बीजादङ्कुरः, अङ्कुरात्काण्डं, काण्डान्नालः, नालाद्गर्भः, ततः शूकं, ततः पुष्पं, ततः फलम्। न चात्र बाह्ये समुदाये कारणं बीजादि कार्यमङ्कुरादि वा चेतयते—'अहमङ्कुरं निर्वर्तयामि, अहं बीजेन निर्वर्तितः' इति। एवमाध्यात्मिकेष्वपि कारणद्वयमवगन्तव्यम्। 'पुरःस्थिते प्रमेयाब्धौ ग्रन्थविस्तरभीरुभिः' इति न्यायेनोपरम्यते।

प्रतीत्यसमुत्पाद[1] का हेतूपनिबन्धन कारण इस प्रकार होता है—बीज से अंकुर, अंकुर से ग्रन्थि, ग्रन्थि से डंठल, डंठल से कली, कली से ठूँड़, उससे फूल और तब फल (इस प्रकार एक कारण का दूसरे कारण को उत्पन्न करते जाना)। यहाँ बाह्य समुदायों (कारणों के समूहों) के होने पर, बीजादि कारण या अंकुरादि कार्य यह नहीं समझते कि मैं अंकुर बना रहा हूँ या मैं बीज से बना हूँ। इसी तरह आध्यात्मिक पदार्थों में भी दो कारणों (प्रत्यय, हेतु) को समझ लें। यहाँ पर उस लोकोक्ति के अनुसार छोड़ देते हैं कि—'जानने योग्य वस्तुओं का समुद्र ही सामने में है, ग्रन्थ के बड़ा हो जाने के भय से [विस्तार को छोड़कर केवल दिशामात्र दिखला दें]।[2]

विशेष—आध्यात्मिक वस्तुओं का प्रत्ययोपनिबन्धन जैसे—काय की उत्पत्ति

१—माध्यमिक-वृत्ति (पृ० ९)—अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादयमुत्पद्यत इति इदंप्रत्ययार्थः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः।

(हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः।)

२—पुरःस्थिते प्रमेयाब्धौ ग्रन्थविस्तरभीरुभिः।
विस्तारं संपरित्यज्य दिङ्मात्रमुपदर्श्यताम्॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और विज्ञान, इन छह धातुओं के समवाय से होती है। पृथिवी-धातु से काय में कठोरता, जल-धातु से स्निग्धता, अग्निधातु से वर्ण और परिपाक, वायु-धातु से श्वासादि, आकाशधातु से विस्तार तथा विज्ञान-धातु से नाम-रूप प्राप्त होता है।

आध्यात्मिक वस्तुओं का हेतूपनिबन्धन कारण ही भवचक्र कहलाता है। इसे ही विशेषतया प्रतीत्यसमुत्पाद समझते हैं। इसमें १२ कारणों की शृंखला प्रदर्शित की गई है। बौद्ध लोग इन्हें ही दुःख का कारण समझते हैं—क्षणिक वस्तुओं को स्थिर समझना या तत्वों को न जानना **अविद्या** है। इसी के कारण पूर्वजन्म में भला-बुरा कर्म करने का **संस्कार** होता हे। ये दोनों कारण पूर्वजन्म से संबद्ध हैं। संस्कार के कारण ही इस जन्म में प्राणी गर्भ में आता है तथा **विज्ञान** या चैतन्य पाता है। इसके फलस्वरूप शारीरिक और मानसिक अवस्थायें (**नामरूप**) उसे मिलती हैं। नाम–रूप के कारण ही **षडायतन** (छह इन्द्रियों का समूह) मिलता है जिसके कारण बालक बाह्य पदार्थों का **स्पर्श** करता है। स्पर्श करने पर उसे सुख, दुःख तथा उदासीनता की त्रिविध **वेदना** (Sensatison) होती है जिससे पदार्थों की **तृष्णा** उत्पन्न हो जाती है। तृष्णा से विषयों की आसक्ति या **उपादान** होता है और उसी से **भव** अर्थात् नया जन्म होता है जो पूर्वजन्म के संस्कार के समान ही है। यहाँ तक आठ कारण वर्तमान जीवन से संबद्ध हैं। अब भव के कारण भविष्य में **जाति** (जन्म) लेना अनिवार्य है। फिर **जरामरण** को कौन रोकेगा? यही दुःख के कारणों की शृंखला है जिस पर समूचा बौद्धदर्शन अवलंबित है।

(२९. सौत्रान्तिक-मत का उपसंहार)

तदुभयनिरोधः। तदनन्तरं विमलज्ञानोदयो वा मुक्तिः। तन्निरोधोपायो मार्गः। स च तत्त्वज्ञानम्। तच्च प्राचीनभावना-बलाद्भवतीति परमं रहस्यम्। सूत्रस्यान्तं पृच्छतां कथितं—'भवन्तश्च सूत्रस्यान्तं पृष्टवन्तः, सौत्रान्तिका भवन्तु' इति। भगवताऽभिहिततया सौत्रान्तिकसंज्ञा संजातेति॥

तो, इन दोनों का (दुःख के दोनों कारणों का, अथवा दुःख और दुःख कारण का) निरोध होता है। उसके बाद विमलज्ञान का उदय होने से मुक्ति होती है। दुःख को रोकने का उपाय ही मार्ग है। वह (मार्ग) है तत्त्वों को जानना। वह तत्त्वज्ञान प्राचीन भावनाओं के ही कारण होता है—यही सबसे बड़ा रहस्य है। सूत्र के अंतिम सिद्धान्त पूछने वालों को [बुद्ध ने] कहा—'...

और आप लोग सूत्र के अंत (गूढ़ रहस्य) को पूछते हैं, इसलिए सौत्रान्तिक हों।' भगवान् (बुद्ध) के कहने से इनका नाम सौत्रान्तिक पड़ गया।[1]

विशेष—दुःखनिरोध के आठ क्रमिक मार्ग बुद्ध ने बतलाये हैं। वे हैं—सम्यक् दृष्टि (ज्ञान), सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, कर्मान्त (पंचशील, दशशील), सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, तथा सम्यक् समाधि। इन्हें अष्टांग मार्ग कहते हैं। सम्यक् का अर्थ है मध्यम-मार्ग, दोनों अतियों (Extremes) का परित्याग। न अधिक भोग न अधिक तपस्या। इसके काव्यमय वर्णन के लिए बुद्ध की निर्वाण प्राप्ति पर हिन्दी में लिखे गये मेरे निरंजना-खंडकाव्य को देखें।

सौत्रान्तिक नाम पड़ने का कारण है, सूत्रान्तों को मानना। ये अभिधम्म-पिटक को नहीं मानते क्योंकि बुद्धवचन न होने से भ्रान्त है। बुद्ध के आध्यात्मिक उपदेश सुत्त-पिटक में ही संनिविष्ट हैं। इसलिए ये उसे ही प्रामाणिक मानते हैं। यशोमित्र अपनी स्फुटार्था में कहते हैं—'कः सौत्रान्तिकार्थः ? ये सूत्रप्रामाणिका, न तु शास्त्रप्रामाणिकास्ते सौत्रान्तिकाः।' शास्त्र = अभिधर्म। इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य ये हैं—**कुमारलात** (२०० ई०, तक्षशिलावासी ग्रन्थ-कल्पनामंडतिका **श्रीलाभ** (कुमार के शिष्य, सौत्रान्तिक विभाषा की रचना), **धर्मत्रात** और **बुद्धदेव** (वसुबन्ध द्वारा उल्लिखित), **यशोमित्र** (अभिधर्मकोष की टीका स्फुटार्था)।

(३०. वैभाषिक-मत—बाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववाद)

केचन बौद्धाः—बाह्येषु गन्धादिष्वान्तरेषु रूपादिस्कन्धेषु सत्स्वपि, तत्रानास्थामुत्पादयितुं सर्वं शून्यमिति प्राथमिकान्विनेयान् अचकथद्भगवान्, द्वितीयाँस्तु विज्ञानमात्रग्रहाविष्टान्विज्ञानमेवैकं सदिति, तृतीयानुभयं सत्यमित्यास्थितान्विज्ञेयमनुमेयमिति, सेयं विरुद्धा भाषेति वर्णयन्तः—वैभाषिकाख्यया ख्याताः।

कुछ बौद्ध वैभाषिक के नाम से प्रसिद्ध हैं क्योंकि ये इन (तीनों सम्प्रदायों) की बात को विरुद्ध भाषा (विभाषा) कहकर मानते हैं—यद्यपि गन्धादि बाह्य पदार्थों और रूपादि स्कन्ध के आन्तरिक पदार्थों की सत्ता है फिर भी भगवान् बुद्ध ने (१) पहले शिष्यों में अविश्वास उत्पन्न करने के लिये 'सब कुछ शून्य है' ऐसा

१—सूत्रान्तं पृच्छति इति सौत्रान्तिकः। 'पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः' इति ठक्।

कहा। (२) दूसरे शिष्यों को जो विज्ञान रूपी ग्रहों से ग्रस्त थे, यह कहा कि विज्ञान ही एकमात्र सत् है। (३) तीसरे शिष्यों को जो दोनों (बाह्य आन्तर) की सत्ता में आस्था रखे हुए थे, यह कहा कि विज्ञेय (बाह्य) पदार्थ अनुमान का विषय है।

विशेष—वैभाषिकों का पुराना नाम सर्वास्तिवादी है क्योंकि ये सबों की सत्ता स्वीकार करते हैं। बाद में जब कनिष्क के समय बौद्धों की चतुर्थ संगीति हुई तो उसमें इस सम्प्रदाय के मूलग्रन्थ आर्य कात्यायनीपुत्र के द्वारा रचित 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' पर एक विराट् टीका बनी जो 'विभाषा' कहलाई। इसी ग्रन्थ को सबसे अधिक मान्य मानने के कारण सम्प्रदाय का नाम वैभाषिक पड़ गया। यशोमित्र ने स्फुटार्था में लिखा है—विभाषया दिव्यन्ति चरन्ति वा वैभाषिकाः। विभाषां वा वदन्ति वैभाषिकाः। उस्थादिप्रक्षेपात् ठक् (पृ० १२)।

अशोक के समय जब द्वितीय संगीति हुई थी उसी समय सर्वास्तिवाद अपने प्रिय सिद्धान्तों की रक्षा के लिए स्थविरवाद (थेरवाद) से पृथक् हो गया था। कनिष्क के समय तक सर्वास्तिवादी फिर विभक्त हो गये—एक गन्धार के सर्वास्तिवादी, दूसरे कश्मीर के। लेकिन चतुर्थ संगीति में ये एक कर दिये गये जिसका नाम 'काश्मीर वैभाषिक' पड़ा। सर्वास्तिवादियों का मूल साहित्य संस्कृत में था परन्तु आज वे ग्रन्थ लुप्त हैं, केवल चीनी और तिब्बती अनुवादों पर ही सन्तोष करना पड़ता है। डा० तकाकुसु ने इनका विस्तृत परिचय दिया है।

सर्वास्तिवाद और स्थविरवाद में सूत्र (सुत्तपिटक) और विनय (विनयपिटक) में विशेष अन्तर नहीं। उनका अन्तर अभिधर्म को लेकर है। सूत्र में वैभाषिकों के ग्रन्थ हैं—दीर्घागम (तुल० स्थविरवादी–दीर्घनिकाय), मध्यमागम (मज्झिमनिकाय), संयुक्तागम (संजुत्त निकाय), अङ्गोत्तरागम (अंगुत्तरनिकाय) और क्षुद्रकागम (खुद्दकनिकाय)। इस प्रकार नाम-क्रम में तो समता है ही विषयवस्तु भी दोनों के समान ही हैं। इनके विनय पाँच हैं जो स्थविरवादियों के विनयपिटक से तुलनीय हैं—

सर्वास्तिवादी (तिब्बती)	स्थविरवादी (पालि)	
१. विनय-वस्तु	महावग्ग	(विनयपिटक)
२. प्रातिमोक्षसूत्र	पातिमोक्ख	,,
३. विनय विभाग	सुत्त विभङ्ग	,,
४. विनय क्षुद्रक वस्तु	चुल्लवग्ग	,,
५. विनय उत्तर ग्रन्थ	परिवार	,,

इन ग्रन्थों का मूल संस्कृत से तिब्बती अनुवाद कई शताब्दियों में हुआ है। यही दशा अन्य ग्रन्थों के तिब्बती और चीनी अनुवादों की है।

इनका अभिधर्म चीन में आज भी अपना मस्तक उठाये हुए है। ये ग्रन्थ सात हैं—(१) आर्य कात्यायनीपुत्र रचित ज्ञान-प्रस्थान (१८३ ई० पू०), (२) महाकौष्ठल (यशोमित्र के अनुसार) या शारिपुत्र (चीनी अनुवादों के अनुसार) रचित संगीति पर्याय, (३) वसुमित्र का प्रकरणवाद (१८३ ई० पू०), (४) देवशर्मा का विज्ञानकाय, (५) पूर्ण या वसुमित्र लिखित धातु-काय, (६) शारिपुत्र या मौद्गल्यायन रचित धर्मस्कन्ध तथा (७) मौद्गल्यायन रचित प्रज्ञप्तिशास्त्र। ऊपर कहा जा चुका है कि ज्ञानप्रस्थान पर चतुर्थ संगीति में विभाषा टीका लिखी गई। इसमें वसुमित्र और अश्वघोष का बड़ा हाथ था। इसकी भी तीन टीकायें हुई जिनमें '**महाविभाषा**' सबसे बड़ी है। हुएनसांग ने इसका अनुवाद चार वर्षों में (६५६–५९ ई०) पूरा किया। अनुवाद चार हजार पृष्ठों में है।

इस सम्प्रदाय के अन्य आचार्य हैं—**वसुबन्धु** (४थी शताब्दी), कृतियाँ—परमार्थसप्तति, तर्कशास्त्र, वादविधि और **अभिधर्मकोश**, अभिधर्मकोश की टीका-सम्पत्ति विपुल है, वसुबन्धु के कार्य सौत्रान्तिक-सम्प्रदाय में भी हुए हैं), **संघभद्र** (विशुद्ध वैभाषिक, वसुबन्धु के विरोधी, कृतियाँ—अभिधर्म न्यायानुसार या कोशकरका, अभिधर्मसमयदीपिका, हुएनसांग द्वारा दोनों का अनुवाद, पृ० १७५१ और ७४९)। इसके अलावे अन्य आचार्य भी हैं जिनके चीनी अनुवादों में नाम बचे हैं।

एषा हि तेषां परिभाषा समुन्मिषति। विज्ञेयानुमेयत्ववादे प्रात्यक्षिकस्य कस्यचिदप्यर्थस्याभावेन, व्याप्तिसंवेदनस्थानाभावेन अनुमानप्रवृत्त्यनुपपत्तिः, सकललोकानुभवविरोधश्च।

ततश्चार्थो द्विविधः—ग्राह्योऽध्यवसेयश्च। तत्र ग्रहणं निर्विकल्पकरूपं प्रमाणम्। कल्पनापोढत्वात्। अध्यवसायः सविकल्पकरूपोऽप्रमाणम्। कल्पनाज्ञानत्वात्।

उनकी पारिभाषिक शब्दावली इस प्रकार निकलती है—'विज्ञेय (बाह्य पदार्थों) को अनुमान का विषय जो लोग मानते हैं (= सौत्रान्तिक) वे प्रत्यक्षतः किसी भी अर्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। फल यह होता है कि व्याप्ति के ज्ञान के स्थान की भी सत्ता नहीं रहेगी, फिर [व्याप्तिज्ञान के अभाव में] अनुमान की ही प्रवृत्ति नहीं होगी। (आशय यह है—'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है' इस व्याप्ति का ज्ञान कैसे होता है ? हम रसोईघर का उदाहरण देंगे, जहाँ धूम और अग्नि की व्याप्ति प्रत्यक्षज्ञान से प्राप्त होती है। इसलिये रसोईघर को

व्याप्ति के संवेदन का स्थान कहेंगे । जब सौत्रान्तिक लोग किसी भी पदार्थ का प्रत्यक्षज्ञान नहीं मानते तो रसोईघर भी नहीं बच सकेगा । इसलिए उनके यहाँ प्रत्यक्ष के अभाव में व्याप्तिज्ञान का कोई उपाय नहीं । जिस अनुमान से वे विषयों का ज्ञान करते हैं, क्या व्याप्तिज्ञान के अभाव में वह ठहर सकेगा ? इसलिए बाह्यार्थ को प्रत्यक्षगम्य मानना परम आवश्यक है ।) दूसरे, समूचे संसार के अनुभव के भी [वह सिद्धान्त] विरोध में है (सभी लोग वस्तुओं को देखकर जानते हैं न कि अनुमान करके) ।

इसके बाद अर्थ दो प्रकार के होते हैं—ग्राह्य (Sensible) तथा अध्यवसेय (ज्ञेय Knowable) । [इन्द्रियों के साथ वस्तुओं का संयोग होते ही जब निर्विकल्पक (Non-discriminative) ज्ञान होता है कि यह कोई चीज है, तो इस ज्ञान का विषय देवदत्तादि पदार्थ ग्राह्य कहलाते हैं । ग्राह्य = निर्विकल्पक ज्ञान जिसका हो वैसी वस्तु । बाद में जब जाति, गुण आदि विशेषों का प्रत्यक्षीकरण होता है तब 'यह ब्राह्मण है, श्याम है' इत्यादि सविकल्पक ज्ञान के विषय को अध्यवसेय कहते हैं । अध्यवसेय = सविकल्पक ज्ञान का विषय ।][1]

तब उनमें निर्विकल्पक के रूप में जो ग्रहण (ग्राह्य का ज्ञान=निर्विकल्पक ज्ञान) होता है वही प्रमाण है क्योंकि उसमें कल्पना बिल्कुल नहीं रहती (अपोढ=रहित) । सविकल्पक के रूप में जो अध्यवसाय होता है वह अप्रमाण है क्योंकि उसमें [वस्तु का ज्ञान नहीं,] कल्पना का ज्ञान होता है । [हम जानते हैं कि ज्ञान के विशेष हैं—जाति (Class), गुण(Quality), क्रिया (Action) और द्रव्य (Name) । वस्तुतः सीपी रहनेपर भी 'यह चाँदी है' इस प्रकार का ज्ञान चूँकि कल्पित-रजतत्व से युक्त है अतः प्रमाण नहीं है । उसी प्रकार ज्ञान के ये चारों विशेष कल्पित अर्थात् कल्पनाप्रसूत हैं इसलिए प्रमाण नहीं होते । बौद्ध लोग मानते हैं कि कल्पना से ही कोई वस्तु असत्य सिद्ध होती है । जाति तो वस्तुनिष्ठ है नहीं, उसे तो अपोह से जानतेहैं जैसे—घट जाति=घट भिन्न-भिन्न या घटेतर भिन्न । यह भी काल्पनिक ही है । संज्ञायें जो वस्तुओं को दी जाती हैं

---

१ निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान का बड़ा सुन्दर निदर्शन शिशुपाल-वध की इन पंक्तियों (१।२–३) में हुआ है जहाँ नारद को आकाश से उतरते देखकर जनता में प्रतिक्रियायें होती हैं—

निर्विकल्पक—गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः ।
पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः ॥ २ ॥
सविकल्पक—चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम् ।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः ॥३॥

पुरुष ही देते हैं अतः वे भी कल्पना पर ही आधारित हैं। गुण और क्रिया को अपने आश्रय से बराबर संबंध है ही नहीं—ये भी वस्तुनिष्ठ न होकर कल्पित हैं। सविकल्पक ज्ञान में मानसिक-दशा का प्रक्षेप वस्तु पर होता है अतः अध्यवसेय ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता। जर्मन-दार्शनिक काँट (Kant) ने भी दृश्यजगत् (Phenomenon) और सत्य-जगत् (Noumena) का अन्तर दिखलाते हुए कहा था कि मूल सत्य को हम नहीं जान सकते क्योंकि जब ज्ञान करने जाते हैं तब वस्तु पर बुद्धि का आरोपण हो जाता है (Mind colours everything and as such we cannot know the noumena or Reality. What we are capable to know is only Appearance as interpreted in terms of the mental colouring of the real nature of things—of the so-called things-in-themselves.) इस प्रकार प्रत्यक्ष भी कभी कभी अप्रमाण माना जाता है।

(३१. निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है)

तदुक्तम्—

२४. कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्।
विकल्पो वस्तुनिर्भासादसंवादादुपप्लवः॥ इति
२५. ग्राह्यं वस्तु प्रमाणं हि ग्रहणं यदितोऽन्यथा।
न तद्वस्तु न तन्मानं शब्दलिङ्गेन्द्रियादिजम्॥ इति च।

जैसा कि कहा गया है—'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वह है जो कल्पना से रहित है तथा भ्रान्त (मिथ्या ज्ञान) भी नहीं है (भ्रान्त नहीं होने से यह सत्य ज्ञान है और प्रमाण है)। विकल्प-प्रत्यक्ष (= सविकल्पक प्रत्यक्ष) में वस्तुओं की प्रतीति (निर्भास, appearance) होती है, एकमति से ज्ञान न होने के कारण यह भ्रम (उपप्लव) है (सविकल्पक ज्ञान भिन्न-भिन्न पुरुषों का विभिन्न प्रकार से होता है, सभी लोग एक ही दृष्टि से वस्तुओं को नहीं जानते इसलिए सबों की एकमति नहीं। लेकिन प्रमाण वही है जो एकात्मक-ज्ञान हो)।

और भी—'ग्राह्य (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय) वस्तु ही [सत्य है] क्योंकि प्रमाण केवल ग्रहण (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान) ही है। इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह वस्तु नहीं है, शब्द, लिंग और इन्द्रियादि से उत्पन्न होने के कारण वह प्रमाण भी नहीं।'

विशेष—ज्ञान की उत्पत्ति के साधन ये हैं—शब्द (शब्द-प्रमाण),

लिंग (अनुमान प्रमाण), इन्द्रिय (सविकल्पक प्रत्यक्ष मात्र)। आदि = उपमानादि। ये सभी ज्ञान काल्पनिक हैं, वस्तुनिष्ठ नहीं। **शब्द**—यदि कोई कहे कि कलकत्ते में कल रात खूब पानी बरसा, तो श्रोता अपने पहले देखे हुए नगर के समान कलकत्ते की कल्पना करता है, फिर बीती हुई रात की कल्पना करता है, फिर कभी देखी हुई वर्षा की कल्पना करता है—इस प्रकार क्रम से ज्ञान करता हुआ शब्द ज्ञान से परिस्थिति को कल्पना का विषय बनाता है इसलिए यह प्रमाण नहीं। **लिंग**—जो अज्ञात वस्तु का ज्ञान करावे (लीनमर्थं गमयति) वही लिंग है जैसे-धूमादि। पहाड़ पर धूम देखकर रसोई घर-आदि जगहों में पहले देखे गये अग्नि के सदृश अग्नि की कल्पना अनुमाता करता है। यहाँ भी पहले की तरह कल्पना है अतः लिंग से उत्पन्न ज्ञान (अनुमान) भी प्रमाण नहीं। **इन्द्रिय**—इससे उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का है—निर्विकल्पक जो प्रमाण है तथा सविकल्पक जो प्रमाण नहीं। उपमानादि में भी गो के सदृश गवय कहने पर पूर्वदृष्ट गो की कल्पना की जाती है अतः वह भी प्रमाण नहीं है। इस प्रकार वस्तुओं का ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा ही संभव है।

ननु सविकल्पकस्याप्रामाण्ये कथं ततः प्रवृत्तस्यार्थप्राप्तिः संवादश्चोपपद्येयातामिति चेत्—न तद् भद्रम्। मणिप्रभाविषय-मणिविकल्पन्यायेन पारंपर्येणार्थप्रतिलम्भसंभवेन तदुपपत्तेः। अवशिष्टं सौत्रान्तिकप्रस्तावे प्रपञ्चितमिति नेह प्रतन्यते।

यदि कोई यह शंका करे कि जब आप सविकल्पक को अप्रमाण मानते हैं तब इसी ज्ञान को पाकर, जो व्यक्ति प्रस्तुत होकर, वस्तु की प्राप्ति करता है, जिससे सभी सहमत हैं (कोई विवाद नहीं)—इसकी सिद्धि कैसे होगी ? (माना कि सीपी को चाँदी समझ 'इदं रजतम्' कहना भ्रान्त है क्योंकि वहाँ अर्थ या वस्तु की प्राप्ति नहीं होती लेकिन सत्य रजत की स्थिति में तो अर्थ प्राप्ति होती है। इसे आप कैसे अप्रमाण कह सकते हैं ? इसमें किसी का विवाद भी नहीं कि यह चाँदी नहीं है। सच्ची चीज को कौन नहीं मानेगा ? इसलिये आपको सविकल्पक की प्रामाणिकता स्वीकार करनी पड़ेगी)।

उत्तर है कि शंका ठीक नहीं। मणि की प्रभा रूपी विषय से जिस प्रकार मणि की कल्पना की जाती है उसी तरह परंपरा (क्रम) से इस प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान संभव है, यह सिद्ध होता है। (मणि की प्रभा को देख कर कोई भ्रम से 'यह मणि है' यह सोचकर जाय तो उसे प्रभा के द्वारा ही मणि की प्राप्ति होती है। वैसे ही सत्यरजत के स्थान पर 'यह रजत है' इस

प्रकार सविकल्पक भ्रम ज्ञान से कोई जाय तो उसे उसी रजत की प्राप्ति होती है। अभिप्राय है कि भ्रम ज्ञान से ही क्रमशः सत्यज्ञान होता है।[१]) शेष बातें सौत्रान्तिकों की प्रस्तावना करते समय ही कह दी गई हैं, यहाँ पर नहीं बढ़ाई जा रही हैं।

(३२. तत्त्व की अभिन्नता—मार्गों में भेद)

न च विनेयाशयानुरोधेनोपदेशभेदः सांप्रदायिको न भवतीति भणितव्यम्। यतो भणितं बोधिचित्तविवरणे–

२६. देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः।
भिद्यन्ते बहुधा लोक उपायैर्बहुभिः पुनः॥
२७. गम्भीरोत्तानभेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा।
भिन्ना हि देशनाभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा॥ इति।

और ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि शिष्यों (विनेय) के अभिप्रायों के कारण उपदेशों में भेद होना साम्प्रदायिक नहीं है। (शिष्यों की विभिन्न बुद्धि के कारण गुरु का उपदेश एक होने पर भी सम्प्रदाय—different schools—के चलते उपदेशों में भेद होता है। बुद्ध का उपदेश एकात्मक ही था।) ऐसा बोधिचित्त के विवरण (टिप्पणी के रूप में छोटी टीका) में कहा गया है—'सन्मार्ग-प्रदर्शकों (लोक के स्वामियों, आचार्यों) के उपदेश, समझने वाले लोगों के अभिप्रायों के चपेटे में पड़कर, संसार में विभिन्न मार्गों (उपायों) के कारण, प्रायः भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। उनके उपदेश कहीं गम्भीर हैं, कहीं स्पष्ट (उत्तान) कहीं पर दोनों प्रकार के लक्षणों (गम्भीरता और स्पष्टता) से युक्त हैं—इसलिए भेद के कारण उपदेश भिन्न लगते हैं, किन्तु तत्त्व एक मात्र शून्य है जो अद्वय (non-dual) और अभिन्न हैं। (उपदेश के भेद से तत्त्व में भेद नहीं पड़ता, भेद होता है तो मार्ग या सम्प्रदाय में। शून्यतत्त्व का वर्णन सभी करते हैं परन्तु अपनी बुद्धि के अनुसार ही। हीनबुद्धिवाले शिष्य एक शब्द में शून्यता को समझ न सके तो सर्वास्तित्ववाद के माध्यम से समझे। मध्यम-बुद्धिवाले ज्ञान मात्र का अस्तित्व मान कर समझ सके, तो प्रकृष्टबुद्धिवाले शिष्य साक्षात् रूप से शून्यता को समझ गये।)

१—तुलना करें—वाक्यपदीय—उपायाः शिक्ष्यमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥

(३३. द्वादश आयतनों की पूजा)

द्वादशायतनपूजा श्रेयस्करीति बौद्धनये प्रसिद्धम्—

२८. अर्थानुपार्ज्य बहुशो द्वादशायतनानि वै।
परितः पूजनीयानि किमन्यैरिह पूजितैः॥

२९. ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाणि च।
मनोबुद्धिरिति प्रोक्तं द्वादशायतनं बुधैः॥ इति।

बौद्धों के सिद्धान्त में प्रसिद्ध है कि बारह आयतनों (अन्तःस्थानों) की पूजा मोक्ष देने वाली है—'बहुत सा धन उपार्जित करके द्वादश आयतनों की पूजा करनी चाहिए। यहाँ दूसरी पूजाओं से क्या लाभ है ? विद्वानों ने कहा है कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (चर्म, नेत्र, कर्ण, रसना और नासिका), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पैर, मुँह, जननेन्द्रिय तथा गुदा), मन और बुद्धि—ये ही द्वादश आयतन हैं।' (=इनसे सम्यक् कर्म करना चाहिए।)

(३४. बौद्ध-मत का संग्रह)

विवेकविलासे बौद्धमतमित्थमभ्यधायि—

३०. बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभङ्गुरम्।
आर्यसत्याख्यया तत्त्वचतुष्टयमिदं क्रमात्॥

३१. दुःखमायतनं चैव ततः समुदयो मतः।
मार्गश्चेत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामतः॥

विवेक-विलास में बौद्ध-मत का इस प्रकार वर्णन किया गया है—'बौद्धों के देवता सुगत (बुद्ध) हैं, संसार क्षण में नष्ट हो जाता है। आर्यसत्य नाम के चार तत्त्वों को क्रमशः [जानना चाहिए]। दुःख, दुःख का स्थान, तब समुदय तथा मार्ग (ये सुप्रसिद्ध आर्यसत्य नहीं हैं क्योंकि वे हैं—दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग)—अब इनकी व्याख्या क्रमशः सुनें।

३२. दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च॥

३३. पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम्।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतानि तु॥

३४. रागादीनां गणो यस्मात्समुदेति नृणां हृदि ।
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः स स्यात्समुदयः पुनः ॥

दुःख का अर्थ है संसार में रहने वाले प्राणी के स्कन्ध, जो पाँच कहे गये हैं—विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप ।

द्वादश **आयतन** ये हैं—पाँच इन्द्रियाँ (ज्ञान की), शब्दादि पाँच विषय (दूसरे मत में पाँच कर्म की इन्द्रियाँ), मन तथा धर्म का आयतन (=निवास स्थान अर्थात् बुद्धि) ।

जिससे रागादि का समूह मनुष्यों के हृदय में उत्पन्न होता है, आत्मा के अपने स्वभाव के नाम से जो विद्यमान है—वही **समुदय** है ।

३५. क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति या वासना स्थिरा ।
स मार्ग इति विज्ञेयः स च मोक्षोऽभिधीयते ॥
३६. प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणद्वितयं तथा ।
चतुष्प्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः ॥

'सभी संस्कार क्षणिक हैं' यह जो स्थिर वासना (विचार) है, इसे ही मार्ग जानें । इसे मोक्ष भी कहते हैं ।

प्रत्यक्ष और अनुमान—ये केवल दो **प्रमाण** हैं । वैभाषिक-आदि बौद्धों के **चार प्रस्थान** (schools) प्रसिद्ध हैं ।

३७. अर्थो ज्ञानाचितो वैभाषिकेण बहु मन्यते ।
सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः ॥
३८. आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य संमता ।
केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः ॥[1]

वैभाषिक लोग अर्थ को ज्ञान से युक्त (प्रत्यक्षगम्य) मानते हैं, **सौत्रान्तिक** बाह्य अर्थ को प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहणीय नहीं लेते (अनुमेय मानते हैं) । **योगाचार** के मत से बुद्धि ही आकार के साथ है (बुद्धि में ही बाह्यार्थ

१—अन्यत्राप्युक्तम्—मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्,
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः ।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः,
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते ॥

चले आते हैं—भेद-भाव नहीं)। माध्यमिक केवल ज्ञान को ही अपने में स्थित मानते हैं।

३९. रागादिज्ञानसंतानवासनोच्छेदसंभवा ।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता ॥
४०. कृत्तिः कमण्डलुर्मौण्ड्यं चीरं पूर्वाह्णभोजनम् ।
सङ्घो रक्ताम्बरत्वं च शिश्रिये बौद्धभिक्षुभिः ॥
(वि० वि० ८।२६५-७५) इति ।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे बौद्धदर्शनम् ॥



रागादि-ज्ञान की परम्परा रूपी वासना के नष्ट हो जाने से उत्पन्न मुक्ति चारों प्रकार के बौद्धों के लिए कही गई है। चर्म, कमण्डलु, मुण्डन, चीर (वस्त्र), पूर्वाह्ण में [एक बार] भोजन, संघ में रहना और लाल (कषाय) वस्त्र धारण करना—बौद्ध भिक्षु इन्हें ही स्वीकार करते हैं।' (विवेक-विलास, ८।२६५-७५)।

इसप्रकार श्रीमान् सायण माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में बौद्धदर्शन [समाप्त हुआ]।

॥ इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां बौद्धदर्शनमवसितम् ॥



(३) आर्हत-दर्शनम्

जीवादितत्त्वनिचयं समुपादिशद्यो
ज्ञानप्रपञ्चमखिलं सरलं तथैव ।
संदिश्य दर्शनमथापि चरित्रमेवं
जैनो भवेत्पथिनिदर्शक एव वीरः ॥—ऋषिः

(१. क्षणिक-भावना का खण्डन)

तदित्थं मुक्तकच्छानां मतमसहमाना विवसनाः कथंचित्स्थायित्वमास्थाय क्षणिकत्वपक्षं प्रतिक्षिपन्ति । यद्यात्मा कश्चिन्नास्थीयेत स्थायी, तदैहलौकिकपारलौकिकफलसाधनसंपादनं विफलं भवेत् ।

काँछ (पिछुआ, धोती के अगले भाग की छोर, कच्छ) को खुला रखने वाले (= बौद्ध) लोगों के इस क्षणिकत्व-मत को वस्त्र-हीन (जैन) लोग सहन नहीं कर पाते तथा किसी प्रकार [सत्ता का] स्थायित्व स्वीकार करके क्षणिकत्व-मत का खण्डन करते हैं। यदि कोई स्थायी आत्मा नहीं मानी जाय तो इहलोक (संसार) और परलोक—दोनों की फलप्राप्ति के साधनों (व्रत, उपवास, दान, पुण्य आदि) का संपादन व्यर्थ हो जायगा।

विशेष—माधवाचार्य बौद्धों और जैनों के साथ व्यंग्य करते हैं। बौद्ध लोग काँछ नहीं बाँधते तो जैन लोग उनके भी चाचा हैं कि वस्त्र ही नहीं पहनते। स्पष्टतः यह संकेत दिगम्बर जैनियों पर है। आश्चर्य है कि काँछ न बाँधनेवाले के मत को वस्त्रहीन लोग दोषपूर्ण मानें, पर यही तो संसार का नियम है। जैनियों की आपत्ति है कि यदि सभी पदार्थ क्षण-क्षण बदलते जा रहे हैं तब सभी कर्म बदल जायँगे। काम करने वाले फल पाने के समय नहीं रहेंगे। काम करे दूसरा, फल मिले दूसरे को। कोई काम करने की जरूरत ही फिर क्या है ? इसे ही बाद में स्पष्ट करेंगे।

न ह्येतत्संभवत्यन्यः करोत्यन्यो भुङ्क्ते इति । तस्माद्योऽहं प्राक् कर्म अकरवं सोऽहं संप्रति तत्फलं भुञ्जे इति पूर्वापरकालानुयायिनः स्थायिनस्तस्य स्पष्टप्रमाणावसिततया पूर्वापरभागविकलकालकलावस्थितिलक्षणक्षणिकता परीक्षकैरर्हद्भिर्न परिग्रहार्हा ॥

यह कभी संभव नहीं है कि एक व्यक्ति काम करे और दूसरा उसका फल ले ले। इसलिए, 'जिस व्यक्ति ने (मैंने) पहले काम किया था, वही व्यक्ति (मैं) इस समय उसका फल-भोग कर रहा है'—इस प्रकार स्पष्ट (प्रत्यक्ष) प्रमाण से मालूम होता है कि पूर्व (पहले) और अपर (बाद में) काल में होनेवाला कार्य या भाव स्थायी (अ-क्षणिक) है। यही कारण है कि सत्य का अनुसंधान करनेवाले जैन लोग (अर्हंत्) उस क्षणिकता को ग्रहण करने में असमर्थ हैं जिसमें पूर्वापर के क्रम से रहित, काल के एक छोटे अंश (कला) तक ही [किसी पदार्थ की] स्थिति स्वीकार की जाती है। [स्थायी पदार्थ में पूर्व और अपर का क्रम रहता है। दिन स्थायी है, उसका पूर्व-भाग और अपर-भाग हो सकता है, लेकिन एक क्षण का न तो पूर्वभाग होता न अपरभाग। चूँकि उदाहरणों से स्पष्ट किया जाता है कि किसी भी सत्ता के पूर्व और अपर—दो खंड होते हैं इसलिए सत्ता स्थायी ही होगी क्योंकि क्षणिक में पूर्वापर नहीं होता।]

(२. क्षणिक-पक्ष में बौद्धों की युक्ति)

अथ मन्येथाः—

प्रमाणवत्त्वादायातः प्रवाहः केन वार्यते ?

इति न्यायेन 'यत्सत्तत्क्षणिकम्' इत्यादिना प्रमाणेन क्षणिकतायाः प्रमिततया, तदनुसारेण समानसंतानवर्तिनामेव प्राचीनः प्रत्ययः कर्मकर्त्ता, तदुत्तरः प्रत्ययः फलभोक्ता।

आप लोग यह कह सकते हैं—'प्रमाणों से सिद्ध होकर निकला हुआ [क्षणिक-सत्ता का] यह प्रवाह कौन रोक सकता है?' इस नियम से, 'जो कुछ सत् (स्थित existent) है, क्षणिक है' इस प्रकार के प्रमाण से क्षणिकता मालूम होती है। इसके अनुसार, एक ही संतान अर्थात् परम्परा में रहनेवाले [ज्ञानों में] पहले का प्रत्यय (ज्ञान) काम करनेवाला है, उसके बाद का ज्ञान फल भोगनेवाला होगा। [आशय यह है कि आपाततः अनुचित लगने वाली बात भी यदि प्रमाणों से सिद्ध हो जाय तो उसे मान लेना चाहिए। इसलिए 'यत् सत्, तत् क्षणिकम्' इस अनुमान से सिद्ध क्षणिकत्व को हमें मान लेना ही पड़ेगा, भले ही अनुभव ऐसा करने को नहीं कह रहा हो। हर व्यक्ति की अपनी ज्ञान-परम्परा (या प्रत्यय-संतान) होती है। उस परम्परा में पूर्वक्षण और अपरक्षण तो रहेंगे ही! मान लिया कि राम के प्रत्यय-संतान में पूर्वक्षण में वर्तमान किसी आत्मा या प्रत्यय ने काम किया तो फल का भोग भी उसी

संतान में विद्यमान उसके बाद के क्षण की आत्मा करेगी। इसमें कोई असंगति की बात नहीं है।]

न चातिप्रसङ्गः। कार्यकारणभावस्य नियामकत्वात्। यथा मधुररसभावितानामाम्रबीजानां परिकर्षितायां भूमावुप्तानामङ्कुरकाण्डस्कन्धशाखापल्लवादिषु तद्द्वारा परंपरया फले माधुर्यनियमः। यथा वा लाक्षारसावसिक्तानां कार्पासबीजादीनामङ्कुरादिपारंपर्येण कार्पासादौ रक्तिमनियमः।

इसमें अतिप्रसंग (प्रस्तुत विषय के अलावे दूसरे को भी समेट लेना) की शंका नहीं हो सकती, क्योंकि इसके पीछे कार्यकारण का नियम (The Law of Causation) भी नियंत्रण करने के लिए लगा हुआ है। [आशय यह है—समान संतान में पूर्वक्षण और अपरक्षण का कोई नियंत्रण नहीं है। एक के किये हुए कर्म का फल दूसरे संतान में विद्यमान व्यक्ति को भी मिल सकता है। राम के किए हुए काम का फल श्याम को भी मिल सकता है। इसे ही अतिप्रसंग कहते हैं। लेकिन ऐसा होना संभव नहीं है, क्योंकि क्षणों में कार्यकारण का नियम तो रहता है? एक ही संतान में विद्यमान पूर्वक्षण कारण है उत्तर क्षण कार्य। अतः ऐसा कभी नहीं हो सकता है कि असमर्थ कारण किसी कार्य को उत्पन्न करे। एक ही संतान के क्षणों में पूर्वापरता के अनुसार कार्यकारण-भाव हो सकता है; एक संतान का क्षण न तो दूसरे संतान क्षण का कारण हो सकता है और न अपने ही संतान में कई क्षणों के बाद के क्षण का कारण बन सकता है। अतः यह सोचना निरर्थक है कि एक व्यक्ति के किये काम का फल दूसरा व्यक्ति ले लेगा।]

जैसे मधुर-रस में डुबाये गये (संस्कृत किये गये) आम के बीजों को जुती हुई भूमि में डाल देने से क्रमशः उसके द्वारा अंकुर, काण्ड (ग्रंथि-संधियाँ) स्कन्ध (तना), शाखा, पत्ते आदि से होती हुई मधुरता फल में चली आती है। अथवा, लाह के रस से सींचे गये कपास के बीजों से लाली क्रमशः अंकुरादि में होती हुई कपास में चली आती है [उसी प्रकार कर्म का फल भी परम्परा से उसी संतान में स्थित व्यक्ति को मिलता है, दूसरे को नहीं]।

यथोक्तम्—

१. यस्मिन्नेव हि संताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव बध्नाति कार्पासे रक्तता यथा॥

२. कुसुमे बीजपूरादेर्यल्लाक्षाद्यवसिच्यते।
शक्तिराधीयते तत्र काचित्तां किं न पश्यसि ?॥ इति।

जिस संतान या परंपरा में कर्म की वासना (छाप impression) लगा दी जाती है, फल भी उसी परंपरा में मिलता है जैसे कपास में लाली होती है [यदि लाली बीज में दी गई है तो वह उसी के फल—रुई—में पहुँचेगी, आम में या लीची में नहीं]। बीजपूर (बिजौरा) नींबू के फूल में जब लाक्षा (लाह) आदि छिड़की जाती है तब एक विशेष शक्ति (लाली) आ जाती है, उसे क्या तुम नहीं देखते हो [कि ऐसी अनर्गल बातें करते हो] ?

विशेष—यहाँ बौद्धों की युक्ति का पूर्वपक्ष समाप्त हुआ। अब जैन इसका खंडन करेंगे। उपर्युक्त उदाहरण में कपास आदि की विचित्र बातें अभी तक वैज्ञानिक असत्य हैं। संभव है, भविष्य में फलों, फूलों पर प्रयोग ऐसे हों कि उन्हें मनोनुकूल बना लें।

(२. जैनों द्वारा उपर्युक्त-मत का खंडन)

तदपि काशकुशावलम्बनकल्पम्। विकल्पासहत्वात्। जलधरादौ दृष्टान्ते क्षणिकत्वमनेन प्रमाणेन प्रमितं, प्रमाणान्तरेण वा। नाद्यः। भवदभिमतस्य क्षणिकत्वस्य क्वचिदप्यदृष्टचरत्वेन दृष्टान्तासिद्धावस्यानुमानस्यानुत्थानात्। न द्वितीयः। तेनैव न्यायेन सर्वत्रक्षणिकत्वसिद्धौ सत्त्वानुमानवैफल्यापत्तेः। अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वमित्यङ्गीकारे मिथ्यासर्पदंशादेरप्यर्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वापादनाच्च। अत एवोक्तम्—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति।

बौद्धों की यह युक्ति काश (एक उजले फूलवाली घास जो मीठी होती है तथा शरद् में फूलती है) और कुश का सहारा लेना भर है, (इसमें कोई तथ्य नहीं)। [डूबता हुआ व्यक्ति यदि तिनका पकड़ ले तो बचाव नहीं हो सकता, उसी प्रकार दोष-नदी में ये बौद्ध डूब रहे हैं, उपर्युक्त युक्ति एक तिनके के समान है, इससे रक्षा क्या होगी ? हाँ, थोड़ी देर के लिए मानसिक शान्ति मिल पाती है कि मैंने उत्तर दे दिया। अभिप्राय है कि क्षणिकवाद चल नहीं सकता। इसमें कारण है।]

[उपर्युक्त युक्ति में दो विकल्प हो सकते हैं और] दोनों का खण्डन हो जाता है। वे दोनों हैं—जलधर इत्यादि का दृष्टान्त जो ऊपर दिया गया है (यत् सत्

तत् क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा अमी) उसमें क्षणिकत्व की सिद्धि इसी प्रमाण (=अनुमान) से होती है या किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है ? (दूसरा प्रमाण = प्रत्यक्ष, शब्द आदि) ।

पहला विकल्प ठीक नहीं, क्योंकि आपके मत के अनुसार जो क्षणिकत्व है वह कहीं भी दिखलाई नहीं पड़ता, इसलिए दृष्टान्त ही ठीक नहीं (जलधर को सभी व्यक्ति स्थायी रूप से देखते हैं, न कि क्षण-क्षण में परिवर्तित), तो उपर्युक्त अनुमान नहीं किया जा सकता है। [आशय यह है—यों तो सभी लोग संसार को क्षणभंगुर मानते हैं किन्तु बौद्धों का क्षण कुछ दूसरा ही है। सामान्य दृष्टि से क्षण का अर्थ है थोड़ी देर, इसलिए क्षण-भंगुर = थोड़ी देर तक ठहरने वाला। न्यायशास्त्र में क्षण का अर्थ है तीन क्षण तक ठहरना क्योंकि पहले क्षण में उत्पत्ति, दूसरे में स्थिति और तीसरे में विनाश। लेकिन सभी वस्तुएँ वहाँ भी क्षणिक नहीं हैं। बौद्धों का क्षण तो एक क्षण का ही है। लेकिन ऐसी कोई चीज नहीं है जो एक क्षण भर ठहरे। क्षण = ऐसा कालांश जिससे सूक्ष्मतर और कोई काल न हो, सूक्ष्मतम कालांश। निमेष तक तो हम अनुभव कर सकते हैं किन्तु क्षण का नहीं। निमेष को ही लीजिए—इसमें चार क्षण हैं, पलक चलाना, इसके पूर्वस्थान का विभाजन, पूर्वसंयोगनाश, उत्तरसंयोग की उत्पत्ति। क्षण का अनुभव नहीं कर पाने से ही हम चारों को एक साथ समझ लेते हैं। क्षण के रूप में काल का विभाजन करना कठिन है। जलधर यद्यपि क्षण-क्षण बदलता है पर यहाँ क्षण का अर्थ है निमेष (पलक गिरने का समय), न कि बौद्धों का क्षण। क्षण निमेष से भी छोटा है अतः कोई उसे आँक नहीं सकता। जब दृष्टान्त ही ठीक नहीं तो अनुभव कैसे होगा ? इसलिए अनुमान से उक्त अनुमान सिद्ध नहीं हो सकता]।

दूसरा विकल्प (दूसरे प्रमाण से इसे सिद्ध करना) भी ठीक नहीं ही है क्योंकि उसी प्रकार से क्षणिकत्व की सिद्धि सर्वत्र हो जायगी तो फिर सत्ता को [क्षणिक मानने के लिए] कोई भी अनुमान करना व्यर्थ हो जायगा। [यदि प्रत्यक्ष से ही यह सिद्ध है कि सत्ता क्षणिक है तो घट, पट इत्यादि को क्षणिक सिद्ध करने के लिए अनुमान की क्या आवश्यकता है ? यदि बुद्ध के उपदेश या शब्द-प्रमाण से ही यह सिद्ध है तो भी घट, पट आदि सिद्ध हो जायँगे। फिर क्षणिकत्व की सत्ता सिद्ध करने के लिए अनुमान क्यों ?]

फिर भी यदि आप कहें कि कुछ कार्य उत्पन्न करने वाले (अर्थक्रियाकारी) को सत् कहते हैं तो झूठ-मूठ के साँप काटने को भी सत् मानना पड़ेगा क्योंकि इससे भी तो कुछ कार्य (जैसे भय, शंकाजनित मृत्यु आदि) उत्पन्न होते हैं।

अतः यह कहा गया है कि सत्ता वह है जिसमें उत्पत्ति, विनाश (व्यय) और स्थिति (ध्रौव्य) हो। [यह जैनों का मत है]।

विशेष—ऊपर के पहले विवेचन में आम के बीज, कपास आदि दृष्टान्त देकर सत्ता को क्षणिक और संतानयुक्त सिद्ध करने की चेष्टा की गई थी। वहाँ बीजादि कारण हैं और फल-फूल कार्य, जिनमें परंपरा से मधुरता या लाली का संक्रमण एक दूसरे तक होता है। लेकिन वास्तव में यह बात नहीं है। मधुरता या लाली नहीं चली जाती है। जाते हैं तो मधुर या लाल बीज के अंश। उन्हीं का संक्रमण होता है। कारण वह है जो कार्य से सीधा लगाव रखे (कार्यान्वयि कारणम्)। जैसा कार्य, वैसा कारण। अंकुरादि कार्यों से संबद्ध बीज का अंश ही कारण स्वरूप है, पूरा बीज कारण नहीं। यह तो लाक्षणिक प्रयोग है कि बीज अंकुर का कारण है। तो जो बीजांश मधुर रस में संस्कृत हैं, लाक्षा-रस से सींचे हुए हैं वे ही कार्य से संबद्ध होने पर मधुर या लाल दिखलाई देंगे। अतः अन्यत्र उत्पन्न संस्कार का फल अन्यत्र होगा—इस विषय में कोई दृष्टान्त नहीं मिलता है।

(४. क्षणिकवाद के खंडन की दूसरी विधि)

अथोच्यते—सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्माध्यासात्तत्सिद्धिरिति, तदसाधु। स्याद्वादिनामनेकान्ततावादस्येष्टतया विरोधासिद्धेः। यदुक्तं कार्पासादिदृष्टान्त इति, तदुक्तिमात्रम्। युक्तेरनुक्तेः। तत्रापि निरन्वयनाशस्यानङ्गीकाराच्च।

इसके उत्तर में बौद्ध लोग यह कह सकते हैं कि क्षणिकवाद की सिद्धि इस तथ्य से हो सकती है कि [ऐसा न मानकर सत्ता को स्थायी मानने से] एक ही पदार्थ में दो विरुद्ध धर्मों—सामर्थ्य और असामर्थ्य—की स्थिति एक साथ होने लगेगी। [उदाहरण के लिए—कोठी में रखा और जमीन में बोया बीज यदि एक ही है तो उसमें अंकुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य है कि नहीं? यदि है तो कोठी का बीज अंकुरोत्पादन कर सकता है। सहकारी भावों को बौद्ध-दर्शन की विवेचना में काटा जा चुका है (दे० पृ० ४३ और आगे)। यदि बीजों में अंकुरोत्पादन की सामर्थ्य नहीं है तो भूमि में बोये बीजों से भी अंकुर नहीं निकलेंगे। ऐसा भी नहीं कह सकते कि सामर्थ्य भी है, असामर्थ्य भी। दोनों परस्पर विरोधी हैं। अतः अन्त में आप क्षणिकवाद को ही स्वीकार करेंगे।]

बौद्धों का यह तर्क भी ठीक नहीं है। स्याद्वाद के सिद्धान्त को धारण करनेवाले (जैन) लोग अनेकान्तता (अनिश्चय) के सिद्धान्त को मानते हैं

इसलिए कोई भी विरोध उनके लिए असिद्ध है। [जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक परामर्श के पहले उसे सीमित और सापेक्ष बनाने के लिए 'स्यात्' = 'शायद'—अव्यय का जोड़ना आवश्यक है। अभी हम घट की सत्ता का अनुभव करते हैं, किन्तु हमारी यह अनुभूति काल और देश पर अवलंबित है, त्रैकालिक सत्य यह सत्ता नहीं है और न ही सार्वदेशिक। यह सापेक्ष सत्ता है, जिसके विषय में निश्चित रूप से हमारा ज्ञान नहीं हो सकता—अधिक-से-अधिक हम 'स्यादस्ति' (शायद या किसी तरह है) कह सकते हैं। इसलिए जैनदर्शन में प्रत्येक परामर्श के पूर्व 'स्यात्' लगाते हैं। इसी सिद्धान्त को **स्याद्वाद** कहते हैं। इसका दूसरा नाम **अनेकान्तवाद** है क्योंकि किसी ज्ञान का निश्चय या एकान्त इसमें नहीं हो सकता। इसके अनुसार दो विरुद्ध पदार्थों—जैसे सामर्थ्य + असामर्थ्य, अस्ति + नास्ति—में कभी भी विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि घट का अस्तित्व और नास्तित्व दोनों ही इसके आधार पर सिद्ध हो सकता है। बौद्धों का यह कहना कि असामर्थ्य और सामर्थ्य एक ही स्थान में नहीं रह सकती, जैन-दर्शन के लिए आसान है, दोनों साथ-साथ भी हो सकती हैं। क्षणिकत्व सिद्ध करने की यह युक्ति भी खंडित हो गई। अब दूसरी युक्ति लें।]

बौद्ध लोग यह जो कहते हैं कि इसकी सिद्धि के लिए कपास इत्यादि दृष्टान्त देते हैं, वह केवल कहने भर को है, कोई युक्ति तो उसमें नहीं देते। [केवल दृष्टान्त देने से अनुमान की सिद्धि नहीं होती। रसोईघर में धूम और अग्नि देखने पर भी शंका हो सकती है कि धूमवान् पदार्थ में अग्नि का होना क्या जरूरी है ? इस अवस्था में हमें दोनों के बीच कार्यकारण-भाव के रूप में युक्ति देनी पड़ेगी। तभी शंका हट सकती है, तभी पर्वत में धूम देखकर अग्नि का अनुमान कर सकते हैं, यों ही नहीं। कपास में भी क्या कोई युक्ति है ? इस दृष्टान्त में भी वे लोग निरन्वय = संबंधहीन नाश ही चाहते हैं,] वहाँ भी नाश को निरन्वय रूप से हम लोग अंगीकार नहीं कर सकते ;

विशेष—बौद्ध किसी वस्तु के नाश को संबंधहीन मानते हैं क्योंकि क्षण में वस्तु नष्ट होती जाती है, किसी से किसी का कोई संबंध नहीं है। लेकिन वस्तुस्थिति इसके विपरीत है, नाश जब होता है तो सान्वय ही। घड़ा नष्ट होने पर टुकड़े रहेंगे, कपड़ा नष्ट होने पर राख बचेगी और यहाँ तक की गर्म लोहे पर पड़ा हुआ जल भी नष्ट होने पर समुद्र में चला जाता है। पदार्थ नित्य है, नष्ट होने पर भी किसी-न-किसी रूप में रहेगा ही।

ठीक इसी प्रकार कपास के बीजावयवों में भी, जो कार्य से संबद्ध होने योग्य हैं, लाह के रस का सेचन होता है। उन्हीं के अवयवों में फल निकलने

तक संबंध होते-होते लाली आ जाती है। परम्परा से तो कुछ होगा ही नहीं। संस्कार (लाक्षारसावसेक) कहीं और जगह हो तथा उसका फल (लाली) कहीं और जगह—यह कैसे हो सकता है ? कारण वाली आत्मा में (एक ही संतान और परम्परा में) कर्म हो और कार्यात्मा में उसके फल का उपभोग—बौद्धों का यह सिद्धान्त सिद्ध नहीं हो सकता।

न च संतानिव्यतिरेकेण संतानः प्रमाणपदवीमुपारोढुमर्हति।

तदुक्तम्—

३. सजातीयाः क्रमोत्पन्नाः प्रत्यासन्नाः परस्परम्।
व्यक्तयस्तासु संतानः स चैक इति गीयते ॥ इति।

न च कार्यकारणभावनियमोऽतिप्रसङ्गं भङ्क्तुमर्हति। तथा ह्युपाध्यायबुद्ध्यनुभूतस्य शिष्यबुद्धिः स्मरेत्तदुपचितकर्मफलमनुभवेद्वा ॥

दूसरे, संतान या परंपरा तबतक प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती जबतक इसे परस्पर मिलाने वाली वस्तु (संतानी = संतानों को संयुक्त करनेवाला) न हो। [बौद्धों का कहना है कि एक ही परंपरा में उत्पन्न पूर्वक्षण की वस्तु कर्मकर्त्ता है और उत्तरक्षण की वस्तु फलभोक्ता, अर्थात् एक ही परंपरा या संतान (series) काम करनेवाली और फल भोगनेवाली, दोनों ही है—लेकिन उन क्षणों में परस्पर संबंध कैसे होता है ? उनका संतानी या संयोजक कहाँ है ? ये कोई फूल की माला तो नहीं कि तागे से परस्पर मिले हों ! इसलिए संतानी के बिना संतान को सिद्ध करना टेढ़ी खीर है।]

ऐसा ही कहा भी है—'व्यक्ति (पृथक्-पृथक् वस्तुएँ particular things) यदि एक ही जाति या प्रकार के हों, क्रमशः (एक के बाद दूसरा) उत्पन्न हुए हों और आपस में यदि मिले हुए हों तो उन वस्तुओं को एक ही संतान (परंपरा series) मानी जाती है।

आप लोग अतिप्रसंग को रोकने के लिए कार्य-कारण-भाव को नियामक के रूप में उपस्थित करते हैं (दे० परि० २) लेकिन इससे अतिप्रसंग रुक नहीं सकता। ऐसा होने पर अध्यापक की बुद्धि में अनुभूत वस्तु का स्मरण शिष्य की बुद्धि के द्वारा हो सकता है अथवा उनके द्वारा उपार्जित कर्मों के फल का अनुभव भी शिष्य की बुद्धि कर लेगी। [आशय यह है कि उपाध्याय की बुद्धि-संतान में बहुत सी क्षणिक बुद्धियाँ हैं। शिष्य को समझाते समय जो उपाध्याय की क्षणिक बुद्धि है उसके साथ दो बुद्धियाँ उत्पन्न होंगी, एक उपाध्याय में, दूसरी

शिष्य में। यह तो मानना होगा कि अपने अनुभूत विषय को अध्यापक इसलिए याद करता है कि वह उसी संतान में है, उसी तरह उसी संतान में होने के कारण उपदेश के पूर्वकाल में जो उपाध्याय की बुद्धि थी, उसका स्मरण शिष्य कर ही लेगा। इस तरह उपदेश के पहले की अध्यापक-बुद्धि दो संतानें उत्पन्न करती है—उपदेश के बाद की उपाध्याय-बुद्धि तथा उपदेश के बाद की शिष्य-बुद्धि। अतः अध्यापक का अनुभव शिष्य स्मरण करेगा। दोनों में कार्य-कारण का संबंध है ही। फिर अतिप्रसंग रुका कहाँ ? एक के किये अनुभव या कार्य का स्मरण अथवा फल तो दूसरे ने ले ही लिया। यही तो अतिप्रसंग है। कार्य-कारण-भाव मानने पर भी अतिप्रसंग का कुछ नहीं बिगड़ेगा। क्षणिकवाद सिद्धान्त ही ऐसा है जिसमें अतिप्रसंग होता ही है।]

तथा च कृतप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गः। तदुक्तं सिद्धसेन-वाक्यकारेण—

४. कृतप्रणाशाकृतकर्मभोग—
भवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात्क्षणभङ्गमिच्छ—
न्नहो महासाहसिकः परोऽसौ॥ (वी०स्तु०१८) इति।

इसी प्रकार किये गये कर्म का नाश तथा नहीं किये गये कर्म की फल-प्राप्ति का प्रसंग हो जायगा। [उपर्युक्त उदाहरण में उपाध्याय के किये गये कर्म का फल उपाध्याय को नहीं मिलता यह कर्म-प्रणाश हुआ। दूसरी ओर, शिष्य को, जिसने कर्म भी नहीं किया केवल उपाध्याय से क्षणिक सम्पर्क मात्र किया, फल भोगना पड़ता है।] इसे सिद्धसेन के [सिद्धान्तों के] वार्तिककार ने यों लिखा है—'(१) किये गये कर्म का नाश, (२) नहीं किये हुए कर्म का फल भोगना, (३) संसार का विनाश, (४) मोक्ष का विनाश तथा (५) स्मरण-शक्ति का भंग हो जाना—इन दोषों की साक्षात् उपेक्षा करके जो क्षणिकवाद को मानने की इच्छा करता है, वह विपक्षी वास्तव में बड़ा साहसी है !' [हेमचन्द्र लिखित **वीतरागस्तुति** नाम के ग्रन्थ में यह श्लोक है। इस ग्रन्थ की टीका का ही नाम **स्याद्वादमंजरी** है।]

विशेष—बौद्धों के क्षणिकवाद का खंडन कुमारिल ने श्लोकवार्तिक (पृ० २१७–२३) में, शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र २।२।१८ के भाष्य में, जयन्तभट्ट ने न्यायमंजरी (भाग २, पृ० १६–३९) में तथा मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी

(पृ० १२२–२६) में किया है। ये सभी उपर्युक्त पाँचों तर्कों का आश्रय लेते हैं (१) **कृतप्रणाश**—वस्तुओं के क्षणिक होने के कारण कोई भी वस्तु बिना फल का उत्पादन किये ही भूतकाल के गर्भ में **विलीन** हो जाती है। जो काम करने वाला व्यक्ति है उसे फल नहीं मिलता क्योंकि फल मिलने के समय तक तो कार्य रहा ही नहीं और न वह व्यक्ति ही रहा जिससे काम किया गया। क्षण-क्षण में चीजें बदलती जा रही हैं। इसे ही 'कृतप्रणाश' या 'किये गये कर्म का नाश' कहते हैं। (२) **अकृतकर्मभोग**—दूसरी ओर, फल का भोग उसे करना पड़ेगा जिसने काम नहीं किया; दूसरे के द्वारा काम किया गया था फिर भी क्षणिकवाद ने उसे फलभोग करने को बाध्य ही कर दिया। देवदत्त कृत कर्म का फल भोगता है यज्ञदत्त ? इस प्रकार दूसरा दोष भी इस वाद में है। (३) **भवभंग**—इसका अर्थ है संसार का विनाश। संसार में प्राणियों का जन्म इसलिए होता है कि वे अपने पूर्वजन्म में किये हुए कर्म का फल भोग लें। इसीसे संसार चलता है। किन्तु जब सत्ता क्षणिक है तब प्राणियों में अपने कर्मफल को भोगने के प्रति उत्तरदायित्व रहेगा ही नहीं, फिर वे क्यों जन्म लेंगे। दूसरे के कर्म का फल तो दूसरा भोग ही लेगा। जो प्राणी गया, सो गया। इस प्रकार संसार की उत्पत्ति असंभव है। (४) **मोक्षभंग**—मोक्ष उसे कहते हैं जिसमें प्राणी कर्मफल के बन्धन से मुक्त होकर फिर जन्म न ले। बौद्ध लोग आत्मा को क्षणिक मानते हैं तो मृत्यु के बाद सुखी होने के लिए प्रयत्नवान् कौन होगा ? आत्मा की कोई संतान या परंपरा भी वास्तव में नहीं चलती। यदि वास्तव में हो भी तो क्षणिकवाद सिद्धान्त को बाधा पहुँचेगी। अष्टांगमार्ग आदि जो मोक्ष के साधन बौद्धों के सम्मत हैं वे कर्मफल के क्षणिक होने के कारण स्वयं क्षणिक हैं—उनसे मोक्ष पाना बिल्कुल असंभव है। अतएव मोक्ष के सिद्धान्त की हानि होती है। (५) **स्मृतिभंग**—अनुभव करनेवाले व्यक्ति का तुरत विनाश हो जाता है इसलिए स्मृति (memory) नाम की कोई चीज नहीं रहती। सभी लोग मानते हैं कि अनुभव करनेवाला और स्मरण करने वाला व्यक्ति एक ही है लेकिन क्षणिकवाद के अनुसार ये दो व्यक्ति हैं। भले ही ये उसी संतान में हों, पर हैं दो व्यक्ति—इसमें संदेह नहीं। इसी तरह प्रत्यभिज्ञा (Recognition) भी असिद्ध हो जाती है। कोई किसी को पूर्वानुभव के आधार पर पहचान नहीं सकता। इसीलिए बौद्धों को ये महा-साहसिक कहते हैं। साहसिक = सहसा बिना विचारे हुए काम करनेवाला।

जयन्तभट्ट ने क्षणिकादि वासनाओं में बौद्धों का दम्भ माना है—

नास्त्यात्मा फलभोगमात्रमथ च स्वर्गाय चैत्यार्चनं,
संस्काराः क्षणिका युगस्थितिभृतश्चैते विहाराः कृताः।

सर्वं शून्यमिदं वसूनि गुरवे देहीति चादिश्यते,
बौद्धानां चरितं किमन्यदियतो दम्भस्य भूमिः परा ॥
(न्यायमञ्जरी, पृ० ३९)

एक ओर बौद्ध लोग मानते हैं कि आत्मा की सत्ता नहीं केवल फल का भोग मात्र होता है, दूसरी ओर स्वर्ग की प्राप्ति के लिए चैत्य (पवित्र मन्दिर और मूर्ति) की अर्चना भी करते हैं। सभी संस्कार क्षणिक हैं, और दूसरी ओर युगों तक स्थित रहने वाले विहारों का (मठों का) निर्माण हो रहा है। एक ओर 'सब कुछ शून्य है' का उद्घोष चल रहा है, दूसरी ओर गुरु को धन देने का आदेश भी मिल रहा है। इससे अधिक बौद्धों का चरित्र और क्या होगा ? वह तो ढोंग की पराकाष्ठा है। व्यवहार क्या है और सिद्धान्त क्या ?

(५. क्षणिकत्व-पक्ष में ग्राह्य-ग्राहक-भाव न होना)

किं च क्षणिकत्वपक्षे ज्ञानकाले ज्ञेयस्यासत्त्वेन, ज्ञेयकाले ज्ञानस्यासत्त्वेन च ग्राह्यग्राहकभावानुपपत्तौ सकललोकयात्रास्तमियात् । न च समसमयवर्तिता शङ्कनीया । सव्येतरविषाणवत्कार्यकारणभावासंभवेनाग्राह्यस्यालम्बनप्रत्ययत्वानुपपत्तेः ।

इसके अलावे, यदि क्षणिकवाद को मानते हैं तो ज्ञान के समय ज्ञेय पदार्थ की सत्ता नहीं रहेगी, उसी प्रकार ज्ञेय-पदार्थ के समय ज्ञान की सत्ता नहीं रहेगी। (ज्ञेय पदार्थ कारण है और ज्ञान कार्य है। पहले ज्ञेय होगा तब ज्ञान, दोनों एक साथ रहेंगे ही नहीं क्योंकि वे पूर्वापर के क्रम से होते हैं।) इसलिए ग्राह्य और ग्राहक के सम्बन्ध की सिद्धि नहीं होगी और संसार के सारे काम अस्त हो जायँगे। [न तो कोई ग्राहक रहेगा और न कोई ग्राह्य—क्योंकि सभी पदार्थ क्षण-क्षण में बदलते जा रहे हैं।]

आप यह भी नहीं सोच सकते कि दोनों (ग्राह्य-ग्राहक) एक ही समय में रहेंगे। ऐसा होने से (=ग्राह्य और ग्राहक को समसामयिक मान लेने पर), बायीं और दायीं सींग की तरह, उनमें कार्य-कारण भाव (Causal relation) नहीं हो सकता और इसीलिए जो वस्तु ग्राह्य नहीं है (=अग्राह्य है) उसे आलंबन-प्रत्यय (विषय object) के रूप में नहीं लिया जा सकता।

विशेष—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार दोनों सींगें एक दूसरे का कारण-कार्य नहीं, उसी प्रकार समकालिक हो जाने पर ग्राह्य-ग्राहक में भी कार्य-कारण नहीं हो सकेगा। 'आलंबन' एक प्रकार का प्रत्यय (कारण) है जिसे सौत्रान्तिक-मत की प्रस्तावना में हम स्पष्ट कर चुके हैं (पृ० ७५)। आलंबन

वास्तव में 'नील', 'घट', 'पट' आदि विषयों को कहते हैं—तत्र ज्ञानपदवेदनीयस्य नीलाद्यवभासस्य चित्तस्य नीलादालम्बनप्रत्ययान्नीलाकारता भवति। आलम्बन-प्रत्यय केवल ग्राह्य का हो सकता है। जिसमें कार्य-कारण-भाव हो सके वही ग्राह्य है। यहाँ पर यदि ग्राह्य-ग्राहक या ज्ञेय-ज्ञान को समसामयिक मान लेंगे तो कार्य-कारण भाव रहेगा ही नहीं और उस अवस्था में ये अग्राह्य हो जायँगे। फलतः आलम्बन-प्रत्यय ये नहीं होंगे। इस प्रकार अपने ही अस्त्र से अपना सिद्धान्त खण्डित होगा।

कॉवेल प्रस्तावित करते हैं कि 'अग्राह्यस्य' के स्थान में 'ग्राह्यस्य' रखा जाय और वे अनुवाद भी वैसा ही करते हैं। यह भी ठीक है ग्राह्य ही विषय है, उसका आलम्बन नहीं होगा।

(६. ज्ञान का साकार होना और दोष)

अथ भिन्नकालस्यापि तस्याकारार्पकत्वेन ग्राह्यत्वम्—तदप्यपेशलम्। क्षणिकस्य ज्ञानस्याकारार्पकताश्रयताया दुर्वचत्वेन साकारज्ञानवादप्रत्यादेशात्।

निराकारज्ञानवादेऽपि योग्यतावशेन प्रतिकर्मव्यवस्थायाः स्थितत्वात्। तथा हि प्रत्यक्षेण विषयाकाररहितमेव ज्ञानं प्रतिपुरुषमहमहमिकया घटादिग्राहकमनुभूयते, न तु दर्पणादिवत्प्रतिबिम्बाक्रान्तम्।

अब यदि कहा जाय कि [वस्तु ज्ञान से] भिन्न काल में भी हो तो भी अपने आकार की छाप उस पर दे देने के कारण ग्राह्य (Perceptible) ही रहेगी, यह कहना भी ठीक नहीं है। (आशय यह है कि घट, पट आदि विषय यद्यपि क्षणिक हैं तथापि नष्ट होने के पूर्व अपने आकार के सदृश आकार छोड़ जाते हैं। इसलिए ज्ञान के क्षण में वस्तु की सत्ता न होने पर भी वस्तु ज्ञानग्राह्य कहलाती है। आकार की छाप छोड़ना ही ग्राह्य होना है। इस प्रकार क्षणिकवाद के पक्ष में तर्क देकर उसे सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। अब जैन इसका खंडन करते हुए कहते हैं कि यह तर्क ठीक नहीं।)

इसका कारण यह है—क्षणिक पदार्थ (जैसे घट, पटादि), ज्ञान पर अपने आकार की छाप छोड़ेगा, इसका आश्रय लेना (=यह कहना) ही असंभव है और इसलिए 'ज्ञान साकार है' इस सिद्धान्त (वाद) का ही खण्डन हो जायगा। [घटादि विषय क्षणिक हैं। ये ज्ञान पर अपनी छाप छोड़ते हैं।

जब पूर्वक्षण में विद्यमान, आकार की छाप छोड़ने वाला विषय स्थित है तो आकार की छाप ग्रहण करने वाला, उत्तरक्षणिक ज्ञान ही नहीं है। [जब आकार ग्राहक उत्तर क्षण वाला ज्ञान है, तब पूर्वक्षणिक आकार समर्पक ज्ञेय (विषय) ही नहीं रहता। इस प्रकार यह कहना कठिन है कि कोई किसी को अपना आकार देता है या कोई आकार ग्रहण करता है। इसलिए साकार ज्ञान का सिद्धान्त बौद्धों के मत से खण्डित हो जाता है। बौद्धों के अनुसार ज्ञान की साकारता सिद्ध ही नहीं हो सकती।]

ज्ञान को निराकार मानने का सिद्धान्त रखने पर भी [अव्यवस्था हटाने के लिए] योग्यता के अनुकूल सभी विषयों की व्यवस्था माननी ही पड़ेगी। [निराकार ज्ञान मानने में एक बड़ा दोष यह होता है सभी प्रकार के ज्ञान—चाक्षुष, स्पार्शन, रासन, श्रावण आदि—एक समान हो जाते हैं और चाक्षुष का विषय रूप है, स्पार्शन का स्पर्श, रासन का रस, श्रावण का शब्द इत्यादि नियत विषयों की व्यवस्था नहीं हो सकती है। इसलिए विशृंखलता दूर करने के लिए नियामक (Controller) के रूप में 'योग्यता' की शरण लेनी पड़ती है। योग्यता के ही कारण रसनेन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान रस का ग्राहक होता है—ऐसी व्यवस्था संभव है। ज्ञान को साकार मानने पर भी चक्षुरिन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान रूप का आकार ग्रहण करता है ऐसी व्यवस्था होती है।]

[अब निराकार ज्ञान के सिद्धान्त में प्रत्यक्ष अनुभव देते हैं—] जैसे, प्रत्यक्ष के द्वारा विषय और आकार से रहित [भावात्मक Abstract] ज्ञान, जो घटादि का ग्राहक है, प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत रूप से (अहमहमिका से) अनुभूत होता है; दर्पणादि के समान यह ज्ञान केवल प्रतिबिम्ब (परछाईं) ग्रहण नहीं करता। (समस्या यह है कि ऊपर कहे गये तथ्यों के अनुसार, वस्तु ज्ञान को अपने आकार का यदि समर्पण कर देता है तो दर्पण की तरह ही वस्तु का प्रतिबिम्ब ज्ञान ले लेता होगा तथा उसके द्वारा आन्तर प्रत्यक्ष से अनुभूत होता होगा। किन्तु आन्तर प्रत्यक्ष केवल सुख, दुःख, इच्छादि आन्तर भावों के ही लिए सुरक्षित है न कि बाह्य-विषयों—घट, पटादि—के प्रत्यक्षीकरण के लिए। इनका ज्ञान तो बाह्य-प्रत्यक्ष से होता है। घटादि का ग्राहक ज्ञान ('मैं घट देखता हूँ') प्रत्येक व्यक्ति को विषय और आकार से पृथक् रूप में ही होता है—इसलिए ज्ञान की निराकारता ही सिद्ध होती है।)

विषयाकारधारित्वे च ज्ञानस्यार्थे दूरनिकटादिव्यवहाराय जलाञ्जलिर्वितीर्येत। न चेदमिष्टापादानमेष्टव्यम्। दवीयान्महीधरो नेदीयान्दीर्घो बाहुरिति व्यवहारस्य निराबाधं जागरूकत्वात्।

न चाकाराधायकस्य तस्य दवीयस्त्वादिशालितया तथा व्यवहार इति कथनीयम्। दर्पणादौ तथानुपलम्भात्।

[साकारज्ञानवाद में दूसरा दोष—] यदि ज्ञान का प्रयोजन विषय के आकार को धारण कर लेना भर है तो इसमें दूर, निकट आदि व्यवहार के शब्दों को तिलांजलि दे दी जायगी (छोड़ देना पड़ेगा)। [दूर, निकट आदि शब्दों का सम्बन्ध ज्ञाता के साथ है, न कि ज्ञान के साथ। अभ्यंकर जी के शब्दों में—छायाचित्र लेने वाले दर्पण में बड़े-बड़े पहाड़, छोटे दर्पण में आने योग्य अपने ही सदृश छोटे आकार के द्वारा प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार साकार ज्ञानवादी बौद्धों के मत से पर्वतादि के प्रत्यक्ष ज्ञान के समय बड़ा होने पर भी ये पहाड़, ज्ञानमय चित्त में आने के योग्य आकारों को धारण करके उसमें प्रवेश करते हैं। तो, ज्ञानमय चित्त में प्रविष्ट छोटे पर्वतादि ही विषयीभूत अर्थ हैं, न कि उस प्रकार के आकार को समर्पित करने वाले, बाह्य-जगत् में विद्यमान बड़े-बड़े पहाड़। इसलिए, विषय बने हुए पदार्थ दूर में, नजदीक में या बड़े हैं—इस तरह के व्यवहारों की असिद्धि हो जायगी।] इस इष्ट वस्तु के प्रतिपादन को खोजने की जरूरत भी नहीं है। 'यह पहाड़ कुछ अधिक दूर (Farther) है', 'यह बड़ी बाँह नजदीक (Nearer) है'—ऐसा व्यवहार बिना रोक-टोक के सदा चलता रहता है। [जब दूर और निकट के व्यवहार चलते हैं और उन्हें ज्ञानमय चित्त में (ज्ञान को साकार मान कर) सिद्ध करना कठिन है तब तो यह 'विषम उपन्यास' हो जायगा और दोनों में से किसी एक को हटाना पड़ेगा। व्यवहार को रोक नहीं सकते, रुकेगा तो साकार ज्ञानवाद ही। अतएव वह दोषपूर्ण है।]

उत्तर में आप यह नहीं कह सकते कि आकार को समर्पण करने वाले उस (पर्वतादि) में ही दूरत्वादि गुण हैं और इसीलिये ऐसा व्यवहार होता है (अर्थात् चूँकि पर्वत दूरत्व से विशिष्ट है इसलिये ज्ञान के द्वारा उस आकार में ग्रहण होने पर दूरत्व अनुमान से ही उस व्यवहार का संचालन होता है। यह बौद्धों का उत्तर है, जो ठीक नहीं) क्योंकि दर्पण आदि में ऐसी बातें नहीं पायी जातीं। (दर्पण में दूर की वस्तुओं का आकार दूर पर ग्रहण नहीं होता, सभी वस्तुओं का आकार अल्प ही होता है जितना दर्पण में आ सके। इसलिये साकार ज्ञानवाद में किसी प्रकार दूरत्वादि का अनुमान नहीं हो सकता।)

किं चार्थादुपजायमानं ज्ञानं यथा तस्य नीलाकारतामनुकरोति तथा यदि जडतामपि, तर्हि अर्थवत्तदपि जडं स्यात्। तथा च वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि ते नष्टं स्यादिति महत्कष्टमापन्नम्।

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया ज्ञानं जडतां नानुकरोति—इति ब्रूषे, हन्त, तर्हि तस्या ग्रहणं न स्यादित्येकमनुसंधित्सतोऽपरं प्रच्यवत इति न्यायापातः।

इसके अलावे भी [दोष होगा कि] वस्तुओं से उत्पन्न ज्ञान जिस प्रकार उस वस्तु (उदाहरण के लिये नील या घट को लें) के आकार को ग्रहण करता है, उसी प्रकार यदि [पदार्थ के] जडत्व को भी ग्रहण कर ले तब तो अर्थ (वस्तु) की ही तरह वह (ज्ञान) भी जड ही हो जायगा (और ऐसी दशा में ज्ञान के स्वरूप की ही हानि हो जायगी। जड का अर्थ है प्रकाशरूप न होना। ज्ञान का अर्थ है स्वप्रकाशक और परप्रकाशक होना। यदि ज्ञान जड हो जाय तब तो घट का आकार प्रकाशित करना तो दूर रहा, अपने स्वरूप का भी प्रकाशन उससे न हो सकेगा]। इस प्रकार, जहाँ आप वृद्धि की चाह कर रहे थे, आपका मूल भी नष्ट हो गया—इस तरह बड़ा भारी कष्ट आ गया। (कोई व्याज की इच्छा से दूसरे को द्रव्य दे, किन्तु व्याज तो दूर, मूल भी नष्ट हो जायगा। चौबे गये छब्बे होने, दूबे बनकर आये।)

अब यदि इस दोष से बचने की कामना से कहें कि ज्ञान जडता का ग्रहण नहीं करता, तब और मजा है ! उस (जडता) का ग्रहण नहीं होगा और वैसी दशा हो जायगी कि एक वस्तु का अनुसंधान करते-करते दूसरी वस्तु भी भूल जाय। (घटादि का ज्ञान क्या होगा, घट जड है—यही ज्ञान नहीं होगा।)

ननु मा भूज्जडताया ग्रहणम्। किं नश्छिन्नम्? तदग्रहणेऽपि नीलाकारग्रहणे तयोर्भेदोऽनेकान्तो वा भवेत्। नीलाकारग्रहणे चागृहीता जडता कथं तस्य स्वरूपं स्यात्? अपरथा गृहीतस्य स्तम्भस्यागृहीतं त्रैलोक्यमपि रूपं भवेत्। तदेतत् प्रमेयजातं प्रभाचन्द्रप्रभृतिभिरर्हन्मतानुसारिभिः प्रमेयकमलमार्तण्डादौ प्रबन्धे प्रपञ्चितमिति ग्रन्थभूयस्त्वभयान्नोपन्यस्तम्॥

अच्छी बात है, जडता का ही ग्रहण नहीं होगा, हमारी क्या हानि है? [उत्तर यह है कि] जडता का ग्रहण न होने पर भी, जब नील (या घट) के आकार का ग्रहण होता है उस समय दोनों में (जडता और पदार्थ में) भेद होता है (जैसा कि घट और पट में है) या अनेकान्त होता है (जिसके चलते वे धूम और अग्नि की तरह कभी-कभी ही—व्यभिचरित होकर—मिलते हैं)। [आशय यह है कि घटाकार और जड़ता में या तो भेद होगा या व्यभिचार

सम्बन्ध होगा। 'घट जड है' ऐसा कहने पर भी जड और घट भिन्न हैं, इसमें कोई विश्वास नहीं करेगा। अतः जडता घट का स्वरूप ही है। फिर भी यदि घट ग्रहण होने पर भी जडता का ग्रहण नहीं हो, तो वे दोनों भिन्न हैं, ऐसा सन्देह हो जायगा और अभेद का निश्चय भी नहीं होगा।] नीलाकार का ग्रहण हो जाने पर भी जिस जड़ता का ग्रहण होता है वह उसका स्वरूप कैसे होगा? अन्यथा (यदि अगृहीत गुण भी गृहीत वस्तु का स्वरूप हो, तब—) गृहीत स्तम्भ का रूप अगृहीत त्रैलोक्य हो हो जायगा। [यदि आप कहते हैं कि अवयव न भी देखा जाय और अवयवी देखा जाय, कोई हानि नहीं, तो मैं कहता हूँ कि त्रैलोक्य अवयव है और खम्भा अवयवी।]

इन सभी विषयों का प्रतिपादन **प्रभाचन्द्र** इत्यादि अर्हत् (जैन) मत को मानने वाले विद्वानों के द्वारा **प्रमेयकमलमार्तण्ड** इत्यादि ग्रन्थों में हुआ है इसलिये ग्रंथ बड़ा हो जाने के भय से यहाँ नहीं दे रहे हैं।

विशेष—माधवाचार्य की यह स्वभावोक्ति है—ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से अब विराम करें। कई जगह ऐसा प्रयोग है। जैन ग्रन्थकारों में प्रभाचन्द्र बहुत से हुए हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड के रचयिता प्रभाचन्द्र ८२५ ई० में विद्यमान थे। विद्यानन्दी (८०० ई०) ने **आप्तपरीक्षा** नामक ग्रन्थ लिखा जिसकी टीका माणिक्यनन्दी (८०० ई०) ने **परीक्षामुख** नाम से की। **प्रमेयकमल-मार्तण्ड** इसी परीक्षामुख की टीका है।

(७. अर्हत्-मत की सुगमता, अर्हत् का स्वरूप)

तस्मात्पुरुषार्थाभिलाषुकैः पुरुषैः सौगती गतिर्नानुगन्तव्या, अपि तु आर्हती एवार्हणीया। अर्हत्स्वरूपं च हेमचन्द्रसूरिभिराप्तनिश्चयालंकारे निरटङ्कि—

५. सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन्परमेश्वरः॥ इति।

इसलिये पुरुषार्थ (मोक्ष) की इच्छा करने वाले लोगों को बुद्ध की पद्धति का अनुगमन नहीं करना चाहिये, बल्कि अर्हत् (जिन) की सरणि का पूजन करना चाहिये। अर्हत् (जैनों के ईश्वर) का स्वरूप हेमचन्द्र सूरि ने अपने **आप्तनिश्चयालंकार** नामक ग्रंथ में इस प्रकार दिया है—'जो सब कुछ जानता हो, राग (आसक्ति) आदि दोषों को जीत चुका हो, तीन लोकों में पूजित हो, वस्तुएँ जैसी हैं उन्हें वैसी ही कहता हो, वही परमेश्वर अर्हत् देव है।

विशेष—हेमचन्द्र (१०८८–११७२ ई०) अपने समय के सबसे बड़े विद्वान् थे जिन्होंने काव्य, व्याकरण, दर्शन आदि अनेक शास्त्रों में ग्रन्थ-रचना की। प्रमाणमीमांसा तथा शब्दानुशासन इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। सर्वांगीण प्रतिभा के कारण ही इन्हें 'कलिकालसर्वज्ञ' की उपाधि मिली थी।

(८. अर्हत् के विषय में विरोधियों की शंका)

ननु न कश्चित्पुरुषविशेषः सर्वज्ञपदवेदनीयः प्रमाणपद्धतिमध्यास्ते। तत्सद्भावग्राहकस्य प्रमाणपञ्चकस्य तत्रानुपलम्भात्। तथा चोक्तं तौतातितैः—

६. सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत्॥
७. न चागमविधिः कश्चिन्नित्यसर्वज्ञबोधकः।
न च तत्रार्थवादानां तात्पर्यमपि कल्प्यते॥

कोई शंका कर सकता है—कोई विशेष पुरुष, 'सर्वज्ञ' शब्द के द्वारा बोधनीय नहीं है जो प्रमाण की पदवी पा सकता है। उस (अर्हत्, सर्वज्ञ) की सत्ता को सिद्ध करनेवाले पाँचों प्रमाणों की प्राप्ति वहाँ नहीं है। (पाँच प्रमाण = प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति। इनमें किसी से अर्हत् की सिद्धि नहीं होती।) जैसा कि तौतातित (कुमारिलभट्ट)[1] ने कहा है—

(६) **क. प्रत्यक्ष-प्रमाण से असिद्धि**—'इस समय सर्वज्ञ (ईश्वर) हमलोगों को दिखलाई नहीं पड़ता।'

ख. अनुमान-प्रमाण से असिद्धि—'और न उस (सर्वज्ञ) का कोई भाग ही दिखलाई पड़ता कि लिंग (हेतु Middle term) बनकर वह सर्वज्ञ के अनुमान में सहायता करे।'

(७) **शब्द-प्रमाण से असिद्धि**—'न तो आगम (वेद-शब्द) की कोई विधि (आज्ञा) ही ऐसी है जिससे नित्य और सर्वज्ञ (अर्हत्) का बोध हो। **अर्थवाद**-वाक्यों का भी तात्पर्य (अर्थ) यहाँ पर नहीं लगता।'

---

१. **तौतातित** = अभ्यंकर ने इसका अर्थ 'बौद्ध' दिया है जब कि कॉवेल कुमारिल भट्ट का इसे पर्याय समझते हैं। आगे दिये गये श्लोक वास्तव में कुमारिल के हैं जो जैनों के विरोध में कहे गये हैं। इसके अलावे प्रमाणपञ्चक की स्वीकृति (प्रभाकर मत के अनुसार) तथा विधि अर्थवाद का उल्लेख बतलाता है कि शंका मीमांसकों की ओर से है, बौद्धों से नहीं।

विशेष—मीमांसक लोग शब्द-प्रमाण के अन्तर्गत वेदों का ग्रहण करते हैं जो नित्य और अपौरुषेय हैं। वेद के विषयों के इनके अनुसार पाँच भेद हैं :—(१) **विधि**—अज्ञात ज्ञापक वाक्य जो प्रेरणा प्रदान करे जैसे 'स्वर्गकामो यजेत'। इसके भी चार भेद हैं—कर्म के स्वरूपमात्र को बतलाने वाली उत्पत्ति-विधि, अंग और प्रधान अनुष्ठान का सम्बन्ध बतानेवाली विनियोग-विधि, कर्म से उत्पन्न फल का स्वामित्व बतलानेवाली अधिकार-विधि तथा प्रयोग की शीघ्रता का बोधक प्रयोग-विधि। विधि पर मीमांसा-दर्शन बहुत जोर देता है और विध्यर्थ के निर्णय के लिए श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या नामक छह प्रमाण भी स्वीकृत हैं। (२) **मन्त्र**—अनुष्ठान के अर्थों का स्मरण दिलानेवाले वाक्य। (३) **नामधेय**—यज्ञों के नाम। (४) **निषेध**—अनुचित कार्यों से हटानेवाले वाक्य। (५) **अर्थवाद्**—लक्षणा के द्वारा स्तुति या निन्दापरक वाक्यों का कथन, जैसे—'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' यहाँ अग्नि को हिमनाशक कहा गया है, अग्नि औषधि नहीं है। इसके भी तीन भेद हैं—गुणवाद, अनुवाद, भूतार्थवाद। कहा गया है—

विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानावर्थवादस्त्रिधा मतः॥

इसके विशेष विवेचन के लिए अर्थसंग्रह, मीमांसान्यायप्रकाश या मीमांसा-परिभाषा देखें। सायण ने अपने ऋग्वेदभाष्य की भूमिका में भी विधि और अर्थवाद का सुन्दर विवेचन किया है। वहाँ ब्राह्मण-भाग के दो भेद हैं—विधि और अर्थवाद। दोनों एक दूसरे के पूरक है। अर्थवाद वाक्यों से किसी विधि की ओर प्रवृत्ति होती है।

मीमांसकों के दो भेद हैं—भाट्ट-मत (कुमारिलभट्ट का सम्प्रदाय) तथा गुरुमत (प्रभाकर गुरु का सम्प्रदाय)। दोनों विद्वानों ने मीमांसा-सूत्रों पर लिखे गये शबर-भाष्य की टीकायें कीं। अन्य भेदों के अलावे दोनों में एक यह भी भेद है कि कुमारिल छह प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि (अभाव) जब कि प्रभाकर अभाव को प्रमाण नहीं मानते। ज्ञात होता है कि कुमारिल के ही अनुसार प्रमाणों को लेकर 'अभाव' को विवादग्रस्त जानकर इसे छोड़ दिया गया है और पाँच प्रमाणों से भी काम चला लिया गया है।

स्याद्वादरत्नाकर और प्रमेयकमलमार्तण्ड में अन्तिम श्लोक का पाठ यों है—

न च मन्त्रार्थवादानां तात्पर्यमवकल्पते।

इसके बाद मीमांसकों के अनुसार शब्दादि प्रमाणों से अर्हत् की असिद्धि दिखलाई जायगी।

८. न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते ।
न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः ॥
९. अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान् ।
कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ? ॥
१०. अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽज्ञैः प्रतीयते ।
प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः ॥

(८) 'दूसरे तात्पर्य वाले अर्थवाद वाक्यों से भी उसकी सत्ता नहीं सिद्ध होती । चूँकि पहले किसी ने नहीं कहा इसलिए इसका अनुवाद (पुनः कथन) भी नहीं हो सकता ।' (अनुवाद किसी निश्चित उक्ति को कहते हैं जो पुनः कही गयी हो । 'अनुवादोऽवधारिते' ।)

(९) 'सर्वज्ञ (जैनियों का ईश्वर) सादि—आदि से युक्त—है, वह अनादि आगम का विषय नहीं हो सकता । [वेद अनादि है, उसमें सादि सर्वज्ञ का वर्णन मिलना असम्भव है; दूसरी ओर यदि आगम (वेद) को सादि मान लें तो वह कृत्रिम (artificial, human-made) हो जायगा और असत्य विषयों का प्रतिपादन करने लगेगा ।] तो, कृत्रिम तथा असत्य विषयों के द्वारा उस (सर्वज्ञ) का प्रतिपादन कैसे हो सकता है ?

(१०) 'अब यदि उस (सर्वज्ञ मुनि) के वचन से ही सर्वज्ञ का ज्ञान (प्रतीति) लोग (मूर्ख लोग) करें तो उन दोनों की ही सिद्धि कैसे हो सकती है क्योंकि वे एक दूसरे पर आश्रित हैं ? (इसलिए अन्योन्याश्रय-दोष उत्पन्न हो जायगा । इसकी व्याख्या आगे की जा रही है ।)

११. सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता ।
कथं तदुभयं सिध्येत्सिद्धमूलान्तराद्दते ॥
१२. असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात् ।
सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात्किं न जानते ? ॥
१३. सर्वज्ञसदृशं कश्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति ।
उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो वयम् ॥
१४. उपदेशोऽपि बुद्धस्य धर्माधर्मादिगोचरः ।
अन्यथा नोपपद्येत सार्वज्ञ्यं यदि नाभवत् ॥

१५. एवमर्थापत्तिरपि प्रमाणं नात्र युज्यते।
उपदेशस्य सत्यत्वं यतो नाध्यक्षमीक्ष्यते ॥ इत्यादि।

(११) '[आप कहते हैं कि] सर्वज्ञ के द्वारा कहे जाने के कारण वाक्य सत्य हैं और इसी से उनका अस्तित्व सिद्ध होता है, [तो उत्तर है कि] दोनों (सर्वज्ञ और उनके वाक्य) की सिद्धि ही कैसे होगी जब कि सिद्ध किया हुआ मूल ही नहीं है। (=सर्वज्ञ की ही जब सत्ता नहीं तो उनके वाक्य कहाँ से सिद्ध होंगे)?

(१२) 'सर्वज्ञ से भिन्न किसी व्यक्ति के द्वारा कहे गये, मूलहीन वचन से, यदि सर्वज्ञ का ज्ञान लोग करते हैं तो अपने ही वाक्य से क्यों नहीं जान लेते? (सामान्य जैनलेखकों की बात पर विश्वास करके सर्वज्ञ को जानने से अच्छा है अपने ही मन से कपोलकल्पना करके उन्हें जानना।)

(१३) **उपमान-प्रमाण से असिद्धि**—'सर्वज्ञ के समान यदि किसी व्यक्ति को हम इस समय देखें तभी तो उपमान-प्रमाण के द्वारा उन्हें जान सकते हैं?

(१४) **अर्थापत्ति-प्रमाण से असिद्धि**—'बुद्ध (या जिन) का उपदेश, जो धर्म-अधर्मादि का बोधक है, दूसरी तरह से सिद्ध नहीं हो सकता यदि उन्हें सर्वज्ञ नहीं मानते।

(१५) 'इस प्रकार की अर्थापत्ति भी प्रमाण के रूप में यहाँ ठीक नहीं बैठती क्योंकि उपदेश की सत्यता ही अध्यक्ष (controller) के रूप में नहीं देखी जाती।'[1]

विशेष—कुमारिलभट्ट यहाँ पर सिद्ध करना चाहते हैं कि अर्थापत्ति के द्वारा भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती। जैन कहते हैं कि यदि अर्हत् सर्वज्ञ नहीं होते तो उनके वचन सत्य और आप्त नहीं होते। किन्तु वचन चूँकि सत्य और आप्त हैं, इसलिए वे अर्हत् सर्वज्ञ हैं। यह तर्क बुद्ध के विषय में दिया गया है किन्तु जैन लोग उन्हीं की ओट में अपना मतलब साधते हैं। लेकिन जिस हेतु को लेकर यह अर्थापत्ति होती है (अर्थात् 'वचन सत्य हैं'), वही गलत है। अतएव अर्थापत्ति के द्वारा भी सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध नहीं होती।

---

१. तुलना करें—

बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां वेदादसंभवः।
उपदेशः कृतोऽतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात् ॥

अभाव-प्रमाण न देने का कारण यह है कि यह प्रमाण अभावात्मक (negative) है जिसकी आवश्यकता ही नहीं। इस प्रकार भाट्ट-मीमांसा के छहों प्रमाणों से सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती।

(९. अर्हत् पर मीमांसकों की शङ्का का समाधान)

अत्र प्रतिविधीयते। यदभ्यधायि 'तत्सद्भावग्राहकस्य प्रमाणपञ्चकस्य तत्रानुपलम्भात्' इति तदयुक्तम्। तत्सद्भावावेदकस्यानुमानादेः सद्भावात्। तथा हि कश्चिदात्मा सकलपदार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्। यद्यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययं, तत्तत्साक्षात्कारि; यथा—अपगततिमिरादिप्रतिबन्धं लोचनविज्ञानं रूपसाक्षात्कारि।

अब इसका उत्तर दिया जाता है—आपने जो यह कहा कि 'उसकी सत्ता को सिद्ध करनेवाले पाँचों प्रमाणों में कोई वहाँ प्राप्त नहीं है'—यह ठीक नहीं कारण यह है कि उस (सर्वज्ञ) की सत्ता सिद्ध करनेवाले अनुमान आदि की सत्ता वास्तव में है।

स्पष्टीकरण—कोई आत्मा (= अर्हत्, सर्वज्ञ मुनि) सभी पदार्थों का साक्षात्कार कर सकती है यदि, सभी पदार्थों को ग्रहण करने का इसका स्वभाव होने पर, इस प्रकार के ज्ञान को रोकनेवाले तत्त्व नष्ट हो जायँ। किसी (व्यक्ति) में जिस (वस्तु) को ग्रहण करने का स्वभाव (योग्यता) है, ज्ञान के प्रतिबन्धक प्रत्ययों के नष्ट हो जाने पर, वह (व्यक्ति) उस (वस्तु) का साक्षात्कार करेगा ही। उदाहरण के लिए, तिमिर (अन्धकार) आदि रुकावटों के नष्ट हो जाने पर, दृष्टि-विज्ञान (इन्द्रिय) रूप का साक्षात्कार करता है।

तदग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययश्च कश्चिदात्मा। तस्मात्सकलपदार्थसाक्षात्कारीति। न तावदशेषार्थग्रहणस्वभावत्वमात्मनोऽसिद्धम्।

सभी पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव उसमें है तथा उसका प्रतिबन्ध डालनेवाले प्रत्यय नष्ट हो चुके हैं, इसलिए एक आत्मा ऐसी (सर्वज्ञ के रूप में) है। इसलिए सभी पदार्थों का साक्षात्कार करने वाली [वह आत्मा] है। इसमें आत्मा का सभी वस्तुओं को ग्रहण करनेवाला स्वभाव असिद्ध नहीं होता।

विशेष—सर्वज्ञ को सिद्ध करने के लिए अनुमान यों दिया गया—

(१) कश्चिदात्मा सकलपदार्थसाक्षात्कारी—प्रतिज्ञा ।

(२) तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्—हेतु ।

(३) यद्यद्········रूपसाक्षात्कारि—उदाहरण ।

(४) तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययश्च कश्चिदात्मा—उपनय ।

(५) तस्मात्सकलपदार्थसाक्षात्कारी (आत्मा अर्हन्)—निगमन ।

इस प्रकार पाँच अवयवों का यह परार्थानुमान है जिससे सर्वज्ञत्व की सिद्धि भली भाँति हो जाती है ।

अब उपर्युक्त हेतु—अशेषार्थ को ग्रहण करने की प्रकृति में स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास देखने की चेष्टा की जाती है । चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूप, रस आदि विषयों को ग्रहण करती हैं । यह उनका स्वभाव है । मन और आत्मा का कोई ऐसा स्वभाव नहीं कि वे अमुक विषय को ही ग्रहण करेंगे । प्रत्यक्ष ज्ञान में उनका विषय इन्द्रियों से सम्बद्ध रहता है, अनुमान में तो उससे भी पुनः सम्बद्ध (=इन्द्रिय सम्बद्ध सम्बद्ध) विषय होता है । इस प्रकार सभी वस्तुओं को ग्रहण करने का आत्मा का स्वभाव तो असिद्ध है, इसे स्वरूपासिद्ध कहेंगे । इसी के उत्तर में कहा गया है कि आत्मा का स्वभाव असिद्ध नहीं । इसके लिये कारण अब देंगे और मीमांसकों को आड़े हाथों लिया जायगा ।

चोदनाबलान्निखिलार्थज्ञानोत्पत्त्यन्यथानुपपत्त्या, सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वादिति व्याप्तिज्ञानोत्पत्तेश्च । 'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयति' (मी० सू० १।१।२ शबरभाष्य) इत्येवंजातीयकैरध्वरमीमांसागुरुभिर्विधिप्रतिषेधविचारणानिबन्धनं सकलार्थविषयज्ञानं प्रतिपद्यमानैः सकलार्थग्रहणस्वभावकत्वमात्मनोऽभ्युपगतम् ॥

यदि [सर्वज्ञत्व सिद्ध करने का हेतु 'अशेषार्थ ग्रहण करने की प्रकृति'] नहीं रखें तो चोदना या विधि (Injunction) के बल से सभी विषयों के ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी (अन्यथा अनुपपत्त्या) । दूसरे, निम्नोक्त व्याप्ति ज्ञान की उत्पत्ति भी [नहीं हो सकेगी]—'सभी वस्तुएँ अनेकान्तात्मक (अनिश्चित (Indeterminate) हैं क्योंकि उनकी सत्ता है (हेतु) ।' [इस प्रकार अर्थापत्ति से उपर्युक्त स्वरूपासिद्ध दोष का खंडन हो जाता है ।

एक तो विधि वाक्यों की सर्वार्थगामिनी प्राप्ति हमें बाध्य करती है कि विधि के विधायकों (जैसे अर्हन्मुनि) का स्वभाव सभी विषयों का ज्ञान करने वाला मानना होगा। दूसरी ओर, सभी विषयों को अनेकान्त मानने वाली व्याप्ति भी वाध्य करती है कि हम उपर्युक्त स्वभाव को स्वीकार करें। फिर कहाँ रहा स्वरूपासिद्ध दोष ? प्रत्युत उस हेतु के बिना काम ही नहीं चलता। अब चोदना या विधि की सर्व व्यापकता सुनें।]

चोदना (विधि) बीते हुए विषयों को (जैसे अर्थवाद में) वर्तमान विषयों को (जैसे यागादि को), भविष्य में होने वाले विषयों को (जैसे स्वर्ग सुख प्राप्ति आदि) सूक्ष्म वस्तुओं को (जैसे शरीर धारण के पूर्व जीव), व्यवहित (Obstructed जैसे शरीरादि के द्वारा व्यवधान पाने पर जीव) या दूर की वस्तुओं को (जैसे स्वर्गादि) बतलाती है (= इन सभी प्रकार के विषयों का निर्देश विधियों में है जिससे वे विधियाँ मीमांसकों के ही अनुसार निखिलार्थ बोधक हैं। इसी प्रकार की चोदना अर्हन्मुनि के बनाये हुये आगम में भी देखी जाती है। तो क्या वह आगम सर्वार्थप्रकाशक नहीं होगा ?) (मीमांसा सूत्र १।१।२ पर शबर स्वामी का भाष्य)—इस प्रकार के अध्वरमीमांसा (यज्ञमीमांसा, कर्ममीमांसा)[1] के गुरुगण विधि (Injunctions) और प्रतिषेध (Prohibitions) के विचार पर आश्रित सभी वस्तुओं के ज्ञान का प्रतिपादन करते हुए, आत्मा (अर्हन्मुनि) के सकलार्थग्रहण-रूपी स्वभाव को मानते हैं।

विशेष—चोदना के प्रणेता अर्हन्मुनि में निखिल वस्तुओं का ज्ञान होना आवश्यक है। यदि उनका स्वभाव निखिल विषयों का ग्रहण करना नहीं होता, तो यह सम्भव नहीं था। इसलिये अर्थापत्ति के द्वारा इसकी सिद्धि होती है। इसके अलावे अर्हन्मुनि ने यह अनुमान भी कहा है—'सब कुछ अनेकान्त (अनिश्चयात्मक) है क्योंकि उसकी सत्ता है।' यह अनुमान बिना व्याप्ति के ज्ञान के सम्भव नहीं है। अतः अर्हन्मुनि को यह होना ही चाहिये—सभी वस्तुओं के विषय में व्याप्ति होनी परमावश्यक है। इसके लिये 'निखिलार्थग्रहणस्वभाव' होना ही पड़ेगा।

---

१. वेद के अध्वर-भाग या कर्मकाण्ड पर जोर देने के कारण जैमिनीय दर्शन का नाम कर्म-मीमांसा या पूर्वमीमांसा भी है जब कि वेदान्त को जिसमें ज्ञानकाण्ड का वर्णन है उत्तरमीमांसा या ज्ञानमीमांसा भी कहते हैं। बाद में वेदान्त नाम पड़ जाने पर पहले को केवल मीमांसा भी कहने लगे।

न चाखिलार्थप्रतिबन्धकावरणप्रक्षयानुपपत्तिः। सम्यग्दर्शनादित्रयलक्षणस्यावरणप्रक्षयहेतुभूतस्य सामग्रीविशेषस्य प्रतीतत्वात्। अनया मुद्रयापि क्षुद्रोपद्रवा विद्राव्याः।

[हेतु में जो विशेष्य = प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्व—लगा है, उसमें दोष प्राप्त होने की शंका करते हैं—] ऐसा न समझें कि अखिल वस्तुओं के [प्रकाशन या ज्ञान में] रुकावट डालने वाले आवरण (ढक्कन Covering) के विनाश की सिद्धि नहीं होगी। (अर्थात् अर्हन्मुनि अखिल वस्तुओं का ज्ञान रखते हैं उसमें कहीं भी कोई रुकावट नहीं डाल सकता।) इसका कारण यह है कि सम्यग्दर्शन आदि तीन (रत्नों) से युक्त तथा आवरण का विनाश करने वाले कुछ ऐसे विशिष्ट साधन (सामग्री विशेष) हैं जिनकी प्रतीति होती है। [अभिप्राय यह है कि सभी वस्तुओं के ज्ञान में जो रुकावटें या आवरण हैं उनके नष्ट हो जाने पर अर्हन्मुनि का यह स्वभाव ही हो जायगा कि वे सभी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करें और फिर सर्वज्ञत्व उनमें क्यों नहीं रहेगा? लेकिन प्रश्न है कि इन आवरणों को नष्ट करने के उपाय भी हैं क्या? हाँ, हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र, इन तीन रत्नों के धारण से आवरण प्रक्षीण हो जाते हैं, मोक्ष का मार्ग खुल जाता है। त्रिरत्न का स्वरूप आगे चल कर बतलायेंगे। अभी तो शत्रुओं से युद्ध में फँसे हैं।]

इस रीति से भी दुष्टों (जैनमत के आक्षेपकों) के उपद्रव (आक्षेप) दबा दिये जायँ।

(१०. नैयायिकों की शंका और उसका उत्तर)

नन्वावरणप्रक्षयवशादशेषविषयं विज्ञानं विशदं मुख्यप्रत्यक्षं प्रभवतीत्युक्तं, तदयुक्तम्। तस्य सर्वज्ञस्यानादिमुक्तत्वेनावरणस्यैवासंभवादिति चेत्—तन्न। अनादिमुक्तत्वस्यैवासिद्धेः। न सर्वज्ञोऽनादिमुक्तः। मुक्तत्वादितरमुक्तवत्। बद्धापेक्षया हि मुक्तव्यपदेशः। तद्रहिते चास्याप्यभावः स्यादाकाशवत्॥

[नैयायिकों की शंका है—] आप (जैन) लोग जो यह कहते हैं कि आवरण के अच्छी तरह (प्रकर्षेण) नष्ट हो जाने पर, सभी पदार्थों के विषय में, विशुद्ध विज्ञान (Pure intelligence) उत्पन्न होता है जिसमें सबसे अधिक प्रत्यक्ष-शक्ति रहती है, तो आप की यह बात ठीक नहीं है। कारण यह है कि सर्वज्ञ तो अनादि काल से मुक्त है, उसमें आवरण (ज्ञान को ढँकने

वाले तत्त्व) की संभावना ही कहाँ से होगी ? [हम उत्तर में कहते हैं कि] यह शंका भी युक्तियुक्त नहीं है। आप 'अनादि काल से मुक्त (सर्वज्ञ)' की ही सिद्धि नहीं कर सकते। सर्वज्ञ अनादि काल से मुक्त नहीं है, क्योंकि वह भी अन्य मुक्त पुरुषों की तरह 'मुक्त' होता है। 'मुक्त' शब्द 'बद्ध' की अपेक्षा रखता है। (जो मुक्त होगा तो किसी बन्धन से ही; इसलिए मुक्त को पहले बद्ध होना आवश्यक है चाहे वह सर्वज्ञ क्यों न हो।) यदि वह (बद्ध) नहीं रहेगा तो इस (मुक्त) का भी अभाव हो जायगा, जैसे—आकाश [न तो बद्ध रहता है और न मुक्त। इसलिए या तो बद्ध और मुक्त दोनों रखना पड़ेगा या दोनों में कोई नहीं।]

नन्वनादेः क्षित्यादिकार्यपरंपरायाः कर्तृत्वेन तत्सिद्धिः। तथा हि—क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्। तदप्यसमीचीनम्। कार्यत्वस्यैवासिद्धेः। न च सावयवत्वेन तत्साधनमित्यभिधातव्यम्। यस्मादिदं विकल्पजालमवतरति।

[नैयायिक लोग उत्तर दे सकते हैं कि] पृथ्वी आदि अनादि काल से चली आने वाली कार्य-परंपरा को देखकर [उन कार्यों के] कर्त्ता के रूप में उस (सर्वज्ञ ईश्वर) की सिद्धि हो जाती है। समझने के लिए यह अनुमान लें—'पृथ्वी आदि इसलिए कर्तृयुक्त (Having a doer, i. e. God) हैं कि ये (पदार्थ) कार्य के रूप में हैं, जैसे कि घट।' (जिस प्रकार घट का कर्त्ता कुम्भकार है उसी प्रकार अनादि काल से चलने वाले पृथ्वी आदि पदार्थों के लिए भी एक अनादि कर्त्ता की आवश्यकता है। वही कर्त्ता ईश्वर है। यह नैयायिकों की तर्कप्रणाली ईश्वर को सिद्ध करने में काम आती है।) [अब हमारा (जैनियों का) प्रत्युत्तर है—] यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इन वस्तुओं को हम कार्य के रूप में ही स्वीकार नहीं कर सकते।

आप यह नहीं कह सकते हैं कि [पृथ्वी आदि पदार्थों के] अवयव युक्त होने के कारण उस (कार्यत्व) की सिद्धि हो जायगी क्योंकि यह विकल्प का समूह वहाँ पर आ जायगा। [इसके बाद पाँच विकल्प देकर उनका खण्डन किया जायगा।]

विशेष—जैनों के प्रहार से बचने के लिए वीर नैयायिक बहुत-सी युक्तियाँ देते हैं। जैनों का कहना है कि पृथ्वी कार्य नहीं है तब नैयायिकों ने कहा कि जिन-जिन पदार्थों की रचना में टुकड़े या अवयव होते हैं वे पदार्थ कार्य हैं। अब जैन लोग विकल्प का जाल फैलाकर यह सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे कि सावयव होने से ही कोई पदार्थ कार्य नहीं हो जायगा।

(११. सावयवत्व के पाँच विकल्प और उनका खण्डन)

सावयवत्वं किमवयवसंयोगित्वम्, अवयवसमवायित्वम्, अवयवजन्यत्वम्, समवेतद्रव्यत्वम्, सावयवबुद्धिविषयत्वं वा ?

न प्रथमः। आकाशादौ अनैकान्त्यात्। न द्वितीयः। सामान्यादौ व्यभिचारात्। न तृतीयः। साध्याविशिष्टत्वात्।

'अवयवों के साथ होना' इसका अर्थ क्या है—(१) अवयवों के साथ संयोग होना, या (२) अवयवों के साथ नित्यरूप से सम्बद्ध रहना, या (३) अवयवों से उत्पन्न होना, या (४) नित्य रूप से सम्बद्ध (समवेत) द्रव्य होना अथवा (५) अवयवों [के विचार] से युक्त बुद्धि का ही विषय होना ? (पंचम विकल्प का अर्थ है कि जिस बुद्धि से सावयव पदार्थ का ज्ञान होता है उस बुद्धि में ही 'अवयवों से संयुक्त होने' का प्रत्यय (Concept) छिपा हुआ हो।)

(१) पहला विकल्प [कि अवयवों के साथ संयोग होता है,] ठीक नहीं क्योंकि आकाश आदि पदार्थों में व्यभिचार हो जायगा [इसलिए अतिव्याप्ति हो जायगी। आशय यह है कि आकाश के जो अवयव या भाग हैं उनका संयोग आकाश में है। इस प्रकार प्रथम विकल्प के अनुसार ही, अवयवों के साथ संयुक्त सावयवत्व यहाँ पर हेतु है जो कार्य अर्थात् आकाश की सिद्धि में उपयुक्त हो सकता है। यदि सावयव होने का अर्थ है 'अवयवों के साथ संयुक्त होना' तब तो आकाश भी अवयवों से संयुक्त है फिर आकाश को नैयायिक लोग कार्य क्यों नहीं मानते ? नैयायिक लोग इस युक्ति में—

सभी सावयव (अवयवसंयोगी) पदार्थ कार्य हैं,
चूँकि आकाश सावयव (अवयव संयोगी) है,
इसलिये आकाश कार्य है,

साध्य ('कार्य') को पक्ष ('आकाश') से भिन्न मानते हैं, आकाश को कार्य नहीं मानते। इसके चलते 'सावयव' हेतु व्यभिचारग्रस्त माना जायगा और वह व्यभिचार (Wide application) है कि यह हेतु साध्य के अभाव से युक्त (साध्याभाववत्) स्थानों में भी अपनी वृत्ति रखता है (साध्याभाववद्वृत्तित्वरूपव्यभिचारग्रस्तः सावयवत्वहेतुः)। निष्कर्ष यह निकला कि 'अवयव संयोगी' वाले सावयवत्व को हेतु के रूप में ग्रहण करने से आकाश को भी समेट लेना पड़ेगा जो कार्य नहीं होते हुए भी कार्य के रूप में सिद्ध हो जायगा। इसलिये सावयव का अर्थ 'अवयवों के साथ संयुक्त रहना' नहीं होना चाहिये। आकाश में अवयव नहीं हैं, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि

अवयव नहीं रहने से वह व्यापक नहीं हो सकता। जिसके भाग हैं वही व्यापक होगा।]

(२) दूसरा विकल्प [कि अवयवों के साथ नित्य रूप से सम्बद्ध रहना ही सायवय होना है] भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे सामान्य आदि में व्यभिचार या अतिव्याप्ति हो जायगी। [ठीक ऊपर जैसी दशा यहाँ भी है। सामान्य या जाति (जैसे—द्रव्यत्व, घटत्व, गोत्व आदि) अपने व्याप्य विषयों (जैसे—घट, पट, गो) में तो है ही, उनके अवयवों में भी है। सामान्य का इनके साथ समवाय-सम्बन्ध (Inherent relation) है कि कभी न आरम्भ देखा गया और न अन्त ही। नित्य, निरन्तर का दोनों में सम्बन्ध है। तब तो यह निश्चित है कि सामान्य अवयवों के साथ समवेत है। अब वही अनुमान दुहरा दें—

सभी सावयव (अवयव समवायी) पदार्थ कार्य हैं,
चूँकि सामान्य भी सावयव (अवयव समवायी) है,
इसलिये सामान्य कार्य है।

फिर नैयायिकों के कान खड़े हो गये। सामान्य को वे कार्य मानते नहीं फिर यह सिद्ध कैसे हुआ ? जरूर कहीं दाल में काला है। इसलिये 'सावयव' का अर्थ 'अवयवों से समवाय सम्बन्ध होना' लेंगे तो सामान्य को भी कार्य मानना पड़ेगा, अतिव्याप्ति हो जायगी। अतः 'सावयव' का यह अर्थ ठीक नहीं है। द्रव्यत्व का सम्बन्ध घट के अवयवों के साथ कैसे ? दो उपाय हैं—एक तो घट के अवयव भी उसी प्रकार द्रव्य हैं जिस प्रकार घट, अतः उनसे भी द्रव्यत्व जाति नित्यरूप से सम्बद्ध है। दूसरे, द्रव्यत्व का सम्बन्ध घटत्व से है और घटत्व घट के प्रत्येक अवयव में है नहीं, तो वह घट (पूर्ण) को व्याप्त कैसे करेगा ? हम ऐसा कह भी नहीं सकते कि अमुक खण्ड में घटत्व है, अमुक में नहीं।]

(३) तीसरा विकल्प [कि सावयवत्व का अर्थ अवयवों से उत्पन्न होना है] भी दोषरहित नहीं क्योंकि यह हमारे साध्य ('कार्यत्व') से अभिन्न हो जायगा। [अभी हम लोग कार्यत्व को सिद्ध करना चाहते हैं क्योंकि वह संदिग्ध है। उसी प्रकार 'जन्यत्व' भी संदिग्ध है। इसे स्वयं ही सिद्ध करने की आवश्यकता है फिर यह कार्यत्व को क्या सिद्ध करेगा ? बात यह है कि कार्य और जन्य एक ही हैं। 'पट' कार्य को सिद्ध करने के लिए यह कहना अप्रामाणिक होगा कि एकत्र किये गये सूते ही पट हैं। अतः सावयवत्व का यह अर्थ भी व्यर्थ है।]

न चतुर्थः। विकल्पयुगलार्गलग्रहगलत्वात्। समवाय-

सम्बन्धमात्रवद् द्रव्यत्वं समवेतद्रव्यत्वमन्यत्र समवेतद्रव्यत्वं वा विवक्षितं हेतूक्रियते ?

आद्ये गगनादौ व्यभिचारः। तस्यापि गुणादिसमवायवत्व-द्रव्यत्वयोः सम्भवात्। द्वितीये साध्याविशिष्टता। अन्यशब्दार्थेषु समवायकारणभूतेष्ववयवेषु समवायस्य साधनीयत्वात्। अभ्युपगम्यैतदभाणि। वस्तुतस्तु समवाय एव न समस्ति। प्रमाणाभावात्।

(४) चौथा विकल्प [कि सावयव नित्यरूप से सम्बद्ध द्रव्य है,] भी ठीक नहीं क्योंकि इसकी गर्दन दो विकल्पों की अर्गला (किवाड़ बन्द करने की लकड़ी, बेड़ा) से पकड़ ली जाती है। [विकल्प इस प्रकार हैं] आप 'समवेत द्रव्य होना' से क्या समझते हैं—(क) क्या अपने-आप में नित्य रूप से (=समवाय) सम्बन्ध रखने वाला द्रव्य समझते हैं, या (ख) अपने अभीष्ट कथन (विवक्षित) का हेतु देने के लिये (=अपनी बात को सिद्ध करने के लिये) किसी दूसरे पदार्थ से समवाय सम्बन्ध रखने वाले द्रव्य को 'समवेत द्रव्य' समझते हैं ? [प्रथम विकल्प का अर्थ है कि द्रव्य अपने-अपने रूप में ही समवाय सम्बन्ध रखते हैं, दूसरा विकल्प कहता है कि द्रव्य अपने से भिन्न किसी पदार्थ से समवाय सम्बन्ध रखते हैं। दोनों अवस्थायें दूषित की जायेंगी। प्रथम का उदाहरण है (कल्पित)—पृथिवी का समवाय सम्बन्ध गन्ध से है और द्रव्य भी है। लेकिन इसे दूषित करेंगे। दूसरे का उदाहरण है—पट अपने से भिन्न तन्तुओं से समवाय सम्बन्ध रखता है तथा द्रव्य भी है।]

(क) पहले विकल्प को रखने से आकाशादि (द्रव्यों) में भी इसकी प्रसक्ति (Inclusion) हो जायगी, क्योंकि वह (आकाश) भी गुण (=शब्द) आदि में समवाय रूप में सम्बद्ध है तथा द्रव्य भी है। [आकाश में शब्द-गुण तथा द्रव्यत्व-जाति, जो उसी के रूप हैं, समवाय रूप से सम्बद्ध हैं इसलिये आकाश को भी तो पहली प्रतिज्ञा के अनुसार अवयवयुक्त मानना पड़ेगा। स्मरणीय है कि ये सारे विकल्प 'सावयवत्व' के ही हैं। आकाश वास्तव में सावयव किसी के मत से नहीं है। तर्कसंग्रहकार कहते हैं—'शब्द गुणकमाकाशम्। तच्चैकं विभु नित्यं च।' इसलिये पहला विकल्प नैयायिकों के अपने सिद्धान्त का ही खंडन करेगा।]

(ख) दूसरा विकल्प लेने पर (कि द्रव्य अपने से भिन्न किसी से समवाय सम्बन्ध रखता है) साध्य (the proposition to be proved) से

कोई अन्तर ही नहीं रहेगा (यह भी उतना ही क्लिष्ट हो जायगा जितना साध्य है) क्योंकि आपने 'अन्य' (अपने से भिन्न) शब्द का प्रयोग किया है, उसके अर्थ में आने वाले जो समवाय-कारण के रूप में अवयव हैं (जैसे पट के अतिरिक्त इसका समवायिकारण तन्तु हैं जो पट के अवयव भी हैं), उन्हीं में समवाय सम्बन्ध की सिद्धि करनी होगी। [पट के अवयव और समवायिकारण तन्तु तो हैं, पर इन्हें 'पट से भिन्न' मानना कैसे होगा ? इसलिये दूसरे स्थान में (अन्यत्र) समवेत द्रव्य के रूप में सावयवत्व मानना हमारे साध्य—'सावयवत्वं कार्यम्'—की तरह ही सिद्धि की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार चतुर्थ विकल्प—समवेतद्रव्यत्वं सावयवत्वम्—भी खण्डित हो गया, वह चाहे 'स्वस्मिन् समवेतद्रव्यत्वम्' या 'अन्यत्र······' हो।]

हमने यह सब कुछ आपकी [शब्दावली का प्रयोग करके] ही कहा है, नहीं तो वास्तव में [हम जैनों के यहाँ] समवाय (Inherent relation) है ही नहीं क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है [जो 'समवाय' को सिद्ध करे]। (वेदान्तियों की ही तरह जैन लोग भी समवाय को स्वीकार नहीं करते।)

नापि पञ्चमः। आत्मादिनानैकान्त्यात्। तस्य सावयवबुद्धिविषयत्वेऽपि कार्यत्वाभावात्। न च निरवयवत्वेऽप्यस्य सावयवार्थसम्बन्धेन सावयवबुद्धिविषयत्वमौपचारिकमित्येष्टव्यम्। निरवयवत्वे व्यापित्वविरोधात्परमाणुवत्।

(५) पाँचवाँ विकल्प [कि अवयवों के विचार से युक्त बुद्धि का विषय होना ही 'सावयव' है] भी ठीक नहीं क्योंकि यह (लक्षण) आत्मा-आदि पदार्थों को भी व्याप्त कर लेगा। आत्मा भी अवयवों के विचार से युक्त बुद्धि का विषय है फिर भी इसे कार्य के रूप में स्वीकार नहीं करते। [इससे बचने के लिये] आप यह नहीं कह सकते कि आत्मा के अवयवहीन होने पर भी, अवयवयुक्त वस्तुओं (सावयव-अर्थ, जैसे शरीर आदि) के साथ सम्बन्ध होने के कारण जो इसे (=आत्मा को) 'अवयवों के विचार से युक्त बुद्धि का विषय' कहते हैं, वह लाक्षणिक (औपचारिक metaphorical) भाषा में कहा जाता है (इसलिये आत्मा आदि का व्यभिचार इस लक्षण के द्वारा नहीं होता—लेकिन यह रक्षक-तर्क ठीक नहीं)। कारण यह है कि अवयवहीन पदार्थ और व्यापक-पदार्थ में, परमाणु की तरह (परमाणु अवयवहीन है पर व्यापक नहीं) ही, विरोध है।

विशेष—आत्मा अवयवहीन है, किन्तु शरीरादि अवयवयुक्त वस्तुओं के साथ (जैसे, मैं शरीरधारी हूँ) इसका सम्बन्ध देखा जाता है इसलिये औपचारिक प्रयोग से इसे सावयव बुद्धि का विषय कहते हैं। औपचारिक प्रयोग मानने का

कारण यह है कि आत्मा में कार्यत्व (जो यहाँ साध्य है) का अत्यन्त अभाव है, उसमें 'सावयव बुद्धि का विषयत्व' इस हेतु का भी अभाव है। लेकिन यह तर्क भी ठीक नहीं है क्योंकि अवयवहीन पदार्थ व्यापक नहीं हो सकते, दोनों में परस्पर विरोध है। औपचारिक प्रयोग कुछ कर नहीं सकता।

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि पृथ्वी आदि कार्य नहीं हैं इसलिये इनके कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। अब कर्त्ता पर ही शंकायें उठायी जाती हैं कि कर्त्ता एक है या अनेक। फिर ईश्वर को कर्त्ता मानने वालों को (नैयायिकादि को) अच्छी फटकार दी जायगी।

(१२. ईश्वर के कर्त्ता बनने पर आपत्ति)

किं च, किमेकः कर्त्ता साध्यते, किं वाऽनेके? प्रथमे प्रासादादौ व्यभिचारः। स्थपत्यादीनां बहूनां पुरुषाणां तत्र कर्तृत्वोपलम्भात्। द्वितीये बहूनां विश्वनिर्मातृत्वे तेषु मिथो वैमत्यसम्भावनाया अनिवार्यत्वादेकैकस्य वस्तुनोऽन्यान्यरूपतया सर्वमसमञ्जसमापद्येत। सर्वेषां सामर्थ्यसाम्येनैकेनैव सकलजगदुत्पत्तिसिद्धौ इतरवैयर्थ्यं च।

इसके अलावे, क्या आप एक कर्ता सिद्ध करते हैं या अनेक? यदि प्रथम विकल्प (एक कर्त्ता होना) लेते हैं तो प्रासाद (महल) आदि [के कर्तृत्व] में विरोध हो जायगा। उसके निर्माण में कर्त्ता के रूप में स्थपति (बढ़ई Carpenter) आदि बहुत से पुरुष पाये जाते हैं [यदि एक ही कर्त्ता मानेंगे तो प्रासादादि का निर्माण कैसे होगा?] यदि दूसरा विकल्प लेते हैं (कि बहुत-से कर्त्ता होते हैं) तब तो बहुत से कर्त्ता मिलकर विश्व का निर्माण करेंगे, उनमें परस्पर मतभेद की भी सम्भावना अनिवार्य है। फल यह होगा कि एक-एक चीज के भिन्न-भिन्न रूप हो जायँगे और सब कुछ असमंजस (गड़बड़, Incoherent) हो जायगा। दूसरी ओर, यदि सबों में समान शक्ति मानकर किसी एक के द्वारा समस्त संसार की उत्पत्ति सिद्ध करते हैं तो दूसरे कर्त्ता व्यर्थ हो जायँगे।

तदुक्तं वीतरागस्तुतौ—

१६. कर्त्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः
　　स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।

इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्यु-
स्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥ (वी० स्तु० ६) इति ।

अन्यत्रापि—

१७. कर्ता न तावदिह कोऽपि यथेच्छया वा
दृष्टोऽन्यथा कटकृतावपि तत्प्रसङ्गः ।
कार्यं किमत्रभवतापि च तक्षकाद्यै-
राहत्य च त्रिभुवनं पुरुषः करोति ॥ इति ।

जैसा कि वीतरागस्तुति में कहा गया है—'इस जगत् (प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात चराचर) का कोई कर्ता है, वह एक है, वह सर्वव्यापी है, वह स्वतन्त्र है, वह नित्य है—जिन (नैयायिकों) की इस प्रकार की दुराग्रह—(कु = असत् , हेवाक = हठ) रूपी विडम्बनाएँ (मायाजाल) हैं, [हे जिनेन्द्र !] तुम उनके शिक्षक (उपदेशक) नहीं हो ।'

दूसरे स्थान में भी (कहा है)—'इस संसार में अपनी इच्छा से काम करनेवाला कोई देखा नहीं जाता, नहीं तो चटाई (कट Mat) बनाने में भी उसकी प्रसक्ति (Inclusion) हो जायगी । फिर आप श्रीमान् तथा बढ़ई आदि के लिए कार्य ही क्या रह जायगा, जब कि वह पुरुष (ईश्वर) ही तीनों भुवनों का संग्रह करके (आ + √हन् = संकलन) निर्माण करता है ?'

विशेष—वीतरागस्तुति के इस श्लोक में नैयायिकों के द्वारा ईश्वर के लिए प्रदत्त चार विशेषणों का प्रयोग हुआ है—एक, सर्वग, स्ववश और नित्य । ईश्वर के एकत्व के विषय में तो ऊपर विचार हो चुका है कि एकत्व उसमें नहीं है । अब अगले विशेषणों का विचार करें । **सर्वग** (सर्वव्यापी)—यदि ईश्वर सर्वव्यापी है तो उसी के शरीर से संसार अवच्छिन्न है, दूसरे किसी के द्वारा बनाई गई वस्तुओं के लिए फिर कोई आश्रय नहीं रहेगा । यही नहीं, नरक आदि स्थानों में भी ईश्वर की प्रसक्ति माननी पड़ेगी । इस प्रकार उसे सर्वग सिद्ध नहीं कर सकते । **स्ववश** (स्वतन्त्र)—यदि ईश्वर को स्वतन्त्र मानते हैं तो अपने कारुणिक-स्वभाव से प्राणियों को वह सुखी ही बनाता, दुःखी नहीं । यदि प्रत्येक प्राणी के द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्म से प्रेरित होकर ही उसे दुःखी या सुखी बनाता है, तब स्वतन्त्रता कहाँ रही ? दूसरे यदि वह कर्म की अपेक्षा रखता है, तब सर्वेश्वरत्व भी उससे छिन गया क्योंकि ईश्वर अब कर्मों को तो नियन्त्रित नहीं कर सकता । वास्तव में कर्म ईश्वर का नियमन नहीं कर सकते । **नित्य**—संसार के कर्ता ईश्वर को नित्य भी नहीं कह सकते । अगर उसका

स्वभाव संसार का निर्माण करना है तब तो प्रलय नहीं हो सकेगी। यदि संहार करना ही स्वभाव मानें तो संसार की उत्पत्ति और स्थिति असम्भव हो जायेगी। अगर दोनों को ही स्वभाव मानें तो विरोध पड़ेगा तथा असंगति होगी। काल के भेद से स्वभाव में भेद मानें तो अनित्यत्व ही होगा। (अभ्यङ्कर)।

(१३. सर्वज्ञ की सिद्धि)

तस्मात्प्रागुक्तकारणत्रितयबलादावरणप्रक्षये सार्वज्ञ्यं युक्तम्। न चास्योपदेष्ट्रन्तराभावात् सम्यग्दर्शनादित्रितयानुपपत्तिरिति भणनीयम्। पूर्वसर्वज्ञप्रणीतागमप्रभवत्वादमुष्य अशेषार्थ-ज्ञानस्य। न चान्योन्याश्रयादिदोषः। आगमसर्वज्ञपरम्पराया बीजाङ्कुरवदनादित्वाङ्गीकारादित्यलम्।

इसलिए पूर्वोक्त तीनों कारणों (सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र) के बल से आवरण के क्षीण हो जाने पर सर्वज्ञ कहना (किसी को भी) युक्ति-युक्त है। ऐसा नहीं कहना चाहिए कि इस वाक्य के उपदेशक कोई दूसरे नहीं (स्वयं सर्वज्ञ ही हैं), अतः सम्यक् दर्शन आदि तीनों कारणों की असिद्धि हो जायगी। (चूँकि सम्यक् दर्शनादि को सर्वज्ञ बनने का कारण बतलानेवाला वाक्य स्वयं सर्वज्ञ का ही कहा हुआ है, इसलिए सर्वज्ञ ही सर्वज्ञ का कारण बतलावे, इसमें आत्माश्रय-दोष हुआ। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं) क्योंकि पहले के सर्वज्ञों के द्वारा बनाये गये आगमों से अशेष वस्तुओं का यह ज्ञान उत्पन्न होता है।

उसके बाद, अन्योन्याश्रय आदि दोषों की भी कल्पना यहाँ नहीं करें क्योंकि आगम और सर्वज्ञ की परम्परा बीज और अंकुर की परम्परा के समान ही अनादि है। बस, इतना पर्याप्त है।

विशेष—आगम में सर्वज्ञ की बात कही गई है और सर्वज्ञ का बनाया हुआ आगम है, इससे दोनों में अन्योन्याश्रय-दोष तो हुआ ही। इसका उत्तर है कि इन दोनों—आगम और सर्वज्ञ में बीज और अंकुर का सम्बन्ध है। जिस बीज से कोई अंकुर निकला, वह अंकुर उसी बीज का कारण नहीं होता, किन्तु किसी दूसरे बीज को उत्पन्न करता है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय का तो प्रसंग आता ही नहीं। फिर भी पहले बीज हुआ कि अंकुर, यह जानना कठिन है इसीलिए दोनों का संबंध अनादि मानते हैं। आगम भी जिस सर्वज्ञ की बात कहता है उस सर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत नहीं, बल्कि उसके पहले के किसी सर्वज्ञ के द्वारा बनाया गया है।

(१४. त्रिरत्नों का वर्णन—सम्यक् दर्शन)

रत्नत्रयपदवेदनीयतया प्रसिद्धं सम्यग्दर्शनादित्रितयमर्हत्प्रवचनसंग्रहपरे परमागमसारे प्ररूपितम्—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' इति (त० सू० १।१)।

विवृतं च योगदेवेन—'येन रूपेण जीवाद्यर्थो व्यवस्थितस्तेन रूपेण अर्हता प्रतिपादिते तत्त्वार्थे विपरीताभिनिवेशरहितत्वाद्यपरपर्यायं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।' तथा च तत्त्वार्थसूत्रं—तत्त्वार्थं(र्थे) श्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति।

'तीन रत्न' शब्द से समझे जानेवाले सुप्रसिद्ध सम्यक् दर्शन आदि तीनों का निरूपण 'परमागमसार' (नामक ग्रन्थ) में हुआ है जो (ग्रन्थ) अर्हतों के प्रवचनों (Teachings) के संग्रह[1] के रूप में है—'सम्यक् दर्शन (Right faith), सम्यक् ज्ञान (Right knowledge) और सम्यक् चारित्र (Right conduct) मोक्ष के मार्ग हैं (तत्त्वार्थाधिगमसूत्र का प्रथम सूत्र; रचयिता—उमास्वाति, काल–५० ई०)।'

योगदेव ने इसका विवरण भी दिया है—'जिस रूप में जीव आदि पदार्थों की व्यवस्था [संसार में] है अर्हत् ने उसी रूप में उनके तात्त्विक अर्थ का प्रतिपादन किया है, उन (उक्तियों) में श्रद्धा रखना, जिसका दूसरा नाम 'विरुद्ध सिद्धान्तों में आस्था (अभिनिवेश) नही रखना' है, ही सम्यक् दर्शन कहलाता है।' उसी तरह तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा गया है—'तत्त्वार्थ में श्रद्धा रखना ही सम्यक् दर्शन कहलाता है'।

विशेष—जैन-दर्शन का सम्पूर्ण आचारशास्त्र (Ethics) इन तीन रत्नों पर ही अवलम्बित है। ये तीनों एक साथ मिलकर मोक्ष के मार्ग का निर्माण करते हैं। इसके लिए दण्डचक्रादिन्याय है। जैसे दण्ड, चक्र, सूत्र, मृत्तिका आदि सब मिलकर घट का निर्माण करते हैं न कि पृथक्-पृथक्, उसी प्रकार ये सब मिलकर ही मोक्ष मार्ग बनाते हैं। तृणारणिमणिन्याय से ये काम नहीं करते। तृण अग्नि का कारण है, उसी प्रकार अरणि, उसी प्रकार मणि। तीनों भिन्न हैं। तीनों रत्नों का मिलना ही कारण नहीं है (कारणतावच्छेदकं तु न

---

१. विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां तत्त्वसिद्धये।
समासेनाभिधानं यत्संग्रहं तं विदुर्बुधाः॥

मिलितत्वम्), किन्तु तीनों में प्रत्येक की वृत्ति (Action) कारण का निर्माण करती है।

ऊपर परमागमसार और उसके टीकाकार योगदेव का नाम दिया गया है। आज दोनों ही अज्ञात हैं। हाँ, उद्धरणों की प्राप्ति उमास्वाति के तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र ग्रन्थ में होती है।

अन्यदपि—

१८. रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु सम्यक्श्रद्धानमुच्यते।
जायते तन्निसर्गेण गुरोरधिगमेन वा॥ इति।

परोपदेशनिरपेक्षमात्मस्वरूपं निसर्गः। व्याख्यानादि-रूपपरोपदेशजनितं ज्ञानमधिगमः।

दूसरे स्थान में भी (कहा है)—'जिन-देव के द्वारा कहे गये तत्त्वों में रुचि होना सम्यक् श्रद्धान (=दर्शन) कहलाता है। वह या तो निसर्ग (स्वभाव) से ही उत्पन्न होता है या गुरु के अधिगम (शिक्षा) से।' दूसरों के उपदेश की अपेक्षा न रखने वाले आत्म-स्वरूप (स्वभाव) का नाम निसर्ग (Nature) है। व्याख्यान आदि के रूप में दूसरों के उपदेश से उत्पन्न ज्ञान अधिगम (Instruction) कहलाता है।

(१५. सम्यक् ज्ञान और उसके पाँच रूप)

येन स्वभावेन जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेन स्वभावेन मोहसंशयरहितत्वेनावगमः सम्यग्ज्ञानम्। यथोक्तम्—

१९. यथावस्थिततत्त्वानां संक्षेपाद्विस्तरेण वा।
योऽवबोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः॥ इति।

'जिस स्वभाव से (रूप में) जीव आदि पदार्थ व्यवस्थित हैं उसी रूप में मोह (भ्रम False knowledge) तथा संशय से रहित होकर [उन्हें] जानना सम्यक् ज्ञान है।' जैसा कि कहा है—'तत्त्वों का, उनकी अवस्था के अनुरूप, संक्षेप या विस्तार से, जो बोध होता है, उसे ही विद्वान् लोग सम्यक् ज्ञान कहते हैं।'

तज्ज्ञानं पञ्चविधं मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलभेदेन। तदुक्तम्—मति-श्रुतावधि-मनःपर्याय-केवलानि ज्ञानमिति। अस्यार्थः—ज्ञानावरणक्षयोपशमे सति इन्द्रियमनसी पुरस्कृत्य

व्यापृतः सन्यथार्थं मनुते सा मतिः। ज्ञानावरणक्षयोपशमे सति मतिजनितं स्पष्टं ज्ञानं श्रुतम्। सम्यग्दर्शनादिगुणजनितक्षयोपशमनिमित्तमवच्छिन्नविषयं ज्ञानमवधिः। ईर्ष्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमे सति परमनोगतस्यार्थस्य स्फुटं परिच्छेदकं ज्ञानं मनःपर्यायः। तपःक्रियाविशेषान्यदर्थं सेवन्ते तपस्विनः तज्ज्ञानमन्यज्ञानासंसृष्टं केवलम्।

वह ज्ञान—(१) मति, (२) श्रुत (३) अवधि (४) मनःपर्याय और (५) केवल—इन भेदों के कारण पाँच प्रकार का है। यह कहा भी है—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय तथा केवल ये ज्ञान हैं। इसका अर्थ [निम्नलिखित है]-

(१) **मति** (Sensuous cognition)—ज्ञान के आवरण[1] (प्रतिबन्धक) का क्षय (बिल्कुल विनष्ट) या उपशम (थोड़ी देर के लिए नष्ट) हो जाने पर इन्द्रिय और मन को आगे रखकर [उनकी सहायता से) युक्त होकर पदार्थ का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना 'मति' है। [घटादि के प्रत्यक्ष होने के पूर्व जो मननात्मक ज्ञान प्राप्त होता है, वही मति है। चक्षु आदि इन्द्रियों की सहायता के बिना स्मरण के रूप में जो वस्तु का चिंतन करते हैं, उससे यह ज्ञान भिन्न है। उदाहरण से समझें—जिस तरह नाटक देखने के समय पर्दा हटने के थोड़ी देर पहले—'कौन पात्र आवेगा' इस तरह की मानसिक वृत्ति के साथ दर्शक लोग पर्दे पर दृष्टि डाले रहते हैं। ठीक उसी तरह का यह ज्ञान है। बिना सोचे ही अकस्मात् किसी वस्तु के देखने में भी मतिज्ञान ही है। बच्चे छह महीने तक अपनी दृष्टि स्थिर नहीं कर पाते इसलिए उन्हें मतिज्ञान नहीं होता। दृष्टि की स्थिरता ही मतिज्ञान का अनुमापक है।]

(२) **श्रुत** (Scriptural or verbal knowledge)—ज्ञान के आवरण का क्षय या उपशम हो जाने पर, मतिज्ञान से उत्पन्न, स्पष्ट ज्ञान को 'श्रुत' कहते हैं। इसे ही नैयायिक लोग 'निर्विकल्पक' कहते हैं। इन्द्रियों से उत्पन्न होने

---

१. ज्ञान के आवरण तीन प्रकार के हैं—मनोगत (mental), इन्द्रियगत (Sensuous) तथा विषयगत (Objective)। हठ, मत्सरता, अभिमान आदि के कारण ज्ञान का आवृत होना मनोगत आवरण है। नेत्र रोगों या इन्द्रियों में किसी दोष के कारण ज्ञान का आवरण इन्द्रियगत है। सूक्ष्म होने या अन्धकार में छिपे होने के कारण वस्तु को नहीं देख सकना विषयगत आवरण है।

के कारण स्वयं प्रत्यक्ष होने पर भी यह अतीन्द्रिय है = इन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय नहीं है ।]

(३) अवधि Definite knowledge)—जो ज्ञान सम्यक् दर्शन आदि गुणों से उत्पन्न क्षय या उपशम का कारण हो तथा विषयों (Objects) को व्याप्त करने वाला हो वह 'अवधि' है । [जिससे विषयों को मर्यादित कर दिया जाय कि यह वस्तु ऐसी है, वह ऐसी—यही अवधिज्ञान है । निर्वचन ऐसा होगा—अव समन्तात् द्रव्यादिभिः परिमितत्वेन धीयते = ध्रियते विषयोऽनेन । अथवा, अवधीयते = द्रव्यक्षेत्रकालभावैः परिच्छिद्यते विषयोऽनेन । अवधिज्ञान से विषयों का द्रव्य, स्थान, काल आदि जानते हैं । यही सविकल्पक ज्ञान है । देवता लोग इसी ज्ञान के कारण नीचे सातवें नरक तक देख पाते हैं लेकिन ऊपर अपने विमान के दण्ड तक ही देख सकते हैं इसलिए एक और अर्थ इसका है—अधस्तात् बहुतरविषयग्रहणात् अवधिः (अभ्यंकर) ।]

(४) मनःपर्याय (Extraordinary perception)—ज्ञान के आवरण के रूप में जो ईर्ष्या आदि विघ्न (अन्तराय) हैं उनका क्षय या उपशम हो जाने पर दूसरे व्यक्तियों के मन की बात को स्पष्ट रूप से व्याप्त करने वाले ज्ञान को 'मनःपर्याय' कहते हैं । [दूसरे व्यक्तियों के मन की बात को जानने के लिए ईर्ष्यादि मनोगत आवरण हटना आवश्यक है । वह सम्यक् दर्शन से हटता है । इस प्रकार, मनः = मनोगत अर्थ का, पर्याय = पर्ययण = दूसरे के मन में सर्वतः (परि) गमन होता है । इसे अलौकिक प्रत्यक्ष से दूसरे लोग जानते हैं ।]

(५) केवल (Pure knowledge)—जिसके लिए तपस्वी लोग विशेष प्रकार की तपस्यायें करते हैं तथा जो अन्य किसी प्रकार के भी ज्ञान से पृथक् (असंसृष्ट Unalloyed) है वही 'केवल ज्ञान' है । (सम्यक् चारित्र के द्वारा ज्ञान के सभी आवरणों का सर्वथा विनाश हो जाने पर ही मोक्ष देने वाला यह ज्ञान उत्पन्न होता है । इसे तत्त्वज्ञान भी कहते हैं । अन्य किसी भी ज्ञान से पृथक् होने के कारण इसे 'केवल' कहते हैं ।)

विशेष—इस पाँचों भेदों में प्रथम को परोक्ष और दूसरों को यहाँ प्रत्यक्ष कहते हैं पर जैन लेखकों ने एक स्वर से मति और श्रुत—दोनों को ही परोक्ष माना है ।[1] जब प्रत्यक्ष का वर्गीकरण इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष के

---

1. Vide. *Studies in Jaina Philosophy*. p. 30. — The Jaina thinkers are unanimous in ascribing the status of *parokṣa* (indirect knowledge) to the *mati* (sensuous cognition) and the *Śruta-jñāna* (scriptural knowledge).

रूप में होता है तब अवधि, मनःपर्याय और केवल को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष में रखते हैं तथा किसी भी इन्द्रिय से समुत्पन्न ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष में आता है।

तत्राद्यं परोक्षं, प्रत्यक्षमन्यत् । तदुक्तम्—

२०. विज्ञानं स्वपराभासि प्रमाणं बाधवर्जितम् ।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा ज्ञेयविनिश्चयात् ॥ इति ।

अन्तर्गणिकभेदस्तु सविस्तरः तत्रैवागमेऽवगन्तव्यः ।

उन [पाचों भेदों] में पहला परोक्ष है, दूसरा प्रत्यक्ष है। यही कहा भी है—'विज्ञान अपना तथा दूसरों का प्रकाशक [दीप के समान] है, किसी भी बाधा से मुक्त होने पर यह प्रमाण माना जाता है। ज्ञेय (knowable) वस्तुओं का विनिश्चय [चूँकि दो प्रकार से होता है इसलिए विज्ञान भी] दो तरह का है—प्रत्यक्ष और परोक्ष।' किन्तु इन सबों का विस्तारपूर्वक अवान्तर (अन्तर्गणिक) भेद वहीं आगमों से ही समझना चाहिए।

विशेष—मतिज्ञान के चार भेद हैं—अवग्रह (Perception) ईहा (Speculation), अवाय (Perceptual judgement) तथा धारणा (Retention)। वास्तव में ये व्यावहारिक प्रयक्ष की चार अवस्थायें हैं। 'यह पुरुष है' यह ज्ञान अवग्रह है। उसके बाद 'यह दक्षिण का है कि उत्तर का' इस संशय के होने पर 'यह दक्षिण का ही है' यह ज्ञान ईहा है। यह केवल संभव है, निश्चय नहीं। फिर भाषा आदि के आधार पर 'दक्षिण का है' यह ज्ञान अवाय है। उसी विषय का संस्कार से उत्पन्न फिर से ज्ञान होना धारणा है जिससे उस विषय का स्मरण होता है। डा० नथमल टाँटिया ने अपने प्रबन्ध (Thesis) Studies in Jaina Philosophy के द्वितीय-अध्याय (Epistemology of the Agamas, p. 27-80) में इन भेदों-उपभेदों का बहुत ही प्रामाणिक वर्णन किया है। विशेष ज्ञान के लिए वह स्थल द्रष्टव्य है।

(१६. सम्यक्चारित्र और पाँच महाव्रत)

संसरणकर्मोच्छित्तावुद्यतस्य श्रद्दधानस्य ज्ञानवतः पापगमनकारणक्रियानिवृत्तिः सम्यक्चारित्रम् । तदेतत्सप्रपञ्चमुक्तमर्हता—

२१. सर्वथावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते ।
कीर्तितं तदहिंसादिव्रतभेदेन पञ्चधा ॥
अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ॥

संसार के (प्रवर्तन के कारण स्वरूप] कर्मों के नष्ट (उच्छित्ति = उत् + √छिद् + क्तिन्) हो जाने पर, उद्यत (= पाप नाश के लिये), श्रद्धावान् (= प्रथम रत्न से युक्त) तथा ज्ञानवान् (= द्वितीय रत्न से युक्त) पुरुष का पाप में ले जाने वाली क्रियाओं से निवृत्त (पृथक्) हो जाना ही सम्यक् चारित्र (Right conduct) है। अर्हत् ने इसका वर्णन विस्तारपूर्वक किया है—'पाप के साथ संबन्ध का सब प्रकार से त्याग करना चारित्र है। अहिंसा आदि व्रतों के भेद से वह पाँच प्रकार का है। वे हैं—अहिंसा, सूनृत (सत्य), अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।'

२२. न यत्प्रमादयोगेन　जीवितव्यपरोपणम्।
　चराणां स्थावराणां च तदहिंसाव्रतं मतम्॥
२३. प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं सूनृतं व्रतमुच्यते।
　तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाहितं च यत्॥
२४. अनादानमदत्तस्यास्तेयव्रतमुदीरितम्।
　बाह्याः प्राणाः नृणामर्थो हरता तं हता हि ते॥
२५. दिव्यौदरिककामानां　कृतानुमतकारितैः।
　मनोवाक्कायतस्त्यागो ब्रह्माष्टादशधा मतम्॥
२६. सर्वभावेषु मूर्च्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रहः।
　यदसत्स्वपि जायेत मूर्च्छया चित्तविप्लवः॥

अहिंसाव्रत—प्रमाद (असावधानी या पागलपन) से भी जब चरों (मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) और स्थावरों (लता, वृक्ष आदि) के प्राणों का विनाश (व्यपरोपण = पृथक् करना) नहीं किया जाता है—वही अहिंसा-व्रत है॥ २२॥ सत्यव्रत—प्रिय (सुनने में सुखद), पथ्य (अंत में सुखद) तथा तथ्य (यथार्थ, सत्य) वाणी को सूनृत व्रत कहते हैं। वह वाणी सच्ची होकर भी सच्ची नहीं है जो प्रिय नहीं (सुनने में सुखद नहीं) या हितकर नहीं (परिणाम में सुखद नहीं) है॥ २३॥ अस्तेयव्रत—बिना दिये हुए किसी वस्तु को न लेना अस्तेय व्रत है। धन मनुष्यों के बाहरी प्राण हैं, उनके हरण से तो प्राणों का हरण होता है॥ २४॥ ब्रह्मचर्यव्रत—दिव्य (आगामी जीवन में भोग्य) और औदरिक (इसी शरीर में भोग्य) कामनाओं का कृत (स्वयं किये गये), अनुमत (अनुमोदित) तथा कारित (दूसरों से कराये गये) तीनों विधियों से (मन, वचन तथा कर्म से), त्याग देना 'ब्रह्म' (ब्रह्मचर्य) है जो अठारह

तरह का है ॥ २५ ॥ अपरिग्रहव्रत—सभी वस्तुओं में इच्छा का त्याग कर देना अपरिग्रह है क्योंकि इच्छा (मूर्च्छा) के द्वारा असत् (बुरी या सत्ताहीन Non-existent) वस्तुओं में चित्त की विकृति हो जाती है ॥ २६ ॥

विशेष—पतञ्जलि ने योग सूत्रों में (२।३०) यम के रूप में इन्हीं पाँच व्रतों का उल्लेख किया है जो योग-शास्त्र के अष्टाङ्ग-मार्ग में प्रथम-मार्ग के रूप में आते हैं। ब्रह्म के अनुसार आचरण करना ब्रह्मचर्य है। यह अठारह प्रकार का है। काम दो हैं—दिव्य और औदरिक। इन दोनों के भी तीन-तीन भेद होंगे क्योंकि ये कृत, अनुमत और कारित हो सकते हैं। इस प्रकार छह भेद हुए। अब मन, वचन या कर्म से प्राप्त होने के कारण इसके भी तीन-तीन भेद हुए। इस प्रकार कुल अठारह भेद हुए—अठारह कामनाओं के त्याग से अठारह ब्रह्मचर्य हुए—(१) मनःकृतदिव्यकामत्याग, (२) मनःकृतौदरिककामत्याग, (३) मनोऽनुमतदिव्यकामत्याग आदि। मूर्च्छा = इच्छा। 'मूर्च्छा परिग्रहः' (तत्त्व० सू० ७।१२) के भाष्य में लिखा है—इच्छा प्रार्थना कामोऽभिलाषः काङ्क्षा गार्ध्यं मूर्च्छेत्यनर्थान्तरम्। अनर्थान्तर = पर्याय (Synonymous)।

(१७. प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनायें)

२७. भावनाभिर्भावितानि पञ्चभिः पञ्चधा क्रमात्।
महाव्रतानि लोकस्य साधयन्त्यव्ययं पदम् ॥ इति।

भावनापञ्चकप्रपञ्चनं च निरूपितम्—

२८. हास्यलोभभयक्रोधप्रत्याख्यानैर्निरन्तरम्।
आलोच्य भाषणेनापि भावयेत्सूनृतं व्रतम् ॥

इत्यादिना। एतानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मिलितानि मोक्षकारणं न प्रत्येकम्। यथा रसायनम्, तथा चात्र ज्ञान-श्रद्धानाचरणानि संभूय फलं साधयन्ति, न प्रत्येकम्।

पाँच भावनाओं (States of mind) के द्वारा पाँच प्रकार से क्रमशः भावित (व्यवहृत) ये महाव्रत संसार के अक्षय (स्थायी) पद की सिद्धि करते हैं ॥ २७ ॥ पाँच भावनाओं के विस्तार का निरूपण इस प्रकार हुआ है—हास्य (विनोद), लोभ, भय एवं क्रोध का तिरस्कार (प्रत्याख्यान) सदैव करके (= ४ भावनाओं से) तथा सोच-समझकर (आलोचना करके) भाषण के द्वारा सूनृत-व्रत का व्यवहार करना चाहिये ॥ २८ ॥ [केवल सत्य व्रत के लिये पाँचों भावनायें बतलाई गई हैं। अन्य के लिये नीचे 'विशेष' देखें।]

ये सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र मिलकर मोक्ष का कारण बनते हैं, प्रत्येक पृथक्-पृथक् नहीं। जैसे रसायन-सेवन में उसका ज्ञान, उस पर विश्वास तथा उसका प्रयोग तीनों मिलकर फल देते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं।

विशेष—सभी व्रतों की भावनायें भिन्न-भिन्न हैं। केवल सूनृत की भावनाओं का निर्देशक श्लोक ही उद्धृत किया गया है। अन्य भावनायें यों हैं—

अहिंसा की भावनायें—(१) वाग्गुप्ति = विषयों में जाने की इन्द्रियों की जो प्रवृत्ति है वचन द्वारा उस प्रवृत्ति से आत्मा की रक्षा करना। (२) मनोगुप्ति = मन के द्वारा उस प्रवृत्ति से अपनी रक्षा। (३) ईर्यासमिति = जन्तुओं की रक्षा के लिये देखकर पैर रखते हुए चलना। (४) आदानसमिति = आसनादि को देखकर यत्नपूर्वक लाँघना, उसे ग्रहण करना या उठाना। (इनका वर्णन आगे देखें)। (५) आलोकितपानभोजन—देखकर पानी पीना या खाना।

सूनृत की भावनायें—(१) हास्य का परित्याग करके बोलना क्योंकि इससे असत्य भाषण में प्रवृत्ति देखी जाती है। (२) लोभ का परित्याग करके बोलना। (३) भय त्याग कर बोलना। (४) क्रोध त्याग कर बोलना क्योंकि इन सबों से झूठ बोलने की ओर प्रवृत्ति होती है। (५) सोच समझ कर बोलना।

अस्तेय की भावनायें—(१) शून्य स्थानों, पहाड़ों की गुफाओं में निवास। (२) दूसरों के द्वारा त्यक्त स्थानों में रहना। (३) दूसरों के किसी काम में रुकावट नहीं डालना। (४) आचार शास्त्र के नियमों से भिक्षा में मिली हुई वस्तु की शुद्धि। (५) दूसरों के साथ 'मेरा-तेरा' न करना।

ब्रह्मचर्य की भावनायें—(१) स्त्रीप्रेम की बातें न सुनना। स्त्री के सुन्दर शरीर को न देखना। (३) पहले की रति का स्मरण न करना। (४) शक्तिवर्धक रस-रसायनों का सेवन नहीं करना। (५) अपने शरीर के संस्कारों का त्याग करना (आभूषणों का प्रयोग नहीं करना)।

अपरिग्रह की भावनायें—(१) श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द के प्रति राग-द्वेष न होना। (२) जितेन्द्रिय का रस के प्रति रागद्वेष न होना। (३) चक्षु-इन्द्रिय का रूप के प्रति रागद्वेष न होना। (४) स्पर्शेन्द्रिय का स्पर्श के प्रति रागद्वेष न होना। (५) घ्राणेन्द्रिय का गन्ध के प्रति रागद्वेष न होना।

(१८. जैन तत्त्व-मीमांसा—दो तत्त्व)

अत्र संक्षेपतस्तावज्जीवाजीवाख्ये द्वे तत्त्वे स्तः। तत्र बोधात्मको जीवः। अबोधात्मकस्त्वजीवः। तदुक्तं पद्मनन्दिना।

२९. चिदचिद् द्वे परे तत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनम् ।
उपादेयमुपादेयं हेयं हेयं च कुर्वतः ॥
३०. हेयं हि कर्तृरागादि तत्कार्यमविवेकिता ।
उपादेयं परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ॥ इति ।

यहाँ संक्षिप्त रूप से जीव और अजीव नाम के दो तत्त्व हैं। उनमें ज्ञान के रूप में जीव है और अज्ञान के रूप में अजीव है। पद्मनन्दि ने इसे कहा है—'चित् (Soul) और अचित् (Non-soul)—ये दो परम तत्त्व (Ultimate reality) हैं। कर्ता के द्वारा उपादेय का ग्रहण करना तथा हेय का त्याग करना—ऐसा विवेचन (अलग-अलग) होने का नाम विवेक है ॥ २९ ॥ कर्ता में रहने वाले राग आदि दोष हेय हैं क्योंकि इनका कार्य है अविवेक। (रागादि के कारण हम चित्-अचित् में भेद नहीं कर पाते।) उपादेय (ग्राह्य) है तो [ज्ञान की] वह परम ज्योति जिसका एक मात्र लक्षण (या चिह्न) है 'उपयोग' ॥ ३० ॥

विशेष—उपादेयमुपा० = कुर्वतः (कुर्वता) उपादेयम् (= वस्तु) उपादेयम् (= ग्राह्यम्) अर्थात् कर्त्ता को उपादेय वस्तु का ग्रहण करना चाहिये, उसी प्रकार हेय वस्तुओं का त्याग करना चाहिये। परम ज्योति (जीव, चित्) का एक विशेष चिह्न है उपयोग (Consciousness)। इसके भी दो भेद हैं—उपयोग और लब्धि। जीव में अवस्थित चेतना का नाम लब्धि (Dormant consciousness) है किन्तु जब यही चेतनता कार्य रूप में आती है तब उपयोग (Active consciousness) कहलाती है। एक अवस्थित योग्यता बतलाती है, दूसरी कार्यान्विति। उपयोग साकार भी हो सकता है निराकार भी। साकार उपयोग को ज्ञान और निराकार उपयोग को दर्शन कहते हैं। इसके बाद उपयोग का निरूपण होगा।

सहजचिद्रूपपरिणतिं स्वीकुर्वाणे ज्ञानदर्शने उपयोगः। स परस्परप्रदेशानां प्रदेशबन्धात्कर्मणैकीभूतस्यात्मनोऽन्योन्यत्वप्रतिपत्तिकारणं भवति। सकलजीवसाधारणं चैतन्यम् उपशमक्षयक्षयोपशमवशात् औपशमिकक्षयात्मक-क्षायोपशमिकभावेन कर्मोदयवशात्कलुषान्याकारेण च परिणतजीवपर्यायविवक्षायां जीवस्वरूपं भवति। यदवोचद्वाचकाचार्यः—'औपशमिकक्षायिकौ

भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च' (त० सू० २।१) इति ।

[जीवात्मा का] स्वाभाविक चैतन्य के रूप में जो परिणाम (Change) है उसीको स्वीकार करने वाले (पहचानने वाले) ज्ञान और दर्शन को उपयोग (जीवात्मा की क्रियाओं का वास्तविक प्रयोग) कहते हैं । [बृहद्द्रव्य-संग्रह के आरम्भ में ही कहा है कि विवक्षित पदार्थ को व्याप्त करने वाला, पदार्थ का ग्रहण करने वाला व्यापार हो उपयोग है । सच में उपयोग वही है जिससे किसी वस्तु का रहस्य हम जानें, चित् का स्वाभाविक रूप जानें, उसका परिणाम जानें, जीवात्मा को जानें आदि । तो इसके दो रूप हैं—ज्ञान और दर्शन । दोनों व्यापारों में जीवात्मा का सहज-परिणाम (= चेतन्य रूप में) एक तरह का ही होता है क्योंकि इस परिणाम के बाद ही ज्ञान और दर्शन दोनों की उत्पत्ति होती है—प्रत्यक्ष और साकार होने पर ज्ञान कहलाता है, परोक्ष और निराकार होने पर दर्शन (श्रद्धा) कहलाता है । अब आगे यह बतला रहे हैं कि 'उपयोग' जीवात्मा का लक्षण है ।]

[जीव और कर्म के] पारस्परिक प्रदेशों (अवयवों) के मिश्रण (प्रदेश-बन्ध) के कारण कर्म के साथ मिली-जुली (एकीभूत) आत्मा के पार्थक्य (= कर्म और आत्मा के भेद) को जानने का साधन वह (उपयोग) ही है । [प्रदेश = अवयव; जीव के प्रदेशों में जो मिथःसंयोग है वह कभी दृढ़ रहता है कभी शिथिल । कभी-कभी फल देने के लिए प्रवृत्त होने वाले कर्म के अवयव जीव के अवयवों के संयोग को शिथिल कर अन्दर घुस आते हैं । इस प्रकार कर्म और जीव के प्रदेशों का मिश्रण होता है, इसे ही प्रदेशबन्ध कहते हैं क्योंकि ऐसा करने से जीव अपने अवयवों के कारण ही बन्धन (Bondage) में पड़ता है । वह तब तक मुक्ति (Liberation) नहीं पा सकता जब तक कर्म के अवयव पृथक् न हो जायँ । किसी सामान्य उपाय से उन्हें पृथक् रूप से जानना कठिन है । उपाय है तो 'उपयोग' । उसीसे जीवात्मा अपने में मिले हुए कर्म के परमाणुओं (पुद्गलों) से पृथक् ज्ञात होता है क्योंकि जीवात्मा चैतन्यरूप में परिणत हो जायगा, जिसे उपयोग से जान लेंगे । दूसरी ओर, कर्म के पुद्गल चैतन्यरूप में परिणत नहीं होंगे । उपयोग इस प्रकार मोक्ष का मार्ग तैयार करता है ।]

चैतन्य सभी जीवों में सामान्यरूप से पाया जाता है; एक ओर उपशम (थोड़ी देर के लिए कारणवश शान्त हो जाना) और क्षय (अत्यन्ताभाव) तथा क्षय और उपशम के वश में होकर, औपशमिकक्षय के रूप में

क्षायौपशमिक भाव के द्वारा, दूसरी ओर, कर्मों के उदय हो जाने के कारण कलुष (पाप) या दूसरे आकार के द्वारा [वही चैतन्य प्रतीत होता है]; परिणाम (आत्मस्वरूप जानने के लिए परिवर्तन) से युक्त जीव की अवस्थाओं की जब बात उठती है तब [वही चैतन्य] जीव का अपना रूप (Real nature) बन जाता है। ऐसा ही वाचकाचार्य ने कहा है—'औपशमिक, क्षायिक और दोनों का मिश्रण, औदयिक और पारिणामिक—ये (पाँच) भाव जीव के अपने रूप हैं' (तत्त्व० सू० २।१)।

विशेष—भाव (अवस्थायें) पाँच हैं–उपशम से सम्बद्ध, क्षय से सम्बद्ध, दोनों के मिश्रण (क्षयोपशम, उपशमक्षय) से सम्बद्ध, उदय से सम्बद्ध, तथा परिणाम से सम्बद्ध। (१) उपशम का अर्थ है थोड़ी देर के लिए नहीं उत्पन्न होना। जिस प्रकार फिटकरी के प्रयोग से पानी में कीचड़ बैठ जाती है (Sedimentation) यह पंक का उपशम है, वैसे ही आत्मा में कर्म का अपनी शक्ति के कारणवश दब जाना उपशम (Subsistence) है। जिस भाव का लक्ष्य केवल उपशम करना है उसे औपशमिक कहते हैं, जो जीव की एक विशिष्ट अवस्था है। (२) क्षय (Dissociation) किसी पदार्थ के आत्यन्तिक अभाव को कहते हैं (प्रध्वंसाभाव, क्योंकि वर्तमान पदार्थ का ही क्षय करना अभीष्ट है, भ्रम से अत्यन्ताभाव न समझें जिसमें अन्त आदि किसी का पता नहीं रहता)। जैसे काँच के बर्तन में रखे या मेघ में स्थित जल में पंक का बिल्कुल विनाश हो जाता है। जिस भाव का लक्ष्य कर्म का क्षय करना है उसे क्षायिक कहते हैं। (३) क्षय और उपशम—दोनों के मिश्रण को क्षयोपशम कहते हैं जैसे कुएँ के जल में कहीं तो पंक का क्षय है, कहीं उपशम। दोनों लक्ष्य रहने पर भाव क्षायौपशमिक कहलाता है। यह भी जीव की एक विशिष्ट अवस्था है। (४) द्रव्यादि निमित्तों से जब कर्म-फल की प्राप्ति शुरू हो जाती है उसे उदय (Rise) कहते हैं। जैसे जल में पंक का ऊपर उठना। इसी से सम्बद्ध भाव औदयिक है। यह भी जीव की एक विशिष्ट अवस्था है जिसमें कर्म मिले रहते हैं। (५) एक और स्थिति है परिणाम (Manifestation) जिसमें किसी द्रव्य को अपने स्वरूप में मिल जाना पड़ता है। इसमें कर्मोपशम आदि रहते ही नहीं, अपना स्वाभाविक रूप (जैसे आत्मा के लिए चैतन्य) मिल जाता है। इससे सम्बद्ध भाव पारिणामिक है।

स्मरणीय है कि इन भावों में पारिणामिक भाव जीव के लिए स्वाभाविक है क्योंकि इसमें कर्मोदय, उपशम आदि बिल्कुल नहीं रहते। औपशमिक आदि चार भाव जीव के लिए नैमित्तिक हैं क्योंकि विशिष्ट अवस्थाओं में ही ये उपपन्न होते हैं और कर्मोपशम आदि की अपेक्षा रहती है। ये पाँचों भाव ही जीव

की अवस्थाओं (पर्यायों) की बात चलने (विवक्षा) पर जीव का स्वरूप कहलाते हैं। जब केवल 'जीव' (पदार्थ) की बात चले (उसकी अवस्थाओं की नहीं), तब तो उसका स्वरूप ही भाव कहलाता है। इसे अभी स्पष्ट करेंगे—

अनुदयप्राप्तिरूपे कर्मण उपशमे सति जीवस्योत्पद्यमानो भाव औपशमिकः। यथा पङ्के कलुषतां कुर्वति कतकादिद्रव्यसंबन्धादधःपतिते जलस्य स्वच्छता। (आर्हततत्त्वानुसंधानवशाद् रागादिपङ्कक्षालनेन निर्मलतापादकः क्षायिको भावः।) कर्मणः क्षये सति जायमानो भावः क्षायिकः। यथा पङ्कात्पृथग्भूतस्य निर्मलस्य स्फाटिकादिभाजनान्तर्गतस्य जलस्य स्वच्छता। यथा मोक्षः।

उभयात्मा भावो मिश्रः। यथा जलस्यार्धस्वच्छता। कर्मोदये सति भवन्भाव औदयिकः। कर्मोपशमाद्यनपेक्षः सहजो भावश्चेतनत्वादिः पारिणामिकः। तदेतद्यथासम्भवं भव्यस्याभव्यस्य वा जीवस्य स्वरूपमिति सूत्रार्थः॥

(१) जब कर्म का उपशम हो जाय और [भविष्यत् को प्रभावित करने के लिए नये कर्म का) उदय न मिले, तब जीव में उत्पन्न होनेवाले भाव को **औपशमिक** कहते हैं। उदाहरणार्थ—गन्दा करने वाले पंक के कतक (पानी साफ करनेवाला एक द्रव्य) आदि द्रव्यों के संयोग से नीचे बैठ जाने पर जल में स्वच्छता आती है।

(२) अर्हतों के द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों के अनुसंधान से राग (आसक्ति, लाली) आदि पंकों को धोकर निर्मलता देने वाला भाव क्षायिक है (यह वाक्य प्रक्षिप्त जान पड़ता है क्योंकि इसके बाद पुनः क्षायिक भाव का वर्णन है। इसे औपशमिक में भी नहीं रख सकते क्योंकि स्पष्ट शब्द में 'क्षायिक' का प्रयोग है)। कर्म का क्षय (सदा के लिये नाश) हो जाने पर उत्पन्न होने वाला भाव (दशा) का नाम **क्षायिक** है। उदाहरणार्थ—पंक में से बिल्कुल पृथक्, निर्मल, तथा स्फटिक आदि के पात्र में रखे हुए जल की स्वच्छता। उसी तरह मोक्ष भी है [जिसमें जीव कर्मों का पूर्ण विनाश करके प्रवेश करता है]।

(३-५) दोनों मिला-जुला होने से भाव **मिश्र** (क्षायौपशमिक) है। उदाहरणार्थ—[कुएँ आदि के] जल में आधी स्वच्छता। कर्म का उदय होने पर जो भाव उत्पन्न होता है वह **औदयिक** है। कर्म के उपशम आदि से

अलग स्वाभाविक भाव जो चेतनत्व (Consciousness) आदि है, वह **पारिणामिक** है।

यही भाव यथासम्भव भव्य या अभव्य जीव का स्वरूप है—यही वाचकाचार्य के सूत्र का अर्थ है।

विशेष—जैन-दर्शन में जीवों की भव्यता पर बड़ा विचार किया गया है। जीव अन्धकार में भटकते रहते हैं। जब तक उनमें आध्यात्मिक विकास के लिये स्वयं-चेतन प्रयास नहीं चलता तब तक वे सम्यग् दर्शन नहीं पाते। इसके लिये उनमें सत्य-प्राप्ति के लिये प्रेम उत्पन्न होता है। सभी जीवों में यह लक्षण नहीं पाया जाता। जो इस सम्यक् दर्शन से युक्त होकर मोक्ष के इच्छुक हैं वे **भव्य जीव** (Fit for liberation) हैं। जिनमें यह लक्षण नहीं वे **अभव्य** हैं, ये कभी मोक्ष नहीं पा सकते। जैन लोग इस अनन्त बन्धन का कोई निश्चित कारण नहीं देते। बौद्ध धर्म में भी ऐसे अभव्यों का वर्णन है। देखें, अभिसमयालंकार ८।१०—

वर्षत्यपि हि पर्जन्ये नैवाबीजं प्ररोहति।
समुत्पादेऽपि बुद्धानां नाभव्यो भद्रमश्नुते॥

अस्तु, भव्यत्व और अभव्यत्व जीव के ये दो भाव चैतन्य के समान ही पारिणामिक हैं। अब प्रश्न उठता है कि चैतन्य तो ज्ञान है, वह जीवात्मा में रहने वाला उसका गुण है, स्वरूप नहीं। फिर चैतन्य जीव का भाव कैसे होगा? इसका समाधान नीचे देंगे—

तदुक्तं स्वरूपसम्बोधने—

३१. ज्ञानाद् भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः॥ इति।

ननु भेदाभेदयोः परस्परपरिहारेण अवस्थानादन्यतरस्यैव वास्तवत्वादुभयात्मकत्वमयुक्तमिति चेत्—तदयुक्तम्। बाधे प्रमाणाभावात्। अनुपलम्भो हि बाधकं प्रमाणम्। न सोऽस्ति। समस्तेषु वस्तुष्वनेकान्तात्मकत्वस्य स्याद्वादिनो मते सुप्रसिद्धत्वादित्यलम्।

स्वरूप-सम्बोधन नामक ग्रन्थ में यह कहा गया है—'जो ज्ञान से भिन्न नहीं, और न अभिन्न (समान Identical) ही है, किसी प्रकार वह भिन्न और अभिन्न दोनों है, उसके पूर्व में और अन्त में ज्ञान ही है—इसे ही आत्मा

कहा गया है।' [यह स्पष्ट है कि चैतन्य जीव का स्वाभाविक भाव है, जीव की एक विशेष अवस्था ज्ञान है—इस अवस्था-विशेष (ज्ञान) से जीव अत्यन्त भिन्न नहीं है। अत्यन्त अभिन्न भी वह नहीं कि जीव को ज्ञान ही कह दें। तब ? दोनों ही सीमाएँ (Extremes) अभिन्न और भिन्न साथ-साथ उसमें हैं। जीव में अपने दृष्टिकोण से ज्ञानवत्ता है इसलिए वह ज्ञान से अभिन्न है, दूसरों के दृष्टिकोण से अज्ञानवत्ता है इसलिए ज्ञान से वह भिन्न भी है। पूर्वापरीभूत ज्ञान का अर्थ है ज्ञान का प्रवाह, यही आत्मा है। 'कथंचन' का प्रयोग बतलाता है कि सत्ता अनेकान्त (बहुत सी संभावनाओं से युक्त) है।]

अब कोई शंका कर सकता है—'भेद और अभेद एक दूसरे का परिहार (विरोध) करते हुए अवस्थित हैं इसलिए वास्तव में दोनों में से कोई एक ही हो सकता है, दोनों होना असंगत है।' [हमारा उत्तर है कि] ऐसी शंका निराधार है क्योंकि इसके बाधक (Contrary) में प्रमाण नहीं मिलता। किसी वस्तु की अप्राप्ति को ही बाधक प्रमाण कहते हैं, यहाँ पर अप्राप्ति है ही नहीं। कारण यह है कि स्याद्वाद का सिद्धान्त माननेवाले (जैनों) के मत से सभी वस्तुओं में अनेकान्तात्मकता है—यही कहना पर्याप्त है।

विशेष—जैनों का एक विशिष्ट सिद्धान्त है—अनेकान्तवाद, जिसका अर्थ है कि किसी वस्तु का कोई रूप निश्चित नहीं, सभी वस्तुएँ अनिश्चित हैं—सत्ता असत्ता दोनों हैं, इसे सप्तभङ्गी नय के द्वारा वे व्यक्त करते हैं। इसमें स्यात् (कथंचित्) शब्द का प्रयोग होने के कारण जैनों को स्याद्वादी भी कहते हैं। अनेकान्तवाद को अपनाने के कारण जैनों में सभी तरह के सिद्धान्तों को अपनाने की परम्परा है। वे सभी विचारों का आदर करते हैं। इसकी विवेचना इसी दर्शन में आगे होगी। इसी सिद्धान्त के कारण यहाँ पर जीव में ज्ञान से भिन्नता और अभिन्नता दोनों मानते हैं। यदि भेद और अभेद दोनों की एक साथ उपलब्धि नहीं होती तभी उपर्युक्त शंका हो सकती थी। अनेकान्तवाद मानने के बाद यह सब विचार मिट जाता है।

(१९. पाँच तत्त्व—दूसरा मत)

अपरे पुनर्जीवाजीवयोरपरं प्रपञ्चमाचक्षते जीवाकाशधर्माधर्मपुद्गलास्तिकायभेदात्। एतेषु पञ्चसु तत्त्वेषु कालत्रयसम्बन्धितया अस्तीति स्थितिव्यपदेशः। अनेकप्रदेशत्वेन शरीरवत्कायव्यपदेशः।

दूसरे (जैन-दार्शनिक) लोग अब जीव और अजीव (= उपर्युक्त भेदीकरण) का एक दूसरा ही प्रपञ्च (विस्तार, वर्गीकरण) करते हैं—जिनके अनुसार

[ये पाँच] अस्तिकाय (पदार्थ) हैं—जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल। इन पाँचों तत्त्वों का सम्बन्ध चूँकि तीनों कालों (भूत, वर्तमान, भविष्यत्) से है (= तीनों कालों में ये स्थित हैं) इसलिये 'अस्ति' शब्द के द्वारा इनकी स्थिति (Existence सत्ता) का बोध कराया जाता है। उसी तरह, अनेक स्थानों में रहने के कारण, शरीर की भाँति, इनका बोध 'काय' शब्द से होता है। [इनके अस्तिकाय नाम पड़ने का कारण बतलाया जा रहा है कि 'अस्ति' से काल का बोध होता है 'काय' से देश का। कोई भी वस्तु किसी न किसी देश या काल (Time or Space) में रहती है। 'अस्तिकाय' शब्द दर्शन के अन्तस्तल का स्पर्श करने वाला है जिसमें वस्तुओं के दो व्यापक-तत्वों का बोध कराने की सामर्थ्य है।]

तत्र जीवा द्विविधाः, संसारिणो मुक्ताश्च। भवाद्भवान्तर-प्राप्तिमन्तः संसारिणः। ते च द्विविधाः—समनस्का, अमनस्काश्च। तत्र संज्ञिनः समनस्काः। शिक्षाक्रियालापग्रहणरूपा संज्ञा। तद्विधुरास्त्वमनस्काः। ते चामनस्का द्विविधाः, त्रसस्थावरभेदात्। तत्र द्वीन्द्रियादयः शङ्खगण्डोलकप्रभृतयः चतुर्विधास्त्रसाः। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः।

जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और मुक्त। एक जन्म (भव) से दूसरे जन्म की प्राप्ति करने वाले जीव **संसारी** कहलाते हैं। वे भी दो प्रकार के हैं—समनस्क और अमनस्क। उनमें संज्ञा-युक्त जीव **समनस्क** हैं। [संज्ञा से लोग खाने-पीने आदि की चेतनता समझते हैं जो पशुओं में भी है, लेकिन जैन लोग इसे सीमित अर्थ में लेते हैं।] शिक्षा (दूसरों का उपदेश), क्रिया, आलाप (बात-चीत) का ग्रहण करना ही संज्ञा है। [संज्ञा से गन्धर्व, मनुष्य आदि का ही ग्रहण होता है क्योंकि ये ही दूसरों के गुण-दोष के विचार में निपुण हैं। पशु-पक्षियों में कुछ ही ऐसे हैं जैसे—हाथी, घोड़ा, बन्दर, सुग्गा आदि।]

अमनस्क जीव संज्ञा से रहित हैं, जिनके दो भेद हैं—त्रस और स्थावर (उनमें दो इन्द्रियाँ आदि से युक्त शंख, गण्डोलक (गंडकी का एक पत्थर) आदि चार प्रकार के जीव **त्रस** हैं। पृथिवी, जल, तेज (अग्नि), वायु और वनस्पति **स्थावर** हैं।

विशेष—त्रस का अर्थ सामान्यतः लोग गतिशील (Locomotive) और स्थावर का अर्थ अगतिशील (Immovable) लेते हैं। लेकिन आपाततः प्रतीत होने पर भी उनका यह अर्थ नहीं है। त्रस और स्थावर दोनों ही विशेष

प्रकार के कर्मों के बोधक हैं। इन कर्मों से ही कोई जीव जन्म लेकर स्थावर होता है, कोई त्रस। शुभ और अशुभ दोनों तरह के कर्मों का नाम त्रस है। प्रायः अशुभ कर्म का नाम स्थावर है। त्रस कर्म के उदय होने से जो जीव जन्म लेते हैं वे त्रस हैं. स्थावर कर्म के उदय से स्थावर जीव जन्म लेते हैं।

त्रस जीवों के चार प्रकार हैं—(१) **द्वीन्द्रिय** (स्पर्श और रसन की इन्द्रियों से युक्त) जैसे—शंख, गंडोलक, शुक्ति (सीपी), कृमि (कीट) आदि। (२) **त्रीन्द्रिय** (स्पर्श, रसन और घ्राण)—पिपीलिका (चींटी), यूक (जोंक) आदि। (३) **चतुरिन्द्रिय** (ऊपर के तीन तथा चक्षु)—दंश, मशक (मच्छर), भ्रमर आदि। (४) **पञ्चेन्द्रिय** (कर्ण भी)—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि। स्थावर जीवों के भेद अब बतलावेंगे। स्मरणीय है कि समनस्क केवल त्रस ही होते हैं उनमें भी पाँच इन्द्रियों वाले ही।

तत्र मार्गगतधूलिः पृथिवी। इष्टकादिः पृथिवीकायः। पृथिवीं कायत्वेन येन गृहीता स पृथिवीकायिकः। पृथिवीं कायत्वेन यो ग्रहीष्यति स पृथिवीजीवः। एवमबादिष्वपि भेद-चतुष्टयं योज्यम्। तत्र पृथिव्यादि कायत्वेन गृहीतवन्तो ग्रहीष्यन्तश्च स्थावरा गृह्यन्ते न पृथिव्यादिपृथिवीकायादयः। तेषामजीवत्वात्। ते च स्थावराः स्पर्शनैकेन्द्रियाः। भवान्तर-प्राप्तिविधुरा मुक्ताः।

[यहाँ पर एक विभाजन करें—] मार्ग की धूलि **पृथिवी** है, ईंट आदि (पाषाण भी) **पृथिवीकाय** हैं (क्योंकि ये मरे हुए आदमी के काय की तरह स्थित हैं)। पृथिवी को काय के रूप में जिसने ग्रहण कर लिया वह **पृथिवी-कायिक** है, पृथिवी को काय के रूप में जो ग्रहण करेगा वह **पृथिवीजीव** है। इसी प्रकार जल (अप् = आपः) आदि में भी चार-चार भेद कर लें। पृथिवी आदि को काय के रूप में जिन्होंने ग्रहण कर लिया है या जो ग्रहण करेंगे वे जीव ही स्थावर जीव हैं (अर्थात् पृथिवी कायिक, अप्कायिक, तेजःकायिक आदि और पृथिवीजीव, अब्जीव, तेजोजीव आदि ही जीव—स्थावर जीव—हैं)। पृथिवी (अप्, तेज) आदि तथा पृथिवीकाय (अप्काय, तेजःकाय) आदि स्थावर-जीव नहीं हैं क्योंकि इनमें जीव ही नहीं है। [अभिप्राय यह है कि पहले दोनों वर्ग स्थावर जीव में नहीं आते। स्थावर जीव कहने से पिछले दोनों वर्गों (···कायिक···जीव) का ही ग्रहण होता है।]

इन सभी स्थावर जीवों की एक ही इन्द्रिय—केवल स्पर्शन—होती है। मुक्त जीव वे हैं जो दूसरा जन्म नहीं पाते। [इस प्रकार संसारी और मुक्त का वर्णन करके जीव-तत्त्व का वर्णन समाप्त हुआ।]

धर्माधर्माकाशास्तिकायाः ते एकत्वशालिनो निष्क्रियाश्च द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतवः। तत्र धर्माधर्मौ प्रसिद्धौ। आलोकेनावच्छिन्ने नभसि लोकाकाशपदवेदनीये तयोः सर्वत्रावस्थितिः। गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः। अतएव धर्मास्तिकायः प्रवृत्त्यनुमेयः। अधर्मास्तिकायः स्थित्यनुमेयः। अन्यवस्तुप्रदेशमध्येऽन्यस्य वस्तुनः प्रवेशोऽवगाहः। तदाकाशकृत्यम्।

धर्म, अर्थ और आकाश के अस्तिकाय एकत्व से युक्त (एक भेदवाले) हैं, क्रियाहीन हैं, द्रव्य को दूसरे स्थान में ले जानेवाले हैं। धर्म और अधर्म तो प्रसिद्ध ही हैं। आलोक (प्रकाश) से व्याप्त आकाश में, जिसे 'लोकाकाश' शब्द से समझते हैं, वहाँ उन दोनों की अवस्थिति सर्वत्र है। क्रमशः गति और स्थिति के ग्रहण से धर्म और अधर्म का उपकार होता है (=ग्रहण होता है)। इसलिए **धर्म**-अस्तिकाय (पदार्थ) का अनुमान प्रवृत्ति (गति Motion) देखकर करते हैं, **अधर्म**-अस्तिकाय स्थिति (Rest) से अनुमेय है। एक वस्तु के स्थान में दूसरी वस्तु का प्रवेश होना 'अवगाह' है, यही आकाश का काम है।

विशेष—जिस प्रकार जीव और पुद्गल के कई भेद हैं, उस तरह धर्म, अधर्म, और आकाश में भेद नहीं होते—ये अकेले ही हैं (आ आकाशादेकद्रव्याणि, त० सू० ५।६)। बाहरी या भीतरी किसी भी कारण से पदार्थ में कोई विशेष अवस्था उत्पन्न हो जाये जिससे पदार्थ (या द्रव्य) दूसरे स्थान में पहुँच जाये—इसी का नाम 'क्रिया' है। उपर्युक्त तीनों अस्तिकाय क्रिया से भी रहित हैं, ज्यों-के-त्यों रहते हैं। हाँ, ये जीवों और पुद्गलों में क्रिया (देशान्तर-प्राप्ति) उत्पन्न करने के कारण होते हैं।

आकाश के दो रूप हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। लोक से सम्बद्ध आकाश लोकाकाश है। इसी में धर्म और अधर्म रहते हैं, इनके भी पुद्गल होते हैं। धर्माधर्म से आकाश वैसा ही व्याप्त है जैसा तेल से तिल रहता है। तात्पर्य यह है कि ये आकाश में सर्वत्र हैं, कोई स्थान इनसे खाली नहीं है (धर्माधर्मयोः कृत्स्ने, त० सू० ५।१३)। उपग्रह और उपकार दोनों ग्रहण (Apprehension) के अर्थ में लिये गये हैं। जीव के द्वारा गृहीत गति का नाम धर्म है, स्थिति

का नाम अधर्म। यों दोनों की स्थिति सर्वत्र होती है। इस पर अभ्यंकर जी ने दृष्टान्त दिया है—जैसे मछली की गति होने पर जल साधारण अवस्था में रहता है उसी तरह जीवों की गति होने पर धर्म। फिर, जैसे घोड़े की स्थिति होने पर पृथिवी साधारण अवस्था में रहती है उसी तरह जीवों की स्थिति में अधर्म भी रहता है। गति और स्थिति जीव के विशेष परिवर्तनों के नाम हैं। धर्म और अधर्म को हम देख नहीं सकते, केवल जीव की गति और स्थिति देखकर उनका अनुमान भर हो सकता है।

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः (त० सू० ५।२४)। ते च द्विविधाः—अणवः स्कन्धाश्च। भोक्तुमशक्या अणवः। द्व्यणुकादयः स्कन्धाः। तत्र द्व्यणुकादिस्कन्धभेदात् अण्वादिरुत्पद्यते। अण्वादिसङ्घाताद् द्व्यणुकादिरुत्पद्यते। क्वचिद् भेदसङ्घाताभ्यां स्कन्धोत्पत्तिः (त० सू० ५।२६)। अतएव पूरयन्ति गलन्तीति पुद्गलाः।

स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण (रूप) से युक्त पुद्गल होते हैं। वे दो प्रकार के हैं—अणु (Atomic) और स्कन्ध (Compound)। [अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण, ग्रहण, धारण, निक्षेपण आदि के न होने से] अणुओं का उपभोग नहीं किया जा सकता। द्व्यणुक (दो अणुओं से बना हुआ) से आरम्भ करके स्कन्ध होते हैं। द्व्यणुक आदि स्कन्धों का विश्लेषण (Analysis) करने पर अणु आदि उत्पन्न होते हैं। अणु आदि के समूह (Synthesis) से द्व्यणुक आदि होते हैं। कभी-कभी स्कन्ध की उत्पत्ति विश्लेषण और संघात दोनों के प्रयोग से होती है। इसलिए भरने (मिलने, √पॄ + णिच्) या पृथक्-पृथक् होने (√गल्) के कारण इन्हें पुद्गल कहते हैं।

विशेष—पुद्गल के लक्षण में प्राचीन पुस्तकों में 'गन्ध' नहीं दिया गया है—जिसका अनुवाद कॉवेल ने भी किया है पर सूत्र में 'गन्ध' का प्रयोग है। स्पर्श के आठ भेद हैं—कठोर, मृदु, लघु, गुरु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष। रस पाँच प्रकार का है—तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल, मधुर। गन्ध दो प्रकार की है—सुरभि, असुरभि। वर्ण के पाँच भेद हैं—कृष्ण, नील, लोहित, पीत, शुक्ल।

अणु = √अण् से, अर्थ है—स्पर्शादि अवस्थाओं के उत्पादन में समर्थ है, ऐसा जिसे कहते हैं। स्कन्ध = √स्कन्ध् से, अर्थ—ग्रहण, निक्षेपण आदि व्यापारों का उपयोगी। ये दोनों ही पुद्गलों की विशेष अवस्थाओं के नाम हैं। प्रकृति में अणु, फिर स्कन्ध। द्व्यणुकादि स्कन्धों का विश्लेषण करने पर अन्त

में पुद्गलों की अणु-अवस्था (परिणाम) में पहुँचते हैं। अणुओं को मिलाने पर पुद्गलों की स्कन्धावस्था में पहुँचते हैं। कभी-कभी भेद और संघात दोनों करने पर स्कन्ध-परिणाम की प्राप्ति होती है जैसे—

द्वचणुक = त्र्यणुक का विश्लेषण

या, द्वचणुक = अणुओं का संघात।

(२०. काल भी एक द्रव्य है)

कालस्यावेकप्रदेशत्वाभावेन अस्तिकायत्वाभावेऽपि द्रव्यत्वमस्ति। तल्लक्षणयोगात्। तदुक्तं—गुणपर्यायवद् द्रव्यम् (त० सू० ५।३८) इति। द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः (त० सू० ५।३९)। यथा जीवस्य ज्ञानत्वादिधर्मरूपाः, पुद्गलस्य रूपत्वादिसामान्यस्वभावाः। धर्माधर्माकाशकालानां यथासम्भवं गतिस्थित्यवगाहवर्तनाहेतुत्वादिसामान्यानि गुणाः।

तस्य द्रव्यस्योक्तरूपेण भवनं पर्यायः। उत्पादस्तद्भावः परिणामः पर्याय इति पर्यायाः। यथा जीवस्य घटादिज्ञानसुखक्लेशादयः। पुद्गलस्य मृत्पिण्डघटादयः। धर्मादीनां गत्यादिविशेषाः। अतएव षड् द्रव्याणीति प्रसिद्धिः।

यद्यपि काल (Time) अनेक स्थानों में अवस्थित न होने के कारण अस्तिकाय नहीं है फिर भी यह द्रव्य (Substance तत्त्व) है। कारण यह है कि द्रव्य के लक्षण इसमें लगते हैं। कहा है कि गुण और पर्याय (=कर्म—हेमचन्द्र) से युक्त द्रव्य होता है (तत्त्व सू० ५।३८)।[1] द्रव्य में रहनेवाले किन्तु स्वयं गुण धारण न करनेवाले को **गुण** (Qualities) कहते हैं। उदाहरणार्थ जीव के गुण, ज्ञानत्व आदि धर्मों के रूप में हैं, पुद्गल के [गुण] रूपत्व (वर्ण) आदि सामान्य स्वभाव हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल के [गुण] यथासम्भव गति (धर्म-गुण), स्थिति (अधर्म-गुण), अवगाह (आकाश-गुण) और वर्तनाहेतुत्व (= किसी विशेष अवस्था में रहना, काल-गुण) आदि के सामान्य रूप हैं।

उस द्रव्य का उपर्युक्त रूप से (= भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में जाकर) होना **पर्याय** (Action) कहलाता है। [द्रव्य के] पर्याय ये हैं—उत्पाद (उत्पत्ति Production), तद्भाव (सत्ता Existence), परिणाम

१. देखिए वैशेषिक सूत्र—(१।१।१५)

(Development) और पर्याय (Action)। जैसे जीव के [पर्याय] घट आदि का ज्ञान, सुख, क्लेश आदि हैं; पुद्गल के [पर्याय] मिट्टी का पिण्ड, घट आदि हैं; धर्मादि के [पर्याय] गति आदि के विशेष (सामान्य नहीं, क्योंकि वह गुण में रहता है) हैं। इसीलिए प्रसिद्धि है कि द्रव्य छह हैं (पाँच अस्तिकाय + काल)।

विशेष—द्रव्य का यही लक्षण नैयायिकों ने भी स्वीकार किया है। अन्तर यही है कि जैन 'पर्याय' का प्रयोग करते हैं नैयायिक 'कर्म' का। हेमचन्द्र ने पर्याय को कर्म कहा भी है। एक स्थान पर (अभिधानरत्नमाला १५०३) में उसे यों कहा है—पर्यायोऽनुक्रमः क्रमः। अब द्रव्यलक्षण की व्याख्या करें—जिस धर्म के चलते एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से भिन्न किया जाता है (Distinguished) द्रव्य में निवास करनेवाला वह धर्म **गुण** है। जैसे ज्ञानत्व, इसी से जीव-द्रव्य का भेद पुद्गलादि द्रव्यों से किया जाता है। पुद्गल-द्रव्य को रूपत्व के चलते दूसरे द्रव्यों से पृथक् करते हैं। तो, यहाँ ज्ञान, रूप आदि गुण हैं। द्रव्य की विशेष अवस्था का नाम **पर्याय** है जो क्रमशः उत्पन्न होती है। जैसे जीव में घटज्ञान, पटज्ञान, क्रोध, मान इत्यादि और पुद्गल में श्वेत, कृष्ण आदि। ये देखने में गुण—जैसा लगते हैं। भ्रम में न पड़ें। पर्याय द्रव्य के अवस्था-विशेष का नाम है अतः गुण भी उसमें रहते हैं।

बृहद्द्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ में दोनों की परिभाषा ऐसी दी गई है—(१) सहभावी धर्मो गुणः (२) क्रमभावी पर्यायः। द्रव्य के साथ होने वाले धर्म को **गुण** कहते हैं जैसे जीव का गुण—उपयोग, पुद्गल का गुण—ग्रहण करना, धर्मास्तिकाय का गुण—गति उत्पन्न करना, अधर्मास्तिकाय का—स्थिति उत्पन्न करना, काल का गुण—सत्ता उत्पन्न करना आदि। द्रव्य के साथ-साथ गुण उत्पन्न होते हैं। क्रम (Succession) नहीं होता। दूसरी ओर क्रम से उत्पन्न होनेवाले, द्रव्य के बाद आनेवाले **पर्याय** हैं। जीव के पर्याय नरक आदि; पुद्गल के रूप, रस, स्पर्शादि; धर्म, अधर्म और आकाश का पर्याय अभिव्यक्ति है।

काल का गुण है—वर्तनाहेतुत्व। बर्तन का अर्थ है द्रव्य का भिन्न-भिन्न रूपों तथा अवस्थाओं में रहना। चावल, भात के रूप में, दूध-दही के रूप में, बीज अंकुर, काण्ड, पत्ता, फूल, फल के रूप में, नवीन वस्तु जीर्ण-शीर्ण वस्तु के रूप में—यह सब काल के कारण ही होता है।

(२१. सात तत्त्व—तीसरा मत)

केचन सप्त तत्त्वानीति वर्णयन्ति। तदाह—जीवाजीवास्रवबन्धसम्वरनिर्जरमोक्षास्तत्त्वानि (त० सू० १।४) इति।

तत्र जीवाजीवौ निरूपितौ। आस्रवो निरूप्यते—औदारिकादिकायादिचलनद्वारेण आत्मनश्चलनं योगपदवेदनीयमास्रवः। यथा सलिलावगाहि द्वारं जलाद्यास्रवणकारणत्वादास्रव इति निगद्यते, तथा योगप्रणाडिकया कर्मास्रवतीति स योग आस्रवः।

कुछ लोग (जैन दार्शनिक) सात तत्त्वों का वर्णन करते हैं। यह बात [सूत्रकार भी] कहते हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व हैं (त० सू० १।४)।[1] उनमें जीव और अजीव का निरूपण तो हो चुका है (देखिये—अनुच्छेद १८)। अब आस्रव का निरूपण किया जाता है—औदारिक आदि कायों तथा दूसरे साधनों (= मन और वचन) के चलने से आत्मा का चलना, जिसे योग भी कहते हैं, आस्रव है। जिस प्रकार पानी में डूबा हुआ [किसी नली का] छेद आस्रव कहलाता है क्योंकि जलादि का इसी से होकर आस्रवण (गिरना, बहना) होता है, उसी प्रकार योग (= आत्मा की चञ्चलता)-रूपी नली के द्वारा [आत्मा या जीव में] कर्म का आस्रवण (Flow, प्रवाह, बहना) होता है, यह योग (जीव का कर्म से बँधना) ही आस्रव है।

विशेष—आस्रव के लक्षण में कुछ शास्त्रीय-पदों का प्रयोग हुआ है, उन्हें देखा जाय। काय (शरीर) के पाँच भेद हैं—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण। दे० तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (२।३६)। ये काय एक की अपेक्षा दूसरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर हैं। उदार = स्थूल, उसमें उत्पन्न = औदार = स्थूल शरीर से साध्य कर्म आदि। औदार जिसका प्रयोजन है वह **औदारिक** = यह दृश्यमान स्थूल शरीर। वैक्रियिक इसकी अपेक्षा सूक्ष्म है। विक्रिया = सामर्थ्य के कारण अनणु को अणु बना देना तथा लघु को महान् बना देना। विक्रिया जिसका प्रयोजन है वह **वैक्रियिक** = जो दृश्य नहीं है ऐसा शरीर। आहारक इससे भी सूक्ष्म है। **आहारक** वह है जिसे आहृत अर्थात् स्वीकृत किया जाय। सूक्ष्मवस्तुओं के परिज्ञान के लिये इसे स्वीकृत किया गया है। तेज (अग्नि) में उत्पन्न **तैजस** है जो आहारक की अपेक्षा सूक्ष्म है। सबसे सूक्ष्म **कार्मण** है जिसमें शब्दादि भी प्राप्त नहीं होते। यद्यपि पाँचों प्रकार के शरीरों का निमित्त

---

१. चेतनालक्षणो जीवः। तद्विपर्ययलक्षणोऽजीवः। शुभाशुभकर्मागमद्वारमास्रवः। आत्मकर्मणोरन्योन्यावयवानुप्रवेशो बन्धः। आस्रवनिरोधः संवरः। कर्मैकदेशसंक्षयो निर्जरा। कृत्स्नकर्मवियोगो मोक्षः—इत्येषां सामान्यलक्षणानि (अभ्यङ्करः)।

कर्म ही है फिर भी रूढि वश (Conventionally) इसे 'कार्मण' शब्द से समझते हैं। लोहे के पिण्ड में अग्नि के परमाणु प्रवेश करते हैं उसी तरह तैजस और कार्मण वज्र आदि में भी प्रवेश कर जाते हैं। इन शरीरों (पाँचों) में सूक्ष्मता एक से अधिक है लेकिन व्यापकता भी वैसी ही अधिक है।

कायादि = काय, मन, वचन। आत्मा के स्थान का चलना (देशान्तर गमन) 'योग' कहलाता है। यह तीन प्रकार का है क्योंकि कर्म (जिससे यह उत्पन्न होता है) तीन प्रकार का ही है—मानसिक, वाचिक और कायिक। तो, योग के ये भेद हैं—मनोयोग, वाग्योग और काययोग। मन के परिणाम की ओर अभिमुख आत्मा के प्रदेश (स्थान) का चलना **मनोयोग** है। वचन के परिणाम की ओर अभिमुख आत्मा के प्रदेश का चलना **वाग्योग** है। शरीर के चलने से आत्मा के प्रदेश का चलना **काययोग** है। ये योग ही आस्रव हैं।

आत्म-प्रदेश का संचालन एक प्रकार से नली का छेद है जिससे होकर बाहर से कर्म के पुद्गल आत्मा के प्रदेश के बीच चले आते हैं।

यथार्द्रं वस्त्रं समन्ताद्वातानीतं रेणुजातमुपादत्ते, तथा कषायजलार्द्र आत्मा योगानीतं कर्म सर्वप्रदेशैर्गृह्णाति। यथा वा निष्टप्तायःपिण्डो जले क्षिप्तोऽम्भः समन्ताद् गृह्णाति, तथा कषायोष्णो जीवो योगानीतं कर्म समन्तादादत्ते। कषति = हिनस्ति आत्मानं कुगतिप्रापणादिति कषायः, क्रोधो मानो माया लोभश्च।

[आस्रव के और भी दृष्टान्त देते हैं—] जिस प्रकार भींगा कपड़ा चारों ओर से हवा द्वारा लाई गई धूलि के समूह को पकड़ लेता है उसी प्रकार कषाय-रूपी जल से भींगी हुई आत्मा योग के द्वारा लाये गये कर्म को सभी स्थानों से ग्रहण करती है। अथवा जिस प्रकार खूब गर्म किया गया लोहे का टुकड़ा पानी में डाले जाने पर चारों ओर से पानी खींचता है, उसी प्रकार कषाय से उष्ण जीव योग के द्वारा लाये कर्म को चारों ओर से खींच लेता है।

[कषाय का निर्वचन—] जो कषण करे = आत्मा को बुरी अवस्था में ले जाकर उसका हनन करे, वह कषाय है (√कष्) जैसे—क्रोध, मान (अहंकार), माया, (Delusion) और लोभ।

सः द्विविधः शुभाशुभभेदात्। अत्राहिंसादिः शुभः काय-योगः। सत्यमितहितभाषणादिः शुभो वाग्योगः। अर्हत्सिद्धा-

चार्योपाध्यायसाधुनामधेयपञ्चपरमेष्ठिभक्तितपोरुचिश्रुतविनयादिः शुभो मनोयोगः। एतद्विपरीतस्त्वशुभः त्रिविधो योगः।

तदेतदास्रवभेदप्रभेदजातं, 'कायवाङ्मनःकर्मयोगः। स आस्रवः। शुभः पुण्यस्य। अशुभः पापस्य' (त० सू० ६।१-४) इत्यादिना सूत्रसंदर्भेण ससंरम्भमभाणि।

अपरे त्वेवं मेनिरे—आस्रवयति पुरुषं विषयेष्विन्द्रियप्रवृत्तिरास्रवः। इन्द्रियद्वारा हि पौरुषं ज्योतिः विषयान्स्पृशद् रूपादिज्ञानरूपेण परिणमत इति।

उस (योग) के दो भेद हैं—शुभ और अशुभ। अहिंसा आदि शुभ काययोग हैं। सत्य बोलना, मित (आवश्यकतानुसार) बोलना, हित करनेवाली बातें बोलना आदि शुभ वाग्योग है। अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु नामक इन पाँच परमेष्ठियों में भक्ति रखना, तपस्या में रुचि होना, शास्त्र (श्रुत) का शिक्षण (विनय) इत्यादि शुभ मनोयोग हैं। इसके विपरीत तीन तरह के अशुभ योग हैं। [प्राण लेना, चोरी करना, मैथुन आदि अशुभ काययोग है। झूठा, कठोर, असभ्य आदि भाषण करना अशुभ वाग्योग है। वध का चिन्तन, ईर्ष्या, असूया आदि अशुभ मनोयोग है।]

आस्रव के इन भेद-प्रभेदों का वर्णन इन सूत्रों में प्रयत्नपूर्वक किया गया है—'काय, वाक् और मन—ये कर्म के द्वारा योग (आत्मप्रदेश सञ्चलन) हैं।' 'यही आस्रव है।' 'पुण्य के लिए शुभ [योग है]।' 'पाप के लिए अशुभ [योग है]।' (त० सू० ६।१-४)।

लेकिन दूसरे लोग ऐसा मानते हैं—'जो पुरुष को विषयों की ओर बहाकर ले जाय अर्थात् इन्द्रियों की प्रवृत्ति; उसे ही आस्रव कहते हैं।' इन्द्रियों के द्वारा ही पुरुषों की ज्योति विषयों का स्पर्श करती है तथा रूपादि के ज्ञान के रूप में परिणत हो जाती है।

(२१ क. बन्ध का निरूपण)

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायवशाद्योगवशाच्चात्मा सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनन्तप्रदेशानां पुद्गलानां कर्मबन्धयोग्यानामादानमुपश्लेषणं यत्करोति, स बन्धः। तदुक्तं—सकषायत्वाज्जीवः कर्मभावयोग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः (त० सू० ८।२) इति।

जब मिथ्या-दर्शन, अविरति (आसक्ति), प्रमाद (असावधानी) और कषाय (पाप) के कारण, तथा योग के भी कारण आत्मा उन पुद्गलों का आदान अर्थात् आलिंगन करती है जो पुद्गल (शरीर, Matter) अपने सूक्ष्म क्षेत्र (रूप) में प्रवेश करते हैं, अनन्त (सभी) स्थानों में निवास करते हैं तथा [अपने पूर्वकृत] कर्मों के बन्धन में पड़ने लायक होते हैं—इसी क्रिया का नाम बन्ध (Bondage) है। यह कहा भी है—'सकषाय रहने के कारण जीव [अपने पहले के किये हुए] कर्मों के भाव (परिणाम) के अनुकूल पुद्गलों (शरीरों) को ग्रहण करता है, वही बन्ध है (त० सू० ८।२)।

(२२. बन्धन के कारण)

तत्र कषायग्रहणं सर्वबन्धहेतूपलक्षणार्थम्। बन्धहेतून्पपाठ वाचकाचार्यः मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः (त० सू० ८।१) इति।

यहाँ (उपर्युक्त उद्धरण में) 'कषाय' शब्द बन्धन के सारे कारणों का उपलक्षण (बोधक)[1] है। वाचकाचार्य (उमास्वाति) ने बन्ध के हेतुओं को इस प्रकार निरूपित किया है—मिथ्या दर्शन (False Intuition झूठा विश्वास), अविरति (Non-indifference), प्रमाद (लापरवाही Carelessness) कषाय (पाप Sin) तथा योग (Influx)—बन्ध के हेतु हैं (त० सू० ८।१)।

मिथ्यादर्शनं द्विविधं—मिथ्याकर्मोदयात्परोपदेशानपेक्षं तत्त्वाश्रद्धानं नैसर्गिकमेकम्। अपरं परोपदेशजम्। पृथिव्यादि-षट्कोपादानं षडिन्द्रियासंयमनं चाविरतिः। पञ्चसमितित्रिगु-प्तिष्वनुत्साहः प्रमादः। कषायः क्रोधादिः। तत्र कषायान्ताः स्थित्यनुभवबन्धहेतवः प्रकृतिप्रदेशबन्धहेतुर्योग इति विभागः।

[क] मिथ्यादर्शन दो प्रकार का है—मिथ्या कर्मों का उदय होने पर, दूसरों के उपदेश के बिना ही प्राकृतिक रूप से [जैन दार्शनिकों के] तत्त्वों पर

---

१ उपलक्षण = एक पदार्थ का अपने सदृश अन्य पदार्थों का बोध कराना। उदाहरणार्थ 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' में 'काक' शब्द दधि के विनाशक अन्य जीवों का भी उपलक्षण है। दही को कौए से बचाना = बिल्ली, वानर आदि सभी जीवों से बचाना।

श्रद्धा न रखना एक प्रकार का [मिथ्यादर्शन] है, दूसरा प्रकार वह है जिसमें दूसरों (अन्य सम्प्रदायों) के उपदेश से [जैनदर्शन में अश्रद्धा] उत्पन्न होती है।

[ख] पृथ्वी आदि (= पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, स्थावर, जंगम—पुद्गल अस्तिकाय) छह पदार्थों का उपादान (ग्रहण) तथा छह इन्द्रियों का संयमन न करना अविरति है। [विरति = इन्हें त्याग देना, अविरति = नहीं त्यागना-इससे बन्धन होता है।]

[ग] पाँच समितियों और तीन गुप्तियों [के प्रयोग] का प्रयास न करना प्रमाद है। [पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का वर्णन अभी तुरत किया जायगा। कर्मपुद्गलों के प्रवेश से अपनी रक्षा करना 'गुप्ति' है। कायगुप्ति, वाग्गुप्ति और मनोगुप्ति—ये तीन भेद हैं। प्राणियों को पीड़ा न देते हुए अच्छा व्यवहार रखना 'समिति' है जिसके ईर्या, भाषा, एषणा, आदान, उत्सर्ग भेद हैं। देखें—अनु० २३]।

[घ] क्रोधादि कषाय है [आदि = मान, माया, लोभ]। यहाँ एक विभाजन (Distinction) करना पड़ता है कि कषाय तक के चारों हेतु (= मिथ्यादर्शन आदि) स्थिति और अनुभव के बन्धनों के कारण हैं जब कि योग (या आस्रव) प्रकृति और प्रदेश के बन्धनों का कारण है।

(२२ क. बन्धन के भेद)

बन्धश्चतुर्विध इत्युक्तं, प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः (त० सू० ८।३) इति। यथा निम्बगुडादेस्तिक्तत्वमधुरत्वादिस्वभाव एवमावरणीयस्य ज्ञानदर्शनावरणत्वम् आदित्यप्रभाच्छादकाम्भोधरवत्प्रदीपप्रभातिरोधायककुम्भवच्च। सदसद्वेदनीयस्य सुखदुःखोत्पादकत्वमसिधारामधुलेहनवत्।

ऊपर जो चार प्रकार का कहा गया है [उसे सूत्र में कहा है—] 'प्रकृति बन्ध, स्थिति-बन्ध, अनुभव-बन्ध तथा प्रदेश-बन्ध—ये उस (बन्ध) के प्रकार हैं।' (त० सू० ८।३) [अब इन चारों बन्धों का क्रमशः निरूपण करते हुए पहले प्रतिबन्ध के आठ भेदों का वर्णन होगा। ये भेद हैं—(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुः, (६) नाम, (७) गोत्र, (८) अन्तराय। ये आठ प्रकार के कर्म हैं। इनसे ही व्यक्ति बन्धन में पड़ता है।]

जिस प्रकार नीम, गुड़, आदि में तिताई (Bitterness), मिठास आदि स्वभाव के रूप में है, उसी प्रकार (आवरणीय कर्म में ज्ञान और दर्शन का आवरण करना स्वभाव है। दृष्टान्त के लिए सूर्य के प्रकाश को ढँकनेवाले मेघ और दीपक के प्रकाश को छिपानेवाले घड़े का लें। [सूर्य के प्रकाश का मेघ द्वारा आवृत होना **ज्ञानावरण** का दृष्टान्त है जिसमें वस्तु का स्वरूप ज्ञात नहीं होता, ज्ञातृत्व-शक्ति ढँक जाती है। **दर्शनावरण** के दृष्टान्त में दीपक के प्रकाश का छिपना है जिसमें वस्तु को देखने की शक्ति छिप जाती है।] सत् और असत् के रूप में ज्ञेय पदार्थ का (एक साथ ही) सुख-दुःख को उत्पन्न करना [वेदनीय कर्म है] जिसके दृष्टान्त में तलवार की धार पर वर्तमान मधु का चाटना है। (एक ही साथ सुख और दुःख दोनों हैं; क्योंकि तलवार की धार से जीभ कट जाना दुःख है, मधु का चाटना सुख। यही वेदनीय कर्म है = सुख-दुःख का संवेदन।)

दर्शने मोहनीयस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानकारित्वं दुर्जनसङ्गवत्। चारित्रे मोहनीयस्यासंयमहेतुत्वं मद्यमदवत्। आयुषो देहबन्धनकर्तृकं जलवत्। नाम्नो विचित्रनामकारित्वं चित्रिकवत्। गोत्रस्योच्चनीचकारित्वं कुम्भकारवत्। दानादीनां विघ्नविदानत्वमन्तरायस्य स्वभावः कोशाध्यक्षवत्।

सोऽयं प्रकृतिबन्धोऽष्टविधो द्रव्यकर्मावान्तरभेदमूलप्रकृतिवेदनीयः। तथावोचदुमास्वातिवाचकाचार्यः—आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः (त० सू० ८।४) इति।

तद्भेदं च समगृह्णात्पञ्च-नव-द्व्यष्टाविंशति-चतुर्द्विचत्वारिंशद्-द्वि-पञ्चभेदा यथाक्रमम् (त० सू० ८।५) इति। एतच्च सर्वं विद्यानन्दादिभिर्विवृतमिति विस्तरभयान्न प्रस्तूयते।

[मोहनीय कर्म दर्शन और चरित्र दोनों में मोह उत्पन्न करता है।] दर्शन में मोहनीय कर्म का स्वभाव है तत्त्वार्थ में अश्रद्धा उत्पन्न कर देना जैसे दुष्टों के संग से होता है। चारित्र में मोहनीय का स्वभाव है असंयम उत्पन्न करना जैसा मदिरा का नशा (मद) से होता है। आयु कर्म शारीरिक बन्धन में डालता है, जैसे जल [तैरने में शरीर को धारण करता है उसी प्रकार आयु कर्म भी देह धारण करता है।] नाम कर्म से विभिन्न नाम उत्पन्न

होते हैं जैसे चित्रकार [विभिन्न चित्र बनाता है। गोत्र कर्म से ऊँचा (वंश) और नीचा की भावना आती है, जिस तरह कुम्भकार [घड़े में ऊँचा और नीचा स्थान बनाता है।] अन्तराय कर्म का स्वभाव है दानादि के कामों में विघ्न डालना, जिस प्रकार कोशाध्यक्ष [राजा को मितव्ययिता का पाठ पढ़ा कर दानादि से रोकता है।]

इस प्रकार यह प्रकृति-बन्ध आठ तरह का है, इसे मूल-प्रकृति भी कहते हैं तथा द्रव्यों के [धर्म और अधर्म नामक] कर्मों के अनुसार इसमें अन्तर भेद (Subdivisions) होते हैं। ऐसा ही उमास्वाति वाचकाचार्य ने कहा भी है—पहले बन्ध (प्रकृति बन्ध) में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय—ये भेद हैं। (त० सू० ८।४)।

इनके भेदों की भी संख्या उन्होंने दी है कि क्रमशः इनके भी पाँच (ज्ञानावरण), नव (दर्शनावरण), दो (वेदनीय), अठाईस (मोहनीय), चार (आयु), बयालीस (नाम), दो (गोत्र), तथा पाँच (अन्तराय) भेद होते हैं। (त० सू० ८।५)। इसका पूरा विवरण विद्यानन्दिन् आदि ने [तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की टीकाओं में] दिया है इसलिए विस्तार के डर से यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

यथाजागोमहिष्यादिक्षीराणामेतावन्तमनेहसं माधुर्यस्वभावादप्रच्युतिस्तथा ज्ञानावरणादीनां मूलप्रकृतीनामादितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्यः परा स्थितिः (त० सू० ८।१४) इत्याद्युक्तकाला दुर्दान्तवत्स्वीयस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः।

यथाजागोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन स्वकार्यकरणे सामर्थ्यविशेषोऽनुभावः तथा कर्मपुद्गलानां स्वकार्यकरणे सामर्थ्यविशेषोऽनुभावः। कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानामनन्तानन्तप्रदेशानामात्मप्रदेशानुप्रवेशः प्रदेशबन्धः।

स्थितिबन्ध—जैसे बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध अपने माधुर्य के स्वभाव से किसी निश्चित काल (अनेहस् = समय) तक च्युत नहीं होते (उनमें किसी निश्चित समय तक मिठास रहती है), उसी प्रकार मूल प्रकृतियों (प्रकृति बन्धों) में प्रथम तीन ज्ञानावरणादि तथा अन्तराय (कुल मिलाकर चार कर्मों) का इस सूत्र के अनुसार—'उत्कृष्ट स्थिति (= बन्ध) का परिमाण

करोड़ों-करोड़ों तीस सागरोपम—जैसे काल हैं'—इतने समय तक मतवाले (हाथी) की तरह अपने स्वभाव को न छोड़ना 'स्थितिबन्ध' है। [स्थिति दो प्रकार की है—परा और अपरा। परा स्थिति उत्कृष्ट होती है तथा आठों कर्मों में प्रत्येक की भिन्न-भिन्न होती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय तथा अन्तराय कर्मों की परा स्थिति तीस सागरोपम—जैसे करोड़ों-करोड़ों समय तक होती है = उतने समय तक इनका अपना स्वभाव (प्रकृति) नहीं छूटता। 'सागरोपम' एक समय की अवधि है जो बहुत बड़ी है। अन्य कर्मों की परा स्थिति अलग-अलग होती है जैसे—मोहनीय कर्म की स्थिति सत्तर सागरोपम जैसे करोड़ों-करोड़ों काल (त० सू० ८।१५), नाम और गोत्र कर्मों की बीस सागरोपम—जैसे करोड़ों-करोड़ों काल (८।१६), आयु कर्म की तेंतीस० (८।१७) अपरा स्थिति का वर्णन भी सूत्रकार ने ८।१८ से आरंभ किया है जैसे—वेदनीय कर्म की अपरा स्थिति बारह मुहूर्त्त तक है इत्यादि। संक्षेप में स्थिति का अर्थ है ठहरना, अपने स्वभाव को न छोड़ना। वह काल जैनों के अनुसार चाहे जितना सागरोपम भी हो। जैसे दुर्दान्त (मतवाला) हाथी कुछ समय तक अपनी प्रकृति नहीं छोड़ता उसी प्रकार कर्म भी अपनी प्रकृति में स्थिर रहते हैं।]

अनुभवबन्ध—जैसे बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध में तीव्र, मन्द आदि स्वभाव के अनुसार अपने-अपने कार्य करने की विशेष सामर्थ्य की उत्पत्ति (अनुभाव) होती है उसी प्रकार कर्म के पुद्गलों में अपने कार्य करने की विशेष सामर्थ्य उत्पन्न होती है। [यही अनुभवबन्ध है।]

प्रदेशबन्ध—कर्म के रूप में परिणत पुद्गलों (Matters) के जो [द्व्यणुकादि] स्कन्ध हैं, जिनके अनन्त स्थान हुआ करते हैं, उनका (अनन्त अवयवों वाले स्कन्धों का) अपने अवयवों में प्रवेश कर जाना ही प्रदेशबन्ध है।

विशेष—कुछ दार्शनिकों के अनुसार जो सात तत्त्व होते हैं उनमें बन्ध (Bondage) चौथा तत्त्व है। इसके बाद पाँचवाँ तत्त्व संवर है जिसका वर्णन अब किया जायगा। बन्ध चार प्रकार के हैं—(१) प्रकृतिबन्ध (Natural Bondage) जिसमें आठ प्रकार के कर्म हैं। कर्मों से ही मनुष्य को जन्म लेना पड़ता है। जैनों की कर्ममीमांसा इतनी सुन्दर है कि कर्मों से ही ये गोत्र, नाम, आयु आदि भी मानते हैं। किसी विशेष प्रकार के कर्म से ही मनुष्य की आयु निश्चित होती हैं, दूसरे कर्म उसके गोत्र के निर्धारक होते हैं। कुछ कर्म ज्ञान को छिपा लेते हैं तो दूसरे कर्म मोह उत्पन्न करते हैं। (२) स्थितिबन्ध (Bondage in Existence) जिसमें कोई भी स्थिर रहता है इसके दो भेद हैं—परा और अपरा। (३) अनुभवबन्ध (Bondage in Capacity) जिसमें

किसी कार्य के करने की सामर्थ्य होती है, कर्म के पुद्गलों की अपनी शक्ति, जिससे बन्धन रहे। (४) प्रदेशबन्ध (Bondage of Entrance) पुद्गल के द्वचणुकादि अनेक अवयव वाले स्कन्धों का अपने अवयव में प्रवेश करने से प्रदेशबन्ध होता है। इस प्रकार बन्ध की विचित्र मीमांसा इन लोगों ने की है। कर्म के पुद्गलों का आस्रव (Influx) जब रुक जाय तो उसे संवर कहते हैं। इसे ही अब व्यक्त किया जाता है।

(२३. संवर और निर्जरा नामक तत्त्व)

आस्रवनिरोधः संवरः। येनात्मनि प्रविशत्कर्म प्रतिषिध्यते स गुप्तिसमित्यादिः संवरः। संचारकारणयोगादात्मनो गोपनं गुप्तिः। सा त्रिविधा—कायवाङ्मनोनिग्रहभेदात्। प्राणिपीडा-परिहारेण सम्यगयनं समितिः। सेर्याभाषादिभिः पञ्चधा। प्रप-ञ्चितं च हेमचन्द्राचार्यैः—

३२. लोकातिवाहिते मार्गे चुम्बिते भास्वदंशुभिः।
जन्तुरक्षार्थमालोक्य गतिरीर्या मता सताम्॥
३३. अनवद्यमृतं सर्वजनीनं मितभाषणम्।[१]
प्रिया वाचंयमानां सा भाषासमितिरुच्यते॥

आस्रव (आत्मा का चलना, योग, influx) का निरोध हो जाना (कर्मपुद्गलों का आत्मा में प्रविष्ट न होना) **संवर** है। जिससे आत्मा में घुसने-वाला कर्म रुक जाय वह गुप्ति, समिति आदि से युक्त संवर नाम का तत्व है।

[आत्मा में कर्मपुद्गलों के] संचार अर्थात् प्रवेश का कारण जो योग (आस्रव) है उससे आत्मा की रक्षा करना (गोपन) **गुप्ति** (Protection) है। इसके तीन भेद हैं—काय-गुप्ति, वाक्-गुप्ति तथा मनो-गुप्ति (निग्रह = बचाना, गुप्ति)। प्राणियों की पीड़ा से अपने को बचाते हुए अच्छी तरह व्यवहार करना **समिति** (Right conduct) है। ईर्या, भाषा आदि इसके पाँच भेद हैं।

१ 'अनवद्यमृतं' के स्थान पर 'अपद्यतां गतम्' पाठ है। पद्य = पादवेधक > वेधक। इसलिए 'अपद्यतां गतम्' का अर्थ है 'अवेधकम्, वेधाजनकम्', जो किसी को कष्ट न दे। अथवा, 'अपद्य' का अर्थ है गद्य। 'गद्यतां गतम्' अर्थात् गद्य के रूप में, पद्य के रूप में नहीं क्योंकि गद्य के बोलने और समझने में शीघ्रता होती है। पद्य में वह सुकरता नहीं है। कॉवेल ने दूसरा ही पाठ 'आपद्येत' लिया है जिससे विधिलिङ् का अर्थ लिया है।

आचार्य हेमचन्द्र ने इसकी व्याख्या की है—'जिस मार्ग पर लोग खूब चलते हों (जिससे बहुत कम जीव जंतु उस पर हों), सूर्य की किरणों से चुम्बित हो, उस पर जन्तुओं की रक्षा के लिए देख-भाल कर चलना, सज्जनों के लिए 'ईर्यासमिति' है (३२)। अनिन्द्य, सत्य, सभी जनों के लिए हितकर तथा मित भाषण करना, जो वचन के संयमी व्यक्तियों को प्रिय लगे, वह 'भाषा-समिति' कहलाती है (३३)।'

३४. द्विचत्वारिंशता भिक्षादोषैर्नित्यमदूषितम् ।
मुनिर्यदन्नमादत्ते सैषणासमितिर्मता ॥
३५. आसनादीनि संवीक्ष्य प्रतिलङ्घ्य च यत्नतः ।
गृह्णीयान्निक्षिपेद्ध्यायेत्सादानसमितिः स्मृता ॥
३६. कफमूत्रमलप्रायैर्निर्जन्तुजगतीतले ।
यत्नाद्यदुत्सृजेत्साधुः सोत्सर्गसमितिर्भवेत् ॥

अत एव—

आस्रवः स्रोतसो द्वारं संवृणोतीति संवरः ।

इति निराहुः ।

'भिक्षा के बयालीस दोषों से नित्य रूप से अदूषित (मुक्त) अन्न को मुनि लेता है, वही एषणासमिति कहलाती है (३४)। आसन आदि को अच्छी तरह देखकर यत्नपूर्वक उस पर बैठकर ग्रहण करना, रखना तथा ध्यान करना—यह आदान समिति कही जाती है (३५)। जन्तु से रहित पृथ्वी पर यत्नपूर्वक (सावधानी से) कफ, मल, मूत्र, प्राय (नासिकामल) को जो साधु छोड़ता है वही उत्सर्ग समिति है (३६)। इसलिए—आस्रव स्रोत (Pipe) का दरवाजा है, उसे जो ढँक देता है (सम् $\angle$ वृ) वही संवर है।' इस प्रकार निर्वचन (Etymology) दिया गया है।

तदुक्तमभियुक्तैः—

३७. आस्रवो भवहेतुः स्यात्संवरो मोक्षकारणम् ।
इतीयमार्हती मुष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम् ॥

जैसा कि विद्वानों ने कहा है—'संसार में आने का कारण आस्रव है और मोक्ष का कारण है संवर; यही जैनों के सिद्धान्त का संक्षेप (मुष्टि = सार) है, शेष बातें इसी का विस्तार (प्रपंच) मात्र हैं।

(२३ क. निर्जरा)

अर्जितस्य कर्मणस्तपःप्रभृतिभिर्निर्जरणं निर्जराख्यं तत्त्वम् । चिरकालप्रवृत्तकषायकलापं पुण्यं सुखदुःखे च देहेन जरयति नाशयति । केशोल्लुञ्चनादिकं तप उच्यते । सा निर्जरा द्विविधा यथाकालौपक्रमिकभेदात् । तत्र प्रथमा यस्मिन्काले यत्कर्म फलप्रदत्वेनाभिमतं तस्मिन्नेव काले फलदानाद् भवन्ती निर्जरा कामादिपाकजेति च जेगीयते । यत्कर्म तपोबलात्स्वकामनयोदयावलिं प्रवेश्य प्रपद्यते सौपक्रमिकनिर्जरा । यदाह—

३८. संसारबीजभूतानां कर्मणां जरणादिह ।
निर्जरा संमता द्वेधा सकामाकामनिर्जरा ॥
३९. स्मृता सकामा यमिनामकामा त्वन्यदेहिनाम् ॥ इति ।

जो कर्म अर्जित किया गया हो उसे अपनी तपस्या इत्यादि (= ध्यान, जप) से नष्ट कर देना 'निर्जरा' नामक तत्त्व है। बहुत दिनों से प्राप्त किये हुए कषाय (कर्म) समूह से उत्पन्न पुण्य (Merit) तथा सुख और दुःख को भी यह (तत्त्व) देह से ही [नष्ट करता है (जरयति = ∠ जॄ)। केशों को उखाड़ना आदि तप कहलाता है।

यह निर्जरा दो प्रकार की है—यथाकाल और औपक्रमिक। पहली (यथाकाल निर्जरा) वह है जब किसी काल में कोई कर्म फलदायक समझा जाता है (या अभीष्ट होता है) तब उसी काल में फल देने के बाद उत्पन्न होने वाली निर्जरा, कामनाओं की पूर्ति के बाद भी होती है। [अभिप्राय यह है कि कर्म का किसी कालविशेष में फलोत्पादन के पश्चात् नष्ट हो जाना यथाकाल (Temporary) निर्जरा है।] लेकिन जब तपोबल द्वारा अपनी इच्छा से उदयावस्था में कर्म को लाकर [नष्ट किया जाय] वह औपक्रमिक (Requiring efforts) निर्जरा है। जैसा कि कहा है—'संसार (आवागमन) के कारणस्वरूप जो कर्म हैं उनके विनाश से निर्जरा होती है जिसके दो भेद हैं—सकाम निर्जरा और अकाम निर्जरा। सकाम (औपक्रमिक) निर्जरा यम धारण करनेवाले (तपस्वियों) की होती है, दूसरे प्राणियों की अकाम (यथाकाल, अपने आप होनेवाली) निर्जरा होती है।'

(२४. मोक्ष का विचार)

मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतुनां निरोधेऽभिनवकर्माभावान्निर्जराहेतुसंनिधानेनार्जितस्य कर्मणो निरसनादात्यन्तिककर्ममोक्षणं मोक्षः । तदाह—बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षणं मोक्षः (त० सू० १०।२) इति । तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् (त० सू० १०।५) ।

मिथ्यादर्शन (False knowledge) आदि बन्ध के कारण हैं, उनका निरोध (संवर) कर लेने पर नये कर्मों का अभाव होकर, निर्जरा-रूपी कारण के संपर्क से पूर्वोपार्जित कर्मों का विनाश हो जाता है, तब सब प्रकार के कर्मों से सदा के लिए (आत्यन्तिक = पूर्ण) मुक्ति मिल जाती है, यही मोक्ष है । कहा है—बन्ध के कारणों का अभाव (संवर) तथा निर्जरा से सभी कर्मों से बच जाना मोक्ष है (त० सू० १०।२) उसके बाद प्राणी ऊपर ही चला जाता है जब तक लोक का अन्त न मिल जाय (त० सू० १०।५) ।

विशेष—जैन लोग मोक्ष के दो कारण मानते हैं—संवर और निर्जरा । संवर से आस्रव (कर्मोदय) रुकता है, नये कर्म उत्पन्न नहीं होते । निर्जरा से अर्जित कर्मों का भण्डार भस्म कर दिया जाता है । इस प्रकार कर्मों के बन्धन से बिल्कुल निकल जाना मोक्ष है । इसके विपरीत कर्मसंपृक्त होना बन्ध है । मोक्ष होने पर प्राणी ऊपर की ओर उठता-उठता लोकों को पार करके सबसे ऊपर पहुँच जाता है ।

यथा हस्तदण्डादिभ्रमिप्रेरितं कुलालचक्रमुपरतेऽपि तस्मिंस्तद्बलादेवासंस्कारक्षये भ्रमति, तथा भवस्थेनात्मनापवर्गप्राप्तये बहुशो यत्कृतं प्रणिधानं मुक्तस्य तदभावेऽपि पूर्वसंस्कारादालोकान्तं गमनमुपपद्यते । यथा वा मृत्तिकालेपकृतगौरवमलाबुद्रव्यं जलेऽधः पतति, पुनरपेतमृत्तिकाबन्धमूर्ध्वं गच्छति, तथा कर्मरहित आत्मा असङ्गत्वादूर्ध्वं गच्छति । बन्धच्छेदादेरण्डबीजवच्चोर्ध्वं गतिस्वभावाच्चाग्निशिखावत् ।

जैसे हाथ और डण्डे से गोलाकार घुमाया गया कुम्भकार का चाक (चक्र) [घुमाने वाले हाथ और डण्डे की क्रिया] बंद हो जाने पर भी, उसके बल से ही, संस्कार (Momentum) क्षीण न होने के कारण, घूमता ही जाता है,

उसी प्रकार संसार में स्थित (बद्ध अवस्था में) आत्मा ने अपवर्ग (मोक्ष Liberation) की प्राप्ति के लिए कई बार जो योग (प्रणिधान) किया था, अब मुक्त हो जाने पर उस (प्रणिधान) के अभाव में भी पहले संस्कार से लोक के ऊपर तक चली जाती है—यह सिद्ध होता है। अथवा जैसे मिट्टी का का लेप करके भारी बनाया गया लौकी का तुम्बा (सूखी खोखली लौकी Dry hollow gourd which the ascetics use) पानी में नीचे गिरता जाता है, लेकिन जब [पानी में भींगने से] मिट्टी का बन्धन छूट जाता है तब ऊपर चला आता है—उसी प्रकार कर्म से रहित होकर आत्मा बिना किसी संग के कारण ऊपर जाती है। बन्धन का नाश होने से रेंड़ के बीज की तरह, [जैसे रेंड़ के बीज का कोश छूट जाने पर वह ऊपर छिटक जाता है ?] या अग्निशिखा की तरह अपनी ऊर्ध्वगामिनी प्रकृति के कारण [आत्मा ऊपर जाती है]।

अन्योन्यं प्रदेशानुप्रवेशे सत्यविभागेनावस्थानं बन्धः। परस्परप्राप्तिमात्रं सङ्गः। तदुक्तं, पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथा गतिपरिणामाच्च (त० सू० १०।६)। आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च (त० सू० १०।७) इति। अत एव पठन्ति—

४०. गत्वा गत्वा निवर्तन्ते चन्द्रसूर्यादयो ग्रहाः।
अद्यापि न निवर्तन्ते त्वलोकाकाशमागताः॥ (प. न.) इति।

परस्पर एक दूसरे के प्रदेश में (= आत्मा और शरीर द्वारा) प्रवेश करने पर अविभक्त (Undistinguished) रूप से रहना **बन्ध** है। एक दूसरे का केवल संपर्क होना **संग** है। यह कहा है—पूर्व (संस्कार) के प्रयोग से, संग न होने से, बन्ध का नाश हो जाने से तथा अपनी गति के प्रस्फुटन से [आत्मा की गति ऊपर की ओर होती है]; भ्रमण का संस्कार पाये हुए (आविद्ध) कुम्हार के चक्के की तरह, लेप छूट जाने से लौकी की तरह, रेंड़ के बीज की तरह तथा अग्नि की शिखा की तरह [यह गति होती है]—(त० सू० १०।६–७)। इसलिए [आचार्य पद्मनन्दी] पढ़ते हैं—'चन्द्र, सूर्य आदि ग्रह तो जा-जाकर लौट आते हैं, लेकिन लोक से परे जो आकाश है उसमें गये हुए लोग आज तक नहीं लौटे।'

अन्ये तु गतसमस्तक्लेशतद्वासनस्यानावरणज्ञानस्य सुखैकतानस्यात्मन उपरिदेशावस्थानं मुक्तिरित्यास्थिषत। एवमुक्तानि

सुखदुःखसाधनाभ्यां पुण्यपापाभ्यां सहितानि नव पदार्थान्केचनाङ्गीचक्रुः। तदुक्तं सिद्धान्ते जीवाजीवौ पुण्यपापयुतावास्रवः संवरो निर्जरणं बन्धो मोक्षश्च नव तत्त्वानीति। संग्रहे प्रवृत्ता वयमुपरताः स्मः।

दूसरे लोग कहते हैं कि सभी क्लेशों और उनकी वासनाओं के नष्ट हो जाने पर, ज्ञान के आवृत (ढँकना) न होने पर (प्रकट ज्ञान रहने पर), एकमात्र सुख से भरी हुई आत्मा का ऊपर के देश में अवस्थित होना ही मुक्ति है।

कितने लोग ऊपर कहे गये [सात तत्त्वों में] सुख और दुःख के कारण-स्वरूप पुण्य और पाप (दो और पदार्थों को) जोड़ कर कुल नव पदार्थ मानते हैं। सिद्धान्त [नामक ग्रन्थ] में कहा गया है कि पुण्य और पाप से संयुक्त जीव और अजीव (१-४), आस्रव (५), संवर (६), निर्जरण (७), बन्ध (८) और मोक्ष (९) ये नव तत्त्व हैं। चूँकि हमारा लक्ष्य सार का संग्रह (Summary) करना है, इसलिए अब [विस्तार] छोड़ दें।

विशेष—माधवाचार्य सर्वदर्शनसंग्रह का लक्ष्य (object) यहाँ बतलाते हैं कि इस ग्रंथ में विस्तृत प्रमेयों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। व्याख्या-शैली नहीं अपनाकर माधव ने समास-शैली अपनाई है। संग्रह का लक्षण है—

विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां तत्त्वसिद्धये।
समासेनाभिधानं यत्संग्रहं तं विदुर्बुधाः॥

अब जैनों का न्यायशास्त्र आरम्भ होता है जिसमें सुप्रसिद्ध सप्तभङ्गी-नय (Seven-membered syllogism) या अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा होती है।

(२५. जैन न्यायशास्त्र—सप्तभङ्गीनय)

अत्र सर्वत्र सप्तभङ्गिनयाख्यं न्यायमवतारयन्ति जैनाः। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः इति।

जैन लोग सर्वत्र सप्तभङ्गी-नय नामका न्याय (Logic) उपस्थित करते हैं। [इसके सात निम्नांकित रूप हैं—] (१) स्यादस्ति—किसी प्रकार है, (२) स्यान्नास्ति—किसी प्रकार नहीं है, (३) स्यादस्ति च नास्ति च—किसी प्रकार है और नहीं है, (४) स्यादवक्तव्यः—किसी प्रकार अवर्णनीय है, (५) स्यादस्ति चावक्तव्यः—किसी प्रकार है और अवर्णनीय है (६) स्यान्नास्ति चावक्तव्यः—

किसी प्रकार नहीं है और अवर्णनीय है, (७) स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्य — किसी प्रकार है, नहीं है और अवर्णनीय है।

विशेष—जैन न्यायशास्त्र में परामर्श सात वाक्यों के रूप में होता है इसे सप्तभङ्गी न्याय (या नय) कहते हैं। भङ्ग का अर्थ समुच्चय (Combination) है इसलिए जिसमें अस्तित्व (Positive entity) नास्तित्व (Negative entity) आदि का एक साथ ही समुच्चय होता है वह 'सप्तभङ्गि (न्)—नय' कहलाता है। सात प्रकार से कहने की रीति (भंगी, भंगिमा) से भी इसे यह नाम पड़ सकता है। सांख्य आदि सात दार्शनिकों के द्वारा प्रतिपादित एकान्तवाद का भंग (मेल) करके अपने अनेकान्तवाद की जड़ मजबूत करने के कारण भी इसे सप्तभङ्गिनय कहा जाना संभव है। इसकी तीन तरह की लेखनशैली है—सप्तभङ्गनय, सप्तभङ्गिनय तथा सप्तभङ्गीनय (समाहार द्विगु)।

जैन लोगों के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान पूरा नहीं है। किसी वस्तु के कई पहलू हैं, उनमें सबों का एक साथ ज्ञान प्राप्त करना केवल ज्ञान से ही संभव है, सामान्य ज्ञान से नहीं। हमारा ज्ञान एकांगी ही हो सकता है क्योंकि हम अपूर्ण जीव हैं। सभी दार्शनिकों में विवाद का यही कारण है। परमार्थ के केवल एक पक्ष का अवलोकन कर सकने के कारण वे केवल एक विशिष्ट पक्ष को ही जान सकते हैं। इसे जैन लोग 'नय' कहते हैं—एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः (न्यायावतार २९)। इसलिए सभी ज्ञान ज्ञाता के दृष्टिकोण तथा ज्ञान के पहलू से प्रभावित रहते हैं। वहीं तक उसकी सत्यता सिद्ध है—कोई ज्ञान सर्वतोभावेन सत्य नहीं है (No knowledge is true in all its aspects)। ज्ञान की इस सीमा पर ध्यान नहीं रखकर लोग अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। यहाँ तक तो बात ठीक है, पर जब हम अपने ज्ञान को ही एकमात्र सत्य मानते हैं तो परमार्थ की हत्या-सी हो जाती है। हाथी को देखकर कई अंधों के विभिन्न विचारों के व्यक्त होने की कहानी हम जानते हैं। यही दशा विभिन्न दार्शनिकों की है। जैन-दार्शनिक इस तथ्य से पूर्णतः अवगत हैं और सभी निर्णयों को सापेक्ष मानने के पक्ष में हैं। तदनुसार कोई ज्ञान स्वतंत्र नहीं है, अपने दृष्टिकोण, पहलू आदि के अधीन है। अतएव अपने सभी निर्णयों के पूर्व सापेक्षता का सूचक कोई शब्द लगाना परम आवश्यक है। इसका फल यह होता है कि इस निर्णय को सीमित तथा अन्य निर्णयों को संभावित किया जा सकता है। वह प्रसिद्ध शब्द है—स्यात् अर्थात् किसी प्रकार। 'स्यात् अस्ति घटः' कहने से यह पता लगता है कि एक पक्ष से देश, काल, पात्र, गुण आदि का विचार करके हम घट की सत्ता मानते

हैं, घट के दूसरे पक्षों—जैसे नास्तित्व आदि की भी संभावना (Possibility) रह जाती है। यही प्रसिद्ध सिद्धान्त है—स्याद्वाद।

'स्यात्' शब्द सापेक्षता और अनेकान्तता का द्योतक है। प्रत्येक निर्णय के पूर्व इसे लगाना आवश्यक है। यदि किसी वस्तु को 'अस्ति' कहते हैं, तो देश, काल, भाव, वर्ण आदि से उसका विरोध होता है। अतः दोनों प्रकार (विधि-निषेध) के परामर्श इसमें लगेंगे। पटने में वसन्त ऋतु में विद्यमान लाल रेशमी साड़ी का उदाहरण लें। द्रव्यतः वह रेशमी रूप में हैं, सूती में नहीं। देशतः, पटने में है, गया आदि में नहीं। कालतः वसंत ऋतु में है, शीत में नहीं। वर्णतः लाल रंग में हैं, पीले आदि में नहीं। अपने द्रव्यादि रूप में है, परकीय में नहीं—इसलिए एक ही साथ विधि और निषेध दोनों होते हैं जो अनिश्चयावस्था (अनेकान्तवाद) की सूचना देते हैं। एकान्तवाद का अर्थ है निश्चय। अनेकान्तवाद में किसी वस्तु की सता या असत्ता का निश्चय नहीं रहता।

जैनों के अलावे सभी एकान्तवादी हैं जो अपने मत को निश्चयात्मक मानते हैं। वे सात प्रकार के हैं, इसका भंग करने से भी जैनन्याय सप्तभङ्गन्याय कहलाता है। (१) सत्कार्यवादी सांख्य लोग पदार्थों की सदा ही **सत्ता** मानते हैं। (२) शून्यवादी बौद्ध (माध्यमिक) पदार्थों की **असत्ता** ही स्वीकार करते हैं। (३) असत्कार्यवादी नैयायिक लोग उत्पत्ति के पूर्व पदार्थ का अभाव, उत्पत्ति होने पर भाव तथा नाश होने पर पुनः अभाव मानते हैं। ये कालभेद से **सत्ता और असत्ता** स्वीकार करते हैं, जैनों की तरह एक ही साथ नहीं। (४) संसार को माया का उपादान मानने वाले शांकरवेदान्ती पदार्थों की अनिर्वचनीयता (Indescribability) मानते हैं। माया से उत्पन्न वस्तुएँ प्रतीतिकाल में भी 'नहीं है' इस रूप में बाद में बाधित हो जाती हैं। सत्व की अवस्था में ही पदार्थ असत् हैं। न तो अस्तित्व है न नास्तित्व—अतः दो विरोधियों का वर्णन कठिन होने से अवाच्यता सिद्ध है। (५) कुछ माया को मानने वाले ही वेदान्ती सांख्योक्त पदार्थों की **सत्ता** स्वीकार करके भी माया से संसार की **अनिर्वाच्यता** मानते हैं। (६) कुछ मायावेदान्ती शून्यवादोक्त पदार्थों का **नास्तित्व** मानकर भी माया कृत **अनिर्वाच्यता** स्वीकार करते हैं। (७) अंत में कुछ वेदान्ती नैयायिक आदि के प्रतिपादित **सत्त्वासत्त्व** के साथ मायिक **अनिर्वाच्यता** मानते हैं।

ये सातों एकान्तवादी वस्तु का एकपक्षीय विचार ग्रहण करते हैं, जैन इनमें 'स्यात्' शब्द लगाते हैं। सांख्यों का कहना कि 'घट है' ठीक है, पर यह निश्चित सत्य नहीं है—इसमें स्यात् (किसी प्रकार) लगाने पर ठीक

विचार संभव है। जैनों की दृष्टि बहुत उदार है जिससे वे प्रत्येक मत का 'स्यात्' लगाकर स्वागत करते हैं।

तत्सर्वमनन्तवीर्यः प्रत्यपीपदत्—

४१. तद्विधानविवक्षायां स्यादस्तीति गतिर्भवेत्।
स्यान्नास्तीति प्रयोगः स्यात्तन्निषेधे विवक्षिते॥

४२. क्रमेणोभयवाञ्छायां प्रयोगः समुदायभाक्।
युगपत्तद्विवक्षायां स्यादवाच्यमशक्तितः॥

४३. आद्यावाच्यविवक्षायां पञ्चमो भङ्ग इष्यते।
अन्त्यावाच्यविवक्षायां षष्ठभङ्गसमुद्भवः॥

४४. समुच्चयेन युक्तश्च सप्तमो भङ्ग उच्यते। इति।

इस पूरे (नय) का प्रतिपादन अनन्तवीर्य ने किया है—'किसी वस्तु का विधान (Affirmation) करने की इच्छा होने पर 'किसी प्रकार है' इस तरह की गति (नय) होती है। यदि उसका निषेध (Negation) कहना अभीष्ट हो तो 'किसी प्रकार नहीं है' ऐसा प्रयोग होता है। क्रमशः अब यदि दोनों कहने की इच्छा हो तो दोनों का समुदाय (Combination) लें [स्यादस्ति च नास्ति च।] जब दोनों को एक साथ कहना हो और [विरोध होने के भय से ऐसा कहना] संभव नहीं हो तो 'किसी प्रकार अवाच्य है' ऐसा कहें। प्रथम (भंग) के साथ अवाच्य कहने की इच्छा हो तो वह पंचम भंग होता है—[स्यादस्ति चावक्तव्यम्]। दूसरे भंग को अवाच्य से मिलाने पर षष्ठ भंग उत्पन्न होता है—[स्यान्नास्ति चावक्तव्यम्]। सबों के समुच्चय से बना हुआ भंग सातवाँ है—[किसी प्रकार है, नहीं है और अवक्तव्य है]।

स्याच्छब्दः खल्वयं निपातस्तिङन्तप्रतिरूपकोऽनेकान्तद्योतकः। यथोक्तम्—

४५. वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तिङन्तप्रतिरूपकः॥ इति।

यदि पुनरेकान्तद्योतकः स्याच्छब्दोऽयं स्यात्तदा स्यादस्तीति वाक्ये स्यात्पदमनर्थकं स्यात्। अनेकान्तद्योतकत्वे तु स्यादस्ति कथंचिदस्तीति स्यात्पदात्कथंचिदित्ययमर्थो लभ्यत इति नानर्थक्यम्। तदाह—

४६. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधेः ।
सप्तभङ्गिनयापेक्षो हेयादेयविशेषकृत् ॥ इति ।

'स्यात्' (किसी प्रकार Somehow) यह शब्द एक निपात (अव्यय Particle) है जो तिङन्त (क्रिया) के रूप में है (√अस् + विधिलिङ्) तथा अनिश्चय का द्योतक है। जैसा कि कहा गया है—'वाक्यों में अनेकान्त (अनिश्चय) को व्यक्त करनेवाला, गम्य (विधेय Predicate, जैसे—अस्ति) के प्रति विशेषण का काम करने वाला, यह 'स्यात्' निपात है जो सार्थक होने के कारण (अर्थयोगित्वात्) क्रिया के रूप में है।' अभिप्राय यह है कि 'स्यात्' सार्थक है, क्रियापद की तरह देखने में लगता है, अनिश्चय का व्यंजक है तथा अपने विधेय 'अस्ति' आदि शब्दों का विशेषण बन जाता है।]

यदि 'स्यात्' शब्द एकान्त या निश्चय का बोध कराता तो 'स्यादस्ति' इत्यादि वाक्यों में 'स्यात्' शब्द निरर्थक होता [सार्थक नहीं; क्योंकि 'स्यादस्ति' से निश्चयात्मक अर्थ ग्रहण करने पर 'अस्ति' पद का ही अर्थ हो सकता है; 'स्यात्' का नहीं, वह निरर्थक हो जायगा।] किन्तु यदि 'स्यात्' को अनेकान्त (अनिश्चय) का बोधक मानें तो 'स्यादस्ति' का अर्थ 'कथंचित् अस्ति' (किसी प्रकार है) होता है जिसमें 'स्यात्' का अर्थ 'कथंचित्' (किसी प्रकार) लेते हैं और निरर्थकता नहीं रहती। ('स्यात्' का अर्थ कुछ हो जाता है, बेकार इसका प्रयोग नहीं है। अतः 'स्यात्' की सार्थकता इसकी अनेकान्तबोधकता पर है)।

कहा है—'स्याद्वाद का सिद्धान्त सब प्रकार से एकान्त (निश्चय करने वाले) सिद्धान्तों को छोड़ देने पर, 'किम्' शब्द से निष्पन्न (= कथम् < किम्) शब्द में 'चित्' शब्द का विधान करने पर ('कथंचित्' अर्थ धारण करके), सप्तभङ्गीनय की अपेक्षा रखकर हेय (त्याज्य) और आदेय (ग्राह्य = अस्ति + नास्ति) रूपी विशेषों से युक्त होता है।' [त्याज्य = नास्ति, ग्राह्य = अस्ति, ये दोनों विकल्प तभी संभव हैं जब वस्तु का स्वरूप अनिश्चित हो। इसे अब और स्पष्ट करेंगे—]

यदि वस्त्वस्त्येकान्ततः सर्वथा सर्वदा सर्वत्र सर्वात्मनाऽस्तीति नोपादित्साजिहासाभ्यां क्वचित्कदाचित्केनचित्प्रवर्तेत निवर्तेत वा। प्राप्ताप्रापणीयत्वादहेयहानानुपपत्तेश्च। अनेकान्तपक्षे तु कथंचित्क्वचित्केनचित्सत्त्वेन हानोपादाने प्रेक्षावतामुपपद्येते।

यदि वस्तु एकान्त या निश्चित रूप से है (अनेकान्त नहीं हैं), तब सब प्रकार से, सदा के लिए, सब जगह, सब लोगों के साथ है; तब तो ग्रहण या त्याग करने की इच्छा से कहीं, कभी, या कोई न प्रवृत्त ही होगा और न निवृत होगा [क्योंकि वस्तु सबों के साथ है पाने की क्या जरूरत ? या फिर छोड़ना कैसे ? अतः सभी दृष्टिकोणों से हम 'अस्ति' नहीं कह सकते—एक दृष्टिकोण से कह सकते हैं कि यहाँ वस्तु है, पर 'वस्तु है' कहने का अर्थ होगा कि यह सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा और सर्वात्मना है ।] प्राप्त वस्तु प्रापणीय (पाने योग्य) नहीं हो सकती तथा अहेय वस्तु की हानि भी संभव नहीं । [जो वस्तु पहले से नहीं मिली है वही प्राप्य हो सकती है, प्राप्त वस्तु प्राप्य क्या होगी ? उसी प्रकार जो वस्तु त्याज्य है उसी का त्याग भी होता है, अत्याज्य का नहीं । सर्वत्र, सर्वथा 'अस्ति' माने जाने पर त्याग और ग्रहण का प्रश्न ही नहीं उठ सकता ।]

किन्तु यदि अनेकान्तपक्ष मानें तो किसी प्रकार (किसी दृष्टिकोण से), कहीं, किसी जीव के द्वारा त्याग और ग्रहण होगा—ऐसा विद्वान् समझ सकते हैं । [जब वस्तु सदा नहीं है, एक ही दशा में है तो उसका त्याग और ग्रहण संभव है—एक समय में त्याग, दूसरे में ग्रहण] ।

किं च वस्तुनः सत्त्वं स्वभावः, असत्त्वं वा इत्यादि प्रष्टव्यम् । न तावदस्तित्वं वस्तुनः स्वभाव इति समस्ति । घटोऽस्तीत्यनयोः पर्यायतया युगपत्प्रयोगायोगात् । नास्तीति प्रयोगविरोधाच्च । एवमन्यत्रापि योज्यम् । यथोक्तम्—

४७. घटोऽस्तीति न वक्तव्यं सन्नेव हि यतो घटः ।
नास्तीत्यपि न वक्तव्यं विरोधात्सदसत्त्वयोः ॥ इत्यादि ।

इसके अलावे पूछना चाहिए कि वस्तु की अपनी प्रकृति क्या है, सत् होना या असत् होना ? ऐसा नहीं कह सकते कि अस्तित्व (Is-ness) ही वस्तु का स्वभाव है, क्योंकि 'घटः अस्ति (घड़ा है)' इस वाक्य में 'घटः' (= वस्तु का अस्तित्व) और 'अस्ति' (प्रत्यक्ष रूप से अस्तित्व) इन दोनों शब्दों का एक साथ इसलिए प्रयोग नहीं हो सकता कि ये पर्यायवाची हो जायँगे । यदि [घटः] नास्ति = 'घड़ा नहीं है' ऐसा कहें तो प्रयोग से असिद्ध होगा । [आशय यह है कि घट का अर्थ सत् या असत् दोनों में से कोई एक ही है; यदि सत् अर्थ है तो 'सत् (= घटः) अस्ति' कहने में पुनरुक्ति होती है । यदि असत् अर्थ है तो 'असत् (घटः) अस्ति' कहना अव्यावहारिक है ।]

इसी प्रकार दूसरे स्थानों में भी समझें। जैसा कि कहा है:—"घड़ा है, ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि 'घट' में सत् का बोध हो ही जाता है; 'नहीं है' ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि ['घटो नास्ति' इस वाक्य में] सत् (घटः) और असत् के एक साथ रहने से विरोध होगा।"

तस्मादित्थं वक्तव्यम्—सदसत्सदसदनिर्वचनीयवादभेदेन प्रतिवादिनश्चतुर्विधाः । पुनरप्यनिर्वचनीयमतेन मिश्रितानि सदसदादिमतानीति त्रिविधाः । तान्प्रति किं वस्त्वस्तीत्यादि पर्यनुयोगे 'कथंचित्तदस्ति' इत्यादि प्रतिवचनसंभवेन ते वादिनः सर्वे निर्विण्णाः सन्तस्तूष्णीमासत इति संपूर्णार्थविनिश्चायिनः स्याद्वादमङ्गी कुर्वतस्तत्र तत्र विजय इति सर्वमुपपन्नम् । यदवोचदाचार्यः स्याद्वादमञ्जर्याम्—

४८. अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम् ।
एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः ॥
४९. न्यायानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तौ श्रुतवर्त्मनि ।
संपूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वस्तु श्रुतमुच्यते ॥ इति ।

इसलिए ऐसा कहे—सत्, असत्, सदसत् और अनिर्वचनीय सिद्धान्तों (वादों) को मानने के कारण विरोधियों के चार प्रकार हैं। फिर, अनिर्वचनीय-सिद्धान्त के साथ सत्, असत् आदि [पूर्वोक्त तीन] मतों को मिला देने से उनके तीन और भी प्रकार होते हैं। वे जब पूछें कि वस्तु क्या है, तब 'किसी प्रकार वह है' इत्यादि प्रत्युत्तर देना संभव है इसलिए वे विरोधी-वादी लोग सबके सब शान्त हो जाते हैं, और वस्तु के सभी पक्षों पर विचार करके 'स्याद्वाद' को स्वीकार करने वाले की उन सभी जगहों में विजय होती है, यह पूर्णरूप से सिद्ध हो गया।

स्याद्वादमंजरी में आचार्य (मल्लिषेण १२९२ ई०) ने कहा है—'सभी ज्ञानों (अस्ति, नास्ति आदि) का विषय बनने वाला पदार्थ अनेकान्तात्मक (अनिश्चित) है; किन्तु नय (न्याय) का विषय बननेवाला पदार्थ एक ही देश (Aspect पहलू, पक्ष) से विभूषित रहता है। [नय में किसी एक पक्ष से भी काम चल जाता है जैसे —घटः अस्ति, घटो नास्ति। किन्तु सभी ज्ञानों का विषय बनने के लिए, जिससे वस्तु के सभी पक्ष मालूम हो जायँ, एक पक्ष या देश से काम नहीं चलता। उसके लिए वस्तु को अनेकान्त

(अनिश्चयात्मक) मानना पड़ेगा। भावात्मक रूप से (Positively) वस्तु के विषय में कुछ कह देना उसे सीमित करके अपने दृष्टिकोणों का उस पर आरोपण कर देना है। इसलिए सुभग मार्ग है कि उसे अनेकान्तात्मक मानें जिसके अन्दर सारे पक्ष छिपे हों।]'*

'[वस्तु के] एक ही [पक्ष aspect] पर आधारित अनेक न्याय जब प्रमाणकोटि में प्रवृत्त हों (प्रामाणिक होना चाहते हों), तब संपूर्ण अर्थों (all aspects) का निश्चय करनेवाला 'स्यात्' [शब्द से विशिष्ट घट आदि] पदार्थ प्रामाणिक (श्रुत trustworthy) समझा जाता है।'

५०. अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः।
नयानशेषानविशेषमिच्छन् न पक्षपाती समयस्तथार्हतः॥
(हेमचन्द्रकृत द्वितीयद्वात्रिंशिका वी० स्तु० श्लो० ३०)

जिस प्रकार दूसरे [दर्शनों के] सिद्धान्त एक दूसरे को पक्ष और प्रतिपक्ष बनाने के कारण मत्सरता से भरे हुए हैं; उस प्रकार अर्हन्मुनि का सिद्धान्त पक्षपाती नहीं है क्योंकि यह सारे नयों (Propositions) को बिना भेद-भाव के ग्रहण कर लेता है।

विशेष—पक्ष = अपना सिद्धान्त। प्रतिपक्ष = विरोधियों का सिद्धान्त। सांख्य के लिए सत्कार्यवाद पक्ष है, असत्कार्यवाद प्रतिपक्ष। दूसरे दार्शनिकों के सिद्धान्त पक्षपाती हैं क्योंकि वस्तु के किसी एक पहलू का विचार प्रस्तुत करते हैं, सर्वांगपूर्ण विचार वे नहीं करते। ऐसा करना असंभव भी है। जैनों का सिद्धान्त इस पचड़े से दूर है, किसी पक्ष का आश्रय न लेकर सभी पक्षों को स्वीकार करता है। जैनों का दृष्टिकोण बहुत उदारवादी है, किसी प्रकार का भेद-भाव न मानकर सभी पक्षों को समान रूप से देखते हैं। यही कारण है कि अनेकान्तवाद स्वीकार किया जाता है।

---

* वाक्यों की तीन कोटियाँ हैं—दुर्नय, नय और प्रमाण वाक्य। 'घटः अस्ति एव' दुर्नय है क्योंकि यह मिथ्या है। 'नास्तित्व' आदि के होते हुए भी उन्हें छिपाकर 'अस्तित्व' पर जोर देना मिथ्यारूप है। 'घटः अस्ति' नय है। यह दुर्नय नहीं है क्योंकि नास्तित्व आदि को यह छिपाता नहीं, बल्कि उनके प्रति उदासीनता (Indifference) दिखलाता है। यह प्रमाण भी नहीं क्योंकि 'स्यात्' का प्रयोग न होने से दूसरे धर्मों (नास्तित्वादि) की सूचना नहीं मिलती। 'स्यादस्ति' प्रमाण वाक्य है। नय के विषय में देवसूरि का कहना है—नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्य अर्थस्य अंशतः तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः। (अम्यं०)

(२६. जैनमत-संग्रह)

जिनदत्तसूरिणा जैनं मतमित्थमुक्तम्—

५१. बलभोगोपभोगानामुभयोर्दानलाभयोः ।
अन्तरायस्तथा निद्रा भीरज्ञानं जुगुप्सितम् ॥

५२. हिंसा रत्यरती रागद्वेषावविरतिः स्मरः ।
शोको मिथ्यात्वमेतेऽष्टादश दोषा न यस्य सः ॥

५३. जिनो देवो गुरुः सम्यक्तत्त्वज्ञानोपदेशकः ।
ज्ञानदर्शनचारित्राण्यपवर्गस्य वर्तनी ॥

जिनदत्त सूरि (ग्रन्थ—विवेकविलास, समय—१२२० ई०) ने जैन-मत [का सारांश] इस प्रकार व्यक्त किया है—'बल, भोग, उपभोग (इन्द्रियसुख), दान तथा लाभ के अन्तराय (१–५), निद्रा (६), भय (७), अज्ञान (८), घृणा (९), हिंसा (१०), रति (= इच्छा ११), अरति (अनिच्छा १२), राग (१३), द्वेष (१४), अविरति (वैराग्यहीनता १५), काम (१६), शोक (१७) तथा मिथ्यात्व—ये अठारह दोष जिनके पास नहीं हैं, वह देवता स्वरूप हम लोगों का जिन (जितेन्द्रिय) गुरु सम्यक्‌रूप से तत्त्वज्ञान का उपदेशक है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र—ये अपवर्ग के मार्ग हैं। [ज्ञान = संमोहरहित ज्ञान, दर्शन = अर्हन्मुनि के उपदिष्ट मत में विश्वास, चारित्र=पापकर्म से विरति। वर्तनी = मार्ग।]

५४. स्याद्वादस्य प्रमाणे द्वे प्रत्यक्षमनुमापि च ।
नित्यानित्यात्मकं सर्वं नव तत्त्वानि सप्त वा ॥

५५. जीवाजीवौ पुण्यपापे चास्रवः संवरोऽपि च ।
बन्धो निर्जरणं मुक्तिरेषां व्याख्याधुनोच्यते ॥

५६. चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवस्तदन्यकः ।
सत्कर्मपुद्गलाः पुण्यं पापं तस्य विपर्ययः ॥

'स्याद्वाद के सिद्धान्त में दो प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। [उपर्युक्त विधि से वस्तु को प्रत्यक्षतः भी अनेक रूप का देखते हैं, दूसरे उपादान और त्याग करने की इच्छा के उद्देश्य से किसी पदार्थ के प्रति जो लोगों में प्रवृत्ति और निवृत्ति दिखलाई पड़ती है, यही हेतु बनकर अनुमान द्वारा सिद्ध करेगी कि वस्तुएँ अनेक रूप की हैं।] सभी वस्तुएँ नित्य और अनित्य के रूप में

हैं [इसमें भी स्याद्वाद लगाकर स्यान्नित्यः, स्यादनित्यः, आदि वाक्य बनेंगे ।] तत्त्व नव या सात हैं (विभिन्न मतों से) ॥ ५४ ॥ जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, निर्जरण और मुक्ति—अब इनकी व्याख्या की जाती है। (इन नवों में पुण्य को संवर में तथा पाप को आस्रव में ले लेने पर सात ही तत्त्व बचते हैं ।] चेतना (Intelligence) जीव का लक्षण है, उससे भिन्न (अचेतन) अजीव होता है । अच्छे काम से उत्पन्न होने वाले पुद्गल (Matter, bodies) पुण्य हैं, उसका उलटा पाप है (= बुरे काम से उत्पन्न पुद्गल) ॥

५७. आस्रवः स्रोतसो द्वारं संवृणोतीति संवरः ।
प्रवेशः कर्मणां बन्धो निर्जरस्तद्वियोजनम् ॥
५८. अष्टकर्मक्षयान्मोक्षोऽथान्तर्भावश्च कैश्चन ।
पुण्यस्य संवरे पापस्यास्रवे क्रियते पुनः ॥
५९. लब्धानन्तचतुष्कस्य लोकागूढस्य चात्मनः ।
क्षीणाष्टकर्मणो मुक्तिर्निर्व्यावृत्तिर्जिनोदिता ॥

'आस्रव [पापरूपी] स्रोत का द्वार है, जो उसे ढँक ले, वह संवर कहलाता है । कर्मों का प्रवेश करना बन्ध है और उनसे अलग हो जाना मोक्ष है ॥ ५७ ॥ आठ प्रकार के कर्मों का क्षय हो जाने पर मोक्ष मिलता है । कुछ लोग पुण्य का अन्तर्भाव संवर में करते हैं तथा पाप का आस्रव में ॥५८॥ जिसे चार अनंत पदार्थ (ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख) मिल चुके हैं, जो संसार में बँधा हुआ नहीं है (अगूढ़) तथा जिसके आठों कर्म नष्ट हो चुके हैं उस आत्मा को जिन भगवान् की कही हुई निर्व्यावृत्ति (Infallible जहाँ से फिर लौटना नहीं) मुक्ति मिलती है ॥ ५९ ॥

६०. सरोजहरणा भैक्षभुजो लुञ्चितमूर्धजाः ।
श्वेताम्बराः क्षमाशीला निःसङ्गा जैनसाधवः ॥
६१. लुञ्चिताः पिच्छिकाहस्ताः पाणिपात्रा दिगम्बराः ।
ऊर्ध्वाशिनो गृहे दातुर्द्वितीयाः स्युर्जिनर्षयः ॥
६२. भुङ्क्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः ।
प्राहुरेषामयं भेदो महाञ्श्वेताम्बरैः सह ॥ इति ।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे आर्हतदर्शनम् ॥

[अब जैनो के प्रसिद्ध भेद—श्वेताम्बर और दिगम्बर—के विषय में विचार किया जा रहा है।] 'धूल झाड़नेवाले (झाड़ू के तरह की चीज) को साथ रखनेवाले, भिक्षान्न खानेवाले, अपने केशों को उखाड़नेवाले, क्षमाशील तथा आसक्तिरहित जैन साधु **श्वेताम्बर** हैं ॥ ६० ॥ केश उखाड़े हुए, मोर के पंख का झाड़न हाथ में लिये, हाथों को ही पात्र माननेवाले (करपात्री) तथा देनेवाले के घर पर ही ऊपर की ओर से खानेवाले ये दूसरे जैन साधु हैं जो **दिगम्बर** (नंगे) हैं ॥६१॥ दिगम्बर साधुओं की मान्यता है कि केवल-ज्ञान से युक्त पुरुष भोजन नहीं करता और स्त्री को मोक्ष भी नहीं मिलता (इन्हें पुरुष का जन्म ग्रहण करने पर ही मोक्ष मिल सकता है)। इन (दिगम्बरों) का श्वेताम्बरों के साथ यह बहुत बड़ा अन्तर लोग कहते हैं ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमान् सायण माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में आर्हतदर्शन [समाप्त हुआ]।

॥ इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य
प्रकाशाख्यायां व्याख्यायामार्हतदर्शनमवसितम् ॥



(४) रामानुज-दर्शनम्

तत्त्वत्रयं चिदचिदीश्वररूपमस्या—
विद्याकृतं न तु जगत्सविशेष ईशः ।
भक्तिश्च तत्र फलितेत्युपदेशकाय
रामानुजाय सततं प्रणतोऽस्मि तस्मै ।।—ऋषिः ।

(१. अनेकान्तवाद का खण्डन)

तदेतदार्हतमतं प्रामाणिकगर्हणमर्हति । न ह्येकस्मिन्वस्तुनि परमार्थे सति परमार्थसतां युगपत्सदसत्त्वादिधर्माणां समावेशः सम्भवति । न च सदसत्त्वयोः परस्परविरुद्धयोः समुच्चयासम्भवे विकल्पः किं न स्यादिति वदितव्यम् । क्रिया हि विकल्प्यते न वस्त्विति न्यायात् ।

जैनों का यह (अनेकान्तवाद का) सिद्धान्तवाद कतिपय प्रमाणों से काटा (निन्दित किया) जा सकता है। इसका कारण यह है कि वस्तु में एक ही पारमार्थिक सत्ता (Ultimate reality) हो सकती है, उस सत्ता में एक ही साथ सत्ता, असत्ता आदि (सात) धर्मों से युक्त पारमार्थिक सत्ताओं का समावेश नहीं हो सकता। [पारमार्थिक या अन्तिम दशा में वस्तु का एक धर्म ही, जैसे सत्ता या असत्ता, स्थिर किया जा सकता है। अनेकान्तवादियों की तरह एक ही साथ सात-सात धर्मों को मान लेना असम्भव है।]

कोई यह नहीं कह सकता कि सत् और असत् चूँकि परस्पर विरोधी हैं और उनका समुच्चय (Combination) होना सम्भव नहीं है, इसलिए उस प्रकार के धर्मों में विकल्प क्यों नहीं होगा ? विकल्प क्रिया का ही होता है वस्तु का नहीं—ऐसा नियम है, अतः विकल्प नहीं मान सकते। [अनेकान्तवादी की ओर से इस उत्तर की अपेक्षा है कि विकल्प द्वारा विभिन्न धर्मों का एकत्र समावेश हो सकता है। जहाँ समुच्चय सम्भव नहीं है वहाँ विकल्प किया जाता है। उदाहरण के लिए—'उदिते जुहोति' और 'अनुदिते जुहोति' में विकल्प है। पहले वाक्य में सूर्योदय के बाद होम करने का विधान है, दूसरे वाक्य में सूर्योदय के पूर्व ही होम करना विहित है। उदित और अनुदित दोनों होम एक साथ नहीं हो सकते, अतः यहाँ विकल्प करते हैं—कुछ लोग सूर्योदय के बाद करें, कुछ लोग

पहले। यहाँ भी उसी प्रकार क्यों नहीं मान लें ? उत्तर यों दे सकते हैं—जो वस्तु साध्य होती है उसी में कर्त्ता, कर्म, अधिकरण आदि बदल-बदल कर विकल्प कर सकते हैं, क्रिया (साध्य) का ही विकल्प सम्भव है। जो वस्तु पहले से सिद्ध है, वह तो किसी एक प्रकार से सिद्ध होती है, उसमें विकल्प कहाँ से आवेंगे ? सत्ता सिद्ध वस्तु (Completed action) है, उसका कोई एक ही प्रकार हो सकता है—'जुहोति' साध्य (क्रिया) है जिसके लिए विकल्प दिये जा सके।]

न च 'अनेकान्तं जगत्सर्वं हेरम्बनरसिंहवत्' इति दृष्टान्तावष्टम्भवशादेष्टव्यम्। एकस्मिन्देशे गजत्वं सिंहत्वं वाऽपरस्मिन्नरत्वमिति देशभेदेन विरोधाभावेन तस्यैकस्मिन्देश एव सत्त्वासत्त्वादिनाऽनेकान्तत्वाभिधाने दृष्टान्तानुपपत्तेः। ननु द्रव्यात्मना सत्त्वं पर्यायात्मना तदभाव इत्युभयमप्युपपन्नमिति चेत्, मैवम्—कालभेदेन हि कस्यचित्सत्त्वमसत्त्वं च स्वभाव इति न कश्चिद्दोषः।

निम्नलिखित दृष्टान्त को आधार (अवष्टम्भ) मानकर भी यह सिद्ध नहीं हो सकता—'समूचा संसार अनेकान्त (Multiform) है जिस प्रकार गणेश (गज का सिर और मनुष्य की धड़) और नरसिंह (सिंह का सिर और मनुष्य की धड़) हैं।' यह दृष्टान्त हमारी प्रकृत समस्या में लग नहीं सकता, क्योंकि इस दृष्टान्त में तो एक देश (खंड, भाग, Part) में गज या सिंह का स्वरूप है, दूसरे भाग में मनुष्य का स्वरूप है—देशों का अन्तर है इसलिए विरोध की कल्पना नहीं हो सकती। परन्तु अनेकान्तवाद में एक ही भाग में सत्त्व, असत्त्व आदि (धर्मों को) मानकर अनेकान्त सत्ता स्वीकृत की जाती है। [दृष्टान्त में देशभेद है, अतः दो पक्ष सम्भव हैं; जबकि अनेकान्तवाद में देश का बिना भेद किये ही एक ही जगह कई पक्ष मान लेते हैं, जो कभी संभव नहीं।]

यदि कोई यह कहे कि किसी द्रव्य के रूप में सत्ता मानें (जैसे मिट्टी की सत्ता) और उसके पर्यायों (विभिन्न अवस्थाओं, जैसे—मिट्टी का पिंड, खप्पड़, घट आदि) के रूप में असत्ता मानें और इस प्रकार दोनों को ही सिद्ध कर डालें, तो [हमारी आपत्ति है कि] ऐसा नहीं होगा—काल के भेद से किसी वस्तु का सत् (Existent) और असत् (Non-existent) होना तो उसका स्वभाव ही है, इसमें कोई दोष नहीं है। [मिट्टी के पिण्ड में मिट्टी की सत्ता है, घट आदि की असत्ता; उसी प्रकार घट की अवस्था में मिट्टी (द्रव्य) की सत्ता

है, कपाल (Potsherd) आदि की असत्ता । आशय यही है कि मूल द्रव्य की सत्ता किसी भी अवस्था (पर्याय) में रहती है, अन्य पर्यायों की नहीं । लेकिन यहाँ काल का भेद स्पष्ट है । मृत्पिण्ड के काल में घट नहीं, घट के काल में कपाल नहीं; किसी काल में एक की सत्ता और दूसरी की असत्ता होती है । यह तो अत्यन्त स्वाभाविक है । फलितार्थ यह हुआ कि देश (Space) और काल (Time) के भेद से असत् और सत् को स्वीकार कर सकते हैं । कोई वस्तु सत् भी है असत् भी, किन्तु कैसे ? देश-भेद या काल-भेद से । यह नहीं कि अनेकान्तवादी की तरह एक ही काल और एक ही देश में वस्तु के कई परस्पर विरोधी धर्म मान लें ।]

न चैकस्य ह्रस्वत्वदीर्घत्ववदनेकान्तत्वं जगतः स्यादिति वाच्यम् । प्रतियोगिभेदेन विरोधाभावात् । तस्मात्प्रमाणाभावा-द्युगपत्सत्त्वासत्त्वे परस्परविरुद्धे नैकस्मिन्वस्तुनि वक्तुं युक्ते । एव-मन्यासामपि भङ्गीनां भङ्गोऽवगन्तव्यः ।

ऐसा भी नहीं कह सकते कि जिस प्रकार एक ही साथ एक वस्तु का छोटा और बड़ा दोनों रूप रह सकता है उसी प्रकार संसार को अनेकान्त मान लें । [ऐसा इसलिए नहीं कह सकते कि उसका छोटा और बड़ा होना] विभिन्न वस्तुओं पर आधारित (प्रतियोगि) है—इसलिए किसी विरोध का अवकाश नहीं । [अभिप्राय यह है कि जैसे त्र्यणुक में ह्रस्वत्व और दीर्घत्व दोनों है उसी प्रकार जगत् सत् और असत् दोनों है । लेकिन यह समानता ठीक नहीं, त्र्यणुक का छोटा और बड़ा होना सापेक्ष है, किसी भिन्न प्रतियोगी की अपेक्षा रखता है, जैसे—चतुरणुक और द्वयणुक । चतुरणुक की अपेक्षा वह छोटा है, द्वयणुक की अपेक्षा बड़ा । ऐसी ही दशा में हम त्र्यणुक में दो विरुद्ध (Contrary) धर्म एक साथ मानते हैं, जो स्वाभाविक है, असमंजस नहीं । किन्तु जगत् को सत्-असत् मानने के समय यह बात नहीं मिलती । कोई प्रतियोगी नहीं है जिसकी अपेक्षा उसे सत् या असत् कहें । दूसरे, ह्रस्वत्व और दीर्घत्व अत्यन्त विरोधी (Contradictory) नहीं, जब कि सत्-असत् ऐसे हैं ।]

निष्कर्ष यह निकला कि प्रमाणों के अभाव में (हमारे तर्कों से खण्डित होने से) परस्पर विरोधी (Mutually contradictory or exclusive) सत् और असत् को, एक ही साथ, एक ही वस्तु में स्थित कहना ठीक नहीं है । इसी प्रकार अन्य भंगियों का भी खण्डन समझ लें ।

विशेष—अनेकान्तवाद की रक्षा करने के लिए जैनों से चार युक्तियों की अपेक्षा रखी जाती है—(१) समुच्चय के अभाव में विकल्प मानते हुए दो

विरुद्ध पदार्थों को एक साथ मानना, (२) गणेश और नरसिंह के शरीर की तरह संसार को अनेकान्त मानना, (३) द्रव्य के रूप में सत्ता और उसके पर्यायों के रूप में असत्ता मानना तथा (४) एक वस्तु में ह्रस्वत्व और दीर्घत्व की तरह संसार को अनेकान्त मानना। किन्तु इनकी ये युक्तियाँ संसार को अनेकान्त सिद्ध नहीं कर पातीं क्योंकि सामान्यतया हमलोग भी दो विरोधियों का एक वस्तु में समावेश कर्ता आदि के भेद से (१), देश (स्थान) के भेद से (२), अवस्था अथवा काल के भेद से (३) या प्रतियोगियों के भेद से (४) मानते हैं—तात्पर्य यह है कि कुछ-न-कुछ उपाधि लगा कर ही दो विरोधियों का एक में समावेश हो सकता है, जैनों की तरह निरुपाधि विरोधी एक साथ, एक ही काल में नहीं मान सकते। अब उनके सप्तभङ्गीनय पर ही प्रहार किया जायगा।

(२. सप्तभंगीनय की निस्सारता)

किं च, सर्वस्यास्य मूलभूतः सप्तभङ्गिनयः स्वयमेकान्तोऽनेकान्तो वा। आद्ये सर्वमनेकान्तमिति प्रतिज्ञाव्याघातः। द्वितीये विवक्षितार्थासिद्धिः। अनेकान्तत्वेनासाधकत्वात्। तथा चेयमुभयतःपाशा रज्जुः स्याद्वादिनः स्यात्।

अपि च, नवत्वसप्तत्वादिनिर्धारणस्य फलस्य तन्निर्धारयितुः प्रमातुश्च तत्करणस्य प्रमाणस्य प्रमेयस्य च नवत्वादेरनियमे साधु समर्थितमात्मनस्तीर्थकरत्वं देवानांप्रियेणार्हतमतप्रवर्तकेन।

अब जरा यही पूछें कि जो इन सारे प्रपंचों की जड़ सप्तभंगीनय है, वह स्वयं एकान्त (निश्चित स्वरूपवाला) है या अनेकान्त (अनिश्चित स्वरूपवाला)। यदि प्रथम विकल्प मानते हैं तो 'सब कुछ अनेकान्त है' इस प्रतिज्ञा (Axiom) का ही विरोध होता है। [सप्तभंगीनय यदि एकान्त (निश्चित स्वरूपवाला) है तो फिर किस मुँह से सब चीजों को अनेकान्त मानेंगे—क्या सप्तभंगीनय 'सब कुछ' के अन्तर्गत नहीं है ? इस प्रकार असामंजस्य उत्पन्न होता है।] यदि दूसरा विकल्प मानते हैं तो इष्ट वस्तु की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि अनेकान्त हो जाने से सप्तभंगीनय प्रामाणिक नहीं हो सकता, किसी वस्तु को सिद्ध नहीं कर सकता (जो स्वयम् अनिश्चित है उससे वस्तुओं या पदार्थ की सिद्धि की क्या

अपेक्षा करें ?) इस प्रकार स्याद्वादियों के गले में दोनों ओर से फन्दा (बन्धन) देनेवाली रस्सी पड़ जाती है (वे किसी ओर भाग नहीं सकते)।

इसके अतिरिक्त, (तत्त्वों की संख्या) नव या सात मानी गयी है, यह निर्धारण करना फल है, निर्धारण करनेवाला प्रमाता (Knower) है, उसके निर्धारण का साधन (करण) प्रमाण है, (ये तत्त्व स्वयं) प्रमेय हैं—इन सबों में नव आदि का नियम हो ही नहीं सकता। [यदि इन सबों का स्वरूप निश्चित मानें तो 'सब कुछ अनेकान्त है' की प्रतिज्ञा कहाँ रही ? यदि इनका स्वरूप अनिश्चित है तो इतने प्रपंच की क्या आवश्यकता है ? इतने तत्त्व, प्रमाण, प्रमाता, फल आदि का वर्णन करके कहते हैं कि सब कुछ अनेकान्त है। यह क्या खेल है ?] आर्हत-मत के प्रवर्तक, मूर्खसम्राट् ने अपनी शास्त्र-निर्माण-शक्ति का अच्छा प्रदर्शन किया है ! (इस प्रकार अनेकान्तवाद अपने सिद्धान्त से ही अपनी जड़ खोद देता है। जब सब कुछ अनिश्चित है तो अनेकान्तवाद भी अनिश्चित, जैनों का पूरा दर्शन ही अनिश्चित, सारे तत्त्व, उनके प्रमाण, प्रमाता आदि सब अनिश्चित ! साधु ! साधु !! ऐसे दर्शन को शत शत प्रणाम !!)

(३. जीव के परिमाण का खण्डन)

तथा जीवस्य देहानुरूपपरिमाणत्वाङ्गीकारे योगबलादनेक-देहपरिग्राहकयोगिशरीरेषु प्रतिशरीरं जीवविच्छेदः प्रसज्येत। मनुजशरीरपरिमाणो जीवो मतङ्गजदेहं कृत्स्नं प्रवेष्टुं न प्रभवेत्। किं च गजादि शरीरं परित्यज्य पिपीलिकाशरीरं विशतः प्राचीन-शरीरसन्निवेशविनाशोऽपि प्राप्नुयात्। न च यथा प्रदीपप्रभा-विशेषः प्रपाप्रासादाद्युदरवर्तिसंकोचविकाशवांस्तथा जीवोऽपि मनु-जमतङ्गजादिशरीरेषु स्यादित्येषितव्यम्। प्रदीपवदेव सविकारत्वे-नानित्यत्वप्राप्तौ कृतप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्।

उसी प्रकार यदि आप यह स्वीकार करते हैं कि जीव शरीर (Body) के अनुरूप परिणाम धारण कर लेता है, तो योग के बल से योगी लोग एक साथ जो अनेक शरीर धारण करते हैं, उन शरीरों में प्रत्येक शरीर में जीव का टुकड़ा देखा जायगा। [वास्तव में जीव विभु है जिससे एक साथ अनेक शरीरों में रह सकता है। योगी लोग अपने योग की सामर्थ्य से एक ही बार में कई शरीरों में निवास कर सकते हैं। ऐसे शरीरों के समूह का नाम कायव्यूह है। विभु होने के कारण उन-उन शरीरों में जीव का निवास संभव है। किन्तु यदि यह

मानें कि जीव शरीर के अनुरूप परिमाण धारण करता है, तब तो कठिनाई होगी कि शरीर से बाहर उसका सम्बन्ध नहीं रहेगा। एक शरीर में जीव का एक टुकड़ा, दूसरे में दूसरा टुकड़ा—इस तरह जीव के टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे।]

[दूसरा दोष यह होगा कि] मनुष्य के शरीर का परिमाण रखनेवाला जीव [पुनर्जन्म होने पर, योनि बदलने से] हाथी के पूरे शरीर में प्रवेश नहीं कर सकता। (किसी एक ही अंश में मानव शरीर खप जायगा, शेषांश के लिए क्या जवाब होगा ?) यही नहीं, जब जीव गजादि के बड़े शरीर को छोड़ कर चींटी के छोटे शरीर में प्रवेश करने लगेगा तब [वह छोटे परिमाण में हो कर पुनः] अपने पहले शरीर (हाथी आदि के शरीर) में प्रवेश करने की क्षमता खो बैठेगा। [चूँकि गज देह के परिमाण में जीव चींटी के शरीर में प्रवेश नहीं कर सकता, इसलिए उसे अपने प्राचीन शरीर के परिमाण (आकार) का विनाश करना ही होगा—अतः वह पुराने शरीर में फिर लौट नहीं सकता; त्यागपत्र स्वीकार हो जाने पर फिर पुराने पद पर लौटना कैसा ?]

ऐसी भी कल्पना नहीं हो सकती कि जैसे प्रदीप की प्रभा (किरणों) के अवयव (विशेष Particulars), पनसाला-जैसी छोटी जगह या महल-जैसी बड़ी जगह में, अपने आधार के अनुसार संकुचित (सिकुड़ते) या विकसित (फैलते) हैं, उसी प्रकार जीव भी मनुष्य और हाथी की देहों में आकर [संकोच और विकास प्राप्त] करता होगा। ऐसा करना इसलिए ठीक नहीं कि प्रदीप की तरह ही जीव को सविकार मानना पड़ेगा [जिसमें संकोच और विकास-रूपी विकार (Changes) होते हैं], फलतः जीव अनित्य हो जायगा और [बौद्धों के क्षणिकवाद पर आपके ही द्वारा आरोपित] 'किये कर्म का नाश' तथा 'न किये गये कर्म के फल की प्राप्ति'— ये दो दोष आ पहुँचेंगे।

विशेष—विकार से युक्त वस्तुएँ अनित्य होती हैं क्योंकि संकोच और विकास का सम्बन्ध उत्पत्ति और विनाश से है—कभी-न-कभी जीव की उत्पत्ति और विनाश होगा ही। जब उत्पत्ति मानेंगे तो न किये गये कर्म के फल की प्राप्ति होगी। उत्पत्ति के बाद उसे सुख-दुःख रूपी फल मिलेंगे, जिसके कारण पुण्य-पाप हैं; जब जीव उत्पन्न ही नहीं हुआ था तब उसने इन फलों के कारण-रूप कर्म ही कैसे किये थे ? कोई भी व्यक्ति उत्पत्ति के बाद कर्म करने पर ही फल पाता है लेकिन जीव बिना कर्म के ही फल पाने लगेगा। उसी प्रकार जब जीव का विनाश होगा तब किये गये कर्म का भी नाश होगा। विनाश के बाद भोक्ता ही नहीं रहेगा तब फल कौन भोगेगा ? विनाश के समय किये गये कर्म का फल भी नष्ट हो जायगा—इसमें कोई भी प्रमाण नहीं है। अतः 'कृतप्रणाश' दोष की प्राप्ति होगी।

एवं प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेन जीवपदार्थदूषणाभिधानदिशाऽन्यत्रापि दूषणमुत्प्रेक्षणीयम्। तस्मान्नित्यनिर्दोषश्रुतिविरुद्धत्वादिदमुपादेयं न भवति। तदुक्तं भगवता व्यासेन—नैकस्मिन्नसंभवात् (ब्र० सू० २।२।३१) इति। रामानुजेन च जैनमतनिराकरणपरत्वेन तदिदं सूत्रं व्याकारि।

इस प्रकार प्रधान-मल्ल को शान्त करने की तरह[1] जीव-पदार्थ में दोष दिखाकर संकेत किया गया है कि अन्य पदार्थों में भी दोष की कल्पना कर लें। इसलिए नित्य (Eternal) और निर्दोष (Infallible) श्रुति (वेदों) के विरुद्ध होने के कारण यह जैन-मत ग्राह्य नहीं है। भगवान् व्यास ने भी [ब्रह्मसूत्र में] कहा है—[जैन-मत ठीक] नहीं, क्योंकि एक ही (वस्तु) में [छाया और धूप के समान 'नास्ति' और 'अस्ति'—जैसे विरुद्ध धर्मों का आरोपण करता है जो] असंभव है (ब्र० सू० २।२।३१)। रामानुज ने इस सूत्र की व्याख्या जैन-मत का निराकरण करते हुए ही की है।

विशेष—जीवस्वरूप का खण्डन करके संकेत किया गया है कि वेदाप्रामाण्य, ईश्वरास्वीकार आदि पदार्थों का भी खण्डन कर लें। यदि वेद प्रमाण नहीं हैं तो जैनों के सिद्धान्त के अनुसार अर्हन्मुनि के द्वारा प्रणीत (उत्पन्न किया गया) आगम भी प्रमाण नहीं हो सकता। वेद अपौरुषेय हैं इसलिए पुरुषों में पाई जानेवाली स्वच्छन्दता वहाँ नहीं है। जब स्वच्छन्दता नहीं, तो कोई दोष कैसे आयेगा ? अतः सारे दोषों से रहित वेद स्वतः ही प्रमाण है—उसकी प्रामाणिकता कोई नहीं मिटा सकता। उसके बाद ईश्वर भी श्रुति के प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते (तै० उ० ३।१।१); द्यावाभूमी जनयन्देव एकः (श्वे० उ० ३।३)। 'नैकस्मिन्नसंभवात्' सूत्र की व्याख्या सभी वेदान्तियों ने जैन-मत के खण्डन के रूप में ही की है। विशेष ज्ञान के लिए वह स्थल देखना चाहिए।

(४. रामानुज-दर्शन के तीन पदार्थ)

एष हि तस्य सिद्धान्तः—चिदचिदीश्वरभेदेन भोक्तृ-भोग्य-नियामकभेदेन च व्यवस्थितास्त्रयः पदार्था इति। तदुक्तम्—

---

१. प्रधानमल्लनिबर्हणन्याय—जिस प्रकार मुख्य पहलवान को पछाड़ देने पर दूसरे पहलवान मल्ल-युद्ध करने से विरत हो जाते हैं वैसे ही जैनों के द्वारा स्वीकृत जीवस्वरूप को दूषित कर देने पर अन्य सिद्धान्तों और पदार्थों का खण्डन स्वयमेव हो जाता है।

१. ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थत्रितयं हरिः ।
ईश्वरश्चिदिति प्रोक्तो जीवो दृश्यमचित्पुनः ॥ इति ।

उस (रामानुज) दर्शन का यही सिद्धान्त है—चित् (Soul) अचित् (Universe) और ईश्वर (God) के भेद से, जो क्रमशः भोक्ता (Enjoyer, subject), भोग्य (Object) और नियामक (Controller) हैं तीन प्रकार के निश्चित पदार्थ हैं। ऐसा ही कहा है—'ईश्वर, चित् और अचित् के रूप में पदार्थों की संख्या तीन है; हरि (विष्णु) ही ईश्वर है, चित् से जीव का अभिप्राय है और दृश्यमान जगत् (Appearance) अचित् है।'

(५. अद्वैत-वेदान्त का इस विषय में पूर्वपक्ष)

अपरे पुनरशेषविशेषप्रत्यनीकं चिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थः । तच्च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमपि 'तत्त्वमसि' (छा० उ० ६।८।७) इत्यादिसामानाधिकरण्याधिगतजीवैक्यं बध्यते मुच्यते च ।

तदतिरिक्तनानाविधभोक्तृभोक्तव्यादिभेदप्रपञ्चः सर्वोऽपि तस्मिन्नविद्यया परिकल्पितः, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० उ० ६।२।१) इत्मादिवचननिचयप्रामाण्यात्—इति ब्रुवाणाः, 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० उ० ७।१।३) इत्यादिश्रुतिशिरःशतवशेन निर्विशेषब्रह्मात्मैकत्वविद्ययाऽनाद्यविद्यानिवृत्तिमङ्गीकुर्वाणाः, 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (काठ० उ० २।१) इति भेदनिन्दाश्रवणेन पारमार्थिकं भेदं निराचक्षाणाः, विचक्षणम्मन्याः तमिमं विभागं न सहन्ते ।

कुछ लोग (शाङ्कर वेदान्ती), जो अपने को बड़े बुद्धिमान् मानते हैं (विचक्षणम्मन्याः), इस विभाजन को नहीं मानते (इससे सहमत नहीं हैं) [मायावादी थोड़ा भी द्वैत नहीं सहन कर सकते ।] [उनकी मान्यता है कि] केवल चित् के रूप में (स्वयं प्रकाशित होनेवाले ज्ञानमात्र के स्वरूप में) ब्रह्म ही परमार्थ (Ultimate reality) है जिसमें सारे (अशेष) विशेषण

(जैसे—ह्रस्वत्व, दीर्घत्व, शब्द, स्पर्श, ज्ञातृत्व, नित्यत्व आदि सभी व्यावहारिक विशेषण जो किसी पदार्थ की सीमा स्थिर करते हैं कि यह इस तरह का है) शत्रु के रूप में हैं (=कोई भी विशेषण ईश्वर में नहीं लग सकता)। उस ब्रह्म का स्वभाव (Essence) ही नित्य (Eternal), शुद्ध (Pure), बुद्ध (Intelligent) तथा मुक्त (Free) रहना है, फिर भी 'तत्त्वमसि' (वह तुम्हीं हो) की तरह के वाक्यों से ज्ञात होनेवाले सामानाधिकरण्य (जीव और ब्रह्म का एक होना, समानाधिकरण = एक आधार, Identity) से उसकी एकता जीव के साथ सिद्ध होती है, और इसीलिए वह बन्धन में भी पड़ता है और मुक्त भी होता है। ['तत्त्वमसि' का अर्थ है—वह (ब्रह्म) तुम (जीव) हो अर्थात् ब्रह्म ही जीव है। यद्यपि ब्रह्म मुक्त है किन्तु उपर्युक्त वाक्य में दोनों की एकता होने के कारण जीव के रूप में ब्रह्म बन्धन में पड़ता है। जब जीव और ब्रह्म के ऐक्य का साक्षात्कार हो जाता है तब वह ब्रह्म मुक्त हो जाता है।]

उस (ब्रह्म) के अतिरिक्त, भोक्ता (जीव), भोग्य (जगत्) आदि के भेदों के रूप में नाना प्रकार के प्रपंच (विस्तार, Universe of diversities) उस ब्रह्म में ही कल्पित किये जाते हैं—ये सारे-के-सारे अविद्या (Illusion, ignorance) से परिचालित होते हैं। इसके लिए कितने ही वाक्य प्रमाण के रूप में हैं जैसे—'हे सोम्य (प्रसन्नमुख शिष्य), सबसे पहले यह सत् (Existent) ही उत्पन्न हुआ था, जो अकेला था, दूसरा कुछ नहीं था'; इस प्रकार की बातें ये (माया वेदान्ती) लोग करते हैं। [अद्वितीय मानने से ब्रह्म निर्विशेष मालूम पड़ता है, उसमें कोई विशेषण नहीं लग सकता। यदि विशेषण लग सकते तो वे ही विशेषण लगकर दूसरे ब्रह्म भी हो सकते। जब तक सूत्र (Formula) नहीं मालूम है तब तक एक ही कलाकृति है; जिस क्षण कृति के विशेष या सूत्र ज्ञात हो जायँगे उसी क्षण दूसरी कृति निर्मित हो जायगी।]

'आत्मा को जाननेवाला शोक को पार कर जाता है' (छा० उ० ७।१।३) इस तरह के सैकड़ों वेदवाक्यों के सिर पर सवार होकर (Taking advantage of), निर्विशेष ब्रह्म और आत्मा के एकत्व (Identity) के ज्ञान से (आत्मा के शुद्ध रूप का साक्षात्कार करके), अनादि काल से चली आनेवाली अविद्या (माया, भ्रम) की निवृत्ति हो जाती है—ऐसा वे स्वीकार करते हैं। 'जो व्यक्ति इस (ब्रह्म) को नाना प्रकार के रूप में देखता है वह मृत्यु के बाद भी पुनः मृत्यु (जन्मान्तर में) पाता है' (का० उ० २।१) यहाँ [जीव

और ब्रह्म में] भेद माननेवाले की निन्दा सुनकर दोनों के बीच ये (मायावेदान्ती) तात्त्विक भेद नहीं मानते ।

(५. क. रामानुज का उत्तर-पक्ष, अद्वैतियों की अविद्या का पूर्वपक्ष)

तत्रायं समाधिरभिधीयते । भवेदेतदेवं यद्यविद्यायां प्रमाणं विद्येत । नन्विदमनादि भावरूपं ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानम् 'अहमज्ञो मामन्यं च न जानामि' इति प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धम् । तदुक्तम्—

२. अनादि भावरूपं यद्विज्ञानेन विलीयते ।
तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं संप्रचक्षते ॥
(चित्सुखी १।९) इति ।

इन सभी शंकाओं का समाधान इस प्रकार है—[शांकरवेदान्तियों का] कथन ठीक माना जाता, यदि अविद्या को मानने के लिए प्रमाण रहते । [अविद्या को माननेवाले यह कह सकते हैं कि] यह अज्ञान अनादि और भावात्मक (Positive) है, तथा ज्ञान से हट जाता है; प्रत्यक्ष-प्रमाण से ही यह सिद्ध है (जैसा कि हम ऐसे वाक्यों में पाते हैं—) 'मैं अज्ञानी हूँ अपने आप को या किसी दूसरे को भी नहीं जानता हूँ ।' ऐसा ही कहा भी है—'जो अनादि है, भावात्मक है, विज्ञान (Knowledge) से जिसका नाश होता है, वही अज्ञान है—विशेषज्ञ लोग इसका लक्षण इसी प्रकार करते हैं ।' (चित्सुखी १।९)

विशेष—चित्सुखाचार्य (१२२५ ई०) के द्वारा लिखित चित्सुखी या प्रत्यक्तत्वप्रदीपिका शांकरदर्शन का एक बहुमान्य ग्रंथ है । इसकी टीका प्रत्यक्स्वरूप ने प्रायः १५०० ई० में मानसनयनप्रसादिनी के नाम से की थी । सर्वदर्शनसंग्रह (१३५० ई०) में चित्सुखी का उद्धरण उसकी कीर्ति का सूचक है ।

न चैतज्ज्ञानाभावविषयमित्याशङ्कनीयम् । को ह्येवं ब्रूयात्प्रभाकरकरावलम्बी भट्टदत्तहस्तो वा ? नाद्यः—

३. स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके ।
वस्तुनि ज्ञायते किंचित्कैश्चिद्रूपं कदाचन ॥
४. भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया ।
भावान्तरादभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात् ॥

इति वदता भावव्यतिरिक्तस्याभावस्यानभ्युपगमात् ।

[अज्ञान के विषय में उपर्युक्त प्रत्यक्ष, मायावादियों के दृष्टिकोण से भावरूप (Positive) अज्ञान का विषय है इसलिए उनके अनुसार ही यह कहा जाता है] 'यह (प्रत्यक्ष) ज्ञान के अभाव का विषय है'—ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए। (इस प्रत्यक्ष को ज्ञान के अभाव का विषय) माननेवाले कौन हैं ? या तो प्रभाकर गुरु[1] (मीमांसा के एक संप्रदाय के प्रवर्तक) का वरद कर पानेवाले (= गुरु-मतानुयायी) या कुमारिलभट्ट का सहारा पानेवाले (भाट्ट-मीमांसक) ऐसा कहेंगे।

गुरुमतवाले तो ऐसा (अज्ञान को भावरूप न मान कर, ज्ञानाभाव का विषय मानना) मान ही नहीं सकते। उन्हीं का कथन है—'अपने रूप (सत् के रूप में) तथा दूसरे के रूप (असत् के रूप में) की सहायता से, नित्य-रूप से, सत् और असत् दोनों में विद्यमान वस्तु में, कोई व्यक्ति, एक समय में, किसी एक ही रूप को जान सकता है'। [वस्तुओं में सदा दो रूप होते हैं, स्वकीय रूप से वस्तु सदात्मक है और परकीय रूप से वह असदात्मक है। कभी वस्तु को हम सत् के रूप में (Existent) जानते हैं, कभी असत् के रूप में। जब सत् के रूप में कोई गुण जाना जाता है, उस समय उससे भिन्न या परकीय गुण असत् रहेंगे ही। आम के फल में रूप, रस आदि सभी हैं—कभी रूप को जानते हैं उस समय रस का ज्ञान नहीं, इत्यादि। अतः सत् रूप में ज्ञान के समय भी असत् रहता है, असत् के ज्ञान के समय में भी सत् है; परन्तु यह प्रकृति का नियम है कि व्यक्ति एक समय में किसी एक को ही जान सकता है यद्यपि दूसरा रूप भी दूसरे समय में यथावत् जाना जा सकता है। अतः सत् और असत् में कोई अन्तर नहीं।]

---

१. प्रभाकर को गुरु उपाधि मिलने के विषय में एक दन्तकथा है। एक बार इनके अध्यापक एक ग्रंथ में यह पढ़ कर परेशान थे—अत्र तुनोक्तं, तत्रापिनोक्तम्। परेशानी का कारण यह था कि दोनों स्थानों पर पदार्थ का कथन किया गया था जब कि ये पंक्तियाँ ठीक उलटी बातें सूचित कर रही थीं। गुरु की परेशानी से प्रभाकर की बुद्धि जाग उठी और उन्होंने इन पंक्तियों को इस रूप में पढ़ा—अत्र तुना उक्तम् (यहाँ 'तु' शब्द के द्वारा उल्लेख है), तत्र अपिना उक्तम् (वहाँ 'अपि' शब्द से उल्लेख है)। स्मरणीय है कि पहले के ग्रंथों में अक्षर सटा-सटा कर लिखे जाते थे, इसीलिए इस तरह की कठिनाई अध्यापक को हुई। गुरु ने कहा कि प्रभाकर, आज से तुम्हीं गुरु हो। यही कारण था कि प्रभाकर गुरु कहलाये। इन्होंने शबरभाष्य पर टीका लिख कर अपना अलग संप्रदाय चलाया।

'अभाव एक प्रकार का दूसरा भाव (Entity) है जो किसी-न-किसी व्यपेक्षा (सम्बन्ध, असत् के निरूपण की इच्छा) से प्रकट किया जाता है। एक अन्य भाव (भाव का विशेष भेद) के अतिरिक्त अभाव नामक कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि उसका निरूपण नहीं हो सकता।' [पृथ्वी में घट का अत्यन्ताभाव पृथ्वी का स्वरूप मात्र है (Positive), घट का प्रागभाव मिट्टी है, ध्वंसाभाव खपड़ा है, अन्योन्याभाव पटादि है—इस प्रकार घट के चारों अभाव (अत्यन्ताभाव, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव; और अन्योन्याभाव) किसी न किसी भाव (Positive entity) के ही रूप में हैं, अतः अभाव भाव ही का दूसरा नाम है जो असत् पदार्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है।]—यह कह कर प्रभाकर के मतानुयायी भाव के अतिरिक्त अभाव पदार्थ को स्वीकार ही नहीं करते [कि अज्ञान को ज्ञानाभावविषयक मानें।]

विशेष—यहाँ पर शांकर वेदान्त द्वारा पूर्वपक्ष की स्थापना हो रही है। तथ्य यही है कि शङ्कर अज्ञान को भावरूप मानते हैं, इसके लिए मीमांसकों से भी वे यह स्वीकार करवा लेते हैं कि अभाव भावरूप है अर्थात् अज्ञान = ज्ञानाभाव = ज्ञानभाव = भावरूप (Positive ignorance)। अपने अज्ञान को ज्ञानाभाव कहना वे किसी मूल्य पर भी स्वीकार नहीं करते। यही अज्ञान सारे मायाजाल की सृष्टि करता है, यदि ज्ञानाभाव इसे मान लेंगे तो इसकी विश्वसृजन-शक्ति विनष्ट हो जायगी। रामानुज आगे चल कर इस अज्ञान या माया का खण्डन करेंगे। उपर्युक्त पद्यों में प्रभाकर का उद्धरण देकर उनसे अज्ञान को प्रकारान्त से भावात्मक स्वीकार कराया जा रहा है। प्रभाकर भाव का ही एक दूसरा रूप अभाव मानते हैं, उससे पृथक् नहीं। तो एक तरह से उन्होंने शङ्कर की स्थिति ही स्वीकार कर ली।

न द्वितीयः। अभावस्य षष्ठप्रमाणगोचरत्वेन ज्ञानस्य नित्यानुमेयत्वेन च तदभावस्य प्रत्यक्षविषयत्वानुपपत्तेः। यदि पुनः प्रत्यक्षाभाववादी कश्चिदेवमाचक्षीत, तं प्रत्याचक्षीत—अहमज्ञ इत्यस्मिन्ननुभवेऽहमित्यात्मनोऽभावधर्मितया ज्ञानस्य प्रतियोगितया चावगतिरस्ति न वा ? अस्ति चेत्, विरोधादेव न ज्ञानानुभवः। न चेत्, धर्मिप्रतियोगिज्ञानसापेक्षो ज्ञानाभावानुभवः सुतरां न संभवति। तस्याज्ञानस्य भावरूपत्वे प्रागुक्त-

दूषणाभावात् अयमनुभवो भावरूपाज्ञानगोचर एवाभ्युपगन्तव्य इति ।

दूसरी ओर, भाट्ट-मीमांसक भी ऐसा नहीं कह सकते। अभाव का ज्ञान उनके अनुसार छठे प्रमाण (अनुपलब्धि) से होता है (प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं), तथा ज्ञान भी सदा ही अनुमेय रहता है अतः इसका अभाव (= ज्ञानाभाव) भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। [यद्यपि अभाव को भाट्ट लोग एक पृथक् पदार्थ स्वीकार करते हैं फिर भी 'मैं नहीं जानता' इस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञानाभाव का विषय नहीं। ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने पर ही उसका अभाव प्रत्यक्ष का विषय हो सकता है, पर भाट्ट लोग ज्ञान को प्रत्यक्ष न मान कर अनुमेय मानते हैं। नैयायिकों का यह कथन है कि 'मैं जानता हूँ' यह वाक्य अनुव्यवसायात्मक आन्तर प्रत्यक्ष से निष्पन्न होता है इसलिए ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय है, परन्तु यह ठीक नहीं। इस प्रकार का ज्ञान दूसरे अनुव्यवसायात्मक ज्ञान की अपेक्षा रखता है, वह भी तीसरे की अपेक्षा करेगा—इस तरह अनवस्था नाम का दोष उत्पन्न हो जायगा। इसलिए ज्ञान को भाट्टमतानुसार स्वप्रकाशक (दीप की तरह) मानना ही उपयुक्त है। एक दीप दूसरे दीप से प्रकाशित नहीं होता, अपना प्रकाशन आप ही करता है। निष्कर्ष यह है कि ज्ञान इनके अनुसार अतीन्द्रिय है। प्रत्यक्ष के योग्य पदार्थों का अभाव भले ही प्रत्यक्ष हो, लेकिन प्रत्यक्ष से ग्रहण न करने योग्य पदार्थों (जैसे, ज्ञान) का अभाव भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं। फलित यह हुआ कि 'मैं अज्ञ हूँ' यह प्रत्यक्ष ज्ञानाभाव का विषय नहीं, भावरूप अज्ञान का ही विषय मानना पड़ेगा। ज्ञानाभाव प्रत्यक्ष नहीं है—प्रत्यक्ष ज्ञानाभाव नहीं है (Simple conversion)।]

अब यदि अभाव को प्रत्यक्ष (अनुपलब्धि को प्रत्यक्ष प्रमाण में अन्तर्भूत) माननेवाला व्यक्ति ऐसी बात कहे तो उससे पूछना चाहिए—'मैं अज्ञ हूँ' इस प्रकार के प्रत्यक्ष अनुभव में, अभाव-धर्म के रूप में या ज्ञान के प्रतियोगी (विरोधी = नहीं जानना) के रूप में, आत्मा ('अहम्' शब्द से प्रतीत होनेवाली) की अवगति (ज्ञान Apprehension) होती है या नहीं ? यदि ऐसी अवस्था में आत्मा का बोध होता है, तो विरोध के ही कारण ज्ञान के अभाव का अनुभव नहीं होगा। यदि नहीं होता तो ज्ञान के अभाव का अनुभव और नहीं होगा क्योंकि कोई भी अभाव तभी जाना जा सकता है जब अभाव के धर्मों से युक्त (उसके आधार का) उसके विरोधी (भाव) का ज्ञान हो। [नैयायिकादि अभाव को प्रत्यक्ष ही मानते हैं। उपर्युक्त अनवस्था इसलिए नहीं लगती कि अन्तिम अनुव्यवसाय स्वयम् अज्ञात होकर भी वस्तु की सत्ता से ही अपने पहले के

अनुव्यवसाय का ग्रहण कर लेगा। ज्ञान दो तरह के हैं—परगत और स्वगत। पूरा का पूरा परगत ज्ञान तथा निर्विकल्पक स्वगत ज्ञान अतीन्द्रिय है। स्वगत सविकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय है इसलिए इनके मतानुसार 'अहमज्ञः' यह प्रत्यक्ष अनुभव ज्ञानाभाव का विषय है—ऐसा कह सकते हैं। इस सम्प्रदाय से अद्वैतवेदान्ती पूछते हैं कि 'मैं अज्ञ हूँ (मैं ज्ञानाभाव सम्पन्न हूँ)' इस अनुभव में ज्ञानाभाव को आधार मानने के कारण 'अहम्' अर्थ वाली आत्मा का ज्ञान होता है कि नहीं? उसी अनुभव में ज्ञानाभाव का विरोधी होने के कारण ज्ञान का ज्ञान होता है कि नहीं? यदि है तो ज्ञान की सत्ता माननी पड़ेगी; ज्ञानाभाव कहाँ है और कहाँ है उसका अनुभव? यदि नहीं है तो ज्ञानाभाव रहने पर भी इसका अनुभव नहीं होगा क्योंकि अभाव का ज्ञान तभी सम्भव है जब अभाव के आधार का ज्ञान हो, अभाव के प्रतियोगी का ज्ञान हो। घट का बिना ज्ञान हुए घटाभाव जानना असम्भव है।]

अब यदि उस अज्ञान को भावरूप (positive) स्वीकार कर लें, तो उपर्युक्त दोषों से मुक्ति मिल जाती है। अतएव यह अनुभव भावरूप अज्ञान से ही उत्पन्न होता है—ऐसा मानना चाहिये। (इस प्रकार मायावादियों का पूर्वपक्ष समाप्त हुआ।)

(६. रामानुज द्वारा इसका खण्डन)

तदेतद्गगनरोमन्थायितम्। भावरूपस्याज्ञानस्य ज्ञानाभावेन समानयोगक्षेमत्वात्। तथाहि—विषयत्वेनाश्रयत्वेन चाज्ञानस्य व्यावर्तकतया प्रत्यगर्थः प्रतिपन्नो न वा? प्रतिपन्नश्चेत्, स्वरूपज्ञाननिवर्त्यं तदज्ञानमिति तस्मिन्प्रतिपन्ने कथंकारमवतिष्ठते? अप्रतिपन्नश्चेत्, व्यावर्तकाश्रयविषयशून्यमज्ञानं कथमनुभूयेत?

[मायावादियों के द्वारा अज्ञान को भावरूप मानने के लिए तर्क देना ठीक वैसा ही असम्भव है जैसा कोई पशु] आकाश का पागुर (जुगाली, चर्वितचर्वण, regrazitating) करे! भाव के रूप में अज्ञान को मानना ज्ञानाभाव के रूप में मानने के ही बराबर है। इसमें दो विकल्प हो सकते हैं—[अज्ञान के] विषय (आत्मा के स्वरूप का ज्ञान) तथा आश्रय (= आत्मा) के रूप में, अज्ञान की व्यावर्तक बनकर, उस ज्ञानस्वरूप आत्मा की प्रतीति होती है कि नहीं? ('मैं अज्ञ हूँ' इस अज्ञान की प्रतीति के समय उस ज्ञानस्वरूप आत्मा की प्रतीति होती है कि नहीं?) यदि प्रतीति होती है तो 'स्वरूप के ज्ञान से निवृत्त होने वाला (ज्ञान का विरोधी) वह अज्ञान है'—इसलिए उस (ज्ञान)

की प्रतीति होने पर ज्ञान किसी प्रकार नहीं रह सकता। [चूँकि अज्ञान आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जान जाने पर हट जाता है इसलिये स्वरूप के ज्ञान के बाद अज्ञान ठहरेगा ही नहीं। 'अहमज्ञः' में अज्ञान की प्रतीति के समय ज्ञान यदि रहे तो अज्ञान की प्रतीति कैसे हो सकेगी, अज्ञान कहाँ से रहेगा ?] दूसरी ओर यदि आत्मा की प्रतीति नहीं होती, तो व्यावर्तक (अज्ञान का व्यावर्तक है आत्मा, प्रतीति, बोध), आश्रय तथा विषय से शून्य होने से अज्ञान का अनुभव ही कैसे होगा ?

विशेष—अज्ञान (मैं अज्ञ हूँ) का विषय (Object) आत्मा के स्वरूप का ज्ञान ही है; उसका आश्रय (Substratum, object) है आत्मा, क्योंकि आत्मा को प्रत्यक्ष रूप में यह अनुभव होता है कि मैं नहीं जानता हूँ। आत्मा ही अज्ञान का व्यावर्तक (रोकने वाला, प्रतिषेधक) है। यहाँ शांकरवेदान्तियों का यह दोष दिखलाया जा रहा है कि व्यावर्तक को ही वे अज्ञान का विषय और आश्रय दोनों मान लेते हैं।

अथ विशदः स्वरूपावभास एवाज्ञानविरोधी, नाज्ञानेन सह भासत इत्याश्रयविषयज्ञाने सत्यपि नाज्ञानानुभवविरोध इति—हन्त, तर्हि ज्ञानाभावेऽपि समानमेतदन्यत्राभिनिवेशात्। तस्मादुभयाभ्युपगतज्ञानाभाव एव 'अहमज्ञो, मामन्यं च न जानामि' इत्यनुभवगोचर इत्यभ्युपगन्तव्यम्।

(मायावादी यह कह सकते हैं कि) आत्मा (स्वरूप) की जो प्रतीति (अवभास) स्फुट (manifested) है वही अज्ञान (माया) का विरोध करती है। वह (विशद आत्मप्रतीति) अज्ञान के साथ नहीं रह सकती। इस प्रकार [अज्ञान के] आश्रय और विषय के होने पर [आत्मा की प्रतीति स्फुट न होने से] उसका विरोध अज्ञान (अहमज्ञः) के अनुभव के साथ नहीं होता (तात्पर्य यही है कि अविशद आत्मप्रतीति अज्ञान का व्यावर्तक नहीं है, विशद से ही ऐसी आशा की जाय)। रामानुज उत्तर में कहते हैं कि हाय, हाय, तब तो [जो बात भावरूप अज्ञान मानकर आप कह रहे हैं] वही बात ज्ञानाभाव का विषय मानने पर होगी (कि आधार और विरोधी—इन दोनों में विशद स्वरूपावभास या आत्मप्रतीति विरोधी हो सकेगी, अविशद स्वरूपावभास नहीं।) हाँ, यदि आप पक्षपात (अभिनिवेश) न करें तभी ऐसा कहेंगे। [मायावादी लोग भावरूप अज्ञान मानने में जो पक्षपात करते हैं वह हम लोगों में नहीं है। इस प्रकार दोनों पक्षों (हमारे और आपके) से सिद्ध ज्ञानाभाव ही—'मैं अज्ञ हूँ,

अपने आपको और दूसरे को भी नहीं जानता' इस वाक्य में अनुभूत होता है (is experienced)—ऐसा मानना चाहिए।

विशेष—रामानुज अपने तर्क के बल से अद्वैतियों को 'अज्ञान भावरूप नहीं, ज्ञानाभाव का विषय है' ऐसा स्वीकार कराते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि अज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से बोध्य नहीं। अब अनुमान के अखाड़े में ले जाकर अज्ञान को पछाड़ने की युक्ति रची जा रही है। रामानुज ने अपने ब्र० सू० भाष्य के प्रथम सूत्र में अज्ञान का खण्डन बड़े जोरदार शब्दों में किया है। उसी से विषय-वस्तु लेकर प्रस्तुत स्थल में प्रतिपादन किया जा रहा है।

(७. अज्ञान को भावरूप मानने में अनुमान और उसका खण्डन)

अस्तु तर्ह्यनुमानं मानं विवादास्पदं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभाव-व्यतिरिक्त-स्वविषयावरणस्वनिवर्त्य-स्वदेशगत-वस्त्वन्तर-पूर्वकम् अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वादन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावत् इति।

[शांकर वेदान्ती कह सकते हैं कि] प्रस्तुत विवाद से ग्रस्त ज्ञान (= अज्ञान भावरूप है) को अनुमान से सिद्ध क्यों नहीं मानते ? अनुमान इस प्रकार हो सकता है—

(१) [अविद्या को] प्रमाणित करने वाला ज्ञान (**पक्ष**) किसी दूसरी वस्तु के बाद में होता है, जो वस्तु ज्ञान के प्रागभाव से बिल्कुल भिन्न, ज्ञान के विषयों को ढँकनेवाली, ज्ञान के द्वारा हट जाने वाली, तथा जो ज्ञान के स्थान में अवस्थित रहती है (**साध्य**)।

(२) कारण यह है कि प्रमाण ज्ञान (Right Knowledge) अप्रकाशित वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है (**हेतु**)।

(३) जिस प्रकार अन्धकार में पहले-पहल उत्पन्न होने वाली दीप की प्रभा होती है (**उदाहरण**)।

विशेष—प्रथम वाक्य में 'वस्त्वन्तर' के कुछ विशेषण लगाये गये हैं। स्वविषयावरण = स्व अर्थात् प्रमाणज्ञान का विषय ब्रह्मादि है, उसके स्वरूप को ढँकनेवाला। स्वदेशगत = प्रमाणज्ञान का देश आत्मा है, उसी में अवस्थित रहनेवाला। स्वप्रागभावव्यतिरिक्त = प्रमाणज्ञान के प्रागभाव से पृथक्। उपर्युक्त विशेषणों से युक्त अज्ञान भावरूप ही सिद्ध होता है। जो दीप प्रथम-प्रथम प्रकाश की किरणें फैलाता है उसी में अंधकार को नष्ट करने की शक्ति होती है। जिस प्रकार अँधेरे में पहले-पहल जलाया गया दीपक अपनी प्रभा से अप्रकाशित वस्तुओं को प्रकाश में लाता है उसी प्रकार अँधेरे की तरह विद्यमान

किसी दूसरी वस्तु (अर्थात् अज्ञान) को हटाकर प्रमाणज्ञान भी अप्रकाशित वस्तु (आत्मस्वरूप) को प्रकाश में ले आता है। जो वस्तु हटाई जाती है वही अज्ञान है, यह भावरूप है जिसकी व्यावृत्ति ज्ञान द्वारा ही होती है।

तदपि न क्षोदक्षमम्। अज्ञानेऽप्यनभिमताज्ञानान्तरसाधनेऽपसिद्धान्तापातात्। तदसाधनेऽनैकान्तिकत्वात्। दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वाच्च। न हि प्रदीपप्रभाया अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वं संभवति। ज्ञानस्यैव प्रकाशकत्वात्। सत्यपि प्रदीपे ज्ञानेन विषयप्रकाशसंभवात्। प्रदीपप्रभायायस्तु चक्षुरिन्द्रियस्य ज्ञानं समुत्पादयतो विरोधिसंतमसनिरसनद्वारेणोपकारकत्वमात्रमेवेत्यलमति विस्तरेण।

[रामानुज का कहना है कि] उपर्युक्त उक्ति भी तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतर सकती (शब्दशः. चक्की में पिसने से बच नहीं सकती; क्षोद = चूर्ण)। कारण यह है कि [आप ज्ञान को एक दूसरी वस्तु–अज्ञान–के बाद सिद्ध करते हैं तो] यह अज्ञान भी [उसी हेतु से (अप्रकाशित प्रपञ्च को प्रकाशित करने के कारण)] एक दूसरे अज्ञान की अपेक्षा रखेगा जो सिद्ध करना आपको अभीष्ट नहीं क्योंकि ऐसा करने पर [दूसरे अज्ञान से प्रपञ्च का आवरण हो जाने पर संसार की ही संभावना मिट जायगी जो] आपके सिद्धान्त के भी विरुद्ध है। (अथवा इस दूसरे अज्ञान से आपके प्रस्तुत अनुमान का विषय—भाव रूप अज्ञान—का भी आवरण हो जायगा और संसार की सिद्धि नहीं हो सकेगी।)

यदि आप [भावरूप अज्ञान को या उसके साधक अनुमान को तथाकथित विशेषणों से युक्त किसी दूसरी वस्तु के पश्चात्] सिद्ध नहीं करेंगे तो हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारयुक्त) हो जायगा। [यहाँ हेतु है 'अप्रकाशितार्थ को प्रकाशित करने के कारण'। यह हेतु साध्य (Major term) के विरोधी स्थानों में भी रहता है इसलिये अनैकान्तिक = अनिश्चित है।] दूसरे, उपर्युक्त अनुमान में दृष्टान्त (साध्य को) सिद्ध करने की सामर्थ्य नहीं रखता है क्योंकि वस्तुतः दीपक की प्रभा अप्रकाशित वस्तु को प्रकाशित नहीं करती, ज्ञान ही किसी वस्तु का प्रकाशन कर सकता है। दीपक के रहने पर भी ज्ञान से ही विषयों का प्रकाशन सम्भव है। दर्शनेन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न करती है, उसी समय प्रदीप-प्रभा (सहायक के रूप में) प्रकाश के विरोधी निबिड़ अन्धकार को दूर करके थोड़ा-सा उपकार ही भर करती है। अब अधिक विस्तार करना व्यर्थ है।

(७ क. उपर्युक्त अनुमान का प्रत्यनुमान)

प्रतिप्रयोगश्च विवादाध्यासितमज्ञानं न ज्ञानमात्रब्रह्माश्रितम्; अज्ञानत्वात्, शुक्तिकाद्यज्ञानवदिति। ननु शुक्तिकाद्यज्ञानस्याश्रयस्य प्रत्यगर्थस्य ज्ञानमात्रस्वभावत्वमेव इति चेत्, मैवं शङ्किष्ठाः। अनुभूतिर्हि स्वसद्भावेनैव कस्यचिद्वस्तुनो व्यवहारानुगुणत्वापादनस्वभावो ज्ञानावगतिसंविदाद्यपरनामा सकर्मकोऽनुभवितुरात्मनो धर्मविशेषः। अनुभवितुरात्मत्वमात्मवृत्तिगुणविशेषस्य ज्ञानत्वमित्याश्रयणात्।

इसका विरोधी अनुमान (Counter-position) इस प्रकार है— जिस अज्ञान के विषय में विवाद चल रहा है वह विशुद्ध ज्ञान के स्वरूप ब्रह्म में आश्रय नहीं ले सकता, क्योंकि वह अज्ञान है (जब कि ब्रह्म ज्ञान है)—जिस प्रकार शुक्ति (सीपी, Nacre) आदि के विषय में उत्पन्न अज्ञान [ज्ञाता पर आश्रित है न कि ज्ञान पर ही, क्योंकि जीव ही ज्ञाता है; उसी प्रकार मायावादियों का वह भावरूप अज्ञान ज्ञाता पर ही आश्रित है न कि ज्ञान पर। लेकिन मायावादी तो इस अज्ञान को ज्ञानरूप ब्रह्म पर आश्रित मानते हैं—यह उनका दोष है।]

[यदि कोई शंका करे कि] शुक्ति आदि के विषय में होने वाले अज्ञान (Illusion) का आश्रय स्वचेतन (आत्मा, प्रत्यक् अर्थ) है, उसका स्वभाव ही विशुद्ध ज्ञान है (फिर अज्ञान का आरोपण ज्ञानस्वरूप आत्मा पर कैसे करते हैं ? उत्तर में हम कहेंगे कि) अनुभव करना अनुभव करनेवाली आत्मा का एक धर्म है जो (धर्म) केवल अपनी सत्ता से, किसी वस्तु में व्यवहार की योग्यता (आनुगुण्य) उत्पन्न करने का स्वभाव रखता है; जिस (अनुभूति) के ज्ञान, अवगति, संविद् (बोध) आदि बहुत से नाम हैं तथा जो (धर्म) कर्म करनेवाला भी है। अनुभव करनेवाले को आत्मा और आत्मा की वृत्तियों (Actions) में स्थित एक गुण को ज्ञान कहते हैं।

ननु ज्ञानरूपस्यात्मनः कथं ज्ञानगुणकत्वमिति चेत्, तदसारम्। यथा हि मणिद्युमणिप्रभृति तेजोद्रव्यं प्रभावद्रूपेणावतिष्ठमानं प्रभारूपगुणाश्रयः। स्वाश्रयादन्यत्रापि वर्तमानत्वेन रूपवत्त्वेन च प्रभा द्रव्यरूपापि तच्छेषत्वनिबन्धनगुणव्यवहारा। एवमयमात्मा स्वप्रकाशचिद्रूप एव चैतन्यगुणः।

यहाँ कुछ लोग शंका कर सकते हैं कि ज्ञान तो आत्मा का स्वरूप (Essence) है, फिर ज्ञान उसका गुण कैसे होगा ? इस पर रामानुज का कथन है कि यह शंका ठीक नहीं। [रामानुज जीवात्मा और परमात्मा दोनों को ज्ञान-स्वरूप मानते हैं, फिर ज्ञान उनका गुण भी है, ऐसा स्वीकार करते हैं। यह उपन्यास (Establishment) आपत्तिजनक है क्योंकि स्वरूप गुण नहीं हो सकता। किन्तु जिस श्रुति-प्रमाण से आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानते हैं, उसी प्रमाण से आत्मा का गुण ज्ञान है, यह भी जानते हैं। स्वरूप गुण हो सकता है क्योंकि स्वरूपवाले ज्ञान से गुणवाले ज्ञान को पृथक् माना जाता है। इसमें दृष्टान्त भी है—] जिस प्रकार मणि, सूर्य इत्यादि तैजस (Luminary) पदार्थ स्वयं प्रभा से युक्त स्वरूप से अवस्थित हैं, किन्तु **प्रभा** रूपी **गुण** के आश्रय स्थान भी हैं (अर्थात् सूर्यादि तेज के स्वरूप में होकर भी तेज के एक प्रकार—प्रभा-गुण—से भरे हैं। स्वरूप ही गुण भी है)।

अपने आश्रय से पृथक् होकर भी रहने पर तथा उसमें रूप (Mode of things) होने के कारण द्रव्य के रूप में रहने पर भी, प्रभा (Light) को गुण के रूप में पुकारते हैं क्योंकि वह सूर्यादि के तेज का उपकारी होने का सौभाग्य रखती है। [गुण किसी वस्तु में व्याप्य अथवा अव्याप्य वृत्ति धारण करके रहता है। आकाश में शब्द उसके एकदेश में ही रहता है अतः अव्याप्य वृत्तिवाला है, घट में रूप चारों ओर से रहता है अतः व्याप्य वृत्तिवाला है। प्रभा नित्य रूप से सूर्य-सम्बद्ध है, फिर भी सूर्य के अतिरिक्त समुद्र, पर्वत, भूमि आदि में देखी जाती है—इसलिये वह गुण नहीं है। दूसरे, प्रभा में शुक्ल-रूप रहता है जिससे इसे द्रव्य मानना पड़ता है। गुण में गुण नहीं रह सकता, द्रव्य में गुण रहता है अतः प्रभा द्रव्य है। फिर प्रभा को गुण कैसे कहेंगे ? चूँकि सूर्यादि तेजों में यह निवास करती है, गुण भी द्रव्य में रहते हैं, गुणों के सादृश्य से प्रभा को गुण मानते हैं किन्तु यह व्यवहार गौण है, मुख्य रूप से तो प्रभा द्रव्य ही है।] ठीक इसी प्रकार, इस आत्मा का स्वरूप यद्यपि स्वयं प्रकाशित होनेवाला चैतन्य है, इसका गुण भी चैतन्य ही है (जो गौण प्रयोग से माना जाता है)।

विशेष—जिस प्रकार प्रभा मुख्यतः द्रव्य है, गौणरूप से उसे गुण मानते हैं; उसी प्रकार ज्ञान भी मुख्यतः द्रव्य (आत्मा का स्वरूप है), गौणरूप से ही उसे गुण के रूप में समझते हैं क्योंकि आत्मा के रूप में दूसरे द्रव्यों से सम्बद्ध होकर गुण के ही समान हो जाता है। अब श्रुति-प्रमाण से सिद्ध करते हैं कि आत्मा का स्वरूप भी ज्ञान है और गुण भी ज्ञान ही है।

तथा च श्रुतिः—स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव (बृ० उ० ४।५।१३)। अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति (बृ० उ० ४।३।९)। न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते (बृ० उ० ४।३।३०)। अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा (छा० ८।१२।४)। योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः (बृ० उ० ४।३।७)। एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः (प्रश्नो० ४।९) इत्यादिका।

इसके लिए श्रुति-प्रमाण भी है—जैसे नमक का टुकड़ा अन्तर-बाह्य का भेद बिना किये ही (सर्वत्र) रस का ही खण्ड है, उसी प्रकार यह आत्मा भी अन्तर-बाह्य के विभाजन से शून्य होकर (सर्वत्र) प्रज्ञान का ही खण्ड है (इसमें आत्मा को ज्ञानस्वरूप बतलाया गया है; बृ० उ० ४।५।१३)। यहाँ (स्वप्नावस्था में) यह पुरुष (आत्मा) स्वयंप्रकाशित होता है (वही, ४।३।९)। विज्ञाता (आत्मा) के ज्ञान (गुणरूप में वर्तमान ज्ञान) का विनाश नहीं होता है (वही, ४।३।३०)। जो यह समझे कि मैं इसे सूँघ रहा हूँ, वही आत्मा है (ज्ञान उसका गुण है; छा० ८।१२।४)। यह पुरुष जो विज्ञान से युक्त इन्द्रियों और हृदय में भी है, वह अपने आप में प्रकाशित है (प्रथम खण्ड में ज्ञान गुण है, फिर ज्ञान आत्मस्वरूप है—बृ० ४।३।७)। वह पुरुष ही देखनेवाला, छूनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, स्वाद लेनेवाला, मनन करनेवाला, समझनेवाला, करनेवाला (सब जगह ज्ञान गुण है) तथा विज्ञानस्वरूप आत्मा है (प्र० ४।९) इत्यादि।

विशेष—इस प्रकार कुछ श्रुतियों में आत्मा को ज्ञानस्वरूप कुछ में ज्ञान-गुणक तथा कुछ में ज्ञानस्वरूप और ज्ञानगुणक दोनों माना गया है। आत्मा केवल ज्ञाता ज्ञानगुणक) है, यह कहनेवाले नैयायिक लोग भी परास्त हुए; आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है, कहनेवाले मायावेदान्ती भी गये।

(८. भावरूप अज्ञान मानने में श्रुति प्रमाण नहीं है)

न च 'अनृतेन हि प्रत्यूढाः' (छा० ८।३।२) इति श्रुतिरविद्यायां प्रमाणमित्याश्रयितुं शक्यम्। ऋतेतरविषयो ह्यनृतशब्दः।

ऋतशब्दश्च कर्मवचनः। 'ऋतं पिबन्तौ' (का० ३।१) इति वचनात्। ऋतं कर्म फलाभिसन्धिरहितं, परमपुरुषाराधनवेषं तत्प्राप्तिफलम्। अत्र तद्व्यतिरिक्तं सांसारिकाल्पफलं कर्मानृतं ब्रह्मप्राप्तिविरोधि। 'य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढाः' (छा० ८।३।२) इति वचनात्।

'अनृत (असत्य) से ढँके हुए' (छा० ८।३।२)[1]—यह श्रुतिवाक्य अविद्या के विषय में प्रमाण (Authority) है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। 'अनृत' का अर्थ है 'जो ऋत (सत्य) से भिन्न हो। 'ऋत' का अर्थ है (पुण्य) कर्म, क्योंकि इस वाक्य में—'ऋत को पीते हुए' कहा गया है [जिसका अर्थ है कि वे दोनों कर्म के फलों का अनुभव कर रहे हैं।] ऋत का अर्थ है फल की कामना न रखते हुए किया गया कर्म; परम पुरुष (ब्रह्म) की आराधना के रूप में उसकी प्राप्ति का फल मिलता है। यहाँ पर उससे भिन्न, सांसारिक तथा थोड़ा फल देनेवाला कर्म ही अनृत कहा गया है जो ब्रह्म की प्राप्ति का विरोधी है। ऐसा ही श्रुतिवचन भी है—जो इस ब्रह्मलोक को प्राप्त नहीं करते, वे लोग अनृत (सांसारिक फल) से ढँके हुए हैं (छा० ८।३।२)।

'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' (श्वे० उ० ४।१०) इत्यादौ मायाशब्दो विचित्रार्थसर्गकरत्रिगुणात्मकप्रकृत्यभिधायको नानिर्वचनीयाज्ञानवचनः।

५. तेन मायासहस्रं तच्छम्बरस्याशुगामिना।
बालस्य रक्षता देहमेकैकांशेन सूदितम्॥
(वि० पु० १।१९।२०)

इत्यादौ विचित्रार्थसर्गसमर्थस्य पारमार्थिकस्यैवासुराद्यस्त्रविशेषस्यैव मायाशब्दाभिधेयत्वोपालम्भात्। अतो न कदाचिदपि श्रुत्याऽनिर्वचनीयाज्ञानप्रतिपादनम्।

'माया को मूलकारण समझें'—इस वाक्य में माया-शब्द का अर्थ 'विचित्र पदार्थों की सृष्टि करनेवाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति' है, न कि अनिर्वचनीय

१. इस वाक्य का मायावेदान्ती लोग अर्थ करते हैं कि अनृत संसार का मूलकारण मायानामक भावरूप अज्ञान है, उसी से शब्दादि विषयों द्वारा कामनाओं की उत्पत्ति होने से लोग अपने वास्तविक रूप से हटा दिये जाते हैं।

(भावरूप) अज्ञान । [विष्णुपुराण के निम्नलिखित श्लोक में] विचित्र वस्तुओं की सृष्टि में समर्थ तथा पारमार्थिक (वास्तविक real), असुर के अस्त्र-विशेष का ही बोध माया शब्द से होता है—'बालक (प्रह्लाद) के शरीर की रक्षा करते हुए, उस आशुगामी [विष्णु के चक्र] ने शम्बर नामक राक्षस की हजारों मायाओं को एक-एक खण्ड करके नष्ट कर दिया' (वि० पु० १।१९।२०)। इसलिए श्रुति-प्रमाण से कभी भी अनिर्वचनीय अज्ञान का प्रतिपादन नहीं होता।

(६. अज्ञान की सिद्धि अर्थापत्ति से भी नहीं—'तत्त्वमसि' का अर्थ)

नाप्यैक्योपदेशान्यथानुपपत्त्या। तत्त्वंपदयोः सविशेषब्रह्माभिधायित्वेन विरुद्धयोर्जीवपरयोः स्वरूपैक्यस्य प्रतिपत्तुमशक्यतयाऽर्थापत्तेरनुदयदोषदूषितत्वात्।

['तत्त्वमसि' (तुम वह हो) इस वाक्य में जीव और परमात्मा की एकता का उपदेश दिया गया है। यदि इन दोनों में वास्तविक भेद होता तो यह संभव नहीं था कि ऐक्य दिखला दें, तथ्य यह है कि इन दोनों में काल्पनिक भेद ही माना जायगा। यह काल्पनिक भेद किसी अन्य उपाय से सिद्ध नहीं होता अतः इस अभेद ज्ञान के उत्पादक के रूप में—अर्थापत्ति-प्रमाण से—अनिर्वचनीय अज्ञान को स्वीकार करना पड़ेगा। इसका खण्डन करते हुए रामानुज कहते हैं कि जीव और परमात्मा में अज्ञान के अतिरिक्त] किसी दूसरे प्रकार से एकता सिद्ध नहीं होती, इसलिए आप [अज्ञान की सत्ता] नहीं मान सकते। [स्मरणीय है कि जब किसी विशेष अर्थ के आपादान (ग्रहण) के बिना कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती तब अर्थापत्ति-प्रमाण मानते हैं—मोटे देवदत्त पण्डित दिन में खाते ही नहीं। इस वाक्य में न खानेवाले देवदत्त की मोटाई असिद्ध ही हो जायगी यदि हम यह न कहें कि वे रात में ही दुगुना भोजन करते हैं। यह 'रात में दुगुना भोजन करना' अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होता है। यहाँ भी अज्ञान को न मानें तो काल्पनिक भेद सिद्ध नहीं होगा। लेकिन रामानुज इसे काट रहे हैं।]

कारण यह है कि तत् (वह) और त्वम् (तुम) दोनों पदों में सविशेष (Qualified) ब्रह्म का अर्थ है, आपस में विरोधी जीव और परमात्मा में स्वरूप की एकता का प्रतिपादन करना [इस वाक्य से] कठिन है, अतः अर्थापत्ति-प्रमाण का यहाँ उदय ही नहीं होगा—यही दोष यहाँ लग जायगा। [तत् और त्वम् दोनों सविशेष ब्रह्म के प्रतिपादक हैं, दोनों में 'नीलो घटः' इत्यादि के

समान समानाधिकरणता (Identity) है—इसी से वाक्यार्थ की सिद्धि हो जाती है, अर्थापत्ति की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। यदि किसी दूसरे प्रकार से वस्तुसिद्धि नहीं होती हो, तब न अर्थापत्ति आवेगी ?]

तथा हि—तत्पदं निरस्तसमस्तदोषम् अनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणास्पदं जगदुदयविभवलयलीलं ब्रह्म प्रतिपादयति। 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० ६।२।३) इत्यादिषु तस्यैव प्रकृतत्वात्। तत्समानाधिकरणं त्वंपदं चाचिद्विशिष्टजीवशरीरकं ब्रह्माचष्टे। प्रकारद्वयविशिष्टैकवस्तुपरत्वात् सामानाधिकरण्यस्य।

इसे इस प्रकार समझें—'तत्' शब्द ब्रह्म का प्रतिपादन करता है जो (ब्रह्म) सारे दोषों से रहित है, असीम अतिशयों (विशेषताओं) से युक्त तथा असंख्य कल्याणप्रद गुणों का आगार है एवं संसार की उत्पत्ति, विभव (स्थिति) और लय की लीला दिखलाता है। 'उसने देखा, मैं बहुत हो जाऊँ, मैं उत्पन्न होऊँ' (छा० ६।२।३) इत्यादि श्रुतिवाक्यों में उसी (ब्रह्म) का वर्णन है। उसका समानाधिकरण (Identical) 'त्वम्' शब्द भी अचित् (जड़ शरीर) से विशिष्ट जीव की देह धारण करनेवाले ब्रह्म का ही बोध कराता है। समानाधिकरणता (Identity) दो प्रकारों से विशिष्ट किसी एक ही वस्तु पर निर्भर करती है। ['नीलो घटः' में एक ही वस्तु का बोध होता है किन्तु एक प्रकार है नील गुण से विशिष्ट होना, दूसरा प्रकार है घटत्वजाति से विशिष्ट होना। तत् और त्वम् भी ब्रह्म के प्रतिपादक हैं किन्तु दो प्रकारों से विशिष्ट हैं।]

विशेष—'तदैक्षत०' आदि में ब्रह्म का संकल्प दिखलाया गया है जो संसार की उत्पत्ति के पूर्व किया गया है। वे पहले निरीक्षण करते हैं, पुनः बहुत होने की कामना करते हैं कि चित्, अचित् के मिश्रण से जगत् के रूप में मैं ही बहुत बन जाऊँ, उसके लिए पहले तेज, जल, अन्न आदि के रूप में उत्पन्न होऊँ। ब्रह्म का यह संकल्प तभी संभव है जब वे सभी दोषों से रहित हों, अनन्त कल्याणकारी गुणों से संपन्न हों। इसलिए ब्रह्म में वे सब गुण उपपन्न होते हैं। 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' शब्द से ऐसे ही ब्रह्म का बोध होता है।

(१०. 'तत्त्वमसि' में लक्षणा—अद्वैत-पक्ष)

ननु 'सोऽयं देवदत्त' इतिवत् तत्त्वमिति पदयोर्विरुद्धभागत्यागलक्षणया निर्विशेषस्वरूपमात्मैक्यं सामानाधिकरण्यार्थः किं

न स्यात्। यथा सोऽयमित्यत्र देशान्तरकालान्तरसंबन्धी पुरुषः प्रतीयते। इदंशब्देन च संनिहितदेशवर्तमानकालान्तरसंबन्धी। तयोः सामानाधिकरण्येनैक्यमवगम्यते। तत्रैकस्य युगपद्विरुद्धदेशकालप्रतीतिर्न संभवतीति द्वयोरपि पदयोः स्वरूपपरत्वे स्वरूपस्य चैक्यं प्रतिपत्तुं शक्यम्। एवमत्रापि किंचिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादि-विरुद्धांश-प्रहाणेनाखण्डस्वरूपं लक्ष्यत इति चेत्——।

[मायावादी लोग] शंका करते हैं कि 'तत्त्वमसि' महावाक्य में भी 'यह वही देवदत्त है' इस वाक्य की ही तरह तत् और त्वम् दोनों शब्दों में विरुद्ध अंश को त्याग देने वाली लक्षणा से, आत्मा की एकता का बोध क्यों नहीं होगा, इस एकता में निर्विशेष (Unqualified) स्वरूप रहता है और इस प्रकार समानाधिकरणता (Identity) का अर्थ क्यों नहीं हो जायगा ? 'सोऽयम्' में तत् शब्द से दूसरे स्थान और दूसरे काल से संबद्ध पुरुष का अर्थ मालूम होता है। दूसरी ओर इदम् शब्द से निकट स्थान और वर्तमानकाल-संबन्धी पुरुष का बोध होता है। [यहाँ देखना है कि दोनों पदों से भिन्न-भिन्न स्थानों और कालों का बोध होता है, अतः दोनों को एक वाक्य में स्थापित करना कुछ कठिन-सा लगता है इसलिए] दोनों पदों की एकता समानाधिकरण के नियम से ही संभव है। यदि ऐसा न करें तो एक ही पुरुष के उद्देश्य के रूप में एक साथ ही विरुद्ध देश और काल वाले शब्दों से उस पुरुष (देवदत्त) की प्रतीति संभव नहीं है, इसलिए दोनों पदों को हम व्यक्ति (देवदत्त) का बोधक मानकर व्यक्ति की एकता समझ सकते हैं। [तात्पर्य यह है कि देवदत्त के उद्देश्य के रूप में दो शब्द 'यह' और 'वही' आते हैं किन्तु दोनों शब्दों में स्थान और काल को लेकर काफी अन्तर है। जब दोनों एक ही व्यक्ति के उद्देश्य हैं तो अवश्य ही दोनों में एकता होनी चाहिए, एकता तभी स्थापित हो सकती है जब दोनों शब्द मतभेदवाले अंश को निकाल दें। ऐसी दशा में उनका अपना अर्थ कम हो जायगा तथा लक्षणा से दूसरे अल्प अर्थ की कल्पना करनी पड़ेगी। इसी को 'विरुद्ध भाग त्याग करानेवाली लक्षणा' कहते हैं। इस प्रकार 'सः' और 'अयम्' के बीच एकता समानाधिकरण के नियम (Law of identity) से हो जायगी।] इसी प्रकार, यहाँ भी जीवात्मा और परमात्मा दोनों के बीच, 'तत्त्वमसि' महावाक्य में एकता हो सकती है यदि उन दोनों के विरुद्ध अंश, जैसे थोड़ा जानना (जीव का गुण), सब कुछ जानना

(परमात्मा का गुण) आदि, का त्याग हो जाय और दोनों के अखंड-स्वरूप का बोध हो जाय। [यह मायावादी लोगों का पूर्वपक्ष हुआ।]

(११. रामानुज का उत्तर-पक्ष)

विषमोऽयमुपन्यासः। दृष्टान्तेऽपि विरोधवैधुर्येण लक्षणा-गन्धासंभवात्। एकस्य तावद् भूतवर्तमानकालद्वयसंबन्धो न विरुद्धः। देशान्तरस्थितिर्भूता संनिहितदेशस्थितिर्वर्तत इति देशभेदसंबन्धविरोधश्च कालभेदेन परिहरणीयः। लक्षणापक्षेऽप्येकस्यैव पदस्य लक्षकत्वाश्रयणेन विरोधपरिहारे पदद्वयस्य लाक्षणिकत्वस्वीकारो न संगच्छते।

मायावादियों की यह स्थापना बिल्कुल व्यर्थ है। 'यह वही देवदत्त है' इस दृष्टान्त में भी विरोध नहीं है, अतः लक्षणा की गंध भी इस वाक्य में नहीं है। एक व्यक्ति का संबन्ध यदि भूत और वर्तमान दोनों कालों से [भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में, एक साथ नहीं] है तो कोई भी विरोध की बात नहीं [जिससे लक्षणा स्वीकार करने की आवश्यकता हो, यह तो स्वाभाविक ही है।] दूसरे स्थान में उसकी स्थिति भूतकाल में थी अब उसकी स्थिति निकट स्थान में है इसलिए स्थान के भेदों का संबन्ध, जिससे विरोध होने की संभावना है, उसे काल का भेद मानकर समझा सकते हैं। [कहने का अभिप्राय यह है कि 'सः' और 'अयम्' शब्दों में विरोध है ही नहीं कि लक्षणा मानें। यह माना कि 'सः' का मतलब दूसरे काल और दूसरे स्थान में अवस्थित पुरुष है, यह भी माना कि 'अयम्' का अर्थ निकट काल और निकट स्थान में अवस्थित पुरुष है। किन्तु क्या दो स्थानों में एक ही व्यक्ति नहीं रह सकता ? हाँ, यदि एक साथ एक ही समय में आप कहें तो संभव नहीं है। सो बात तो यहाँ है नहीं। वह पुरुष दो विभिन्न कालों में दो स्थानों पर था। भूतकाल में दूर पर था लेकिन वर्तमान-काल में निकट आ गया। अतः कोई विरोध यहाँ नहीं है। फिर लक्षणा क्यों स्वीकार करें।]

फिर भी, यदि आप लक्षणा मानने के लिए ही सिर पर सवार हैं तो लक्षणा में भी एक ही शब्द लाक्षणिक होता है। किन्तु उक्त विरोध से बचने के लिए दो पदों को (सः और अयम् को) लाक्षणिक स्वीकार करना पड़ता है जो वास्तव में संगत नहीं।

विशेष—माधवाचार्य का उपर्युक्त कथन चिन्तनीय है। लक्षणा में यह आवश्यक नहीं कि लाक्षणिक एक ही पद हो। लक्षणा में केवल अन्वय का

ही विरोध नहीं किया जाता बल्कि तात्पर्यार्थ का भी विरोध होता है। इसके लिए एक पद के समान ही दो, तीन या सभी पदों की लक्षणा होती है। 'विष खा लो पर उसके घर में भोजन मत करो' इसमें सभी पदों की लक्षणा है। लेकिन एक बात है। वह यह कि लाक्षणिक चाहे कितने भी पद हों परन्तु लक्ष्यता का व्यापक कोई एक ही होता है अर्थात् लक्ष्यार्थ एक ही होगा।

इतरथैकस्य वस्तुनः तत्तेदंताविशिष्टत्वावगाहनेन प्रत्यभिज्ञायाः प्रामाण्यानङ्गीकारे स्थायित्वासिद्धौ क्षणभङ्गवादी बौद्धो विजयेत। एवमत्रापि जीवपरमात्मनोः शरीरात्मभावेन तादात्म्यं न विरुद्धमिति प्रतिपादितम्। जीवात्मा हि ब्रह्मणः शरीरतया प्रकारत्वाद् ब्रह्मात्मकः। 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्' (बृ० ३।७।२२) इति श्रुत्यन्तरात्।

यदि दोनों पदों में लाक्षणिकता मान लें तो एक वस्तु को 'इदम्' और 'तत्' दोनों के गुणों से विशिष्ट मानकर, प्रत्यभिज्ञा (Recognition) को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करना पड़ेगा। इस तरह स्थायित्व नाम की कोई चीज नहीं रह जायगी, क्षणभंगवाद को स्वीकार करनेवाले बौद्धों की ही विजय हो जायगी। [रामानुज का यह पूछना है कि काल में भेद होने से वस्तु में भेद पड़ता है कि नहीं ? यदि नहीं पड़ता है तो लक्षणा की आवश्यकता ही क्या है। यदि वस्तु कालक्रम से भिन्न होती चली जाती है तो क्षणिकवादी बौद्धों का सिद्धान्त ही यह हो जायगा। किन्तु वास्तव में यह बात चिन्तनीय है क्योंकि बौद्ध-मत उसी समय स्वीकार किया जा सकता है जब उपाधि में भेद हो अर्थात् जब दो वस्तुओं में भिन्न-भिन्न उपाधियाँ हों। किन्तु यहाँ पर वस्तु तो एकरूप ही रहती है। 'यह वही देवदत्त है' इस वाक्य में अभेद की उत्पत्ति नहीं की जाती क्योंकि वह तो पहले से ही है। अभेद की सूचना हीं यहाँ मिलती है। फल यह हुआ कि अभेद बतलाने के लिए इस वाक्य में लक्षणा का आश्रय लेना आवश्यक है।]

ठीक इसी प्रकार इस (तत्त्वमसि) वाक्य में जीव और परमात्मा दोनों के बीच शरीर और आत्मा का संबन्ध है इसलिए तादात्म्य (Identity) रखना विरोध नहीं होता यही प्रतिपादित किया गया है। जीवात्मा ब्रह्म का शरीर है। इसलिए वह ब्रह्म का ही एक प्रकार है, ब्रह्मात्मक है। इसके लिए वेद का

दूसरा प्रमाण भी है—जो आत्मा में रहता है, आत्मा से भिन्न दूसरी आत्मा जिस परमात्मा को नहीं जान पाती, आत्मा जिसका शरीर है (बृ० ३।७।२२)।

विशेष—यहाँ जीव और ईश्वर के बीच के भेद को बाँधने की बहुत ही सुन्दर चेष्टा हुई है। जीव को शरीर माना गया और ईश्वर उसकी आत्मा है। आत्मा और शरीर चूँकि परस्पर विरोधी शब्द हैं अतः दोनों के बीच शरीरात्म-भाव दिखाकर 'त्वम्' शब्द का अर्थ जीव के शरीर को धारण करने वाले परमात्मा के रूप में किया जाता है। 'तत् त्वम्' कहने पर कोई विरोध नहीं है—तादात्म्य दोनों में हो सकता है।

(१२. सभी शब्द परमात्मा के वाचक हैं)

अत्यल्पमिदमुच्यते। सर्वे शब्दाः परमात्मन एव वाचकाः। न च पर्यायत्वम्। द्वारभेदसंभवात्। तथा हि जीवस्य शरीरतया प्रकारभूतानि देवमनुष्यादिसंस्थानानीव सर्वाणि वस्तूनीति ब्रह्मात्मकानि तानि सर्वाणि।

['त्वम्' शब्द से जो जीव के अन्तर्यामी परमात्मा का बोध हुआ] यह तो थोड़ा सा ही कहा गया। वास्तव में तो संसार में जितने भी [घट, पट, मनुष्य आदि] शब्द हैं, सभी परमात्मा के ही वाचक हैं। ऐसी दशा में यह बात नहीं है कि वे (शब्द) एक दूसरे के पर्याय हो जायँ क्योंकि सभी शब्दों में द्वार के भेद की संभावना है (घट-शब्द घट-पदार्थ की अभिव्यक्ति के द्वारा अपने अन्दर के परमात्मा का बोधक होगा, इस प्रकार सभी शब्द अपने निश्चित पदार्थों के द्वारा परमात्मा का बोध कराते हैं—जिस विधि से बोध होता है उसी के द्वार में अन्तर है)। जैसे देवताओं, मनुष्यों और अन्य योनियों के शरीर के अवयव उनमें निवास करने वाले जीव के शरीर के विभिन्न प्रकार (Forms) हैं, उसी प्रकार सारी वस्तुएँ ब्रह्मात्मक हैं। [मनुष्यों के शरीर के विविध अवयव उस शरीर के विभिन्न रूप हैं, उन अवयवों को हम मनुष्यात्मक कहते हैं क्योंकि सब मनुष्य के ही हैं। ब्रह्म के शरीर के विविध अवयवों के रूप में ये सारी वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं अतः ये ब्रह्मात्मक हैं।]

अतः—

६. देवो मनुष्यो यक्षो वा पिशाचोरगराक्षसाः।
पक्षी वृक्षो लता काष्ठं शिला तृणं घटः पटः॥

इत्यादयः सर्वे शब्दाः प्रकृतिप्रत्यययोगेनाभिधायकतया प्रसिद्धा लोके, तद्वाच्यतया प्रतीयमानतत्तत्संस्थानवद्वस्तुमुखेन तदभिमानिजीवतदन्तर्यामिपरमात्मपर्यन्तसंघातस्य वाचकाः। देवादिशब्दानां परमात्मपर्यन्तत्वमुक्तं तत्त्वमुक्तावल्यां चतुर्थसरे।

७. जीवं देवादिशब्दो वदति तदपृथक्सिद्धभावाभिधाना-
न्निष्कर्षाभावयुक्ताद्बहुरिह च दृढो लोकवेदप्रयोगः।
आत्मासंबन्धकाले स्थितिरनवगता देवमर्त्यादिमूर्ते-
र्जीवात्मानुप्रवेशाज्जगति विभुरपि व्याकरोन्नामरूपे॥
(तत्त्वमुक्ताकलापः ४।८२) इति।

इसलिये, देव, मनुष्य, यक्ष, पिशाच, सर्प, राक्षस, पक्षी, वृक्ष, लता, काष्ठ, शिला, घट, पट आदि सभी शब्द प्रकृति (Root) और प्रत्यय (Suffix) के जोड़ने से किसी न किसी अर्थ का बोधक होने पर लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध हैं। अपने उसी बाह्यार्थ से वे अपने-अपने शरीरावयवों को धारण करने वाली वस्तुओं का बोध कराते हैं तथा इसी प्रकार, उनका नियन्त्रण करने वाले जीव का (सजीव वस्तुओं में) तथा उसके बाद उसके अन्दर में नियामक के रूप में रहने वाले परमात्मा तक के सारे समूहों (अर्थों) का बोध भी ये शब्द ही करा देते हैं। [हमलोग शब्दों की महत्ता केवल बाह्य वस्तुओं का बोध कराने में ही समझते हैं। लेकिन शब्द न केवल बाह्यार्थ का प्रत्युत अन्तर्यामी परमात्मा तक का बोध कराने में समर्थ हैं। शब्द से वस्तु का बोध होता है, वस्तु से उसके भीतर रहने वाले जीव का, फिर जीव से परमात्मा का—इस प्रकार ये बहुत से संघात बीच में पड़ते हैं।]

देवादि शब्द परमात्मा तक का बोध करा देते हैं, यह तत्त्वमुक्तावली के चतुर्थ सर (अध्याय) में कहा गया है—'देव आदि शब्द जीव का बोध कराते हैं क्योंकि उस (जीव) से पृथक् न रहनेवाले सिद्ध-भाव (देवादि का शरीर) का उल्लेख किया जाता है। [जीव के बिना शरीर का स्वरूप नहीं सिद्ध किया जा सकता है। इसलिए शरीर जीव से अपृथक् है, यह सिद्ध है।] इस अर्थ में, लोक और वेद दोनों में [देवादि शब्दों का] प्रयोग बहुत दृढ़तासे होता है, चूँकि [जीव और शरीर में] निष्कर्ष (पार्थक्य Difference) का अभाव है। [लोक में देव, मनुष्य, पशु आदि शब्दों का प्रयोग शरीर तथा जीव दोनों के लिए होता है, किसी एक के लिए नहीं। वेद में भी जहाँ-जहाँ 'देवत्वं प्राप्नोति

गच्छति' का प्रयोग है वहाँ-वहाँ 'देवत्व' का अर्थ है देवता के शरीर की विशेषता। इस प्रकार दोनों स्थानों में विशिष्ट अर्थ में ही इन शब्दों का प्रयोग होता है। इसमें कारण यही है कि शरीर से शरीरी (जीव) अपृथक् रूप से सिद्ध है।]

'आत्मा से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने पर देव, मनुष्य आदि के शरीर (मूर्ति) की स्थिति पहले जैसी नहीं जानी जाती। [मर जाने पर शरीर क्षण भर भी पहले जैसा नहीं रहता जब कि उस शरीर में आत्मा या जीव का वास था।] यहाँ तक कि परमात्मा ने भी वस्तुओं में जीवात्मा का प्रवेश होने के कारण ही संसार में नाम (Name) और रूप (Form) की सृष्टि की।'

विशेष—वेङ्कटनाथ या वेदान्तदेशिक के लिखे हुए बहुत से ग्रन्थों में तत्त्वमुक्ताकलाप भी एक है। वेदान्तदेशिक का समय १२६७ से १३६८ ई० है। उक्त ग्रन्थ पर उन्होंने स्वयं भी एक टीका लिखी थी। इस ग्रन्थ में विशिष्टाद्वैतवाद के मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन स्रग्धरा छन्दों में किया गया है। इसमें पाँच सर (लड़ी) हैं। इनमें क्रमशः जडद्रव्य, जीव, नायक, बुद्धि और अद्रव्य इन पाँच विषयों का वर्णन है। प्रस्तुत स्थल में उसी ग्रन्थ की सहायता से देव आदि शब्दों से परमात्मा तक का बोध होता है—यही बतलाया जा रहा है। कुछ श्लोकों के तो केवल संकेत ही किये गये हैं।

अनेन देवादिशब्दानां शरीरविशिष्टजीवपर्यन्तत्वं प्रतिपाद्य, 'संस्थानैक्याद्यभावे' (त० मु० क० ४।८३) इत्यादिना शरीरलक्षणं दर्शयित्वा, 'शब्दैस्तन्वंशरूपप्रभृतिः' (४।८४) इत्यादिना विश्वस्येश्वरा पृथक्सिद्धत्वमुपपाद्य, 'निष्कर्षाकूत' (४।८५) इत्यादिना पद्येन सर्वेषां शब्दानां परमात्मपर्यन्तत्वं प्रतिपादितं, तत्सर्वं तत एवावधार्यम्। अयमेवार्थः समर्थितो वेदार्थसंग्रहे नामरूपश्रुतिव्याकरणसमये रामानुजेन।

उपर्युक्त श्लोक में यह सिद्ध किया गया है कि देव आदि शब्दों का अर्थ शरीर से युक्त (पृथक् न रहनेवाले) जीव तक है। पुनः 'संस्थानैक्याद्यभावे' (४।८३) इससे आरम्भ होनेवाले श्लोक में शरीर का लक्षण किया गया है, पुनः 'शब्दैस्तन्वंहरूप' (४।८४) इस श्लोक में यह सिद्ध किया गया है कि विश्व ईश्वर से पृथक् सिद्ध नहीं हो सकता। अन्त में 'निष्कर्षाकूत' (४।८५) के द्वारा सभी शब्दों को परमात्मा का बोधक बतलाया गया है। ये सभी चीजें वहीं से जाननी चाहिएँ। रामानुज ने भी नाम और रूप का वर्णन करनेवाली

श्रुतियों का विश्लेषण करते समय अपने वेदार्थ-संग्रह नामक ग्रन्थ में भी यही बात पुष्ट की है।

विशेष—तत्त्वमुक्ताकलाप के उपर्युक्त संकेतों के पूरे श्लोक यों हैं—

संस्थानैक्याद्यभावे बहुषु निरुपधिर्देहशब्दस्य रूढि-
लोकाम्नायप्रयोगानुगतमिह ततो लक्ष्म निष्कर्षणीयम्।
अव्याप्त्यादिदुःस्थं परमतपठितं लक्षणं तत्र तस्मात्-
यद्धीतुल्याश्रयं तद्वपुरिदमपृथक्सिद्धिमद् द्रव्यमस्य॥

[संसार के सभी जीवधारियों में] शरीर की रचना की एकता नहीं देखी जाती, बहुत से पदार्थों में देह शब्द का प्रयोग (रूढि = Convention) उपाधिहीन (Unconditional) ही है, यह लोक और वेद के प्रयोगों से सिद्ध है। इसलिये उसके अनुरूप ही एक लक्षण (शरीर का) निकालना चाहिये। दूसरे मतों के अनुसार दिये गये लक्षण अव्याप्ति आदि दोषों से दूषित हैं [जैसे नैयायिक लोग 'चेष्टाश्रयत्वं शरीरत्वम्' कहते हैं, ईश्वर के शरीर के रूप में अभिमत काल आदि में चेष्टा नहीं है अतः पूरे शरीर के अर्थ को यह लक्षण व्याप्त नहीं करता।] इसलिये शरीर का लक्षण होगा—बुद्धि का आश्रय ही जिसका आश्रय है, जो द्रव्य जिससे पृथक् होकर नहीं रह सकता, वही उसका शरीर है। [शरीर का आधार वही है जो बुद्धि का है, शरीर बुद्धि से पृथक् नहीं हो सकता, जो जिससे पृथक् नहीं हो वही उसका शरीर है।]

शब्दैस्तन्वंशरूपप्रभृतिभिरखिलः स्थाप्यते विश्वमूर्ते-
रित्थंभावः प्रपञ्चस्तदनवगमतस्तत्पृथक्सिद्धमोहः।
श्रोत्राद्यैराश्रयेभ्यः स्फुरति खलु पृथक् शब्दगन्धादिधर्मो
जीवात्मन्यप्यदृश्ये वपुरपि हि दृशा गृह्यतेऽनन्यनिष्ठम्॥

तनु[1], अंश[2], रूप[3] आदि[4] शब्दों से यह सिद्ध होता है कि इस रूप में (पृथक् न रहकर सिद्ध होनेवाला) यह समूचा संसार (प्रपंच) उस विश्वमूर्ति (विष्णु) का ही है (विष्णु से पृथक् यह जगत् सिद्ध नहीं होता)। इसे नहीं समझने के कारण मूर्ख लोग ईश्वर से जगत् को पृथक् समझने की मूर्खता (मोह) करते

---

१. उदाहरण—तत्सर्वं वै हरेस्तनुः (वि० पु० १।२२।३७)।

२. ममैवांशो जीवलोके (भ० गी० १५।७)।

३. द्वे रूपे ब्रह्मणस्तस्य (वि० पु० १।२२।५३)।

४. आदि से शक्ति, काय, शरीर आदि का ग्रहण होता है—विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता (वि० पु० ६।७।६), यदम्बु वैष्णवः कायः (वि० पु० २।१२।३७), यस्यात्मा शरीरम् (बृ० उ० ३।७।२२) इत्यादि।

हैं। [ज्ञानी लोग प्रपंच को सदैव ईश्वर से अपृथक् ही सिद्ध समझ कर अपने व्यवहार चलाते हैं।] जिस प्रकार, श्रोत्र, घ्राण आदि इन्द्रियों के द्वारा, शब्द-गन्ध आदि गुणों का ग्रहण (Apprehension), अपने आश्रयों (आकाश, पृथिवी आदि) से पृथक् होकर ही होता है [क्योंकि इन्द्रियाँ आश्रय को ग्रहण नहीं कर सकतीं, अतः धर्मों का ज्ञान अकेला ही होता है], उसी प्रकार अदृश्य जीवात्मा में भी [ईश्वर का ग्रहण करने में असमर्थ लोग] अपनी नंगी आँखों से केवल शरीर का ग्रहण करते हैं, किसी अन्य पदार्थ (जीव) का ग्रहण नहीं कर पाते। [इन्द्रियाँ केवल गुणों का ग्रहण कर सकती हैं, उनके आधार का नहीं। केवल बाह्येन्द्रियों का सहारा लेनेवाले मूर्ख लोग भी केवल शरीर का ग्रहण कर सकते हैं, जीव से विशिष्ट (अपृथक् सिद्ध) शरीर का नहीं। आँखों से जीव के दर्शन नहीं हो सकते।]

उपर्युक्त दोनों श्लोकों में संसार को परमात्मा से अपृथक् सिद्ध किया गया है। अब संसार के वाचक शब्दों का 'पार्थक्य' (निष्कर्ष) अर्थ न होने के कारण परमात्मा ही अर्थ है, यह बतलाया जा रहा है—

निष्कर्षाकूतहानौ विमतिपदपदान्यन्तरात्मानमेकं
तन्मूर्तेर्वाचकत्वादभिदधति यथा रामकृष्णादिशब्दाः।
सर्वेषामाप्तमुख्यैरगणि च वचसां शाश्वतेऽस्मिन्प्रतिष्ठा
पाकैस्तस्याप्रतीतेर्जगति तदितरैः स्याच्च भङ्क्त्वा प्रयोगः।

जहाँ [जीव और शरीर में] पार्थक्य रखने का अभिप्राय नहीं है,[1] वहाँ विवादास्पद (विमतिपद) शब्द भी एकमात्र 'अन्तरात्मा' अर्थ का ही बोध कराते हैं क्योंकि सारे शब्द उस (ईश्वर) की मूर्ति (Body) के ही वाचक हैं। राम, कृष्ण आदि शब्द भी ऐसे ही हैं [जिनसे परमात्मा के अर्थ का बोध होता है]। आप्त (प्रामाणिक) लोगों में प्रधानों (महर्षियों) ने इसी शाश्वत ब्रह्म में सारे शब्दों की अवस्थिति मानी है। [यह अवस्थिति वाच्यार्थ के ही रूप में है, दूसरी किसी शक्ति की आवश्यकता नहीं है। एक ऐसी ही उक्ति भी है—'नताः स्म सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती।'] पाकों (अज्ञानियों, डिम्भों) के

---

१. कहीं-कहीं जीवात्मा और शरीर में अपृथक्-सिद्धि हो जाने पर भी पार्थक्य से प्रतिपादन होने के कारण पार्थक्य अर्थ अभीष्ट होता है जैसे—यह जीवात्मा का शरीर है। यहाँ शरीर का अर्थ जीवात्मा-पर्यन्त नहीं होगा, केवल शरीर का ही यहाँ अर्थ है। 'यस्य पृथिवी शरीरम्' यहाँ भी पृथिवी शब्द इसी प्रकार का है, इससे परमात्मा तक अर्थ नहीं हो सकता। जहाँ ऐसी विवक्षा नहीं है वहाँ तो प्रत्येक शब्द परमात्मा तक का वाचक हो सकता है।

द्वारा उसकी प्रतीति नहीं होती, उनके साथ संसार में व्यवहार करनेवाले दूसरे (विद्वान्) लोग भी तोड़कर (लक्षणा से) शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में (लौकिक वस्तुओं के अर्थ में) करते हैं। [वाच्यार्थ तो शब्दों का परमात्मा ही है, लक्ष्यार्थ ये सारी वस्तुएँ हैं क्योंकि इसी अर्थ में जीव और शरीर की पृथक् सिद्धि होती है, गौण अर्थ (Secondary meaning) का सहारा लिया जाता है।]

(१३. निर्विशेष ब्रह्म की अप्रामाणिकता)

किं च सर्वप्रमाणस्य सविशेषविषयतया निर्विशेषवस्तुनि न किमपि प्रमाणं समस्ति। निर्विकल्पकप्रत्यक्षेऽपि सविशेषमेव वस्तु प्रतीयते। अन्यथा सविकल्पके सोऽयमिति पूर्वप्रतिपन्न-प्रकारविशिष्टप्रतीत्यनुपपत्तेः।

इसके अतिरिक्त, चूँकि सभी प्रमाणों का विषय (Object) सविशेष (Determinate, रूपादि से युक्त) पदार्थ हुआ करता है इसलिए निर्विशेष (आकार-प्रकार हीन) वस्तु की सिद्धि के लिए कोई प्रमाण सङ्गत नहीं हो सकता। यही नहीं, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (Indeterminate Perception) में भी सविशेष (आकार-प्रकार से युक्त) ही वस्तु की प्रतीति होती है [न कि नैयायिकों के अनुसार निर्विशेष वस्तु की]। नहीं तो सविकल्पक प्रत्यक्ष (Determinate Perception) में 'यह वही है' इस वाक्य में पहले से प्रतिपादित वस्तु के आकार-प्रकार आदि की विशेषतायें नहीं जानी जा सकतीं। [जबतक हम पहले से वस्तु के आकार-प्रकार नहीं जानेंगे तो कैसे कह सकते हैं कि यह वही वस्तु है। अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु की विशेषतायें अवश्य ज्ञात होनी चाहिएँ।]

विशेष—रामानुज का निर्विकल्पक और सविकल्पक नैयायिकों से कुछ भिन्न है, इसीलिए वे इस प्रकार की पंक्तियाँ लिख रहे हैं। नैयायिक लोग निर्वि-कल्पक को निष्प्रकारक ज्ञान समझते हैं जिसमें वस्तु की सत्ता ही ज्ञात रहती है जैसे—इदं किंचित्। रामानुज निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की परिभाषा यों करते हैं—एकजातीयद्रव्येषु प्रथमपिण्डग्रहणम् अर्थात् एक प्रकार की वस्तुओं में प्रथम पिण्ड का ग्रहण करना। देवदत्त जब पहले से न देखे हुए घट को देखकर यह ज्ञान पाता है कि यह घट है (अयं घटः) तो यह निर्विकल्पक हुआ। यहाँ यद्यपि घटत्व के रूप में उस घट का प्रकार प्रतिभासित होता है फिर भी यह घटत्व इस प्रकार के दूसरे घटों में (एकजातीयद्रव्येषु) अनुवृत्त है—यह

अनुवृत्ति का प्रकार नहीं प्रतीत होता, इसलिए इस ज्ञान को वे निर्विकल्पक कहते हैं। जब वैसा ही दूसरा घट देखते हैं तब पहले देखे गये घट के आधार पर ही कहते हैं कि यह भी उसी जाति (Class) का है यह अनुवृत्ति ('घटत्व' की) प्रतीत होती है, इसलिए यह ज्ञान सविकल्पक है जिसका उदाहरण है— **सोऽयं घटः**। नैयायिक लोग सविकल्पक का अर्थ वस्तु का प्रकार आदि लेते हैं जिसमें 'अयं रूपादिविशिष्टो घटः' कहते हैं। रामानुज का सविकल्पक नैयायिकों की प्रत्यभिज्ञा (Recognition) है।

सभी प्रमाणों में सविशेष वस्तु का ही ग्रहण होता है। यदि वस्तु में रूप आदि न हों तो प्रत्यक्ष प्रमाण की तो प्रवृत्ति होगी ही नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष के लिए वस्तु और इन्द्रियों का संनिकर्ष होना आवश्यक है; जबतक वस्तु में कोई गुण नहीं, तब तक किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होगा। दूसरे सारे प्रमाण प्रत्यक्ष के ही आधार पर होते हैं अतः उन सबों की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यही कारण है कि रामानुज शङ्कर के निर्विशेष ब्रह्म (Unqualified Brahman) का खण्डन करते हैं।

(१४. प्रपञ्च की सत्यता)

किं च तत्त्वमस्यादिवाक्यं न प्रपञ्चस्य बाधकम्। भ्रान्तिमूलकत्वात्, भ्रान्तिप्रयुक्तरज्जुसर्पवाक्यवत्। नापि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानं निवर्तकम्। तत्र प्रमाणाभावस्य प्रागेवोपपादनात्। न च प्रपञ्चस्य सत्यत्वप्रतिष्ठापनपक्ष एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाव्याकोपः।

इसके अतिरिक्त 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों को [शङ्कराचार्य की तरह] इस दृश्यमान जगत् (प्रपञ्च) का विरोधी (बाधक) नहीं समझना चाहिए। इसके मूल में भ्रान्ति (Illusion) है, जैसे भ्रम में ही प्रयुक्त होनेवाले 'रस्सी-साँप' के वाक्य में हम पाते हैं। [यह रस्सी नहीं, साँप है—यहाँ रस्सी को साँप समझना भ्रान्ति है। भ्रान्त व्यक्ति की बात पर किसी को विश्वास नहीं होता है। वास्तविक रस्सी को साँप समझनेवाला व्यक्ति ही भ्रान्त है। वैसे ही यदि प्रपञ्च को भ्रान्तिमूलक मान लें तो वेदादि भी भ्रममूलक ही हो जायँगे—फिर उनकी बात पर विश्वास ही कौन करेगा ? 'तत्त्वमसि' वाक्य भी तो वेद के अन्तर्गत है जो स्वयं एक प्रपञ्च होने के कारण भ्रान्तिमूलक है। फिर इस वाक्य के आधार पर प्रपञ्च का बाध कैसे कर सकेंगे ?]

पुनः, ब्रह्म और जीव में एकता का ज्ञान हो जाने से प्रपञ्च की निवृत्ति

(नाश) हो जाती हो, ऐसी बात नहीं, क्योंकि [ब्रह्म और आत्मा की एकता के विषय में] कोई भी प्रमाण नहीं है, यह हमने पहले ही सिद्ध कर दिया है। [अविद्या को मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है, यह कह चुके हैं। ब्रह्म और आत्मा में प्रत्यक्ष भेद है जिसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता, अतः ब्रह्म और आत्मा की एकता प्रमाणों के द्वारा सिद्ध नहीं होती। यही नहीं, जब सभी प्रमाणों को सविशेषवस्तु के रूप में विषय की आवश्यकता पड़ती है, तब तो विशेष का अर्थ है एक और पदार्थ। विशेषण और विशेष्य में एकता कैसी ? अतः जीव ब्रह्म का विशेषण है, दोनों में एकता किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती। जब एकता नहीं है तो किसी भी मूल्य पर प्रपञ्च का नाश नहीं होगा। स्मरणीय है कि शङ्कर अविद्या की निवृत्ति से जीव-ब्रह्म की एकता मानते हैं और उसके बाद प्रपञ्च की भ्रान्ति मिट जाती है जिससे पुरुष मुक्त होता है। रामानुज न तो भ्रान्तिमूलक प्रपञ्च मानते हैं, न प्रपञ्च का नाश, न ब्रह्म-जीव की एकता और न ही जीवन्मुक्ति।]

अब, यदि सत्य के रूप में प्रपञ्च को प्रतिष्ठित (सिद्ध) करें तो भी 'एक के ज्ञान से सबों का ज्ञान हो जायगा' इस प्रतिज्ञा में बाधा नहीं पड़ती। [शंकराचार्य परमात्मा के अतिरिक्त किसी को सत्य नहीं मानते। प्रपञ्चमात्र को आत्मा पर आरोपित करते हैं, इसलिए प्रपञ्च के आधार के रूप में जो आत्मा है उसे जान लेने पर सारे प्रपञ्च का ज्ञान हो जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् (६।१।४) में कहा गया है—**यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्** इसी की ओर संकेत है। रस्सी जान लेने पर 'साँप में क्या तत्त्व है', यह ज्ञात हो जाता है। सभी वस्तुओं के ज्ञान का अर्थ है सबों में विद्यमान तत्त्वांश का ज्ञान हो जाना। दूसरे अंशों में साम्य है कि नहीं, यह दिखलाना जरूरी नहीं है। इसीलिए सम्पूर्ण जगत् के विवर्त का उपादान-कारण (Material cause), परमात्मा सिद्ध होता है। रामानुज केवल परमात्मा को ही सत्य नहीं मानते, संसारमात्र उनके लिए सत्य है। ऐसी अवस्था में केवल एक के ज्ञान से सबों का ज्ञान होगा, यह कहना बड़ा कठिन है। घट के ज्ञान से पट का ज्ञान नहीं हो जाता। तब तो रामानुज के अनुसार उपर्युक्त श्रुतिवाक्य की निरर्थकता ही सिद्ध हो जायगी। यही इस शङ्का का आशय है। रामानुज इसका प्रतिवाद करते हुए कारण अगले वाक्यों में देते हैं।]

प्रकृति-पुरुष-महदहंकार-तन्मात्र-भूतेन्द्रिय-चतुर्दशभुवनात्मक-ब्रह्माण्ड–तदन्तर्वर्ति–देव–तिर्यङ्–मनुष्य–स्थावरादि–सर्वप्रकार–

संस्थान-संस्थितं कार्यमपि सर्वं ब्रह्मैवेति कारणभूतब्रह्मात्मज्ञानादेव सर्वविज्ञानं भवतीत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्योपपन्नतरत्वात् । अपि च ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वे सर्वस्यासत्त्वादेव एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा बाध्येत ।

यह ब्रह्माण्ड (Universe) चौदह भुवनों (Worlds) से बना है जो प्रकृति (Primary cause), पुरुष (Self), महत् (Intellect), अहङ्कार (Self-position), तन्मात्रों (Subtle elements), भूतों (Gross elements) तथा इन्द्रियों (Organs of sense and action) के साथ-साथ है । उस (ब्रह्माण्ड) के अन्तर्गत देवता, पशु, मनुष्य, स्थावर (Immobile things) आदि सभी प्रकार के [पदार्थ अपने-अपने] संस्थानों (Organs) से युक्त होकर अवस्थित हैं । ये सब के सब कार्य के रूप में हैं फिर भी ब्रह्म ही हैं [क्योंकि ब्रह्म के शरीर से ही ये सब पदार्थ निकले हैं । मूलकारण भी ब्रह्म के शरीर से निकला है इसलिए प्रधान (पुरुष) सूक्ष्म शरीर का है, ब्रह्माण्ड स्थूल शरीर का ।] इसलिए कारणस्वरूप ब्रह्मात्मक ज्ञान से ही सबों का ज्ञान हो जाता है । एक को अच्छी तरह जानने से सभी का ज्ञान हो जाता है, यह और भी अच्छी तरह सिद्ध हो गया । [कहने का अभिप्राय यह है कि संसार का कारण ब्रह्म सूक्ष्म शरीर में है, जब कि कार्यरूप संसार या ब्रह्माण्ड स्थूल शरीर में है । 'सूक्ष्म शरीरसे विशिष्ट आत्मा' के ज्ञान के द्वारा 'स्थूल शरीर से विशिष्ट आत्मा' का ज्ञान हो जाता है । यह बहुत ही सुकर है । जैसे किसी बालक को छोटे रूप में देखकर उसे ही युवावस्था में बड़े शरीर में भी जान लेते हैं कि यह वही बालक है । मिट्टी जिस प्रकार घटादि का उपादान कारण है उसी प्रकार यह सूक्ष्म शरीर भी स्थूल शरीर का है । इसमें दृष्टान्त (मिट्टी-घट) और दार्ष्टान्तिक (सूक्ष्म शरीरादि) में एक-एक अंश को लेकर साम्य है, जब कि शङ्कर की व्याख्या में विवर्त का आश्रय लेने से उतनी समता नहीं रहती । ब्रह्म और प्रपञ्च में वह सम्बन्ध नहीं जो मिट्टी और घटादि में है । इसलिए रामानुज का सिद्धान्त और अधिक सिद्ध—उपपन्नतर—है[1] !]

---

१. यथा सोम्यैकेन० की व्याख्या रामानुज ने जैसी की है, वह श्रुति का तात्त्विक अर्थ नहीं है । अक्षरों से वैसा व्यक्त नहीं होता । वे कारण के रूप में सूक्ष्मशरीरविशिष्ट आत्मा लेते हैं, कार्य के रूप में स्थूलशरीरविशिष्ट आत्मा लेते हैं । आत्मा को दोनों जगहों में रखने से उनका कुछ विशेष मतलब नहीं । तात्पर्य यही है कि सूक्ष्मशरीर के ज्ञान से उसके कार्य स्थूलशरीर का ज्ञान

इतना ही नहीं, यदि [शङ्कर की तरह] ब्रह्म के अतिरिक्त सभी पदार्थों को मिथ्या मान लें तो सभी पदार्थों को असत् मानकर, एक के ज्ञान से सबों का ज्ञान होने की प्रतिज्ञा को छोड़ देना पड़ेगा। [ज्ञान-विज्ञान सत् (Existent) वस्तु का ही होता है, असत् का नहीं। खरहे की सींग आदि का विज्ञान सम्भव नहीं है।]

नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मदशापन्नप्रकृतिपुरुषशरीरं ब्रह्म कारणावस्थम्। जगतस्तदापत्तिरेव प्रलयः। नामरूपविभाग-विभक्तस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कार्यावस्थम्। ब्रह्मणस्तथा-विधस्थूलभावश्च सृष्टिरित्यभिधीयते। एवं च कार्यकारणयोरनन्य-त्वमपि आरम्भणाधिकरणे प्रतिपादितमुपपन्नतरं भवति।

[जगत् को सत्य मानने से इसका विनाश सम्भव नहीं होगा और प्रलय की सिद्धि नहीं होगी। इस शङ्का का समाधान रामानुज इस प्रकार करते हैं— जिसमें नाम (Name) और रूप (Form) का निश्चय (विभाग) नहीं हो सके ऐसी सूक्ष्मावस्था में रहनेवाला, प्रकृति-पुरुष के शरीर के रूप में अवस्थित ब्रह्म कारणावस्था में है; जब संसार अपने इसी रूप में लौट जाता है तब उसे प्रलय (Dissolution) कहते हैं। नाम और रूप के विभागों से मालूम होनेवाला स्थूल (Gross) चित् और अचित् वस्तुओं का शरीर (Body) लिये हुए ब्रह्म कार्यावस्था में स्थित है। जब ब्रह्म इस प्रकार के स्थूल रूप में आ जाता है तब उसे **सृष्टि** कहते हैं।

इसी प्रकार [व्यास ने ब्रह्मसूत्र के] आरम्भण (Origin of the world) अधिकरण में कार्य-कारण की एकता का प्रतिपादन किया है—और इससे वह एकता अच्छी तरह से सिद्ध हो जाती है।

(१५. निर्गुणवाद और नानात्वनिषेध की सिद्धि)

निर्गुणवादाश्च प्राकृतहेयगुणनिषेधविषयतया व्यवस्थिताः। नानात्वनिषेधवादाश्चैकस्यैव ब्रह्मणः शरीरतया प्रकारभूतं सर्वं

होता है—कार्य और कारण एक होते हैं। श्रुतिवाक्य में ऐसा निर्देश नहीं है। कारण के रूप में ज्ञान का विषय आत्मा ही है, कार्य है जगत्। तो आत्मा के ज्ञान से जगत् का ज्ञान होता है, इतना ही कहना है। थिबौट ने ठीक ही कहा है कि रामानुज ब्रह्मसूत्र के अधिक निकट हैं जब कि शङ्कर उपनिषदों के अधिक समीप हैं।

चेतनाचेतनात्मकं वस्त्विति सर्वस्यात्मतया सर्वप्रकारं ब्रह्मैवावस्थितमिति सर्वात्मकब्रह्मपृथग्भूतवस्तुसद्भावनिषेधपरत्वाभ्युपगमेन प्रतिपादिताः ।

[यदि ब्रह्म को सविशेष अर्थात् सगुण मानें तो 'निर्गुण' शब्द धारण करनेवाली श्रुतियों की क्या व्याख्या होगी ?] 'निर्गुण' का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों की यह व्यवस्था होगी कि प्राकृत (प्रकृतिसम्बन्धी Phenomenal) त्याज्य गुणों (जैसे जरा, मरण आदि) का निषेध करके ही परमात्मा का ज्ञान सम्भव है। [परमात्मा निर्गुण है = उसमें जरा, मरण आदि त्याग करने योग्य गुण नहीं हैं।]

[फिर भी, रामानुज परमेश्वर से जीवों और जड़-पदार्थों का भेद स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर श्रुतियाँ बहुत्व (Pluralism) का निषेध करती हैं— नेह नानास्ति किंचन (बृ० ४।४।१९), एकमेवाद्वितीयम् (छां० ६।२।१)। ऐसी दशा में इन श्रुतियों को क्या उत्तर देंगे ?] एक ही ब्रह्म के शरीर के रूप में उसी (ब्रह्म) के प्रकार (Type) के रूप में सारी वस्तुएँ चेतनात्मक (Sentient) और अचेतनात्मक (Unsentient) हैं, इसलिए सबों की आत्मा के रूप में, सब प्रकार से ब्रह्म (एकमात्र) ही अवस्थित है। अतः 'नानात्व' का निषेध करनेवाले श्रुतिवाक्यों का यही अर्थ दिया गया है कि सभी पदार्थों की आत्मा—ब्रह्म—से पृथक् किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं है। ऐसे ही अर्थ से उन वाक्यों की सिद्धि होती है।

(१६. रामानुज-मत की तत्त्वमीमांसा)

किमत्र तत्त्वं भेदोऽभेद उभयात्मकं वा ? सर्वं तत्त्वम्। तत्र सर्वशरीरतया सर्वप्रकारं ब्रह्मैवावस्थितमित्यभेदोऽभ्युपेयते। एकमेव ब्रह्म नानाभूतचिदचित्प्रकारात् नानात्वेनावस्थितमिति भेदाभेदौ। चिदचिदीश्वराणां स्वरूपस्वभाववैलक्षण्यादसंकराच्च भेदः।

रामानुज के मत से तत्त्व किस प्रकार का है—भेदात्मक, अभेदात्मक या उभयात्मक ? सभी प्रकार का तत्त्व है। सबों का शरीर बनकर, सब प्रकार से केवल ब्रह्म ही अवस्थित है, इसलिए **अभेदवाद** की उपपत्ति होती है। ब्रह्म एक ही है, नाना प्रकार के चित् और अचित् पदार्थों के भेद के कारण नाना रूप से अवस्थित है—इसलिए **भेदाभेदवाद** की सिद्धि होती है। चित्, अचित् और

ईश्वर में स्वरूप और स्वभाव को लेकर भेद (विलक्षणता Peculiarity) है, उन्हें मिलाकर नहीं रख सकते, इसलिए भेद्वाद की भी सिद्धि होती है।

विशेष—चित् का स्वरूप है ज्ञानस्वरूप होना, इससे अचित् भिन्न है। चित् और ईश्वर में यद्यपि ज्ञानात्मकता समान है पर चित् का स्वरूप अणु है, ईश्वर का विभु—यही भेद होता है। अब तीनों पदार्थों के स्वभाव अपनी अलंकृत शैली में रामानुज उपस्थित करते हैं।

(१६. क. चित्, अचित् और ईश्वर के स्वभाव)

तत्र चिद्रूपाणां जीवात्मनामसंकुचितापरिच्छिन्न-निर्मल-ज्ञानरूपाणाम् अनादिकर्मरूपाविद्यावेष्टितानां तत्तत्कर्मानुरूपज्ञान-संकोचविकाशौ भोग्यभूताचित्संसर्गस्तदनुगुणसुख-दुःखोपभोग-द्वयरूपा भोक्तृता भगवत्प्रतिपत्तिर्भगवत्पदप्राप्तिरित्यादयः स्वभावाः।

अचिद्वस्तूनां तु भोग्यभूतानामचेतनत्वमपुरुषार्थत्वं विकारास्पदत्वमित्यादयः।

परस्येश्वरस्य भोक्तृ-भोग्ययोरन्तर्यामिरूपेणावस्थानमपरिच्छेद्यज्ञानैश्वर्यवीर्यशक्ति-तेजःप्रभृत्यनवधिकातिशयासंख्येय-कल्याण-गुणगणता स्वसंकल्पप्रवृत्तस्वेतरसमस्तचिदचिद्वस्तुजातता स्वाभिमतस्वानुरूपैकरूपदिव्यरूपनिरतिशयविविधानन्तभूषणतेत्यादयः।

(१) इनमें चित् के रूप में जीवात्मा हैं, वे संकोचरहित, सीमाहीन, निर्मल ज्ञान के स्वरूप हैं, अनादि कर्म रूपी अविद्या से घिरे हैं, इसलिए अपने-अपने कर्म के अनुसार ज्ञान का **संकोच** और **विकास** होना,[1] भोगने योग्य अचित् वस्तुओं के **संसर्ग** में आना, उसके गुण के अनुसार ही सुख और दुःख इन दोनों का उपभोग करने से **भोक्ता** बनना, भगवान् के **स्वरूप का ज्ञान**, भगवान् के **चरणों की प्राप्ति** आदि [उस जीवात्मा के] स्वभाव हैं।

---

१. स्मरणीय है कि स्वरूप-ज्ञान का संकोच-विकास नहीं होता, जो ज्ञान जीवात्मा में गुण के रूप में है उसी में संकोच-विकास होते हैं। अतः यहाँ इसी ज्ञान से अभिप्राय है। रामानुज कर्म को ही अविद्या मानते हैं जिससे ज्ञान का संकोच और विकास होता है।

(२) **अचित् वस्तुएँ** भोग्य (भोग करने के योग्य Enjoyable) हैं, इनके स्वभाव (Nature) हैं—**अचेतन** होना, पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति न करना (**अपुरुषार्थ**), **विकार** प्राप्त करना इत्यादि।

(३) **परमेश्वर** के स्वभाव हैं—भोक्ता (जीव) और भोग्य (जड़) दोनों के आन्तरिक **नियन्ता** (Internal controller) के रूप में अवस्थित रहना, असीम (अपरिच्छेद्य) ज्ञान, ऐश्वर्य (Dominion), वीर्य (Majesty) शक्ति (Power), तेज (Brilliance) इत्यादि अनन्त **अतिशयों** (Glory) से युक्त तथा असंख्य कल्याणकारी **गुणों का समूह** होना, अपने संकल्प (इच्छा) से ही प्रवृत्त होकर अपने से भिन्न सारी चित् और अचित् वस्तुओं को **उत्पन्न करना**, अपने अभीष्ट तथा अपने अनुरूप, एक रूप से तथा दिव्य रूप से [युक्त होकर] निरतिशय (जिसे कोई पार न कर सके Unsurpassable) विविध और अनन्त **भूषणों** (विशेषणों) को धारण करना इत्यादि।

विशेष—ईश्वर के अतिशयों में **ज्ञान** वह गुण है जो सदा सभी विषयों का प्रकाशन करते हुए अपना प्रकाशन भी करता है। **ऐश्वर्य** = स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करना, सभी जीवों और जड़ों पर नियंत्रण की सामर्थ्य रखना। **वीर्य** = संसार का उपादान कारण होने पर भी विकृति न होना। **शक्ति** = संसार का मूल कारण होना, न घटी हुई घटना उत्पन्न करना। **तेज** = सहकारियों (Subordinates) की आवश्यकता न होना, दूसरों से अभिभूत (Controlled) नहीं होना। इस प्रकार सभी पदार्थों की विशेषताएँ (Characteristics) बतलाई गई। अब वेंकटनाथ के तत्त्वमुक्ताकलाप के आधार पर पदार्थों का वर्णन होगा।

वेङ्कटनाथेन त्वित्थं निरटङ्कि पदार्थविभागः—

८. द्रव्याद्रव्यप्रभेदान्मितमुभयविधं तद्विदस्तत्त्वमाहुः
द्रव्यं द्वेधा विभक्तं जडमजडमिति प्राच्यमव्यक्तकालौ।
अन्त्यं प्रत्यक्पराक्च प्रथममुभयथा तत्र जीवेशभेदा-
न्नित्या भूतिर्मतिश्चेत्यपरमिह जडामादिमां केचिदाहुः॥
(त० मु० १।६)

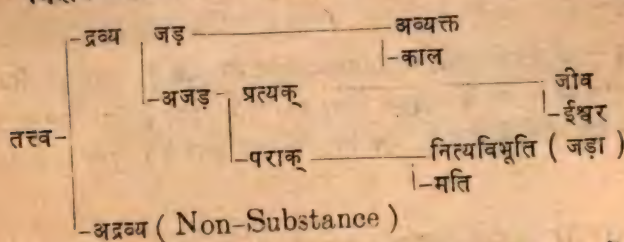
९. तत्र द्रव्यं दशावत्प्रकृतिरिह गुणैः सत्त्वपूर्वैरुपेता
कालोऽब्दाद्याकृतिः स्यादणुरवगतिमाञ्जीव ईशोऽन्य आत्मा।

संप्रोक्ता नित्यभूतिस्त्रिगुणसमधिका सत्त्वयुक्ता तथैव
ज्ञातुर्ज्ञेयावभासो मतिरिति कथितं संग्रहाद् द्रव्यलक्ष्म ॥
(त० मु० १।७) इत्यादिना ।

वेंकटनाथ ने पदार्थों का विभाजन इस रूप में वर्णित किया है—'द्रव्य और अद्रव्य के भेद से दो प्रकार का तत्त्व जाना जाता है—उसके ज्ञाता लोग ऐसा कहते हैं। द्रव्य भी दो प्रकार का है—**जड़** और **अजड़**। उनमें पहला (जड़) भी दो भेदों का है—**अव्यक्त** (प्रकृति और जगत् दोनों) तथा **काल**। दूसरा (अजड़) भी दो भेदों का है—निकट (**प्रत्यक्**) और दूर (**पराक्**) [अपने लिए प्रकाशित होनेवाला प्रत्यक् है, दूसरों के लिए प्रकाशित अजड़ पराक् है।] इनमें भी प्रथम (प्रत्यक्) **जीव** और **ईश्वर** के भेद से दो प्रकार का है। दूसरे (पराक्) के भी दो भेद हैं—**नित्यविभूति** तथा **मति**। पहली (नित्यविभूति) को कुछ विद्वान् 'जड़ा' भी कहते हैं' (तत्त्वमुक्ताकलाप १।६)।

'उनमें द्रव्य अवस्था धारण करता है (यह द्रव्य का लक्षण हुआ—विभिन्न अवस्थाओं में द्रव्य ही परिवर्तित होता है)। सत्त्व आदि (रजस्, तमस्) गुणों से युक्त इसकी प्रकृति (मूल अवस्था) है। अब्द (वर्ष) आदि के आकार (रूप) में **काल** है। **जीव** अणु तथा ज्ञान (अवगति) से युक्त है, दूसरी आत्मा (चेतन स्वरूप) को **ईश्वर** कहते हैं। **नित्य विभूति** (Eternal Bliss) उसे कहा गया है जो तीन गुणों से परे हो तथा सत्त्व गुण से युक्त हो। ज्ञाता (जीव + ईश्वर) को जो ज्ञेय (जानने के लायक) वस्तु का अवभास (विषय का प्रकाश) मिलता है, उसे **मति** कहते हैं। इस प्रकार संक्षेप में द्रव्य का लक्षण कहा गया है।' (त० मु० क० १।७)।

विशेष—इन भेदों के स्पष्टीकरण के लिए हम चित्रांकन (Figure) करें—



पहले श्लोक में द्रव्य का विभाजन है, दूसरे में उनके लक्षण हैं। द्रव्य का सामान्य लक्षण है 'दशा में रहना' अवस्थाश्रयीभूतं द्रव्यम् (जो अवस्था का आश्रय या आधार हो)।

(१६. ख. जीव का वर्णन)

तत्र चिच्छब्दवाच्या जीवात्मानः परमात्मनः सकाशाद् भिन्ना नित्याश्च। तथा च श्रुतिः—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३।१।१, श्वे० ४।६) इत्यादिका। अत एवोक्तं 'नानात्मानो व्यवस्थातः' (वैशे० सू० ३।२।२०) इति तन्नित्यत्वमपि श्रुतिप्रसिद्धम्—

१०. न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (गीता २।२०) इति।

इनमें 'चित्' शब्द से ज्ञात जीवात्मा (Individual spirits) परमात्मा से भिन्न हैं और नित्य हैं। श्रुति भी ऐसा कहती है—'दो पक्षी जो साथ रहते हैं और मित्र हैं······' (मुण्डकोप० ३।१।१ तथा श्वेताश्वतरोप० ४।६) इत्यादि। इसीलिए [कणाद ने भी वैशेषिक-सूत्र में] कहा है—'विभिन्न अवस्थाओं (Conditions) में रहने के कारण आत्मा नाना प्रकार की है।' (३।२।२०)। उस (जीवात्मा, की नित्यता भी श्रुतियों में प्रसिद्ध है—'यह ज्ञानी आत्मा न तो उत्पन्न होती है, न मरती है; न यह उत्पन्न ही हुई थी और अब उत्पन्न होगी भी नहीं। यह अज (न जन्म लेनेवाली), नित्य (न मरनेवाली), शाश्वत (जो कहीं से नहीं निकली—नायं कुतश्चित्) तथा पुरानी (कभी उत्पन्न जो नहीं हुई—न बभूव कश्चित्) है; शरीर के मारे जाने पर यह नहीं मारी जाती' (गी० २।२०, तथा कुछ परिवर्तनों के साथ—नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्—कठो० २।१८)।

विशेष—'द्वा सुपर्णा' का श्लोक सांख्य-दर्शन का मूल है तथा भारतीय-दर्शनों में महावाक्य के रूप में उद्धृत किया गया है। सुनते हैं कि नील-घाटी की खुदाई में इस श्लोक के भाव का एक चित्र भी प्राप्त हुआ है। पूरा श्लोक इस रूप में है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

प्रथम चार पदों में 'सुपां सुलुक्०' (पा० सू० ७।१।३९) से औ के स्थान

में डा (आ) हो गया है। द्वौ सुपर्णौ = जीव और ईश्वर, सुपर्ण का अर्थ पक्षी होता है जिसके सादृश्य के कारण यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार है। सयुजौ = समान गुणवाले, सखायौ = पाप नष्ट करना आदि गुणों के कारण ये आपस में समान हैं। वृक्ष = शरीर, क्योंकि वह भी वृक्ष के समान काटा जाता है। ये दोनों जीव और ईश्वर रूपी वृक्ष पर आश्रित हैं। उनमें एक (जीव) सुस्वादु पीपल का फल खाता है (कर्मफल का भोग करता है), दूसरा (ईश्वर) बिना खाये हुए (कर्मफल से असंपृक्त होकर) ही देखता है (प्रकाशित होता है)। यहाँ वास्तविक विषय को निगलकर (दबाकर) सुवर्ण, वृक्ष आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है किन्तु अर्थ में उन्हें ही हटाना पड़ेगा—यह बहुत सुन्दर रूपकातिशयोक्ति है। इसकी ही व्याख्या भागवत में यों की गई है—

सुपर्णावितौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नं स पिप्पलादो न तु पिप्पलादः॥
(११।११।६)।

श्लोक का भाव बहुत पुराना है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

'नानात्मानो व्यवस्थातः' का भाव है कि संसार में किसी को सुख मिलता है, किसी को दुःख, कोई बन्धन में है तो कोई मुक्त—इस प्रकार की व्यवस्थायें (विभिन्न अवस्थायें) प्राप्त होती हैं। इसीलिए जीवात्माओं को नाना प्रकार का मानते हैं, जीव एक नहीं है। तत्त्वावली में कहा है—

कश्चिद्रङ्कः कश्चिदाढ्यः कश्चिदन्यविधः पुनः।
अनयैवात्मनानात्वं सिध्यत्यत्र व्यवस्थया॥ (तत्त्वा० ९०)।

इस प्रकार जीवात्मा को परमेश्वर से भिन्न, नाना प्रकार का तथा नित्य माना गया है।

अपरथा कृतप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गः। अत एवोक्तम्—'वीतरागजन्मादर्शनात्' (न्या० सू० ३।१।२५) इति। तदणुत्वमपि श्रुतिप्रसिद्धम्—

११. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥
(श्वे० ५।९) इति।

'आराग्रमात्रः पुरुषः' (श्वे० ५।८), 'अणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (मुण्ड० ३।१।९) इति च।

यदि जीव को नित्य नहीं मानें (और जीव की उत्पत्ति और विनाश शरीर के साथ-साथ मानें) तो किये गये कर्म का नाश तथा नहीं किये गये कर्म के फल की प्राप्ति का संयोग हो जायगा। [कर्म करने के बाद शरीर के साथ ही जीव मर जायगा, फिर कर्म का तो नाश ही हो जायगा—चार्वाक-मत की सिद्धि होगी। जन्मान्तर का तो अभाव ही होगा, लेकिन जन्म लेते ही व्यक्ति को सुख, दुःख का फल मिलने लगता है। यह तो बिना किये कर्म का ही फल है। यदि इन बातों को स्वाभाविक मानते हैं तो चार्वाक का चेला बनें]

इसीलिए [गौतम ने न्यायसूत्र में] कहा है कि राग (Desire) से रहित व्यक्ति का जन्म नहीं होता (न्यायसूत्र ३।१।२५)। [इससे अनुमान लगता है राग से अनुबद्ध होकर ही प्राणी जन्म लेता है। राग तभी उत्पन्न होता है जब पहले से अनुभव किये गये विषयों का अनुचिन्तन किया जाय। पूर्वानुभव तभी हो सकता है जब दूसरे जन्म में विषयों का संसर्ग शरीर धारण करके किया गया हो। वही जीव पूर्व शरीर में अनुभूत विषयों का अनुस्मरण करता है तथा उनकी इच्छा करता है। यही दो जन्मों की प्रतिसन्धि है। इस शरीर में पहले शरीर से, उसमें भी उसके पहले के शरीर से—इस प्रकार अनादि काल से चेतन आत्मा का सम्बन्ध शरीर से रहा है। इसलिए जीव की नित्यता सिद्ध होती है।]

जीव का अणु होना भी श्रुतिवाक्यों में प्रसिद्ध है—'यदि केश के अग्रभाग का सौवाँ भाग भी सौ भाग में बँटा हुआ माना जाय तो इस छोटे भाग की तरह ही जीव (अणु) है, यह जीव ही मोक्ष की प्राप्ति (आनन्त्य Infinity) में समर्थ है' (श्वे० ५।९)। इसके अतिरिक्त भी कहा है—'पुरुष अरा (Spoke of a wheel) के अन्तिम खण्ड के आकार का है' (श्वे० ५।८), 'आत्मा अणु है, इसे चित्त (बुद्धि) से ही समझ सकते हैं' (मु० ३।१।९)।

(१६. ग, अचित् का निरूपण)

अचिच्छब्दवाच्यं दृश्यं जडं जगत्त्रिविधं भोग्य-भोगोपकरण-भोगायतनभेदात्।

'अचित्' शब्द से सामने दिखलाई पड़नेवाले जड़ जगत् का बोध होता है जिसके तीन भेद हैं—भोग्य (विषय, जैसे शब्द आदि), भोग का उपकरण (साधन, जैसे इन्द्रियाँ) और भोग का आयतन (स्थान, जैसे शरीर)। [अचित् से रामानुज समूचे संसार का अर्थ लेते हैं जिसमें शरीर, इन्द्रियाँ और दृश्य पदार्थ, तीनों चले आते हैं।]

(१७. ईश्वर का निरूपण—उनकी पाँच मूर्तियाँ)

तस्य जगतः कर्तोपादानं चेश्वरपदार्थः पुरुषोत्तमो वासुदेवादिपदवेदनीयः। तदप्युक्तम्—

१२. वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः।
भुवनानामुपादानं कर्त्ता जीवनियामकः॥ इति।

स एव वासुदेवः परमकारुणिको भक्तवत्सलः परमपुरुषस्तदुपासकानुगुणतत्तत्फलप्रदानाय स्वलीलावशादर्चा-विभव-व्यूह-सूक्ष्मान्तर्यामिभेदेन पञ्चधावतिष्ठते।

उस [स्थूल] जगत् का रचयिता और उपादान कारण (Material cause) भी [प्रकृति के रूप में सूक्ष्मशरीरधारी] पुरुषोत्तम (परमात्मा) है जो ईश्वर शब्द का अर्थ है तथा जिसे वासुदेव आदि शब्दों के द्वारा जानते हैं। यह भी कहा गया है—'कल्याणकारी गुणों से भरे हुए वासुदेव ही परमब्रह्म (Supreme Absolute) हैं, वे भुवनों के उपादान कारण हैं, निर्माता हैं तथा जीवों के नियामक (Controller) हैं।'

वे ही वासुदेव सबसे अधिक दयालु, भक्तों से वात्सल्य-प्रेम रखनेवाले तथा सर्वोच्च पुरुष हैं, अपने उपासकों के गुण के अनुसार विभिन्न फल देने के लिए, अपनी लीला दिखलाते हुए वे अर्चा (Adoration), विभव (Emanation), व्यूह (Manifestation), सूक्ष्म (The Subtile) तथा अन्तर्यामी (Internal controller)—इन भेदों के कारण पाँच रूप में अवस्थित रहते हैं।

तत्रार्चा नाम प्रतिमादयः। रामाद्यवतारो विभवः। व्यूहश्चतुर्विधो वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धसंज्ञकः। सूक्ष्मं संपूर्णषड्गुणं वासुदेवाख्यं परं ब्रह्म। गुणा अपहतपाप्मत्वादयः। 'सोऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।७।३) इति श्रुतेः। अन्तर्यामी सकलजीवनियामकः। 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' (बृ० मा० ३।७।२२) इति श्रुतेः।

(१) अर्चा—प्रतिमा आदि को कहते हैं। [घर में या देव-मन्दिर में, चौराहे पर या खेत में देवता के रूप में पूजित-प्रतिष्ठित पत्थर, धातु आदि की

मूर्तियों को अर्चा कहते हैं। यह भी ईश्वर का ही एक रूप है। इन प्रतिमाओं को सूक्ष्म और दिव्यशरीरयुक्त परमात्मा अपना शरीर बना लेता है। यहाँ ईश्वर अर्चक के अधीन स्नान, भोजन, आसन, शयन आदि भी करता है, यह सर्व-सहिष्णु है। कहीं-कहीं अर्चायें स्वयं प्रकट होती हैं, कहीं देवताओं, मनुष्यों या सिद्ध पुरुषों के द्वारा स्थापित होती हैं।]

(२) **विभव**—राम आदि के रूप में अवतार को कहते हैं। [विभव दो तरह का होता है मुख्य और गौण। मुख्य विभव वह है जब परमात्मा स्वेच्छा से विशेष भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए साक्षात् प्रकट होते हैं। गौण विभव में आवेश के रूप में अवतार होता है। जीवाधिष्ठित शरीर में कोई विशेष कार्य सिद्ध करने के लिए परमात्मा अपने रूप से या शक्ति से प्रविष्ट हो जाता है। परशुराम आदि में स्वरूप से ही आवेश (Entrance) होता है। शक्ति के द्वारा आवेश विधि, शिव आदि चेतन रूपों में होता है। मत्स्य, कूर्म आदि दस अवतार विभव ही हैं। मुख्य विभवों की उपासना मोक्ष चाहनेवालों को करनी चाहिए क्योंकि ये विभव दीप से जले दीप की तरह हैं। विधि, शिव, अग्नि, परशुराम, व्यास आदि गौण विभवों की पूजा भोगेच्छु लोग ही करें।]

(३) **व्यूह**—चार प्रकार का है, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। [उपासना करने के लिए तथा संसार की सृष्टि आदि के लिए परमात्मा ही चार प्रकारों से अवस्थित है। वासुदेव ज्ञान, ऐश्वर्य आदि उपयुक्त छह गुणों से पूर्ण हैं। ज्ञान और बल से युक्त संकर्षण होते हैं। प्रद्युम्न ऐश्वर्य और वीर्य से युक्त हैं और अनिरुद्ध में शक्ति तथा तेज है (दे० अनु० १६ क.)। स्मरणीय है कि संकर्षणादि में अपने दो गुणों के अतिरिक्त भी चारों गुण रहते है पर वे अप्रकाशित हैं—दो गुण व्यक्त (Patent) रहते हैं। संकर्षण का कार्य है—शास्त्र का प्रवर्तन करना और संहार। प्रद्युम्न धर्मप्रचार और सृष्टि करते हैं, अनिरुद्ध तत्त्वनिरूपण और रक्षण के अधिकारी हैं। कभी-कभी आद्य व्यूह (श्रीवासुदेव) में छहों गुण देखकर दूसरे व्यूहों से अभेद बतलाकर तीन व्यूहों का ही प्रतिपादन किया जाता है।]

(४) **सूक्ष्म**—छहों गुणों से परिपूर्ण वासुदेव नाम के परमब्रह्म को कहते हैं। गुणों से अभिप्राय है, जिसके पाप नष्ट हो गये हैं, इत्यादि। श्रुतिवाक्य भी है—'वह (परमात्मा) पापरहित, जराहीन, मृत्युहीन, शोकहीन, भूख से रहित तथा प्यास से रहित है, सत्य ही उसकी कामना है और सत्य ही सङ्कल्प (Resolution) भी है' (छा० ८।७।३)। [सूक्ष्म रूप में अवस्थित परमात्मा-नारायण हैं, वैकुण्ठ पुरी के निवासी हैं, दिव्यालय में महामणिमण्डप

से युक्त सिंहासन में शेषनाग को पलङ्ग बनाकर बैठते हैं, दिव्य, कल्याणकारी विग्रह (शरीर) धारण करते हैं, लक्ष्मी के साथ हैं, चतुर्भुज होकर शङ्ख, चक्रादि दिव्य आयुधों से भरे हुए, अनन्त गरुडादि के द्वारा उपास्य हैं। मुक्त लोग इन्हें प्राप्त करते हैं।]

(५) अन्तर्यामी—ये सभी जीवों का नियमन (Control) करते हैं। वेदवाक्य भी है—'जो आत्मा में स्थित होकर भीतर से ही आत्मा को नियन्त्रित करता है' (बृ० मा० ३।७।२२) [जीवात्मा के हृदय में मित्र के रूप में अवस्थित परमात्मा ही अन्तर्यामी है। योगी लोग इसे देख पाते हैं। यद्यपि यह जीव के साथ है पर जीव के दोषों से बचा रहता है। यही अन्तःकरण या घट-घट का अन्तर्यामी परमात्मा है जो सभी मनुष्यों को अच्छे-बुरे काम में प्रवृत्त और निवृत्त करता है।]

तत्र पूर्वपूर्वमूर्त्युपासनया पुरुषार्थपरिपन्थिदुरितनिचयक्षये सत्युत्तरोत्तरमूर्त्युपास्त्यधिकारः। तदुक्तम्—

१३. वासुदेवः स्वभक्तेषु वात्सल्यात्तत्तदीहितम्।
अधिकार्यानुगुण्येन प्रयच्छति फलं बहु॥
१४. तदर्थं लीलया स्वीयाः पञ्चमूर्तीः करोति वै।
प्रतिमादिकमर्चा स्यादवतारास्तु वैभवाः॥

इनमें हरेक पहली मूर्ति की उपासना से पुरुषार्थ में बाधा पहुँचानेवाले पापों के समूह का विनाश हो जाता है, और तब भक्त को हर दूसरी मूर्त्ति की उपासना का अधिकार प्राप्त होता है। [अर्चा के बाद ही विभव की उपासना हो सकती है और तब ही व्यूह की—इसी क्रम से उपासना का अधिकार प्राप्त होता है। एक-एक मूर्त्ति की उपासना से कुछ-न-कुछ पाप कट ही जाते हैं।]

यही कहा है—'अपने भक्तों पर वात्सल्य-प्रेम रखने के कारण, वासुदेव, अपने प्रत्येक भक्त की कामनाओं की पूर्त्ति, अधिकारियों के गुण के आग्रह से, करते हैं और बहुत फल देते हैं ॥ १३ ॥ इसीलिए लीला दिखाते हुए वे अपनी पाँच मूर्तियाँ रखते हैं—प्रतिमादि को अर्चा कहते हैं, अवतार विभव से सम्बद्ध हैं ॥ १४ ॥

१५. संकर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकः।
व्यूहश्चतुर्विधो ज्ञेयः सूक्ष्मं सम्पूर्णषड्गुणम्॥

१६. तदेव वासुदेवाख्यं परं ब्रह्म निगद्यते।
अन्तर्यामी जीवसंस्थो जीवप्रेरक ईरितः॥
१७. य आत्मनीति वेदान्तवाक्यजालैर्निरूपितः।
अर्चोपासनया क्षिप्ते कल्मषेऽधिकृतो भवेत्॥
१८. विभवोपासने पश्चाद् व्यूहोपास्तौ ततः परम्।
सूक्ष्मे तदनु शक्तः स्यादन्तर्यामिणमीक्षितुम्॥ इति।

'संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इस प्रकार व्यूह चार प्रकार का समझें। छहों गुणों से परिपूर्ण (मूर्ति) को सूक्ष्म कहते हैं, इसे ही वासुदेव नामक परब्रह्म कहते हैं। अन्तर्यामी जीव में स्थित जीव के प्रेरक के रूप में समझा जाता है॥ १५-१६॥ 'जो आत्मा में···' इस प्रकार के वेदान्त (उपनिषद्)—वाक्यों के समूह से वह निरूपित होता है। अर्चा की उपासना करने से पाप के नष्ट हो जाने पर, भक्त, विभव की उपासना का अधिकार पाता है। बाद में व्यूह की उपासना में अधिकृत होता है, तब सूक्ष्म की उपासना में। उसके बाद ही भक्त अन्तर्यामी को देखने की शक्ति पा सकता है॥ १७-१८॥'

(१८. उपासना के पाँच प्रकार और मुक्ति)

तदुपासनं च पञ्चविधमभिगमनमुपादानमिज्या स्वाध्यायो योग इति श्रीपञ्चरात्रेऽभिहितम्। तत्राभिगमनं नाम देवतास्थानमार्गस्य संमार्जनोपलेपनादि। उपादानं गन्धपुष्पादिपूजासाधनसंपादनम्। इज्या नाम देवतापूजनम्। स्वाध्यायो नाम अर्थानुसंधानपूर्वको मन्त्रजपो वैष्णवसूक्तस्तोत्रपाठो नामसंकीर्त्तनं तत्त्वप्रतिपादकशास्त्राभ्यासश्च। योगो नाम देवतानुसंधानम्।

उस (ईश्वर) की उपासना पाँच प्रकार की होती है—अभिगमन (Access), उपादान (Preparation), इज्या (Oblation), स्वाध्याय (Recitation) और योग (Devotion), ऐसा श्रीपंचरात्र नामक ग्रन्थ (लेखक अज्ञात, प्राचीन ग्रन्थ) में लिखा है।

देव मन्दिर के रास्ते को साफ करना, लीपना आदि अभिगमन है। गन्ध, फूल आदि पूजा की सामग्रियों को एकत्र करना उपादान है। देवता की पूजा करना इज्या है। अर्थ पर ध्यान रखते हुए मन्त्रों का जप करना, वैष्णव सूक्तों और स्तोत्रों का पाठ करना, नाम का कीर्त्तन करना तथा तत्त्व का प्रतिपादन

करने वाले शास्त्रों का अभ्यास करना **स्वाध्याय** कहलाता है। देवता का ध्यान करना योग है।

एवमुपासनाकर्मसमुच्चितेन बिज्ञानेन द्रष्टृदर्शने नष्टे भगवद्भक्तस्य तन्निष्ठस्य भक्तवत्सलः परमकारुणिकः पुरुषोत्तमः स्वयाथात्म्यानुभवानुगुणनिरवधिकानन्दरूपं पुनरावृत्तिरहितं स्वपदं प्रयच्छति। तथा च स्मृतिः—

१९. मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥
(गी० ८।१५) इति।

२०. स्वभक्तं वासुदेवोऽपि संप्राप्यानन्दमक्षयम्।
पुनरावृत्तिरहितं स्वीयं धाम प्रयच्छति॥ इति च।

इस प्रकार उपासनारूपी कर्म से परिपूर्ण [अन्तर्यामी के] ज्ञान से जब जीव (द्रष्टा) का अपने कर्मों को देखना समाप्त हो जाता है, तब ईश्वर में निष्ठा रखने वाले भगवान् के भक्त को, भक्तवत्सल, परम दयालु पुरुषोत्तम अपना वह पद देते हैं जिसमें ईश्वर के यथार्थ रूप का अनुभव करने के अनुरूप अपरिमित आनन्द प्राप्त होता है और जहाँ से फिर आवृत्ति (Return) नहीं होती है। स्मृतियों में ऐसी ही बात है—'मुझे पाकर महात्मा लोग पुनर्जन्म-रूपी अस्थिर दुःख-भाण्डार में प्रवेश नहीं करते हैं, वे सबसे ऊँची सिद्धि पा लेते हैं (गीता ८।१५)।' इसी प्रकार—'वासुदेव भी अपने भक्त को पाकर अक्षय-आनन्द के रूप में अपना स्थान प्रदान करते हैं जहाँ से फिर लौट कर आना नहीं है।'

विशेष—यह स्वाभाविक है कि जीव अपने आप को देखता है, उसकी यह दृष्टि बन्द हो जाती है। जीव का अपने रूप को देखना मोक्ष का प्रतिबन्धक है। बृहदारण्यकोपनिषद् (३।४।२) में कहा है—**न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः** अर्थात् दृष्टि करने वाले को मत देखो। जीव को अपने रूप को देखना नहीं चाहिए। फिर 'आत्मानं विद्धि' (अपने को पहचानो) का कैसे अर्थ होगा ? यह स्मरण रखना है कि दर्शन करने वाला (द्रष्टा) जीव है जब कि दर्शन किया जाने वाला (द्रष्टव्य) परमात्मा है जो जीव के अन्तर में निवास करता है। 'द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' में जीव का अपने रूप से पृथक् अन्तरात्मा को देखने आदि का विधान है। जीव इन्द्रियों के अधीन दर्शन-शक्ति प्राप्त करते हैं उन जीवों को देखना नहीं चाहिए, प्रत्युत उनके अन्तर्गत विराजमान, विभु, अन्तर्यामी परमात्मा

को देखें । स्वान्तरात्मा को देखें, जीव को नहीं क्योंकि यह तो साँस लेता है। इसलिए 'द्रष्टृदर्शने नष्टे' का अर्थ है कि जब जीव अपने आप को या अपने कर्मों को देखना बन्द कर देता है, उसकी यह स्वाभाविक शक्ति नष्ट हो जाती है तब भगवान् अपने धाम में उसे प्रविष्ट कराते हैं ।

(१९. ब्रह्मसूत्र की व्याख्या—प्रथम सूत्र)

तदेतत्सर्वं हृदि निधाय महोपनिषन्मतावलम्बनेन भगवद्बोधायनाचार्यकृतां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं विस्तीर्णामालक्ष्य रामानुजः शारीरकमीमांसाभाष्यमकार्षीत् । तत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) इति प्रथमसूत्रस्यायमर्थः—अत्राथशब्दः पूर्ववृत्तकर्माधिगमनानन्तर्यार्थः । तदुक्तं वृत्तिकारेण—वृत्तात्कर्माधिगमादनन्तरं ब्रह्म विविदिषतीति ।

तो उपर्युक्त सारी बातों को हृदय में बैठाकर, बड़ी-बड़ी (मुख्य) उपनिषदों के मतों का आश्रय लेते हुए, भगवान् बोधायनाचार्य की लिखी हुई ब्रह्मसूत्र की वृत्ति को बहुत विशालकाय देखकर रामानुज ने शारीरक-मीमांसा के ऊपर भाष्य (श्रीभाष्य) लिखा ।

इसमें 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—'अथ' का अर्थ है, अभी तक जिन कर्मों का वर्णन [मीमांसासूत्र में] किया गया है उनको समझ लेने के बाद । वृत्तिकार ने कहा ही है—'अभी तक वर्णित कर्मों को समझने के बाद ही ब्रह्म को जानना चाहता है ।'

विशेष—रामानुज के श्रीभाष्य लिखने के पूर्व भी विशिष्टाद्वैत का सिद्धान्त था । विशेषकर विष्णुपुराण पर ही यह सम्प्रदाय अवलम्बित था जिसकी साम्प्रदायिक टीका श्रीनाथमुनि ने की थी । बोधायन और टंकाचार्य ने ब्रह्मसूत्र की वृत्तियाँ लिखीं तथा द्रमिडाचार्य ने भाष्य लिखा था । रामानुज ने इन मतों का मन्थन करके एक सुन्दर रीति से सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया, यही उनका अवदान है। रामानुज का समय है १०१९ से ११३९ ई० जब कि ईसा के पूर्व से ही महाभारत, पञ्चरात्र आदि ग्रन्थों से यह सम्प्रदाय पुष्पित-पल्लवित हो रहा था ।

'अथ' (इसके बाद) अपने साथ कुछ आकांक्षा रखता है कि किसके बाद ? दो मीमांसाओं के बीच में इसका प्रयोग बतलाता है कि ब्रह्म की जिज्ञासा कर्मों की मीमांसा के अनन्तर ही होती है ।

अतःशब्दो हेत्वर्थः । अधीतसाङ्गवेदस्याधिगततदर्थस्य

विनश्वरफलात्कर्मणो विरक्तत्वाद् हेतोः स्थिरमोक्षाभिलाषुकस्य तदुपायभूतब्रह्मजिज्ञासा भवति। ब्रह्मशब्देन स्वभावतो निरस्त-समस्तदोषानवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणः पुरुषोत्तमोऽ-भिधीयते।

एवं च कर्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य च वैराग्योत्पादनद्वारा चित्तकल्मषापनयद्वारा च ब्रह्मज्ञानं प्रति साधनत्वेन तयोः कार्यकारणत्वेन पूर्वोत्तरमीमांसयोरेकशास्त्रत्वम्। अत एव वृत्ति-काराः—'एकमेवेदं शास्त्रं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेन' इत्याहुः।

'अतः' (इसलिए) का प्रयोग हेतु के अर्थ में हुआ है। अर्थ होगा—जो व्यक्ति अङ्गों के साथ वेदों को पढ़ चुका है, वह नश्वर फल रखने वाले कर्मों के सम्पादन से विरक्त हो जाता है; यही कारण है कि स्थिर (अनश्वर) मोक्ष की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को ब्रह्म को जानने की इच्छा होती है क्योंकि यही उस (मोक्षप्राप्ति) का उपाय है। यह स्वाभाविक है कि 'ब्रह्म' शब्द से उस पुरु-षोत्तम का बोध हो जो सारे दोषों से रहित है, अवधिहीन (unlimited) विशेषताओं से युक्त है तथा असंख्य कल्याणकारी गुणों से भरा है।

इस प्रकार कर्मों का ज्ञान और उनके अनुष्ठान [मन में कर्मों की ओर से] वैराग्य उत्पन्न कर देते हैं तथा मन के सारे पापों का भी नाश कर देते हैं। इस लिए ब्रह्मज्ञान के लिए ये साधनस्वरूप हैं। फल यह हुआ कि कार्य (ब्रह्मज्ञान) और कारण (कर्म और अनुष्ठान) के रूप में इन दोनों पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा में एकशास्त्रता (संगति Continuity) सिद्ध हो जाती है। [दोनों का नाम मीमांसा ही है, एक पूर्व है, दूसरी उत्तर—इससे भी दोनों की एक-शास्त्रता जानी जाती है।] इसीलिए वृत्ति के रचयिता (बोधायन) का कहना है कि षोडश अध्यायों (जैमिनि के १२ अध्याय तथा संकर्षकाण्ड के चार अध्याय १६ अध्याय) में लिखे गये जैमिनि-रचित मीमांसासूत्र से यह शास्त्र एक (मिला हुआ, एक = संयुक्त is one with) है।

(१९ क. कर्म के साथ ब्रह्म का ज्ञान मोक्ष का साधन है)

कर्मफलस्य क्षयित्वं ब्रह्मज्ञानफलस्य चाक्षयित्वं 'परीक्ष्य लोकात्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन' (मु० १।२।१२) इत्यादिश्रुतिभिरनुमानार्थापत्त्युपबृंहिताभिः प्रत्य-

पादि। एकैकनिन्दया कर्मविशिष्टस्य ज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वं दर्शयति श्रुतिः—

२१. अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
(बृ० ४।४।१० तथा ई० ९)

२२. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥
(ई० ११) इत्यादि।

'कर्म से प्राप्त (स्वर्गादि) लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण वैराग्य प्राप्त कर ले क्योंकि अकृत (नित्य Inartificial, genuine, परमात्मा) की प्राप्ति कृत (कर्म) से नहीं होती' (मुण्डक० १।२।१२) इस प्रकार की श्रुतियों की महत्ता अनुमान और अर्थापत्ति प्रमाणों से और भी बढ़ाकर इनके द्वारा कर्मों के फल को नश्वर और ब्रह्मज्ञान के फल को अक्षय दिखलाया गया है।

एक-एक की (केवल कर्म की या केवल ज्ञान की) निन्दा करके कर्म से विशिष्ट (युक्त) ज्ञान को ही श्रुति मोक्ष का साधन बतलाती है—'जो अविद्या (ज्ञान से भिन्न, केवल कर्म) की उपासना करते हैं वे लोग घनघोर अन्धकार (नरक) में प्रवेश करते हैं। जो केवल विद्या (ज्ञान) में रत हैं वे तो और भी घने अन्धकार में पड़ते हैं।' (बृ० ४।४।१०, ई० ९)। 'विद्या (ज्ञान) तथा अविद्या (कर्म) दोनों को साथ-साथ जो व्यक्ति जानता है वह अविद्या से मृत्यु (ज्ञानोत्पत्ति का प्रतिबन्धक, पुण्य-पापरूपी प्राक्तन कर्म) को पारकर विद्या (परमात्मा की उपासना) से अमृत (मोक्ष) प्राप्त करता है' (ई० ११)।

विशेष—कर्मफल की नश्वरता तथा ब्रह्मज्ञान के फल की स्थिरता का प्रतिपादन करनेवाली अन्य श्रुतियाँ हैं—तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते (छा० ८।१।६); अन्तवदेवास्य तद्भवति (बृ० ३।८।१०), न ह्यध्रुवैः प्राप्यते ध्रुवं कर्मभिः (का० २।१०)। इस विषय में अनुमान इस प्रकार होगा—(१) कर्मफल नश्वर है, क्योंकि यह उत्पन्न होता है (हेतु) जैसे घटादि (उदाहरण)। (२) ब्रह्मज्ञान का फल अविनाशी है, क्योंकि यह उत्पन्न नहीं होता जैसे आत्मा। अर्थापत्ति प्रमाण से भी यह सिद्ध होगा—शुक, वामदेव आदि ने अपने कर्मों का त्याग किया था, यदि हम कर्मफल की नश्वरता नहीं मानें तो उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। २१वें श्लोक में

केवल कर्म या केवल ब्रह्मज्ञान की निन्दा की गई है, २२वें में दोनों का अंगांगि-सम्बन्ध दिखलाया गया है।

तदुक्तं पाञ्चरात्ररहस्ये—

२३. स एव करुणासिन्धुर्भगवान्भक्तवत्सलः।
उपासकानुरोधेन भजते मूर्तिपञ्चकम् ॥

२४. तदर्चाविभवव्यूहसूक्ष्मान्तर्यामिसंज्ञकम् ।
यदाश्रित्यैव चिद्वर्गस्तत्तज्ज्ञेयं प्रपद्यते ॥

२५. पूर्वपूर्वोदितोपास्तिविशेषक्षीणकल्मषः ।
उत्तरोत्तरमूर्तीनामुपास्त्यधिकृतो भवेत् ॥

२६. एवं ह्यहरहः श्रौतस्मार्तधर्मानुसारतः।
उक्तोपासनया पुंसां वासुदेवः प्रसीदति ॥

पाञ्चरात्ररहस्य में कहा है—'वे ही भगवान् जो दया के समुद्र तथा भक्तों पर वात्सल्य-प्रेम रखनेवाले हैं, उपासकों या भक्तों के आग्रह से पाँच प्रकार की मूर्तियाँ धारण करते हैं ॥ २३ ॥ वे हैं, अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म तथा अन्तर्यामी, जिनका आश्रय लेकर जीवों का समूह क्रमशः ज्ञान की अवस्थाओं को प्राप्त करता है ॥ २४ ॥ मनुष्य के पाप उक्त मूर्तियों में हर पहली मूर्ति की उपासना से नष्ट होते जाते हैं और भक्त उधर हर दूसरी मूर्ति की उपासना का अधिकारी बनते जाता है ॥ २५ ॥ इस प्रकार श्रुतियों और स्मृतियों में कहे गये धर्मों (कर्तव्यों) के अनुसार उपर्युक्त [मूर्तियों की] उपासना से मानवों पर वासुदेव भगवान प्रसन्न होते हैं ॥ २६ ॥

२७. प्रसन्नात्मा हरिर्भक्त्या निदिध्यासनरूपया।
अविद्यां कर्मसङ्घातरूपां सद्यो निवर्तयेत् ॥

२८. ततः स्वाभाविकाः पुंसां ते संसारतिरोहिताः।
आविर्भवन्ति कल्याणाः सर्वज्ञत्वादयो गुणाः ॥

२९. एवं गुणाः समानाः स्युर्मुक्तानामीश्वरस्य च।
सर्वकर्तृत्वमेवैकं तेभ्यो देवे विशिष्यते ॥

३०. मुक्तास्तु शेषिणि ब्रह्मण्यशेषे शेषरूपिणः।
सर्वानश्नुवते कामान्सह तेन विपश्चिता ॥ इति।

'निदिध्यासन (ध्यान Meditation) के रूप में भक्ति रखने पर हरि प्रसन्न हो जाते हैं तथा कर्मों के समूह के रूप में जो अविद्या है उसे तुरत नष्ट कर देते हैं । २७ ॥ उसके बाद संसार (आवागमन) को नष्ट कर देने वाले कल्याणकारी सर्वज्ञत्व आदि गुण प्रकट होते हैं जो मनुष्यों में स्वाभाविक रूप से हैं ॥ २८ ॥ इस प्रकार मुक्तों और ईश्वर के सारे गुण समान हो जाते हैं, केवल एक गुण ईश्वर में विशेष है—सबों का निर्माण करना (नियमन करना भी इसी में है) ॥ २९ ॥ अशेष (जो किसी का अंग नहीं है, Absolute पूर्ण) शेषी (अंगी) में शेष (अंग) के रूप में ये मुक्त पुरुष हो जाते हैं (ब्रह्म में उसके अंग के रूप में मिल जाते हैं) । उस ज्ञानमय ब्रह्म के साथ-साथ उसके सभी गुणों की भी प्राप्ति ये (मुक्त) लोग करते हैं ॥ ३० ॥

विशेष—मुक्त पुरुषों और ईश्वर में सभी गुणों की समानता होने पर भी कुछ विलक्षणता रह ही जाती है । जीव किसी भी अवस्था में (मुक्त होने पर भी) ईश्वर के समान संसार का निर्माण तथा चित्-अचित् का नियन्त्रण नहीं कर सकता । इसी आशय से व्यास ने ब्रह्मसूत्र में लिखा है—**जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च** (४।४।१७-१८) जडपदार्थ की उत्पत्ति, पालन और संहार तथा चित्-अचित् का नियमन करना, यह जगत् का व्यापार है । इन्हें छोड़कर ही मुक्त पुरुष में ईश्वरता (ऐश्वर्य) आती है । कारण यह है कि कुछ श्रुतिवाक्यों में ऐसे प्रकरण आये हैं जैसे—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते० (तै० ३।१), यः पृथिवीमन्तरो यमयति (बृ० ३।७।३) इत्यादि । पहली श्रुति में पदार्थों की उत्पत्ति आदि का उल्लेख है, दूसरी में ईश्वर की नियामक-शक्ति का । इसके अतिरिक्त उपर्युक्त व्यापार में मुक्त पुरुष का सन्निधान भी नहीं । अतः मुक्त की ईश्वरता सीमित है ।

३०वें श्लोक में ब्रह्म को शेषी अर्थात् अंगी कहा गया है क्योंकि चित् और अचित् इसके अंग हैं । ईश्वर स्वयं में पूर्ण है, किसी का अंग नहीं है, इसलिए उसे अशेष कहा गया है । ये मुक्त पुरुष उसका अंग बन जाते हैं । अन्तिम पंक्ति के दो अर्थ हो सकते हैं—एक में 'विपश्चिता' को अप्रधान कर्ता बना सकते हैं, दूसरे में अप्रधान कर्म । तृतीया विभक्ति में सह का प्रयोग बतलाता है कि वह शब्द अप्रधान हो जायगा । यदि यह अप्रधान कर्ता है तब मुक्तों की प्रधानता रहेगी—मुक्ताः तेन ईश्वरेण सह, सर्वान् कामान् (ईश्वरगुणान्) प्राप्नुवन्ति । मुक्त लोग प्रधानतः प्राप्त करते हैं, ईश्वर गौणतः । इसमें दोष होता है कि ईश्वर से मुक्तों को अधिक ऊँचा स्थान मिला । दूसरी ओर यदि यह अप्रधान कर्म बन जाय तो सारी बात सहल है—मुक्त पुरुष ईश्वर के गुणों की प्राप्ति प्रधानतः करते हैं, साथ-साथ ईश्वर की प्राप्ति भी करते हैं । अप्रधान कर्म बन जाने पर

ईश्वर की महत्ता में कुछ कमी नहीं हुई, बल्कि ईश्वर से उसके गुणों का माहात्म्य अधिक दिखलाया गया है। यह अच्छा ही है।

(२०. ब्रह्म-जिज्ञासा का अर्थ)

तस्मात्तापत्रयातुरैरमृतत्वाय पुरुषोत्तमादिपदवेदनीयं ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तं भवति। 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थप्राधान्येन सह ब्रूत इतः सनोऽन्यत्र' इति वचनबलादिच्छाया इष्यमाणप्रधानत्वादिष्यमाणं ज्ञानमिह विधेयम्। तच्च ध्यानोपासनादिशब्दवाच्यं वेदनं न तु वाक्यजन्यमापातज्ञानम्। पदसन्दर्भश्राविणो व्युत्पन्नस्य विधानमन्तरेणापि प्राप्तत्वात्।

इसलिए तीन प्रकार के तापों से व्याकुल पुरुषों को अमरत्व (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए पुरुषोत्तम आदि शब्दों के द्वारा बोधित ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए—यही कहने का मतलब है। [सन्-प्रत्यय के प्रकरण में पढ़ा गया व्याकरणशास्त्र का यह नियम है कि] इस सन्-प्रत्यय के प्रकरण को छोड़कर दूसरे स्थानों में जब प्रकृति (धातु या प्रातिपदिक Root, stem) और प्रत्यय (Suffix) मिलकर अर्थ का प्रकाशन करते हैं तब प्रत्यय के अर्थ की प्रधानता समझी जाती है—इस वाक्य के बल से ['जिज्ञासा' (√ज्ञा=जानना, सन्प्रत्यय=इच्छा करना) शब्द में, जहाँ प्रत्यय इच्छा के अर्थ में है] इच्छा की प्रधानता नहीं है, बल्कि इष्ट वस्तु की प्रधानता होती है। इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में इच्छा किया जानेवाला (अभीष्ट Desired) ज्ञान ही विधेय के रूप में है। [जिज्ञासा का अर्थ 'ज्ञानविषयक इच्छा' नहीं है, बल्कि 'इच्छा का विषय ज्ञान' है—इच्छा (प्रत्ययार्थ) की प्रधानता नहीं है, ज्ञान (प्रकृति) ही प्रधान है, ऐसा सन्-प्रत्यय का नियम है।]

उस ज्ञान का बोध ध्यान, उपासना आदि शब्दों के द्वारा होता है, न कि केवल वाक्य का श्रवण करने के बाद ही उत्पन्न अर्थज्ञान। व्युत्पन्न पुरुष पदों का सन्दर्भ (Context) सुनकर ही, बिना किसी विधान (Injunction) के ही, उनका अर्थ समझ लेता है। [कहने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म का ज्ञान केवल वाक्यों को सुनकर उनका अर्थ समझ लेने से नहीं होता जैसा कि लौकिक ज्ञान में होता है। भूगोल में पढ़ते हैं कि कोलम्बो लंका की राजधानी है और हमें इसका ज्ञान हो जाता है। ब्रह्म के ज्ञान में ऐसी बात नहीं है। ध्यान, उपासना आदि को ब्रह्म-ज्ञान कहते हैं, केवल ऊपरी ज्ञान को नहीं। यदि ऐसा

नहीं होता तो 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में किया गया ज्ञान का विधान व्यर्थ ही था। लौकिक वाक्यों में दिये गये ज्ञान के बाद यह नहीं कहा जाता है कि इस वाक्य को जानना चाहिए, विधान नहीं होता है। व्युत्पन्न पुरुष प्रसंग देखकर अपने आप समझ लेते हैं। पर यहाँ ब्रह्म के ज्ञान का विधान है इसलिए यह साधारण ज्ञान नहीं—उपासना आदि के रूप में यहां यह ज्ञान है जिसके लिए विधि दी गई है।]

विशेष—ताप तीन प्रकार के हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। आत्मा के यहाँ दो अर्थ हैं शरीर और अन्तःकरण। शरीर में भूख-प्यास के रूप में धातुओं के प्रकोप से ज्वर होना, अतिसार आदि **आध्यात्मिक** ताप हैं। अन्तःकरण में उत्पन्न काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद, संशय आदि से उत्पन्न कष्ट भी आध्यात्मिक ही हैं। भूत=माँ के पेट से जन्म लेने वाले (जरायु-ज), अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज (वनस्पति) के रूप में चोर, वैरी सिंह, बाघ, पक्षी, साँप, जोंक, पेड़-पौधे आदि। इनसे होने वाले कष्ट **आधिभौतिक** हैं, देव=यक्ष आदि स्वर्ग के निवासी, हवा, पानी, धूप, शीत, गर्मी आदि। इनसे होने वाले ताप **आधिदैविक** हैं।

व्याकरण में प्रकृति-प्रत्यय के योग से पद बनता है, प्रकृति का भी कुछ अर्थ रहता है (अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् तथा दधाति अर्थानिति धातुः), प्रत्यय का भी। किन्तु प्रत्यय का अर्थ ही प्रधान होता है—दशरथ + इञ् (अपत्यार्थक प्रत्यय)=दशरथ के पुत्र (दाशरथिः)। दशरथ की मुख्यता नहीं है, अपत्य ही मुख्य है। गम् + तिप् (लकार-वचन-पुरुष विशिष्ट प्रत्यय)=गच्छति, गमनानुकूलक व्यापार से अधिक मुख्य प्रत्ययांश है जिसमें लकार (वर्तमान काल), एकवचन तथा प्रथमपुरुष की विशेषता व्यक्त होती है। प्रत्यय की प्रधानता सन् के प्रकरण में नहीं होती है। यही कारण है कि 'जिज्ञासा' शब्द में इच्छा को दबाकर ज्ञान प्रधान हो गया है।

ज्ञान का अर्थ श्रवण मनन, उपासना आदि है इसे व्यक्त करने के लिए श्रुतिवाक्य उद्धृत किये जा रहे हैं।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २।४।५), 'आत्मत्येवोपासीत' (बृ० १।४।७), 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' (बृ० ४।४।२१), 'अनुविद्य विजानाति' (छा० ८।७।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

अत्र 'श्रोतव्यः' इत्यनुवादः। अध्ययनविधिना साङ्गस्य

स्वाध्यायस्य ग्रहणेऽधीतवेदस्य पुरुषस्य प्रयोजनवदर्थदर्शनात्तन्निर्णयाय स्वरसत एव श्रवणे प्रवर्तमानतया तस्य प्राप्तत्वात् ।

'सचमुच आत्मा को देखना चाहिए, सुनना चाहिए, मनन करना चाहिए, ध्यान लगाना चाहिए' (बृहदारण्यको० २।४।५), 'आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए' (वही, १।४।७), '[श्रवण और मनन से आत्मा को] जानकर प्रज्ञा (निदिध्यासन) करें' (वही, ४।४।२१), '[श्रवण और मनन के द्वारा] जानकर ही विशेष ज्ञान प्राप्त करे' (छा० ८।७।१) इत्यादि श्रुतिवाक्यों से [यह सिद्ध होता है कि ज्ञान का अर्थ श्रवण, मनन, उपासना आदि है]।

यहाँ 'श्रोतव्य' शब्द व्याख्यात्मक है। अध्ययन का विधान करने वाले वाक्य (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) से अङ्गों के साथ [वेदों के] स्वाध्याय का ग्रहण होता है (ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च)। इसलिए जो पुरुष वेदों का अध्ययन कर लेता है वह अपने आप (स्वरसतः) ही वेदों को सप्रयोजन (सार्थक useful) समझते हुए, उनमें अर्थ देख कर, अर्थ का निर्णय करने के लिए श्रवण (गुरुमुख से वेदार्थ को सुनने) में प्रवृत्त होता है। अतः [ज्ञान में श्रवण की] प्राप्ति होती है। [ज्ञान में श्रवण का अर्थ कैसे होता है, इसे ही समझा रहे हैं। 'ब्राह्मणेन निष्कारणो०' वाले उद्धरण में छह अङ्गों के साथ वेदों के अध्ययन और ज्ञान का विधान है। अध्ययन (अक्षर-ग्रहण) के बाद जब वेदार्थज्ञान की आवश्यकता होती है तब गुरुमुख से सुनना ही पड़ता है, अतः श्रवण के बिना ज्ञान नहीं होता।]

मन्तव्य इति चानुवादः। श्रवणप्रतिष्ठार्थत्वेन मननस्यापि प्राप्तत्वात्। अप्राप्ते शास्त्रमर्थवदिति न्यायात्। ध्यानं च तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसंतानरूपम्। 'ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिप्रतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष' इति ध्रुवायाः स्मृतेरेव मोक्षोपायत्वश्रवणात्। सा च स्मृतिर्दर्शनसमानाकारा।

'मनन करना चाहिए' यह भी व्याख्यात्मक शब्द है। श्रवण को दृढता से प्रतिष्ठित करने के लिये मनन की प्राप्ति भी आवश्यक है। इसके लिए एक नियम है कि जब तक [मनन की] प्राप्ति नहीं होती, तब तक शास्त्र सार्थक (केवल अर्थयुक्त, विशेष कुछ नहीं) रहता है। तेल की धारा के समान स्मरण की अविच्छिन्न (unbroken) परम्परा को ध्यान कहते हैं। [जब स्मृति को

परम्परा बीच में न टूटे, चाहे दूसरे प्रकार की—विजातीय स्मृतियाँ लाख व्यवधान डालती हों, तब उसे ध्यान (Meditation) कहते हैं ।] 'ध्रुवा स्मृति' (निरन्तर परमात्मा का ध्यान) वह है जिसमें स्मृति निरन्तर रहती है (प्रतिलम्भ), और सभी ग्रन्थियों (कर्मों, पापों, संशयों) का मोक्ष हो जाता है—इस प्रकार ध्रुवा स्मृति (Continued Remembrance) को ही मोक्ष का उपाय कहते हैं, ऐसा सुना जाता है । यह (ध्रुवा) स्मृति दर्शन के ही समान आकार धारण करती है (दर्शन शब्द से ध्यान का भी बोध हो जाता है ।) ।

विशेष—इस प्रकार यह सिद्ध किया गया कि दर्शन या ज्ञान में श्रवण, मनन और ध्यान तीनों चले आते हैं । दर्शन और ध्यान में एकता का प्रदर्शन करने वाला श्लोक नीचे दिया जा रहा है ।

३१. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥
(मु० २।२।८)

इत्यनेनैकवाक्यत्वात् । तथा च 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २।४।५) इत्यनेनास्या दर्शनरूपता विधीयते । भवति च भावनाप्रकर्षात्स्मृतेर्दर्शनरूपत्वम् । वाक्यकारेणैतत्सर्वं प्रपञ्चितं 'वेदनमुपासनं स्यात्' इत्यादिना ।

'उस परमात्मा को देख लेने (ध्यान में ले आने) पर हृदय की ग्रन्थियाँ (राग, द्वेषादि) छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, सारे सन्देह मिट जाते हैं, जीव के कर्म भी नष्ट हो जाते हैं (केवल प्रारब्ध कर्म रहता है)' (मु० २।२।८) [इस श्लोक में 'दर्शन' का अर्थ 'स्मृति' ही है] अतः दोनों वाक्यों में समानता है इसलिए ध्यान (ध्रुवा स्मृति) को भी दर्शन कहते हैं । उसी प्रकार 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २।४।५) इस वाक्य में ध्रुवा स्मृति को दर्शन के रूप में लिया गया है । भावनाओं के प्रकर्ष (विशेषता) के कारण स्मृति दर्शन के रूप में है भी । वाक्यकार (वृत्ति के रचयिता) ने इन सबों का सविस्तार वर्णन किया है—वेदन को उपासना कहते हैं इत्यादि ।

तदेव ध्यानं विशिनष्टि श्रुतिः—

३२. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू० स्वाम् ॥
(कठ० २।२३)।

प्रियतम एव हि वरणीयो भवति। यथायं प्रियतम आत्मानं प्राप्नोति, तथा स्वयमेव भगवान् प्रयतत इति भगवतैवाभिहितम्—

३३. तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गी० १०।१०) इति।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
(गी० ८।२२) इति च।

श्रुति में इसी ध्यान की विशेषतायें बतलाई गई हैं—'इस आत्मा को प्रवचन (व्याख्यान exposition) से नहीं पा सकते हैं; न तो अधिक बुद्धि रखने से और न ही अधिक विद्या पाने से [इसे पा सकते]। जिस उपासक-विशेष का, [निदिध्यासन से प्रसन्न होकर] यह परमात्मा वरण (Selection) करता है, वही इसे पा सकता है। उस उपासक को यह परमात्मा अपना शरीर (रूप) दिखलाता है।' (कठ० २।२३)। सबसे अधिक प्रिय व्यक्ति का ही वरण किया जाता है। यह प्रियतम (उपासक) जिसमें आत्मा को प्राप्त करे, इसके लिए भगवान् स्वयं प्रयास करते हैं—यह भगवान् ने ही कहा है—'जो निरन्तर मेरे साथ युक्त होने की इच्छा करते हैं तथा प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि-योग (भक्ति) देता हूँ जिससे वे मेरे पास चले आते हैं।' (गी० १०।१०) तथा, 'हे अर्जुन, वह परम पुरुष (परमात्मा) अनन्य (एकनिष्ठ) भक्ति से ही पाया जा सकता है।' (गी० ८।२२) [इस प्रकार यह निदिध्यासन भक्ति का रूप धारण कर लेता है।]

(२१. भक्ति का निरूपण)

भक्तिस्तु निरतिशयानन्दप्रियानन्यप्रयोजन-सकलेतरवैतृष्ण्यवज्ज्ञानविशेष एव। तत्सिद्धिश्च विवेकादिभ्यो भवतीति वाक्यकारेणोक्तं—तल्लब्धिर्विवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्यः सम्भवान्निर्वचनाच्चेति।

तत्र विवेको नामादुष्टादन्नात्सत्त्वशुद्धिः। अत्र निर्वचनम्—'आहारशुद्धेः सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धया ध्रुवा स्मृतिः' इति। विमोकः कामानभिष्वङ्गः। शान्त उपासीतेति निर्वचनम्।

भक्ति एक प्रकार के ज्ञान को ही कहते हैं जिसमें निरतिशय (Unsurpassable) आनन्द के समान प्रिय परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई भी प्रयोजन (लक्ष्य) नहीं है तथा जिसमें अन्य सभी विषयों से वितृष्णा या वैराग्य रहता है। [जिस ज्ञान का लक्ष्य परमात्मा है तथा जिसे पाकर सभी वस्तुओं से वैराग्य हो जाता है उसी ज्ञान को भक्ति कहते हैं।] उसकी सिद्धि विवेक आदि से होती है जैसा कि वाक्यकार ने कहा है—'उस (भक्ति) की प्राप्ति विवेक (Discrimination), विमोक (Exemption), अभ्यास (Practice), क्रिया (Observance), कल्याण (Excellence), अनवसाद (Freedom from Despondency) तथा अनुद्धर्ष (Satisfaction) के द्वारा, युक्ति (सम्भव) तथा निर्वचन (व्याख्या) के अनुसार, होती है।' [भक्ति की प्राप्ति के ये साधन हैं, इनमें दो बातें रहती हैं—सम्भव (युक्ति) अर्थात् प्रत्येक साधन का युक्तियुक्त लक्षण दिया जाता है तथा प्रत्येक की व्याख्या की जाती है जो प्रामाणिक वचनों के रूप में रहती है। इस प्रकार लक्षण और व्याख्या करके भक्ति-प्राप्ति के उपायों को समझते हैं।]

उनमें **विवेक** का अर्थ है, अ-दूषित अन्न से सत्त्व (प्रकृति) की शुद्धि, [यह सम्भव है।] अब इसका निर्वचन है—'आहार की शुद्धि से प्रकृति शुद्ध होती है, प्रकृति की शुद्धि से ध्रुवा स्मृति प्राप्त होती है।' **विमोक** कामनाओं में आसक्ति न रखने को कहते हैं। इसका निर्वचन है—शान्त होकर (विषयों से अस्पृष्ट होने पर) उपासना करे।'

विशेष—अन्न (भोजन) तीन प्रकार के दोषों से दूषित होता है—जाति-दोष से लहसुन, प्याज आदि दूषित हैं। आश्रय-दोष से पतित, चाण्डाल आदि का अन्न दूषित होता है और निमित्त-दोष से जूठा, बासी आदि दूषित है। तीनों दोषों से रहित अन्न के सेवन से शरीर-शुद्धि होकर चित्त की शुद्धि होती है। भक्ति के साधनों का प्रथम लक्षण दिया जाता है। फिर प्रश्न उठता है कि क्यों इसे भक्ति या ध्रुवा स्मृति का साधन मानते हैं ? तब आगम-प्रमाण दिया जाता है जिसमें उस साधन से सम्बद्ध बातें रहती हैं, इसी को निर्वचन कहते हैं।

पुनः पुनः संशीलनमभ्यासः। निर्वचनं च स्मार्तमुदाहृतं भाष्यकारेण—'सदा तद्भावभावितः' (गी० ८।६) इति। श्रौत-

स्मार्तकर्मानुष्ठानं शक्तितः क्रिया। 'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इति निर्वचनम्। सत्यार्जवदयादानादीनि कल्याणानि। 'सत्येन लभ्यत' इत्यादि निर्वचनम्। दैन्यविपर्ययोऽनवसादः। नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (मु० ३।२।४) इति निर्वचनम्। तद्विपर्ययजा तुष्टिरुद्धर्षः। तद्विपर्ययोऽनुद्धर्षः। 'शान्तो दान्त' इति निर्वचनम्।

[देवता का] बार-बार चिन्तन करना अभ्यास है, इसके लिए भाष्यकार (रामानुज) ने स्मृति से ही निर्वचन उद्धृत किया है—'उस (परमात्मा) के भावों में जो व्यक्ति सदा ही निरत है' (गी० ८।६)। अपनी शक्ति के अनुसार श्रुतियों और स्मृतियों (पुराणों और इतिहासों) में प्रतिपादित कर्मों का अनुष्ठान (Performance) करना **क्रिया** है। इसका निर्वचन यह है—'जो पुरुष क्रियायुक्त है वह ब्रह्मवेत्ताओं में सर्वश्रेष्ठ है।' सत्य (सब जीवों की भलाई), आर्जव (मन, वचन और कर्म की एकरूपता), दया (अपने स्वार्थ पर ध्यान न रखते हुए दूसरों के दुःखों को न सहना), दान (बिना लोभ के द्रव्यादि देना) आदि कार्यों को **कल्याण** कहते हैं। इसका निर्वचन है—'सत्य से पाया जाता है' इत्यादि। [देश, काल की प्रतिकूलता के कारण या शोक-वस्तु के स्मरण से उत्पन्न मन की शिथिलता को दीनता कहते हैं उसी] दीनता से रहित होने को **अनवसाद** कहते हैं। इसका निर्वचन है—'बलहीन व्यक्ति इस आत्मा को नहीं पा सकते' (मु० ३।२।४)। उपर्युक्त दीनता के विरुद्ध कार्यों (देश-काल की अनुकूलता होने या प्रिय-वस्तु का स्मरण करने से मन की शिथिलता से उत्पन्न सन्तोष को उद्धर्ष कहते हैं, इसका उलटा **अनुद्धर्ष** है, [शोक की तरह अति संतोष भी मन को शिथिल कर देता है इसलिए उसका अभाव कहा गया है (अभ्यं०)]। इसका निर्वचन है—'जो पुरुष शान्त है, इन्द्रियों को दबाये हुए है।'

विशेष—उद्धर्ष (उत् = अधिक, हर्ष = प्रसन्नता)। कोई बड़ी प्रसन्नता की बात सुनकर मन बाँसों उछल पड़ता है, मनुष्य को अपने ऊपर नियन्त्रण नहीं रहता। यह सन्तोष नहीं, अति सन्तोष की अवस्था है। पर ऐसा सन्तोष नहीं चाहिए, सन्तोष ऐसा हो जिसमें मन का नियन्त्रण (दान्त) रहे। इसलिये दोनों ही सन्तोष है, एक अतिसन्तोष, दूसरा शान्तिपूर्ण सन्तोष। पहले को हम विलासमय सन्तोष (Luxurious satisfaction) कहते हैं जो असंतोष ही है। दूसरा शान्ति की अवस्था (State of tranquillity) है। यही कारण है कि इसके निर्वचन में 'शान्तः दान्तः' का प्रयोग किया है।

तदेवमेवंविधनियमविशेषसमासादित-पुरुषोत्तम-प्रसाद-विध्वस्त-तमःस्वान्तस्य अनन्यप्रयोजनानवरतनिरतिशय-प्रिय-विशदात्मप्रत्ययावभासतापन्नध्यानरूपया भक्त्या पुरुषोत्तमपदं लभ्यत इति सिद्धम्। तदुक्तं यामुनेन—उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगो लभ्य इति। ज्ञानकर्मयोगसंस्कृतान्तःकरणस्येत्यर्थः।

इस प्रकार वह व्यक्ति जो इन विशेष नियमों का सम्पादन करके प्रसन्न किये गये पुरुषोतम भगवान की कृपा से अपने भीतर के सारे अन्धकारों को नष्ट कर चुका है, ऐसी भक्ति से पुरुषोत्तम का पद प्राप्त करता है जिस भक्ति में [परमात्मा को छोड़कर] कोई दूसरा प्रयोजन नहीं रखकर, निरन्तर, सबसे अधिक (निरतिशय) प्रिय आत्मा के विशद प्रत्यय (विचार) अर्थात् स्पष्ट अवभास का ध्यान किया जाता है। [इस लम्बे समस्त-पद-युक्त वाक्य का अर्थ यही है कि उपर्युक्त नियमों से परमेश्वर को पाकर उनकी कृपा से सारे कर्मों का क्षय कर दें तथा उनमें निरन्तर ध्यान लगाकर उनकी भक्ति दिखलायें जिससे परमेश्वर का परम पद वैकुण्ठ प्राप्त हो।]

यामुनाचार्य (समय १०४० ई०, रचनायें—आगमप्रामाण्य, सिद्धित्रय, गीतार्थसंग्रह और स्तोत्ररत्न) ने कहा है—'दोनों (ज्ञान और कर्म) के द्वारा जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया हो वही एकान्तिक (final) तथा आत्यन्तिक (Absolute) पूर्ण भक्तियोग पा सकता है।' तात्पर्य यह है कि ज्ञानयोग और कर्मयोग से जिसका अन्तःकरण संस्कारवान् हो चुका है [वही व्यक्ति परमपद पा सकता है।]

(२२. द्वितीय सूत्र—ब्रह्म का लक्षण)

किं पुनर्ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्यपेक्षायां लक्षणमुक्तम्—'जन्माद्यस्य यतः' (ब्रह्मसूत्रम् १।१।२) इति। जन्मादीति सृष्टिस्थितिप्रलयम्। तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। अस्याचिन्त्यविविधविचित्ररचनस्य नियतदेशकालभोगब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तक्षेत्रज्ञमिश्रस्य जगतो, यतो = यस्मात् सर्वेश्वरात् निखिलहेयप्रत्यनीकस्वरूपात् सत्यसंकल्पाद्यनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणात् सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः पुंसः सृष्टिस्थितिप्रलयाः प्रवर्तन्त इति सूत्रार्थः।

अब प्रश्न होता है कि किस ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए? इसकी आशंका से ही ब्रह्म का लक्षण कहा गया है—जिससे इस (संसार) के जन्मादि होते हैं' (ब्र० सू० १।१।२) जन्मादि का अर्थ है सृष्टि, स्थिति और प्रलय। ['जन्मादि' शब्द में] बहुव्रीहि समास है जो अपने अन्दर स्थित पदों के अर्थों को भी ग्रहण करता है (तद्गुणसंविज्ञान)। सूत्र का यह अर्थ है—अस्य = इस अचिन्तनीय (inconceivable) विविध प्रकार की विचित्र रचनाओं वाले तथा निश्चित देशकाल में फल को भोगने का नियम ब्रह्मा से लेकर तृण (स्तम्ब) पर्यन्त सभी जीवों (क्षेत्रज्ञों) में जहाँ समान (मिश्र) है, ऐसे जगत् का, यतः = वे सर्वेश्वर, जो सभी त्याज्य गुणों के विरोधी रूप में रहते हैं, जो सत्यसंकल्प (firm resolution) आदि अनन्त अतिशयों से युक्त हैं, असंख्य कल्याणकारी गुणों के भाण्डार हैं, सर्वज्ञ हैं तथा सर्वशक्तिमान् हैं, उन पुरुषोत्तम से, सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय—ये सभी प्रवृत्त होते हैं।

विशेष—बहुव्रीहि समास के स्वपदार्थ को लेकर दो भेद हैं—तद्गुण-संविज्ञान और अतद्गुणसंविज्ञान। जब समास में स्थित पदों के अर्थों का (तद्गुणानां) सम्बन्ध कार्य (क्रिया) से हो तब उसे तद्गुणसंविज्ञान कहते हैं जैसे—लम्बकर्णमानय। यहाँ 'आनय' (लाओ) क्रिया से 'लम्ब' और 'कर्ण' दोनों के अर्थों का सम्बन्ध है—लम्बे कान वाले पशु को लाना है; पशु के साथ ये दोनों भी आते हैं। दूसरी ओर, 'दृष्टसागरमानय' में 'आनय' का सम्बन्ध दृष्ट और सागर के साथ नहीं है। जब पुरुष को लाया जायगा, तब सागर और दृष्ट शब्दों के अर्थ नहीं होंगे। यह अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि (Bahu-vrihi of separable attribute) है। कभी-कभी तद्गुणसंविज्ञान शब्द की व्याख्या इस प्रकार होती है—तत्=विशेष्य, गुण=विशेषण, सम्=एक करना। जिस बहुव्रीहि में विशेष्य और विशेषण को एक क्रिया से सम्बद्ध जाना जाय, वह तद्गुणसंविज्ञान है। लम्ब और कर्ण शब्द 'पशु' के विशेषण हैं पशु विशेष्य है। अतः पशु को लाने के साथ इसके विशेषणों को भी लाना अभीष्ट होता है लम्ब और कर्ण को पृथक् करके पशु नहीं लाया जा सकता। लेकिन पुरुष को लाते समय 'सागर' नहीं आता और न आता है 'दृष्ट' शब्द का अर्थ—ये विशेषण विशेष्य से पृथक् हो गये। 'जन्म आदि यस्य तत्' में भी तद्गुणसंविज्ञान (Inseparable attribute) है क्योंकि ब्रह्म के कार्यों में सबों का ग्रहण हो जाता है, जन्म और आदि दोनों का।

जगत् के दो विशेषण दिये गये हैं—एक में अचित् का विश्लेषण है दूसरे में चित् का। अचिदंश के विषय में सोचना भी कठिन है कि वह कितने प्रकार का है और कितना विचित्र है। वह जीव की कृति नहीं है कि उसके विषय में

कुछ सोच-विचार कर सकें, यह तो ईश्वर की अचिन्त्यशक्ति का मूर्तरूप है। दूसरी ओर चिदंश है जिसमें फलभोग का सर्वसाधारण नियम सभी जीवों में लगा हुआ है चाहे वह ब्रह्मा हो या तुच्छ तृणखण्ड हो, उसे किसी विशिष्ट काल और देश में फल भोगना ही पड़ता है।

इस प्रकार, ब्रह्म वह है जिससे संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है।

(२३. तृतीय सूत्र—ब्रह्म के विषय में प्रमाण)

इत्थंभूते ब्रह्मणि किं प्रमाणमिति जिज्ञासायां शास्त्रमेव प्रमाणमित्युक्तम्—'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इति। शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणं यस्य तच्छास्त्रयोनि। तस्य-भावः तत्त्वं तस्मात्। ब्रह्मज्ञानकारणत्वाच्छास्त्रस्य तद्योनित्वं ब्रह्मणः इत्यर्थः।

इस प्रकार के ब्रह्म को सिद्ध करने के लिए क्या प्रमाण है ? यदि यह पूछा जाय तो उसका उत्तर पहले से ही तैयार है कि शास्त्र ही ब्रह्म की सिद्धि के लिए प्रमाण हैं— क्योंकि शास्त्र ही उस (ब्रह्म की सिद्धि) के लिए प्रमाण (योनि) हैं' (ब्र० सू० १।१।३)। शास्त्र जिसकी योनि अर्थात् कारण या प्रमाण है वह (ब्रह्म) शास्त्रयोनि है। उसका भाव या तत्त्व (शास्त्रयोनित्व), इस कारण से—[शास्त्रयोनित्वात्]। शास्त्र चूँकि ब्रह्मज्ञान का कारण है इसलिए वह ब्रह्म की योनि (कारण) कहलाता है। यही अर्थ हुआ।

न च ब्रह्मणः प्रमाणान्तरगम्यत्वं शङ्कितुं शक्यम्। अतीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षस्य तत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नापि महार्णवादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवदित्यनुमानम्। तस्य पूतिकूष्माण्डायमानत्वात्। तल्लक्षणं ब्रह्म 'यतो वा इमानि भूतानि' (तै० २।१।१) इत्यादि वाक्यं प्रतिपादयतीति स्थितम्।

ऐसी शंका भी नहीं की जा सकती कि ब्रह्म [शास्त्र=आगम के अतिरिक्त] किसी दूसरे प्रमाण से जाना जा सकता है। वह (ब्रह्म) इन्द्रियों की पहुँच के परे है इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण की तो वहाँ प्रवृत्ति नहीं हो सकती। 'समुद्र आदि सकर्तृक (Having a doer) हैं क्योंकि ये कार्य हैं जैसे घट' इस प्रकार का अनुमान [जैसा कि नैयायिक लोग ईश्वर की सिद्धि के लिए उपस्थित करते हैं] भी नहीं हो सकता क्योंकि यह पूति-कूष्माण्ड (गले हुए कुम्हड़े) की तरह

[दूरसे ही त्याग करने योग्य] है। इस प्रकार के लक्षणों से युक्त ब्रह्म का प्रतिपादन 'जिससे ये सब दृश्यमान पदार्थ निकले…' (तै० ३।१।१) इत्यादि वाक्य करते हैं—यह सिद्ध हो गया।

विशेष—पूति का अर्थ 'गला हुआ' तथा एक लता विशेष भी है। जिस प्रकार पूति लता में कुम्हड़े का फल नहीं हो सकता उसी प्रकार उक्त हेतु से साध्य (सकर्तृकत्व) की सिद्धि नहीं हो सकती। समुद्र, पर्वत आदि का निर्माण कोई कर रहा है, ऐसा नहीं मिलता। इसलिए कार्यत्व-हेतु असिद्ध है। न तो इसे प्रत्यक्ष से ही जानते हैं न अनुमान से ही। इसके अलावे यदि पर्वत, समुद्र आदि को कार्य के रूप में स्वीकार करें तो भी यह नहीं प्रमाणित होता कि किसी एक (कर्ता) ने ही उन सबों का निर्माण किया है जिससे एक ईश्वर को ही सबों का निर्माता सिद्ध करें। यह भी नहीं कह सकते कि जीवों में पर्वतादि निर्माण करने की सामर्थ्य नहीं है—बड़े-बड़े महर्षियों और देवताओं में सिद्धि के बल से ऐसी सामर्थ्य पाई गई है। इसके अतिरिक्त संसार का निर्माता ईश्वर शरीरधारी है कि शरीरहीन ? यदि शरीरहीन है तो कर्ता बन नहीं सकता क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। शरीरधारी होने पर उसका शरीर नित्य होगा या अनित्य। यदि नित्य है तो अवयवों से युक्त वह ईश्वर नित्य होगा और संसार भी नित्य माना जायगा। जब संसार नित्य ही है तो कार्य (उत्पन्न) कैसे होगा ? उसकी उत्पत्ति की क्या आवश्यकता ? वह तो सदा से है—इस प्रकार ईश्वर की सिद्धि नहीं होगी। यदि उसका शरीर अनित्य है तो किसने शरीर को उत्पन्न किया ? स्वयं ईश्वर ने ही किया तो भी ठीक नहीं क्योंकि शरीरहीन वैसा नहीं कर सकता। यदि दूसरे शरीर से उत्पन्न किया तो फिर प्रश्न होगा कि उस शरीर को किसने उत्पन्न किया ? इस प्रकार अनवस्था होगी। इसके अतिरिक्त शरीर के अभाव में संसार का उत्पादन-रूपी कोई भी व्यापार उससे सम्भव नहीं है। जब व्यापार नहीं तो, तो वह कर्त्ता कैसे बनेगा ?

इस पूरे विचार से सिद्ध हुआ कि ईश्वर की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। अन्य सभी प्रमाण निरस्त हैं, अतः आगम-प्रमाण से ही ब्रह्म की सिद्धि हो सकती है।

(२४. चतुर्थ सूत्र—शास्त्रों का समन्वय)

यद्यपि ब्रह्म प्रमाणान्तरगोचरतां नावतरति तथापि प्रवृत्ति-निवृत्तिपरत्वाभावे सिद्धरूपं ब्रह्म न शास्त्रं प्रतिपादयितुं प्रभवतीत्येतन्पर्यनुयोगपरिहारायोक्तम्—'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू०

१।१।४) इति। तुशब्दः प्रसक्ताशङ्काव्यावृत्त्यर्थः। तच्छास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः सम्भवत्येव। कुतः? समन्वयात्। परमपुरुषार्थभूतस्यैव ब्रह्मणोऽभिधेयतयान्वयादित्यर्थः।

यह शंका की जा सकती है कि यद्यपि ब्रह्म को दूसरे प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता, फिर भी यदि शास्त्र प्रवृत्ति और निवृत्ति का संकेत न करे तो सिद्ध-ब्रह्म का प्रतिपादन वह नहीं कर सकता। [यदि शास्त्र सिद्ध-ब्रह्म का प्रतिपादन करता है तो किसी का प्रवर्तक और निवर्तक वह नहीं हो सकता। इसलिए न तो वह सुख की प्राप्ति करा सकेगा, न दुःख की निवृत्ति ही। बिना प्रयोजन के उसे कौन पढ़ेगा ? अतः शास्त्र अप्रामाणिक न हो, इसलिए उसे सिद्ध-ब्रह्म का प्रतिपादक नहीं होना चाहिए।] इसी शंका के परिहार के लिए कहा गया है—'उस (शास्त्र-प्रमाण) को तो समन्वय (Reconciliation) से [समझते हैं] (ब्र० सू० १।१।४)। यहाँ 'तु' (तो) शब्द प्राप्त शंका की निवृत्ति करने के लिए है। तत् = शास्त्र के द्वारा प्रमाणित होना, ब्रह्म के विषय में सम्भव है, पर कैसे ? समन्वय से अर्थात् परम पुरुषार्थ स्वरूप ब्रह्म ही अभिधेय [इन शास्त्रों में] है, जिनके साथ उसका सम्बन्ध दिखाया गया है। [प्रथम सूत्र में ब्रह्म का ही नाम लिया गया है, वही मनुष्यों का अन्तिम लक्ष्य है, यही उद्देश्य है, उसी का सम्बन्ध शास्त्रों के साथ दिखलाया गया है। इससे पता लगता है कि सिद्ध-ब्रह्म का प्रतिपादन करने पर भी शास्त्र सप्रयोजन हैं।]

न च प्रवृत्तिनिवृत्त्योरन्यतरविरहिणः प्रयोजनशून्यत्वम्। स्वरूपपरेष्वपि 'पुत्रस्ते जातो' 'नायं सर्पः' इत्यादिषु हर्षप्राप्तिभयनिवृत्तिरूपप्रयोजनवत्त्वं दृष्टमेवेति न किञ्चिदनुपपन्नम्। दिङ्मात्रमिह प्रदर्शितम्। विस्तरस्त्वाकरादेवावगन्तव्य इति विस्तारभीरुणोदास्यत इति सर्वमनाकुलम्।

॥ इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे रामानुजदर्शनम् ॥

ऐसी बात नहीं है कि प्रवृत्ति या निवृत्ति में से किसी एक के न होने से कोई चीज निरर्थक हो जाती है। केवल वस्तुस्थिति (या स्वरूप) का निर्देश करनेवाले 'तुम्हें पुत्र उत्पन्न हुआ', 'यह साँप नहीं है' इस प्रकार के [सिद्ध] वाक्यों में हर्ष की प्राप्ति तथा भय की निवृत्ति रूपी प्रयोजन होता तो है ही—फिर भी कोई इन्हें असिद्ध नहीं कहता। [तात्पर्य यह निकला कि सिद्ध-वाक्य में भी प्रयोजन रहता है। इसलिए सिद्ध-ब्रह्म के प्रतिपादन के लिए प्रवृत्त

शास्त्रों में प्रवृत्ति-निवृत्ति है, वे शास्त्र अर्थवान् (सप्रयोजन) हैं—इसमें सन्देह नहीं ।]

यहाँ इस दर्शन का केवल सामान्य निर्देश किया गया है, विस्तारपूर्वक सिद्धान्तों का निरूपण आकर-ग्रन्थों (जैसे श्रीभाष्य, तत्त्वमुक्ताकलाप, यतीन्द्र-मतदीपिका आदि) से ही समझ लें । विस्तार होने के भय से अब आगे की बातें छोड़ दें, सब कुछ स्पष्ट है ।

इस प्रकार श्रीमान् सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में रामानुजदर्शन [समाप्त हुआ] ।

।। इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां रामानुजदर्शनमवसितम् ।।



(५) पूर्णप्रज्ञ-दर्शनम्

तत्त्वद्वयं स्वपरतन्त्रमिहेति भेदो
जीवोऽणुरीश्वर इतो जगतो निमित्तम् ।
वेदान्तभाष्यमिति तत्र मतं विधात्रे
मध्वाय पूर्णधिषणाय नमश्चिराय ॥—ऋषिः ।

(१. द्वैतवाद की रामानुजमत से समता और विषमता)

तदेतद्रामानुजमतं जीवाणुत्व-दासत्व-वेदापौरुषेयत्व-सिद्धार्थबोधकत्व-स्वतः प्रमाणत्व-प्रमाणत्रित्व-पञ्चरात्रोपजीव्यत्व-प्रपञ्चभेदसत्यत्वादिसाम्येऽपि परस्परविरुद्धभेदादिपक्षत्रयकक्षीकारेण क्षपणकपक्षनिक्षिप्तमित्युपेक्षमाणः, 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादिवेदान्तवाक्यजातस्य भङ्ग्यन्तरेणार्थान्तरपरत्वमुपपाद्य ब्रह्ममीमांसाविवरणव्याजेन आनन्दतीर्थः प्रस्थानान्तरमास्थिषत ।

रामानुज के दर्शन में [हमारे दर्शन = द्वैतवाद से] इन बातों में समता है—जीव को अणु (Atomic) मानना, उसे ईश्वर का दास मानना, वेदों को अपौरुषेय (नित्य) मानना, वेदों को सिद्ध वस्तु (ब्रह्म) का बोधक मानना, वेदों को अपने-आप में प्रमाण मानना (परतः प्रमाण नहीं मानना), तीन प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द) मानना, पञ्चरात्र-ग्रन्थ पर अपने सिद्धान्तों को आधारित करना, प्रपंच और उसके भेदों (आत्मा से आकाशादि की भिन्नता) को सत्य मानना इत्यादि। इतना होने पर भी परस्पर विरोधी (Mutually Contradictory) भेद, [अभेद तथा भेदाभेद के] रूप में तीन पक्षों को स्वीकार करने से (देखिये रामानुजदर्शन, अनु० १६) उक्त-दर्शन क्षपणकों (जैनों) के [सप्तभंगीनय की तरह विरोधी] पक्षों को स्वीकार करने की मूर्खता करता है—इसलिए उसकी उपेक्षा करते हैं। 'वह आत्मा है, वह तुम्हीं हो' (छा० ६।८।७) इत्यादि वेदान्त-वाक्यों में वे दूसरी भंगी (तात्पर्य) से दूसरा ही अर्थ सिद्ध करते हैं। आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य, पूर्णप्रज्ञ) ने उक्त बातें दिखलाते हुए ब्रह्ममीमांसा (ब्रह्मसूत्र) की व्याख्या

(विवरण = व्याख्यानग्रन्थ का व्याख्यान) करने के बहाने एक नवीन प्रस्थान (सम्प्रदाय System of Philosophy) ही प्रवर्तित कर दिया है।

विशेष—माधवाचार्य ने पूर्णप्रज्ञ-दर्शन का आरंभ बहुत सुन्दर ढंग से किया है। बहुत ही संक्षेप में रामानुज और मध्व के सिद्धान्तों की तुलना हो गई। रामानुज का मत विशिष्टाद्वैत है जिसमें ईश्वर को चिद् अचिद् से विशिष्ट मानकर, तीन तत्त्व प्रतिपादन करने पर भी अद्वैत (Monism) का पक्ष लिया गया है। मध्व इस प्रच्छन्नता से दूर भागते हैं। वे सीधे द्वैतमत (Dualism) का ही प्रस्थान रखते हैं जिसमें स्वतंत्र परमेश्वर तथा परतंत्र जीव को स्वीकार किया जाता है। दोनों हो श्रौत दार्शनिक हैं, श्रुतियों पर आधारित हैं, पञ्चरात्र का स्मृति-रूप में आधार लेते हैं—तर्कबल से अपने सिद्धान्तों की स्थापना करते हैं, प्रच्छन्न तार्किक हैं। इसलिए बहुत दूर तक दोनों में साम्य है।

परन्तु रामानुज मध्व से कुछ अधिक चतुर हैं क्योंकि एक ओर तो लम्बी-चौड़ी भूमिका बाँधकर जैनों के स्याद्वाद की निन्दा करते हैं (देखिए, आरंभिक अंश), दूसरी ओर कहते हैं कि—'सर्वं तत्त्वम्, भेदोऽभेदोऽभेदाभेदाश्च'। अन्तर इतना ही है कि जैन सात विरोधी वाक्य रखते हैं, रामानुज तीन से ही संतुष्ट हैं। पर तत्त्व वही है। रामानुज छिपकर चलते हैं कि तत्त्व अद्वैत है, पर उसके दो विशेषण भी हैं। मध्व बेचारे सीधे-सादे आदमी, बिना किसी दुराव के दो तत्त्व पृथक्-पृथक् मान लेते हैं। दोनों आचार्यों को अपने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए मूल श्रुतियों, वेदान्तसूत्रों आदि को तोड़ना मरोड़ना पड़ा हैं जिसमें कोई भी नहीं हिचकते।

(२. द्वैतवाद के तत्त्व—भेद की सिद्धि)

तन्मते हि द्विविधं तत्त्वं स्वतन्त्रपरतन्त्रभेदात्। तदुक्तं तत्त्वविवेके—

१. स्वतन्त्रं परतन्त्रं च द्विविधं तत्त्वमिष्यते।
स्वतन्त्रो भगवान्विष्णुर्निर्दोषोऽशेषसद्गुणः॥ इति।

इन (आनन्दतीर्थ) के मत से दो प्रकार के तत्त्व हैं—स्वतंत्र और परतंत्र। तत्त्वविवेक नाम के ग्रन्थ में कहा गया है—'दो प्रकार का तत्त्व रखा जाता है, स्वतंत्र और परतंत्र। इनमें स्वतंत्र स्वयं भगवान् विष्णु हैं जो निर्दोष हैं तथा [स्वतंत्रता, शक्ति, विज्ञान, सुख आदि] सभी अच्छे-अच्छे गुणों से भरे हुए हैं।'

ननु सजातीय-विजातीय-स्वगत-नानात्वशून्यं ब्रह्म तत्त्वमिति प्रतिपादकेषु वेदान्तेषु जागरूकेषु कथमशेषसद्गुणत्वं कथ्यत इति चेत्, मैवम्। भेदप्रमापकबहुप्रमाणविरोधेन तेषां तत्र प्रामाण्यानुपपत्तेः। तथा हि, प्रत्यक्षं तावदिदमस्माद्भिन्नम् इति नीलपीतादेर्भेदमध्यक्षयति।

[अद्वैत-वेदान्ती ऐसी शंका कर सकते हैं—] ब्रह्मतत्त्व सजातीय (अपनी जाति में), विजातीय (दूसरी जाति के पदार्थों से) तथा स्वगत (अपने आप में विशेषणों के द्वारा), इन तीनों भेदों (नानात्व) से रहित है— इस प्रकार की बातें प्रतिपादित करनेवाले उपनिषद्-वाक्यों के रहते हुए आप लोग ईश्वर के विषय में यह कैसे कहते हैं कि वह सभी सद्गुणों से भरा हुआ है ? [हमारा उत्तर यह है कि] ऐसी बात नहीं है, बहुत से ऐसे वाक्य हैं जो भेद को ही प्रमाणित करते हैं उनके साथ उक्त उपनिषद्-वाक्यों का विरोध होगा और इसलिए उन्हें (भेदशून्य ब्रह्म के प्रतिपादक वाक्यों को) हम प्रामाणिक नहीं मान सकते। उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष को ही लें, 'यह (वस्तु) उस (वस्तु) से भिन्न है' इस प्रकार नील-पीत आदि पदार्थों में भेद की सत्ता को वह (प्रत्यक्ष) प्रमाणित करता है।

विशेष—भेद तीन प्रकार के हैं क्योंकि उनमें 'प्रतियोगी तीन प्रकार के होते हैं—सजातीय, विजातीय, तथा स्वगत। जिस भेद में प्रतियोगी (Opponent) अपनी जाति (Class) का ही हो उसे सजातीय भेद कहते हैं परमात्मा का जीवात्मा से किया गया भेद या एक वृक्ष का दूसरे वृक्ष से किया गया भेद सजातीय (Homogeneous) भेद है। प्रतियोगी दूसरी जाति का होने पर भेद भी विजातीय होता है जैसे परमात्मा का आकाशादि प्रतियोगियों से दिखलाया गया भेद या पेड़ का पत्थर से भेद। दोनों की दो जातियाँ होने से भेद विजातीय (Heterogeneous) है। स्वगत (Internal) भेद वह है जिसमें किसी वस्तु का उसके अवयवों (स्वगत) से भेद कराया जाय। उदाहरणार्थ परमात्मा का अपने अन्दर विद्यमान करुणा, आनन्द आदि विशेषणों से भेद या वृक्ष का भेद फल, फूल, पत्तों से करना स्वगत-भेद है।

उक्त तीनों भेदों का निषेध 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म के विषय में होता है। श्रुति का अर्थ यही है कि तत्त्व एक ही था उसमें कोई भेद नहीं, किन्तु यदि उन्हें सगुण

मानते हैं तो गुणों के साथ होने वाला कम से कम स्वगत भेद तो उनमें अवश्य ही होगा। अतः उक्त श्रुति का विरोध द्वैत-मत का प्रतिपादन करने से होता है। किन्तु मध्वाचार्य ऐसी श्रुतियों की प्रामाणिकता इसलिए स्वीकार नहीं करते कि परमात्मा में भेद का प्रतिपादन करनेवाले बहुत से प्रमाण हैं। उनका भी अपलाप करना संभव नहीं है।

इसके बाद विभिन्न प्रमाणों से भेद की सिद्धि की चेष्टा की जाती है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीनों प्रमाण के रूप में रखे जाते हैं। प्रत्यक्ष-प्रमाण तो स्पष्ट बतलाता है कि संसार में भेद की सत्ता है। नील से पीत, मनुष्य से पशु, पुस्तक से पाषाण क्या भिन्न नहीं ?

(३. प्रत्यक्ष से भेद-सिद्धि—शंका)

अथ मन्येथाः—किं प्रत्यक्षं भेदमेवावगाहते किं वा धर्मिप्रतियोगिघटितम् ? न प्रथमः, धर्मिप्रतियोगिप्रतिपत्तिमन्तरेण तत्सापेक्षस्य भेदस्याशक्याध्यवसायात्। द्वितीयेऽपि धर्मिप्रतियोगिग्रहणपुरःसरं भेदग्रहणमथवा युगपत्तत्सर्वग्रहणम् ?

न पूर्वः, बुद्धेर्विरम्य व्यापाराभावात्। अन्योन्याश्रयप्रसङ्गाच्च। नापि चरमः, कार्यकारणबुद्ध्योर्यौगपद्याभावात्। धर्मिप्रतीतिर्हि भेदप्रत्ययस्य कारणम्। एवं प्रतियोगिप्रतीतिरपि। संनिहितेऽपि धर्मिणि व्यवहितप्रतियोगिज्ञानमन्तरेण भेदस्याज्ञातत्वेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यकारणभावावगमात्। तस्मान्न भेदप्रत्यक्षं सुप्रसरमिति चेत्।

[भेद ज्ञान को अस्वीकार करते हुए शंकराचार्य के अनुयायी भेद के विषय में शंका करते हैं—] आप क्या मानते हैं, क्या प्रत्यक्ष (Perception) सीधे भेद का ही ज्ञान करा देता है या वह धर्मी (वस्तु) तथा उसके प्रतियोगी (विरोधी वस्तु) के ज्ञान के आधार पर [भेद का ज्ञान कराता है] ?[1] पहला विकल्प नहीं मान सकते क्योंकि जब तक धर्मी का और उसके प्रतियोगी (Opponent) का ज्ञान नहीं होगा, तब तक उन्हीं दोनों पर निर्भर

१. किसी भी भेद मे दो बातें अनिवार्य हैं। एक धर्मी जिससे भेद कराया जाता है, इसे ही मूल वस्तु भी कहते हैं, दूसरा प्रतियोगी अर्थात् विरोधी वस्तु। 'नीलं पीताद् भिन्नम्' में नील धर्मी है, पीत प्रतियोगी।

करनेवाले भेद का ज्ञान प्राप्त करना असंभव है [आधार—धर्मी और प्रतियोगी—के ज्ञान के बिना आधेय का कैसे ज्ञान होगा ? नील और पीत—दोनों को यथावत् समझने पर ही दोनों में भेद समझ सकते हैं। यदि सीधे भेद का प्रत्यक्ष करने का दम्भ रखें तो यह व्यर्थ है, असंभव है।]

यदि दूसरा विकल्प लेते हैं [कि धर्मी और प्रतियोगी के आधार पर भेद का ज्ञान होता है] तो पूछें कि भेद का यह ज्ञान धर्मी और प्रतियोगी के ज्ञान के पश्चात् होता है या सबों (तीनों) का ज्ञान एक ही साथ (युगपत् Simultaneously) हो जाता है।

उक्त प्रश्न का प्रथम विकल्प ग्राह्य नहीं है क्योंकि बुद्धि जब एक बार ठहर जाती है तब आगे कार्य संचालन नहीं कर पाती। [१ 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गा शब्द एक विशेष प्रकार के जल का अर्थ देता है। उतने व्यापार के बाद ही वह शब्द विरत हो जाता है। घोष से सम्बन्ध दिखलाने के लिये गङ्गा का तटरूपी अर्थ वह शब्द नहीं बतला सकता। ऐसा करने से 'गङ्गा के किनारे गाँव' का अर्थ बिल्कुल संगत हो जाता। किन्तु वहाँ तक तो उसकी पहुँच ही नहीं है, करे तो क्या करे ? इसलिये तट-रूपी अर्थ की उपस्थापना, लक्षणा-शक्ति द्वारा, सामीप्य सम्बन्ध से, 'गङ्गा' शब्द का अर्थ 'जल' ही कर सकता है; जल के निकट होने के कारण 'तट' अर्थ हो गया। गङ्गा शब्द कुछ नहीं कर सका—लक्षणा अर्थ की ही हुई, शब्द की नहीं। सारांश यह कि शब्द अपना व्यापार करके विरत हो जाता है। २. कोई धनुर्धर बहुत तेजी से वाण चलाता है, यद्यपि वाण में ६० गज जाने की सामर्थ्य है परन्तु ३० गज जाते ही उसे कोई रोक लेता है, बस उसका व्यापार रुक गया, एक अंगुल भी वह वाण अब नहीं बढ़ सकता। अतः कर्म रुक जाने पर अपना अगला व्यापार बन्द कर देता है। ३. धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान कर लेने पर बुद्धि विरत हो जाती है, लाख चेष्टा करने पर भी 'भेद' को अपना विषय नहीं बना सकती। अतः बुद्धि भी विरत हो जाने पर व्यापार (Activity) नहीं दिखला सकती। इसे ही साहित्यशास्त्रियों ने कहा है—**शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः।** (देखें, काव्यप्रदीप, उल्लास ५।) दूसरे, इसमें अन्योन्याश्रय-दोष (Fallacy of mutual dependence, a logical seesaw) भी उत्पन्न हो जायगा। [भेद के ज्ञान के लिये धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान अपेक्षित है, तथा धर्मी और प्रतियोगी के ज्ञान के लिये भेद-ज्ञान की आवश्यकता है—इस प्रकार अन्योन्याश्रय-दोष होगा।]

इसका दूसरा विकल्प भी ग्राह्य नहीं [कि धर्मी, प्रतियोगी और भेद—तीनों का ग्रहण एक ही साथ हो जायगा] क्योंकि कार्य (भेद-ज्ञान) और

कारण (धर्मि-प्रतियोगि-ज्ञान) के रूप में गृहीत बुद्धियों की सत्ता एक साथ नहीं हो सकती। धर्मी की प्रतीति (ज्ञान Apprehension) भेद-ज्ञान का कारण है, उसी प्रकार प्रतियोगी की प्रतीति भी [भेद-ज्ञान का कारण है]। यदि धर्मी निकट में भी हो किन्तु दूरस्थित प्रतियोगी का ज्ञान नहीं हो तो भेद का ज्ञान नहीं ही हो सकेगा, [उसी प्रकार धर्मी और प्रतियोगी दोनों के रहने पर भेद का ज्ञान हो जाता है]—इसलिये अन्वय और व्यतिरेक के नियमों द्वारा हम लोग [धर्मी + प्रतियोगी और भेद के बीच] कार्य-कारण का सम्बन्ध जान लेते हैं। [कोई यह शंका न करे कि भेद और धर्मिप्रतियोगी में कार्य-कारण-सम्बन्ध कहाँ है, इसलिये पहले ही दिखला दिया गया है।]

इस प्रकार भेद का प्रत्यक्षीकरण (या प्रत्यक्ष प्रमाण से भेद का ज्ञान) नहीं हो सकता—यह [अद्वैतवेदान्ती की] शंका है।

(३ क. प्रत्यक्ष से भेद-सिद्धि—समाधान)

किं वस्तुस्वरूपभेदवादिनं प्रति इमानि दूषणानि उद्घुष्यन्ते, किं वा धर्मभेदवादिनं प्रति ? प्रथमे चोरापराधान्माण्डव्यनिग्रहन्यायापातः। भवदभिधीयमानदूषणानां तदविषयत्वात्।

ननु वस्तुस्वरूपस्यैव भेदत्वे प्रतियोगिसापेक्षत्वं न घटते घटवत्। प्रतियोगिसापेक्ष एव सर्वत्र भेदः प्रथत इतिचेन्न। प्रथमं सर्वतो विलक्षणतया वस्तुस्वरूपे ज्ञायमाने प्रतियोग्यपेक्षया विशिष्टव्यवहारोपपत्तेः।

ये सारे दोष किस के सिर पर आरोपित हो रहे हैं ? क्या वस्तु (घटादि) के स्वरूप (गोलाकार कम्बुग्रीव आदि) को ही भेद मानने वाले लोगों के प्रति (स्मरणीय है कि मध्वाचार्य इसे ही भेद कहते हैं), या उन लोगों के प्रति जो वस्तु (घटादि) से भिन्न उस वस्तु के ही धर्मों को लेकर भेद मानते हैं (जैसा कि वैशेषिक दर्शन में मानते हैं) ? [मध्वाचार्य एक ही वस्तु में उसके स्वरूप और वस्तु में भेद मानते हैं जब कि वैशेषिकादि वस्तु के धर्मों (Attributes) के आधार पर दो वस्तुओं में भेद मानते हैं। इन दोनों पक्षों को ही यहाँ पर उठाया गया है और पूर्वपक्षी से पूछा जा रहा है कि आप किस पक्ष पर अपने तर्कों का गट्ठर फेंक रहे हैं ?]

यदि आप वस्तु के स्वरूप को भेद माननेवाले लोगों (मध्वों) पर यह आरोप लगा रहे हैं, तो यह ठीक नहीं कर रहे हैं—जैसे चोर के अपराध से

माण्डव्य-ऋषि को पकड़ कर दण्ड दिया गया, वही स्थिति हो जायगी। (खेत खाय गदहा मार खाय जोलहा)। [महाभारत के आदि पर्व (अध्याय १०७–८) में यह कथा आयी है—माण्डव्य नाम के ऋषि को किसी राजा ने चोर समझ कर पकड़ लिया। राजा ने जब उन्हें दण्ड देकर शूली पर चढ़ाया उसी समय दूसरा असली चोर पकड़ा गया। तुरत उन ऋषि को शूली से उतारा गया और राजा ने उनसे क्षमा कर देने की प्रार्थना की। माण्डव्य ऋषि ने सोचा कि यह मेरे किसी न किसी कर्म का ही फल है, अतः उसका पता लगाने के लिए यमलोक में गये। यमराज ने बतलाया कि बचपन में किसी कीड़े को आपने बाँध लिया था उसी का यह फल भोगने को मिला है। माण्डव्य बहुत क्रुद्ध हुए और बोले कि अनजान में हुए अपराध का दण्ड इस प्रकार का नहीं मिलना चाहिए। उन्होंने यमराज को शाप दिया कि मर्त्यलोक में तुम शूद्रयोनि में जन्म लो। तदनुसार वे विचित्रवीर्य की दासी के गर्भ में व्यास के संयोग से आये और विदुर के रूप में उत्पन्न हुए। उसी दिन से यमराज ने यह नियम (Convention) चला दिया कि अज्ञान में किये गये अपराध को क्षमा कर दिया जाय। जहाँ एक व्यक्ति का अपराध हो और दूसरे को दण्ड मिले, वहाँ इस न्याय का प्रयोग होता है।]

इसका कारण यह है कि आपके द्वारा आरोपित दोषों के क्षेत्र (Jurisdiction, Subject) में स्वरूप-भेदवादी लोग नहीं आते। [पूर्वपक्षियों का कहना था कि भेदवादी लोग धर्मी और प्रतियोगी के साथ ही प्रत्यक्ष का ज्ञान होना मानते हैं जो बिल्कुल असम्भव है। यह अपराध धर्म को भेद माननेवालों का है, स्वरूपभेदवादियों का नहीं, परन्तु यदि आप हमारे (स्वरूप-भेदवादियों के) ऊपर भी यही आरोप लगाते हैं तो ठीक नहीं। दूसरे के अपराध से हमें क्यों पकड़ रहे हैं ? आपके द्वारा प्रतिपादित दोष वस्तु के स्वरूप को भेद माननेवाले सिद्धान्त पर नहीं लग सकते। यदि वस्तु से भिन्न धर्मों के साथ दूसरी वस्तु के रूप में भेद हो तभी प्रत्यक्ष-प्रमाण के द्वारा भेद का ज्ञान होगा, केवल भेद का या धर्मि-प्रतियोगी के साथ भेद का। पूर्वपक्षियों ने फिर विकल्प किया था कि धर्मी और प्रतियोगी के ज्ञान के बाद भेद का ज्ञान होता है या एक ही साथ—तो ये विकल्प भी धर्मभेदवादी को ही लग सकते हैं। स्वरूप को भेद माननेवाले लोगों में कभी भी ये विकल्प नहीं लग सकते।]

[मध्वाचार्य ने शंकर के उत्तर में धर्मभेदवादियों को घसीटा है, सोचा कि इन्हें ही शंकर से भिड़ा दें, हम बिल्कुल बच जायँगे। पर लेने के देने पड़े, धर्मभेदवादी अब मध्वों (स्वरूपभेदवादियों) पर ही बिगड़ खड़े हुए। अब दोनों भेदवादियों में ही शास्त्रार्थ चला। धर्मभेदवादी पूछते हैं—] यदि

वस्तु के स्वरूप को ही भेद मान लें तो घट की तरह, किसी प्रतियोगी (Contrary, Counterpart) की अपेक्षा नहीं रहेगी। [घट के ज्ञान के लिए किसी प्रतियोगी की आवश्यकता नहीं रहती है, सीधे घट का ज्ञान कर लेते हैं। यदि वस्तु के स्वरूप (Essence) को भेद मान लें तो यह भेद भी घट की तरह ही प्रतियोगि-निरपेक्ष हो जायगा।] किन्तु लोक में नियम से, सर्वत्र भेद-ज्ञान के लिए प्रतियोगी के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है, [यदि धर्म (attributes) के आधार पर दो वस्तुओं में हम भेद नहीं मानेगें तो ऐसी संभावना नहीं रहेगी,—अतः स्वरूप को भेद मानना दोषपूर्ण है।]

उसका उत्तर [मध्वों की ओर से] होगा कि ऐसी बात नहीं है, पहले-पहल वस्तु के स्वरूप का ज्ञान दूसरी सभी वस्तुओं से पृथक् (विलक्षण Peculiar) करके प्राप्त किया जाता है तब प्रतियोगी की अपेक्षा रखते हुए विशेष प्रकार का (जैसे घट का घटत्व के रूप में) व्यवहार चलता है। [स्वरूप-भेदवादियों के मत से पहले, घट का घटत्व के रूप में, सबसे विलक्षण मानकर स्वरूप का ज्ञान होता है। इसी को भेदज्ञान कहते हैं,। जो वस्तु सबों से विलक्षण है उसके कम्बुग्रीवादि संस्थान-विशेषों से युक्त स्वरूप को भेद ही मानते हैं। तब प्रतियोगियों का अनुसंधान करके 'घट पट से भिन्न है' ऐसा व्यवहार करते हैं।]

तथा हि—परिमाणघटितं वस्तुस्वरूपं प्रथममवगम्यते। पश्चात्प्रतियोगिविशेषापेक्षया ह्रस्वं दीर्घमिति तदेव विशिष्य व्यवहारभाजनं भवति। तदुक्तं विष्णुतत्त्वनिर्णये—

'न च विशेषणविशेष्यतया भेदसिद्धिः। विशेषणविशेष्यभावश्च भेदापेक्षः। धर्मिप्रतियोग्यपेक्षया भेदसिद्धिः। भेदापेक्षं च धर्मिप्रतियोगित्वमित्यन्योन्याश्रयतया भेदस्यायुक्तिः। पदार्थस्वरूपत्वाद् भेदस्य'—इत्यादिना।

इसे यों समझें—परिमाण (Dimensions) से विशिष्ट वस्तु-स्वरूप का ज्ञान पहले हो जाता है। बाद में विभिन्न प्रकार के प्रतियोगियों की अपेक्षा रखकर उसी वस्तु को 'छोटा', 'बड़ा' इत्यादि विशेषणों से विभूषित करके उसका व्यवहार करते हैं। [पहले किसी घट का परिमाण जान लेते हैं, यही उसका स्वरूप है और भेद भी है। फिर दूसरे घट का ज्ञान करके उसकी अपेक्षा प्रकृत घट को छोटा या बड़ा मानते हैं। स्वरूप का व्यवहार सामान्य है, दूसरे प्रतियोगी की अपेक्षा रखने पर विशिष्ट व्यवहार होता है। व्यवहार से

अव्यवहित पूर्वक्षण में ही भेदज्ञान होने का नियम नहीं है। जब हम कहते हैं—'घटस्य स्वरूपम्' तो दोनों में भेद तो है ही। यहाँ तक कि 'घटः पटाद्भिन्नः' भी व्यधिकरण से व्यवहृत होता है और उसमें धर्म के भेद की सिद्धि नहीं होती। यह गौण व्यवहार है। यदि पदार्थ में स्वरूप-भेद नहीं होता तो उसके देखने पर सभी चीजों से उसकी विलक्षणता ज्ञात नहीं होती। पुनः, यदि पदार्थ में स्वरूप-भेद नहीं होता तो गवय को देखने पर भी गाय खोजने वालों की प्रवृत्ति होती और 'गो' शब्द का स्मरण होता क्योंकि लोग स्वरूप को भेद नहीं मानते, धर्म को ही भेद मानते—गो और गवय में धर्मों का अन्तर है अतः गवय मिल जाने पर भी गाय खोजते, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है।]

इसीलिए विष्णुतत्त्वनिर्णय (लेखक—आनन्दतीर्थ, समय ११७० ई०) में कहा गया है—'विशेषण और विशेष्य रहने से भेद की सिद्धि नहीं होती। कारण यह है कि विशेषण और विशेष्य का संबन्ध स्वयं भेद की अपेक्षा रखता है। [जो स्वयं भेद से सिद्ध होता है, भेद को क्या सिद्ध करेगा ?] फल यह होगा कि धर्मी और प्रतियोगी की अपेक्षा से भेद की सिद्धि होती है, तथा भेद के आधार पर धर्मी और प्रतियोगी की सिद्धि होती है—इस प्रकार अन्योन्याश्रय-दोष होने से भेद ही युक्तियुक्त नहीं हो सकता। **पदार्थ के स्वरूप को ही भेद कहते हैं**। [उसके धर्म के आधार पर किये गये भेद को नहीं]'—इत्यादि।

विशेष—'यह एक प्रतियोगी से युक्त भेद को धारण करता है'—इसमें भेद विशेषण है, पट विशेष्य। 'पट में कुछ प्रतियोगी से युक्त भेद रहता है'—यहाँ भेद विशेष्य है, पट विशेषण। विशेषण और विशेष्य में भेद होना सुप्रसिद्ध है, जैसा कि 'राज्ञः (विशेषण) पुरुषः (विशेष्य)' में हम देखते हैं। यदि विशेषण-विशेष्य के रूप में भेद को सिद्ध किया जायगा तो अन्योन्याश्रय-दोष होगा। विशेषण और विशेष्य का सम्बन्ध भेद के ऊपर आधारित है। इस भेद की सिद्धि धर्मित्व और प्रतियोगित्व की प्रतीति के ऊपर निर्भर करती है। दूसरी ओर, यह प्रतीति भेद की प्रतीति के विना संभव ही नहीं है, अतः अन्योन्याश्रय-दोष होता है।

इस प्रकार 'भेदयुक्त पट' या 'पट में भेद' इनमें विशेषण-विशेष्य के रूप में जो भेद की प्रतीति होती है, वह भेद की सिद्धि करने में युक्त नहीं है। फिर भेद है किस रूप का ? उत्तर होगा कि पदार्थ का स्वरूप ही भेद है। विष्णुतत्त्व-निर्णय में यही कहा गया है।

अत एव गवार्थिनो गवयदर्शनान्न प्रवर्तन्ते, गो शब्दं च न

स्मरन्ति । न च नीरक्षीरादौ स्वरूपे गृह्यमाणे भेदप्रतिभासोऽपि स्यादिति भणनीयम् । समानाभिहारादिप्रतिबन्धकबलाद् भेद-भानव्यवहाराभावोपपत्तिः ।

इसीलिए गौ का अन्वेषण करने वाले लोग गवय (गौ के समान जन्तुविशेष) देखने के बाद आगे नहीं बढ़ते (मानो उन्होंने गाय पाली हो) तथा गौ शब्द का स्मरण भी नहीं करते । [चूँकि किसी वस्तु का सबों से विलक्षण स्वरूप जान लेना ही उस वस्तु के विशिष्ट व्यवहार का कारण है इसीलिए सबों से विलक्षण गौ के स्वरूप को लोग गवय में भी देख लेते हैं और ऐसा होने पर भी अज्ञान के कारण गौ का अन्वेषण करनेवालों की प्रवृत्ति या गौ का स्मरण करना—ये व्यवहार नहीं होते ।] ऐसी भी शंका नहीं कर सकते कि [चूँकि भेद एक वास्तविक पदार्थ है और प्रत्यक्ष का विषय है इसलिए] जल से युक्त दूध आदि को आँखों से देख लेने पर, भेद का आभास भी दृष्टिगोचर होगा (अर्थात् वस्तु का अपना स्वरूप दिखलाई नहीं पड़ेगा) । उक्त उदाहरण में आँख का संनिकर्ष तो रहता ही है । स्वरूप को ही भेद मानने पर भेद का भी ग्रहण होगा कि यह जल है, यह दूध है । इसमें भेद का प्रतिभास अवश्य होगा परन्तु भेदज्ञान ही नहीं रहता है ।] कारण यह है कि भेद के आभास रूपी व्यवहार के अभाव की सिद्धि समानाभिहार (एक प्रकार के ही पदार्थों का समूह) आदि प्रतिबन्धक (प्रत्यक्षज्ञान को रोकनेवाले) कारणों के बल से होती है । [समानाभिहार एक प्रकार के पदार्थों का ही एक स्थान पर रहना । ऐसी स्थिति में किसी वस्तु को समूह से पृथक् करना कठिन है—प्रत्यक्षज्ञान में भी यह प्रतिबन्ध डालता है । नीर-क्षीर एक प्रकार के ही पदार्थ हैं, इनको पृथक् करना कठिन है, इसलिए भेदाभास का व्यवहार यहाँ पर नहीं होता । ऐसी बात नहीं है कि भेद यहाँ है ही नहीं । वास्तव में दो पदार्थों के सादृश्य के कारण मिश्रित हो जाने से उनका पार्थक्य समझ में नही आता, भेद तो है ही । अतः नीर-क्षीर में स्वरूप का ग्रहण कर लेने पर भेद का प्रतिभास इसलिए नहीं होता कि नीर-क्षीर मिलकर एक हो गये हैं, समानाभिहार हो गया है । नहीं तो ऐसी कोई भी स्थिति नहीं है जिसमें स्वरूप का ज्ञान होने पर भेद का प्रतिभास नहीं हो ।]

तदुक्तम्—

२. अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च ॥
(सांख्यकारिका, ७) इति ।

अतिदूरात् = गिरिशिखरवर्तिपर्वतादौ, अतिसामीप्यात् = लोचनाञ्जनादौ, इन्द्रियघातात् = विद्युदादौ, मनोऽनवस्थानात् = कामाद्युपप्लुतमनस्कस्य स्फीतालोकवर्तिनि घटादौ, सौक्ष्म्यात् = परमाण्वादौ, व्यवधानात् = कुड्यान्तर्हिते, अभिभवात् = दिवा प्रदीपप्रभादौ, समानाभिहारात् = नीरक्षीरादौ यथावत् ग्रहणं नास्तीत्यर्थः ।

ऐसा ही [सांख्यकारिका में] कहा गया है—'बहुत दूर होने के कारण, बहुत नजदीक होने के कारण, इन्द्रियों में दोष होने के कारण, मन के अव्यवस्थित (चंचल) होने के कारण, पदार्थ के बहुत सूक्ष्म होने के कारण, [इन्द्रिय और वस्तु के बीच में] किसी प्रकार का व्यवधान पड़ जाने के कारण, [किसी दूसरे तीव्र पदार्थ द्वारा वस्तु के] अभिभूत (अपेक्षाकृत शक्तिहीन) होने के कारण तथा समान रूप वाले पदार्थों में मिल जाने के कारण [प्रत्यक्षज्ञान को बाधा पहुँचती है ।]'

बहुत दूर होने के कारण, जिस प्रकार पहाड़ों की चोटियों पर उगे हुए वृक्ष आदि को [देखना कठिन है] । बहुत नजदीक होने के कारण, जैसे अपनी आँखों में लगे हुए अंजन आदि को नहीं देख सकते । इन्द्रियों में दोष होने के कारण बिजली आदि को नहीं देख पाते । मन के अव्यवस्थित होने के कारण, जैसे कामादि वासनाओं से मन के क्षुब्ध हो जाने पर, खूब प्रकाश में अवस्थित घटादि को नहीं देख पाते । सूक्ष्मता के कारण परमाणु आदि को नहीं देख पाते । व्यवधान होने के कारण, दीवाल (कुड्य) के बीच में आने पर कोई चीज दिखलाई नहीं पड़ती । अभिभूत होने के कारण जैसे दिन में दीपक की प्रभा आदि को नहीं देख सकते । समान वस्तुओं में मिले होने के कारण, जैसे नीर-क्षीर में क्षीर का यथावत् प्रत्यक्ष नहीं होता है ।

विशेष—सांख्यकारिका में यह कारिका प्रकृति की सिद्धि के क्रम में दी गई है । कहा गया है कि प्रत्यक्ष-प्रमाण से भी बहुत-सी वस्तुएँ सिद्ध नहीं होती क्योंकि उसके मार्ग में बहुत से बाधक कारण हैं—प्रकृति का प्रत्यक्ष सूक्ष्मता के कारण नहीं हो सकता, ऐसी बात नहीं है कि प्रकृति का अभाव है । उसी प्रकार समानाभिहार के कारण नीर-क्षीर का भेद मालूम नहीं पड़ता । ऐसी बात नहीं है कि भेद उनमें है ही नहीं । 'स्वरूपग्रहणे भेदप्रतिभासोऽपि स्यादिति न भणनीयम्' । सामान्य दशा में ऐसा नहीं कहते कि नीर-क्षीर में स्वरूपग्रहण हो गया, भेद का प्रतिभास भी होगा । नहीं, भेद ग्रहण नहीं होता । पर

यह तो हमारे सिद्धान्त के प्रतिकूल है कि स्वरूप से भेदज्ञान नहीं हो। नहीं, प्रतिकूलता तनिक भी नहीं है – वास्तव में भेद-ज्ञान है, पर नीर-क्षीर के मिश्रित होने के कारण नहीं प्रतीत होता। इसलिए यहाँ भेद-ज्ञान का ग्रहण आपाततः नहीं होता।

कभी-कभी एक ही वस्तु के कई स्वरूप होते हैं। मनुष्य को दूर से देखने पर कोई पदार्थ जान पड़ता है, उसके बाद ऊँचा पदार्थ, फिर प्राणी, फिर मनुष्य, फिर युवक आदि—इस प्रकार तारतम्य से नाना प्रकार के स्वरूप दिखलाई पड़ते हैं। इस प्रकार का तारतम्य धर्मभेदवादी (वैशेषिक) लोग भी स्वीकार करते हैं। स्वरूपभेदवादी के मत से यदि स्वरूप अनेक प्रकार के हैं तो भेद की भी अनेक-रूपता स्वीकार करनी पड़ेगी। इसलिए जल-मिश्रित दूध में घड़े से भेद दिखाया जा सकता है, नीर से नहीं। क्योंकि उस प्रकार के स्वरूप का ज्ञान करने में हमारी आँखें असमर्थ हैं। अतएव नीर-क्षीर में विलक्षण स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, उस प्रकार का भेदज्ञान भी नहीं होता, 'नीर से क्षीर भिन्न है' ऐसा ज्ञान भी नहीं होता—यही व्यवहार है।

(४. धर्मभेदवादी का समर्थन—भेद की सिद्धि)

भवतु वा धर्मभेदवादस्तथापि न कश्चिद्दोषः। धर्मिप्रतियोगिग्रहणे सति पश्चात्तद्धटितभेदग्रहणोपपत्तेः। न च परस्पराश्रय-प्रसङ्गः। परानपेक्ष्य प्रभेदशालिनो वस्तुनो ग्रहणे सति धर्मभेदभानसंभवात्। न च धर्मभेदवादे तस्य तस्य भेदस्य भेदान्तरभेद्यत्वेनानवस्था दुरवस्था स्यादित्यास्थेयम्। भेदान्तरप्रसक्तौ मूलाभावात्। भेदभेदिनौ भिन्नाविति व्यवहारादर्शनात्।

[मध्वाचार्य देखते हैं कि अपने ही पक्षवाले – धर्मभेदवादी को चिढ़ाने से काम नहीं चलेगा। वह भी तो भेद को स्वीकार करता है। यह दूसरी बात है कि वह स्वरूप का भेद न मानकर धर्मों का भेद मानता है। अपने मत के प्रतिपादन के पश्चात् उस पर भी दो-चार वाक्य लिख देना कोई बुरा नहीं है। इससे भेदवाद की जड़ और भी जम जायगी। इसलिए वे कहते हैं—] अथवा वैशेषिकों के धर्मभेदवाद को ही स्वीकार करें, उसमें भी कोई दोष नहीं है। धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान होने पर, उसके बाद उन पर ही आधारित (घटित) भेद का ग्रहण हो जाता है। [यह अभिप्राय है कि पहले घट धर्मी

का ज्ञान घट-सामान्य के रूप में तथा पट-प्रतियोगी का ज्ञान पट-सामान्य के रूप में हो जाता है, तब घट और पट में क्रमशः धर्मित्व और प्रतियोगित्व की स्थापना के साथ ही साथ सामूहिक-ज्ञान (Knowledge of a group) की तरह एक ही क्रिया से भेद का ग्रहण भी हो जायगा। इसी को धर्मि-प्रतियोगि-घटित भेद कहते हैं। यहाँ पर कारण-बुद्धि और कार्य-बुद्धि एक साथ नहीं होती। इसलिए पूर्वोक्त दोष होने की संभावना है, किन्तु वह बात नहीं है। घट और पट का जो ग्रहण धर्मी और प्रतियोगी के रूप में हो रहा है वह भेद के ज्ञान का कारण नहीं है। बल्कि घट और पट का जो ज्ञान घटत्व और पटत्व के रूप में किया गया था वही भेद-ज्ञान का कारण है। घट को भेद का धर्मी मानना और पट को भेद का प्रतियोगी मानना तो वस्तु की सत्ता होने पर ही भेदज्ञान का कारण होता है। इसलिए उक्त दोष नहीं लगता।]

अन्योन्याश्रय-दोष की भी संभावना यहाँ नहीं है क्योंकि दूसरों (भिन्न वस्तुओं) की अपेक्षा न रखते हुए ही, भेद-युक्त वस्तु का ग्रहण होता है, इसलिए धर्म-भेद (Difference in attributes) का ग्रहण होना संभव है। [अन्योन्याश्रय-दोष का आरोपण इसलिए होता है कि घट का घटत्व-रूप में और पट का पटत्व-रूप में ज्ञान होना भेदज्ञान के ऊपर निर्भर करता है, दूसरी ओर भेदज्ञान इस प्रकार के ज्ञान पर निर्भर करता है। परन्तु यह दोष नहीं होता—स्वरूपभेदवाद में वस्तु सबसे विलक्षण स्वरूप की मानी जाती है घट-पट के ज्ञान में इनसे विलक्षण स्वरूपों से ही ज्ञान हो जायगा, इसमें दूसरों की अपेक्षा ही नहीं है—ज्ञान तो स्वरूप से हो रहा है अतः घट का घटत्व रूप में और पट का पटत्व-रूप में ज्ञान होने पर भेदज्ञान की सापेक्षता (भेद-ज्ञान पर आधारित होना) नहीं रहेगी। इसके बाद धर्मी-प्रतियोगी बना कर दोनों पदार्थों के भेद की कल्पना होगी।]

ऐसा भी यहाँ कहना ठीक नहीं है कि धर्मभेदवाद को स्वीकार कर लेने पर अनवस्था-दोष इसलिए उत्पन्न होगा कि प्रत्येक भेद को किसी दूसरे भेद के द्वारा पृथक् करने की आवश्यकता होगी। [घट में भेद है जिसका प्रतियोगी है पट, इस प्रथम भेद के द्वारा घट को भेद्य (= प्रथमभेद से घट भिन्न है—ऐसे व्यवहार के योग्य) समझते हैं। अब प्रथम-भेद का प्रतियोगी घट हो गया, इस प्रथम भेद में द्वितीय भेद है—जिसके द्वारा प्रथम भेद को ही भेद्य समझते हैं। द्वितीय भेद का प्रतियोगी प्रथम भेद है, द्वितीय भेद में एक तृतीय भेद की कल्पना करनी पड़ेगी जिसके द्वारा द्वितीय भेद को भेद्य समझेंगे। इस प्रकार अन्त न होने वाली एक परम्परा चलती रहेगी।] यह अनवस्था इसलिए नहीं होगी कि दूसरे भेद

को स्वीकार करने का कोई कारण नहीं दिखलाई पड़ता (मूलाभावात्)। भेद और भेदी दोनों भिन्न हैं ऐसा व्यवहार देखने में नहीं आता। [आशय यह है कि जिस प्रकार 'घट और पट भिन्न हैं' ऐसा व्यवहार पट को प्रतियोगी और घट को धर्मी मानकर चलता है, उसी प्रकार यदि 'भेद (द्वितीयभेद) तथा भेदी (प्रथम भेद) भिन्न हैं' ऐसा व्यवहार लोक में दिखलाई पड़ता तभी द्वितीय भेद की सिद्धि हो सकती थी। किन्तु ऐसा होता नहीं इसलिए अनवस्था नहीं है। भेद एक ही होता है वह चाहे दूसरी बार हो या तीसरी बार। 'घट पट से भिन्न है' इसमें एक भेद है, अब 'वह भेद स्वयं घट से भिन्न है' यहाँ प्राप्त भेद भी कोई अलग नहीं—सर्वत्र एक प्रकार के भेद की ही प्राप्ति होती है।]

न चैकभेदबलेनान्यभेदानुमानम्। दृष्टान्तभेदाविघातेनोत्थाने दोषाभावात्। सोऽयं पिण्याकयाचनार्थं गतस्य खारिकातैलदातृत्वाभ्युपगम इव। दृष्टान्तभेदविमर्दे त्वनुत्थानमेव। न हि वरविघाताय कन्योद्वाहः। तस्मान्मूलक्षयाभावादनवस्था न दोषाय।

ऐसी भी शंका नहीं करनी चाहिए कि एक भेद के बल से दूसरे भेद का अनुमान होता चला जायगा (और अनवस्था घेर ही लेगी)। [आशय यह है कि प्रथम भेद का प्रतियोगी घट है, फिर द्वितीय भेद का अनुमान, द्वितीय भेद से तृतीय का, इस प्रकार अनुमान से अनवस्था हो जायगी। परन्तु मध्व इसका खण्डन करते हैं।] यह अनवस्था दृष्टान्त के रूप में दिये गये प्रथम-भेद का बिना नाश किये ही यदि उत्पन्न होती है तब तो अनवस्था मानने में कोई दोष ही नहीं है। [भेद को तो आप इस प्रकार स्वीकार करते ही हैं। आप भेद स्वीकार कर लें फिर हम पर लाखों दोष क्यों न आरोपित करें ! हमारा काम समाप्त !] यह दोषारोपण ऐसा ही है, जैसे कोई थोड़ी-सी तिल की खल्ली (Oil-cake) माँगने जाय और उसे एकाध पसेरी तेल ही देना पड़ जाय [थोड़ी सी वस्तु माँगे और अधिक वस्तु स्वयं देनी पड़े। भेदवादियों पर अनवस्था लगाने जाय और अनुमान द्वारा दोषारोपण करने में दृष्टान्त के रूप में स्वयं भेद (खण्डनीय वस्तु) को स्वीकार करना पड़े।] दूसरी ओर, यदि भेद को दृष्टान्त के रूप में स्वीकार ही न करें तो अनुमान ही नहीं होगा [और फलतः अनवस्था-दोष नहीं लगेगा]। कन्या का विवाह वर के विनाश के लिए नहीं होता [अनुमान का आधार लेकर चलनेवाली अनवस्था सीधे

अनुमान का ही विनाश कर देती है।] इसलिए हमारे मूल का क्षय न करने के कारण अनवस्था कोई भी दोष नहीं लाती।

विशेष—प्रस्तुत संदर्भ कठिन के साथ-साथ मनोरंजक भी कम नहीं। जब अनुमान से पूर्वपक्षी लोग एक भेद से दूसरे भेद की सिद्धि करके अनवस्था का आरोपण करने लगते हैं तब इस प्रकार का परामर्श होता है—

द्वितीय-भेद किसी दूसरे भेद के द्वारा भेद्य है (प्रतिज्ञा + साध्य)।

क्योंकि वह भी एक प्रकार का भेद है (हेतु)।

जिस प्रकार प्रथम-भेद होता है (दृष्टान्त)। जहाँ अनवस्था का आरोपण होता है वहाँ किसी-न-किसी प्रकार विश्राम (End) खोजना ही पड़ता है। कहीं-कहीं यह विश्राम **सिद्ध के समान** ग्रहण करते हैं जैसे—घटत्व, पटत्व आदि सामान्यों (Generality) में यदि सामान्यत्व की जाति मानें तो इसका भी फिर सामान्यत्व मानना पड़ेगा, उसका भी सामान्यत्व होगा—यों अनवस्था होगी। इसके निराकरण के लिए सिद्ध है कि सामान्यों की सामान्यत्व-जाति नहीं मानी जाती। मूल में ही ऐसा नहीं होता कि घटत्व-पटत्व में जाति न मानें क्योंकि इनमें तो जाति लोकसिद्ध है। कहीं-कहीं यह विश्राम **स्वभावतः** मानना पड़ता है जैसे—नैयायिकों के मत से 'यह घट है' इसमें घट का ग्रहण व्यवसायात्मक ज्ञान से होता है, फिर इस व्यवसाय का ज्ञान भी अनुव्यवसाय ('मैं घट जानता हूँ' इस प्रकार के) से होता है, इसके लिए भी दूसरे अनुव्यवसाय की आवश्यकता होती है। बुद्धि की योग्यता देखकर अपने आप दो-चार कक्ष्याओं (कोटियों Stages) के बाद विश्राम हो जाता है। अन्तिम व्यवसाय अज्ञात ही रहता है। बस, अनवस्था वहीं समाप्त हो गई (अभ्यंकर)।

प्रस्तुत प्रसंग में अनवस्था का रूप यह है कि एक भेद से दूसरे भेद का अनुमान करते हैं, दूसरे भेद से तीसरे भेद का, इत्यादि। अनुमान का रूप ऊपर देख ही चुके हैं। इस अनवस्था का निराकरण भी दो तरह से हो सकता है—या तो अनुमान को कहीं विश्राम कराना है या सिद्धवाक्य मानें कि संसार में भेद है ही नहीं।

(१) बुद्धि की सामर्थ्य से कहीं न कहीं रुक ही जाना पड़ेगा। दृष्टान्त के रूप में तो पूर्वपक्षी प्रथम भेद को मानते हैं न ? उसका तो विघात (विध्वंस) नहीं करते ? तब तो बड़ा आनन्द है ! कम-से-कम दृष्टान्त के रूप में भी मानने का अर्थ है कि पूर्वपक्षी कुछ भेदों को तो स्वीकार करते हैं। इससे हमारे पक्ष का ही समर्थन हुआ। हम पर दोषारोपण करने करने क्या आये कि

स्वयं हमारे पक्ष को ही स्वीकार करना पड़ा। तिल की खल्ली माँगने आये और ढेर-सा तेल देना पड़ा।

(२) यदि पहले से ही दुराग्रह हो कि भेद है ही नहीं तब तो और भी अच्छा ! भेद अस्वीकार करने पर दृष्टान्त के रूप में दिया गया प्रथम भेद भी नहीं सिद्ध होगा। ऐसी स्थिति में अनुमान के मूल पर ही कुठाराघात हो जायगा। अनुमान के आधार पर टिकी हुई अनवस्था का तो क्या पूछना ? जिस अनुमान के आधार पर अनवस्था चलती है उसी अनुमान का वह खण्डन कर देती है। कन्या का विवाह हुआ पर वर ही मर गये।

इसलिए अनवस्था मानने पर भी हमारे भेदवाद की कुछ भी हानि नहीं हुई। ऐसी लाखों अनवस्थायें रहें तो भी हम गजनिमीलिकान्याय से अपना काम करते रहेंगे।

(५. अनुमान-प्रमाण से भेद की सिद्धि)

अनुमानेनापि भेदोऽवसीयते। परमेश्वरो जीवाद् भिन्नः। तं प्रति सेव्यत्वात्। यो यं प्रति सेव्यः स तस्माद् भिन्नः। यथा भृत्याद्राजा।

न हि सुखं मे स्याद् दुःखं मे न मनागपि—इति पुरुषार्थमर्थयमानाः पुरुषाः स्थपतिपदं कामयमानाः सत्कारभाजो भवेयुः। प्रत्युत सर्वानर्थभाजनं भवन्ति। यः स्वस्यात्मनो हीनत्वं परस्य गुणोत्कर्षं च कथयति स स्तुत्यः प्रीतः स्तावकस्य तस्याभीष्टं प्रयच्छति। तदाह—

३. घातयन्ति हि राजानो राजाहमिति वादिनः।
ददत्यखिलमिष्टं च स्वगुणोत्कर्षवादिनाम्॥ इति।

अनुमान-प्रमाण से भी भेद की सिद्धि होती है। [अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार की है]—परमेश्वर जीव से भिन्न है (प्रतिज्ञा + साध्य), क्योंकि उसके लिए परमेश्वर सेव्य है (हेतु), जो जिसके लिए सेव्य है वह उससे भिन्न है जैसे भृत्य से राजा [भिन्न है] (दृष्टान्त)।

'मुझे केवल सुख ही मिले, दुःख थोड़ा भी नहीं हो' इस प्रकार के पुरुषार्थ की कामना करते हुए (मुमुक्षु) पुरुष यदि संसार (स्थ) के स्वामी परमेश्वर का पद ही प्राप्त करना चाहें तो उनका सत्कार नहीं होता (ईश्वर उन पर कृपा

प्रदर्शित नहीं करते); यही नहीं, वे सब प्रकार के अनिष्ट प्राप्त करते हैं। दूसरी ओर यदि कोई अपने आपकी हीनता तथा दूसरों के गुणों के माहात्म्य का वर्णन करता है उस स्तुति करने वाले भक्त की, स्तवनीय परमात्मा प्रसन्न होकर सारी कामनायें पूरी करता है। [यदि भक्त परमेश्वर की स्तुति करता है तो वे प्रसन्न होते हैं, यदि स्वयं परमेश्वर बनना चाहे (जैसे अद्वैत पक्ष में होता है) तो वे रुष्ट होकर सारे अभीष्ट कामों को नष्ट कर देते हैं। इसलिए जीव और ईश्वर में अभेद मानना ईश्वर की कोपाग्नि में घी डालना है।]

ऐसा ही कहा है—'राजा लोग उन सबों का विनाश कर डालते हैं जो अपने को राजा घोषित करते हैं। उधर अपने गुणों के उत्कर्ष का वर्णन करनेवाले लोगों की सारी कामनायें वे पूर्ण करते हैं।' [इस लौकिक उदाहरण से अनुमान होता है कि स्वामी से अभेद स्थापित करनेवाले पर स्वामी अप्रसन्न होते हैं तथा अपने से भेद रखने पर प्रसन्न होते हैं।]

एवं च परमेश्वराभेदतृष्णया विष्णोर्गुणोत्कर्षस्य मृगतृष्णिकासमत्वाभिधानं विपुलकदलीफललिप्सया जिह्वाच्छेदनमनुहरति। एतादृशविष्णुविद्वेषणादन्धतमसप्रवेशप्रसङ्गात्। तदेतत्प्रतिपादितं मध्यमन्दिरेण महाभारततात्पर्यनिर्णये—

४. अनादिद्वेषिणो दैत्या विष्णौ द्वेषो विवर्धितः।
तमस्यन्धे पातयति दैत्यानन्ते विनिश्चयात्॥
(म० भा० ता० १।११) इति।

इस प्रकार परमेश्वर से अभिन्न (एक) होने के लोभ से [अद्वैतवेदान्ती लोग ईश्वर को निर्गुण मानकर] विष्णु भगवान् के गुणों के उत्कर्ष को मृगतृष्णा (Mirage) के समान भ्रान्त (मायामय) कहते हैं। यह कहना वैसा ही है जैसे कोई केले के फलों की इच्छा से अपनी जीभ ही कटवा ले। [इनमें कार्यकारण सम्बन्ध नहीं है। बल्कि जीभ कट जाने पर केले के फलों का कोई उपयोग ही नहीं है। उसी तरह ईश्वर को निर्गुण मानने पर उनसे मिलने का कोई उपयोग ही नहीं।] ऐसे विष्णु भगवान् को अप्रसन्न करने पर [उनसे एकाकार होने की धृष्टता करने से] अन्धतमस (नरक) में ही प्रवेश करना पड़ेगा। इसका प्रतिपादन मध्यमन्दिर (पूर्णप्रज्ञ) ने अपने ग्रन्थ महाभारत-तात्पर्य-निर्णय में किया है—'दैत्यगण विष्णु से अनादि काल से (From time immemorial) द्वेष रखते आ रहे हैं, विष्णु में भी उनके प्रति अत्यधिक

द्वेष बढ़ता रहा है। इसलिए वे दैत्यों को अन्त में निश्चित रूप से निविड़ अन्धकार (नरक) में गिराते हैं।' (म० भा० ता० १।१११)

विशेष—मध्यमन्दिर मध्यगेह के पुत्र थे। इन्हीं का नाम आनन्दतीर्थ था तथा पूर्णप्रज्ञाचार्य भी ये ही थे। इनका समय ११७० ई० है। इन्होंने द्वैतवाद के सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए महाभारत-तात्पर्य निर्णय नामक ग्रन्थ लिखा था जिसकी तीन टीकायें हुईं—जनार्दन भट्ट कृत (१३२० ई०), वादिराज कृत तथा विट्ठलसूनु कृत। महाभारततात्पर्यनिर्णय में ही ग्रन्थकार के विषय में लिखा है—

आनन्दतीर्थाख्यमुनिः सुपूर्णप्रज्ञाभिधो ग्रन्थमिमं चकार।
नारायणेनाभिहितो बदर्यां तस्यैव शिष्यो जगदेकभर्तुः॥ (३२।१७०)

(६. ईश्वर की सेवा के नियम)

सा च सेवा अङ्कन-नामकरण-भजनभेदात् त्रिविधा। तत्राङ्कनं नारायणायुधादीनां तद्रूपस्मरणार्थमपेक्षितार्थसिद्ध्यर्थं च। तथा च शाकल्यसंहितापरिशिष्टम्—

५. चक्रं बिभर्त्ति पुरुषोऽभितप्तं
बलं देवानाममृतस्य विष्णोः।
स याति नाकं दुरितावधूय
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः॥

६. देवासो येन विधृतेन बाहुना
सुदर्शनेन प्रयातास्तमायन्।
येनाङ्किता मनवो लोकसृष्टिं
वितन्वन्ति ब्राह्मणास्तद्वहन्ति॥

उस सेवा के तीन भेद हैं—अंकन (Stigmatisation), नामकरण (Imposition of names) तथा भजन (worship)।

उनमें अंकन वह है जिसमें भगवान् नारायण के रूप के स्मरण के लिये या अपेक्षित लक्ष्य (मुक्ति) की सिद्धि के लिये उनके आयुध (अस्त्र-शस्त्र) आदि का चिह्न [शरीर के किसी भाग पर अंकित कर दिया जाय।] शाकल्य-संहिता (ऋग्वेद का संहिता-विशेष) के परिशिष्ट में ऐसी बात है—'जो पुरुष देवताओं के बलस्वरूप अमर विष्णु के अभितप्त (Burning) चक्र को धारण

करता है वह दुरितों (पापों) को नष्ट करके उस स्वर्ग में प्रवेश करता है— जहाँ राग से हीन संन्यासी लोग जा सकते हैं ॥ ५ ॥ बाहु में जिस सुदर्शन चक्र को धारण करके देवता लोग चलते-चलते उस स्वर्ग लोक में पहुँचे; जिस चक्र से अंकित होकर मनुओं ने संसार की सृष्टि की थी, उसी चक्र को ब्राह्मण लोग धारण करते हैं ॥ ६ ॥'

विशेष—इन दोनों श्लोकों तथा अगले श्लोक में वैदिक छन्द का प्रयोग है, ऋग्वेद की एक संहिता शाकल्यसंहिता के परिशिष्ट के नाम से इनका उद्धरण दिया गया है। दुरिता = दुरितम् द्वितीया एकवचन में 'डा' आदेश हो गया है। ब्रह्माण्डपुराण में अंकन के विषय में कहा गया है—

कृत्वा धातुमयीं मुद्रां तापयित्वा स्वकां तनुम् ।
चक्रादिचिह्नितां भूप धारयेद्वैष्णवो नरः ॥

नारदपुराण में चक्रधारण के विषय में यह लिखा है—

द्वादशारं तु षट्कोणं वलयत्रयसंयुतम् ।
हरेः सुदर्शनं तप्तं धारयेत्तद्विचक्षणः ॥

यह सुदर्शन देवताओं को बल देता है; उसी से देवताओं ने स्वर्ग पर विजय पायी, मनुओं ने संसार की सृष्टि की।

७. तद्विष्णोः परमं पदं येन गच्छन्ति लाञ्छिताः ।
उरुक्रमस्य चिह्नैरङ्किता लोके सुभगा भवामः ॥ इति ।

'अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते श्रितास इद्वहन्तस्तत्समासत' (तै० आ० १।११) इति तैत्तिरीयकोपनिषच्च । स्थानविशेषश्चाग्नेयपुराणे प्रदर्शितः —

८. दक्षिणे तु करे विप्रो बिभृयाच्च सुदर्शनम् ।
सव्येन शङ्खं बिभृयादिति ब्रह्मविदो विदुः ॥

'विष्णु का वह पद सबसे अच्छा है (वैकुण्ठ) जिससे होकर अंकित पुरुष पार करते हैं। बड़े पग (Step) वाले विष्णु के चिह्न से अंकित होकर हमलोग ससार में ऐश्वर्ययुक्त बनें ॥ ७ ॥' तैत्तिरीयक उपनिषद् में भी कहा है— 'जिसका शरीर तप्त (अंकित) नहीं है, वह पुरुष कच्चा (आमः) है, उसे (स्वर्ग को) नहीं पाता। उसको धारण करने वाले भक्त (श्रितासः) गण ही उसे प्राप्त करते हैं।' (तै० आ० १।११)। [अंकन करने के लिये] विशेष स्थानों का उल्लेख अग्नि-पुराण में किया गया है—'ब्राह्मण दाहिने हाथ में सुदर्शन चक्र

धारण करे, शंख की छाप बायें हाथ में धारण करे, ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग मानते हैं।'

अन्यत्र चक्रधारणे मन्त्रविशेषश्च दर्शितः—

९. सुदर्शन महाज्वाल कोटिसूर्यसमप्रभ !।
अज्ञानान्धस्य मे नित्यं विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय ॥
१०. त्वं पुरा सागरोत्पन्नो विष्णुना विधृतः करे।
नमितः सर्वदेवैश्च पाञ्चजन्य नमोऽस्तु ते ॥ इति।

दूसरी जगहों में चक्रधारण के विशेष मन्त्र भी दिये गये हैं—'हे सुदर्शन, तुम बहुत ज्वालाओं से युक्त हो, करोड़ों सूर्य के बराबर तुम्हारी ज्योति है, मैं अज्ञान के कारण अंधा हूँ, मुझे विष्णु का मार्ग प्रतिदिन दिखलाओ ॥ ९ ॥' 'तुम पहले समुद्र में उत्पन्न हुए थे, विष्णु ने तुम्हें अपने हाथ में धारण किया था, सभी देवताओं ने तुम्हें प्रणाम किया है, हे पांचजन्य शंख, तुम्हें प्रणाम करता हूँ ॥ १० ॥'

(६ क. नामकरण और भजन)

नामकरणं पुत्रादीनां केशवादिनाम्ना व्यवहारः, सर्वदा तन्नामानुस्मरणार्थम्। भजनं दशविधं—वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायः, कायेन दानं परित्राणं परिरक्षणं, मनसा दया स्पृहा श्रद्धा चेति। अत्रैकैकं निष्पाद्य नारायणे समर्पणं भजनम्। तदुक्तम्—

अङ्कनं नामकरणं भजनं दशधा च तत्। इति।

एवं ज्ञेयत्वादिनापि भेदोऽनुमातव्यः।

नामकरण का अभिप्राय है अपने पुत्र आदि का केशव आदि (वैष्णव) नाम रख कर पुकारना जिससे भगवान् के नामों का अनुस्मरण होता रहे। भजन दस प्रकार का है—वाणी के द्वारा सत्य, हित, प्रिय वचन तथा स्वाध्याय; शरीर से दान, बचाव और रक्षा करना; मन से दया, स्पृहा (इच्छा) और श्रद्धा। इनमें एक-एक की प्राप्ति कर लेने पर उसे नारायण को समर्पण कर देना ही भजन है। ऐसा ही कहा है—अंकन, नामकरण तथा दस प्रकार के भजन—यही सेवा है।

[इस प्रकार सेव्य-हेतु से भेद का अनुमान किया गया]। वैसे ही ज्ञेयत्व आदि हेतुओं के द्वारा भी भेद का अनुमान हो सकता है।

विशेष—ज्ञेयत्व के द्वारा भेद का अनुमान इस प्रकार होगा—
परमात्मा जीव से भिन्न है क्योंकि जीव के द्वारा वह ज्ञेय है,
जो जिसके द्वारा ज्ञेय होता है वह उससे भिन्न है जैसे जीव से घट।

(७. श्रुति-प्रमाण से भेद की सिद्धि)

तथा श्रुत्यापि भेदोऽवगन्तव्यः। 'सत्यमेनमनु विश्वे मदन्ति, रातिं देवस्य गृणतो मघोनः।' 'सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो, यज्ञेषु विप्रराज्ये।' 'सत्य आत्मा, सत्यो जीवः, सत्यं भिदा सत्यं भिदा सत्यं भिदा, मैवारुवण्यो मैवारुवण्यो मैवारुवण्य' इति मोक्षानन्दभेदप्रतिपादकश्रुतिभ्यः।

उसी तरह श्रुति-प्रमाण (Revelation) से भी भेद की सत्ता जानी जा सकती है। 'यह सच है कि स्तुति करने वाले धनयुक्त (अथवा इन्द्र) देव के इस मित्र (राति = दान) से सभी लोग प्रसन्न होते हैं। [इन्द्र के मित्र विष्णु से सभी प्रसन्न होते हैं अर्थात् विष्णु और लोक में पार्थक्य है।]' 'उन (विष्णु भगवान्) की वह महिमा सच है, मैं ब्राह्मणों के राज्य-रूपी यज्ञों में सुख (शवः) के उद्देश्य से उनकी प्रार्थना करता हूँ।' [√गृ = प्रार्थना करना (क्र्यादि. परस्मै०)।] 'आत्मा (परमात्मा) सत्य है, जीव सत्य है, उन दोनों का भेद भी सत्य है, भेद सत्य है, भेद सत्य है, [परमात्मा] दुष्टों के द्वारा (आरुभिः) सेवनीय (वन्यः) नहीं है (मा एव), दुष्टों के द्वारा सेवनीय नहीं है, दुष्टों के द्वारा सेवनीय नहीं है।' इन श्रुतियों में मोक्ष और आनन्द में भेद का प्रतिपादन किया गया है। [आरु—अर = दोष, अर + उण् (मतुप् के अर्थ में) = आरु = दोषयुक्त।]

११. इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥(गी० १४।२)

'जगद्व्यापारवर्जम्'; 'प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च' (ब्र० सू० ४।४।१७-१८) इत्यादिभ्यश्च। न च 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३।२।९) इति श्रुतिबलाज्जीवस्य पारमैश्वर्यं शक्यशङ्कम्।

'संपूज्य ब्राह्मणं भक्त्या शूद्रोऽपि ब्राह्मणो भवेत्'—इतिवद् बृंहितो भवतीत्यर्थपरत्वात् ।

[गीता में कृष्ण कहते हैं—] 'इस ज्ञान (परमात्मा के ज्ञान) को पाकर मनुष्य मेरे समान हो जाते हैं, वे सृष्टि होने पर भी उत्पन्न नहीं होते और प्रलय (विनाशकाल) में भी दुःखों का अनुभव नहीं करते' (गीता० १४।२) [इसमें मोक्ष के बाद भी भेद ही रहता है क्योंकि ज्ञान पाकर मनुष्य ईश्वर के समान हो जाता है। ईश्वर ही नहीं बन जाता।] 'संसार के व्यापारों (नियमन, सृष्टि आदि) को छोड़कर [मुक्त पुरुष सभी कार्य कर सकता है] क्योंकि जीव का प्रकरण (प्रसंग) इतना ही है, तथा जीवों को संसार के व्यापार से दूर रखा गया है (उनमें वह सामर्थ्य नहीं है, ब्र० सू० ४।४।१७-१८)—इस श्रुतिवाक्यों में भेद का ही वर्णन है। 'ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है' (मु० ३।२।९) इस श्रुति के बल से ऐसी शंका न करें कि जीव ही परमेश्वर है क्योंकि इसमें केवल प्रशंसा की गई है, (तथ्य का निरूपण नहीं) जैसा कि इस श्लोकार्ध में अर्थ है—'भक्ति से ब्राह्मण की पूजा करने पर शूद्र भी ब्राह्मण ही हो जाता है।' [इस एकावस्था-प्रतिपादक श्रुति को अतिशयोक्तिपूर्ण मान लें।]

(८. माया का अर्थ—द्वैत का प्रतिपादन)

ननु—

१२. प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः ।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥
(माण्डूक्यकारिका १।१७)

इति वचनाद् द्वैतस्य कल्पितत्वमवगम्यत इति चेत्सत्यम् । भावमनभिसंधायाभिधानात् । तथा हि—यद्ययमुत्पद्येत तर्हि निवर्तेत न संशयः । तस्मादनादिरेवायं प्रकृष्टः पञ्चविधो भेद-प्रपञ्चः । न चायमविद्यमानः । मायामात्रत्वात् । मायेति भगवदिच्छोच्यते ।

[माण्डूक्य कारिका (अद्वैतग्रन्थ) में कहा है कि] यदि प्रपञ्च की सत्ता वास्तव में है तो वह नष्ट भी होगा, इसमें सन्देह नहीं। यह द्वैत (Difference) केवल माया है, वास्तव में तो अद्वैत ही सत्य है (मा० का० १।१७)—इस वाक्य से कोई शंका कर सकता है कि द्वैत (भेदवाद) काल्पनिक है। हाँ, ठीक

है, लेकिन बिना भाव को सोचे-समझे कहने का यह फल है [कि शंका दिखलाई पड़ती है।] इसे समझने की चेष्टा करें—यदि यह (प्रपञ्च) उत्पन्न होता तभी इसका विनाश होता इसमें सन्देह नहीं। इससे पता लगता है कि यह प्रकृष्ट भेद प्रपञ्च (भेदात्मक संसार) पाँच प्रकार का है। इसकी सत्ता नहीं है, ऐसी बात नहीं, क्योंकि यह मायामात्र है। माया का अर्थ है भगवान् की इच्छा।

विशेष—माण्डूक्य कारिका की प्रथम पंक्ति से उस स्थान में यह अनुमान लगाया गया है कि प्रपञ्च माया है, काल्पनिक है, जब कि मध्व इससे दूसरा ही निष्कर्ष निकालते हैं कि यह प्रपञ्च अनादि है। यह माया अर्थात् ईश्वर की इच्छा ही है। महाभारततात्पर्यनिर्णय में कहा गया है—

पञ्चभेदांश्च विज्ञाय विष्णोः स्वाभेदमेव च।
निर्दोषत्वं गुणोद्रेकं ज्ञात्वा मुक्तिर्न चान्यथा ॥ (१।८२)।

अब पौराणिक वाक्यों का उद्धरण देकर माया की व्याख्या की जायगी।

१३. महामायेत्यविद्येति नियतिर्मोहिनीति च।
प्रकृतिर्वासनेत्येव तवेच्छानन्तकथ्यते ॥
१४. प्रकृतिः प्रकृष्टकरणाद्वासना वासयेद्यतः।
अ इत्युक्तो हरिस्तस्य मायाविद्येति संज्ञिता ॥
१५. मायेत्युक्ता प्रकृष्टत्वात्प्रकृष्टे हि मयाभिधा।
विष्णोः प्रज्ञप्तिरेवैका शब्दैरेतैरुदीर्यते ॥
१६. प्रज्ञप्तिरूपो हि हरिः सा च स्वानन्दलक्षणा।
इत्यादिवचननिचयप्रामाण्यबलात्।

हे अनन्त ईश्वर ! आपकी इच्छा को ही महामाया, अविद्या, नियति, मोहिनी, प्रकृति और वासना भी कहते हैं ॥ १३ ॥ अधिक उत्पन्न होने के कारण इसे प्रकृति कहते हैं, विचारों को पैदा करने के कारण इसे वासना कहते हैं। 'अ' का अर्थ हरि है, उनकी माया (इच्छा) को अविद्या नाम देते हैं ॥ १४ ॥ प्रकृष्ट (बड़ा) होने के कारण इसे माया कहते हैं क्योंकि 'मय' का अर्थ 'बड़ा' होता है। इन शब्दों से एकमात्र विष्णु की प्रज्ञा (Excellent Knowledge) का ही बोध होता है ॥ १५ ॥ हरि विशिष्ट ज्ञान के स्वरूप हैं, उस विशिष्ट ज्ञान (प्रज्ञा) का लक्षण है निरन्तर (अपने आप) आनन्द-प्राप्ति ॥ १६ ॥—इन वचनों के प्रमाण से [माया का अर्थ भगवान् की इच्छा सूचित होता है]।

सैव प्रज्ञा मानत्राणकर्त्री च यस्य तन्मायामात्रम्। ततश्च परमेश्वरेण ज्ञातत्वाद्रक्षितत्वाच्च न द्वैतं भ्रान्तिकल्पितम्। न हीश्वरे सर्वस्य भ्रान्तिः संभवति। विशेषादर्शननिबन्धनत्वाद् भ्रान्तेः।

तर्हि तद्व्यपदेशः कथमित्यत्रोत्तरमद्वैतं परमार्थत इति। परमार्थत इति परमार्थापेक्षया। तेन सर्वस्मादुत्तमस्य विष्णुतत्त्वस्य समभ्यधिकशून्यत्वमुक्तं भवति।

[ऊपर प्रपंच को मायामात्र कहा गया है। अब मायामात्र शब्द का अर्थ करते हैं—] ईश्वर की उपर्युक्त प्रज्ञा (इच्छा, माया, बुद्धि) जिसको मापे (Measure out) और जिसकी रक्षा करे वही है मायामात्र (माया + √मा + √त्रा)। अतः यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर इस प्रपञ्च को जानते हैं तथा रक्षा भी करते हैं (अर्थात् प्रपञ्च सत्य है, तभी तो परमेश्वर इसे जानते हैं तथा रक्षा करते हैं)। इसलिये द्वैत भ्रान्ति (भ्रम Illusion) के द्वारा कल्पित नहीं है (सत्य है)। ईश्वर को भी सभी पदार्थों के विषय में भ्रान्ति होगी— यह सम्भव नहीं हैं क्योंकि भ्रान्ति विशेष (भेद) के अ-दर्शन पर निर्भर करती है। [ईश्वर के लिये कोई भी पदार्थ अदृश्य नहीं—वे सब कुछ देखते हैं इसलिये उन्हें भ्रान्ति नहीं होगी।]

फिर [माण्डूक्य कारिका में] उसका उल्लेख ही क्यों हुआ ? [ईश्वर के लिये 'अद्वैतः सर्वभावानाम्' आदि श्लोकों में अद्वैत शब्द से क्यों अभिहित किया गया है ?] इसका उत्तर है कि परमार्थ से अद्वैत तत्त्व होता है। 'परमार्थ से' का मतलब है परमार्थ की अपेक्षा रखने पर। इसलिये अभिप्राय यही है कि सबों से ऊँचा विष्णु-तत्त्व है, कोई न तो उसके समान है, न उससे ऊँचा।

विशेष—अद्वैत की खींच-तान खूब ही की गई है। तत्त्व परमार्थतः अद्वैत है अर्थात् परम (सबसे ऊँचे) अर्थ (= विष्णु) को लक्षित करने पर तत्त्व अद्वैत ही है। विष्णु सबसे ऊँचा है, एक ही तत्त्व है क्योंकि उतना ऊँचा कोई तत्त्व नहीं, न तो उसकी कोई बराबरी कर सकता न उससे बढ़ सकता है। अतः अद्वैत का अर्थ है सबसे ऊँचा, न कि एकमात्र तत्त्व।

तथा च परमा श्रुतिः—

१७. जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा।
जीवभेदो मिथश्चैव जडजीवभिदा तथा॥

१८. मिथश्च जडभेदो यः प्रपञ्चो भेदपञ्चकः।
सोऽयं सत्योऽप्यनादिश्च सादिश्चेन्नाशमाप्नुयात् ॥
१९. न च नाशं प्रयात्येष न चासौ भ्रान्तिकल्पितः।
कल्पितश्चेन्निवर्तेत न चासौ विनिवर्तते ॥
२०. द्वैतं न विद्यत इति तस्मादज्ञानिनां मतम्।
मतं हि ज्ञानिनामेतन्मितं त्रातं हि विष्णुना ॥
तस्मान्मात्रमिति प्रोक्तं परमो हरिरेव तु। इत्यादि।

तस्माद्विष्णोः सर्वोत्कर्ष एव तात्पर्यं सर्वागमानाम्।

इसीलिए परम श्रुति यही है—'जीव और ईश्वर में भेद है, जड़ और ईश्वर में भेद है, जीवों में परस्पर भेद है, जड़ और जीवों में भेद है, जड़ों में भी परस्पर भेद है—इस प्रकार संसार (प्रपंच) में पाँच प्रकार के भेद हैं। यही भेद सच्चा है और अनादिकाल से चला आ रहा है। यदि इसका कहीं आरंभ हुआ होता तो नष्ट भी हो जाता ॥ १८ ॥ किन्तु यह नष्ट (समाप्त) नहीं होता, यह भ्रान्ति से भी कल्पित नहीं है। यदि कल्पित होता तो इसकी समाप्ति भी हो सकती। लेकिन इसकी समाप्ति नहीं होती ॥ १९ ॥ इसलिए 'द्वैत की सत्ता नहीं है' ऐसा सिद्धान्त अज्ञानियों का है। ज्ञानियों का तो यह मत है कि इस प्रपंच की मिति (नापा जाना) तथा रक्षा विष्णु के द्वारा होती है इसलिए इसे 'मात्र' कहते हैं, हरि ही सबसे ऊँचे हैं।' इत्यादि।

अतएव सभी आगमों का तात्पर्य यही है कि विष्णु ही सबसे ऊँचे हैं।

(९. ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता के अन्य प्रमाण)

एतदेवाभिसंधायाभिहितं भगवता—

२१. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
२२. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
२३. यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

२४. यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥
२५. इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥
(गी० १५।१६-२०) इति ।

इन्हीं बातों पर ध्यान रखते हुए भगवान् कृष्ण ने कहा है—'संसार में ये ही दो पुरुष हैं, क्षर और अक्षर। ये सभी पदार्थ (Beings) क्षर (Perishable) हैं, वह कूटस्थ अर्थात् अविकृत पदार्थ ही अक्षर (Imperishable) कहा जाता है[1] ॥ २१ ॥ इनसे पृथक् एक दूसरा पुरुष है जो परमात्मा के नाम से पुकारा जाता है। वह अव्यय (Undecaying) ईश्वर है जो तीनों लोकों को अपने में समेट करके ही धारण करता है ॥ २२ ॥

[कृष्ण आगे कहते हैं—] 'चूँकि मैं क्षर-पदार्थ के ऊपर हूँ तथा अक्षर से भी ऊँचा हूँ, इसलिये लोक में और वेद में भी पुरुषोत्तम के रूप में विख्यात हूँ ॥ २३ ॥ संमोह (Infatuation) से रहित होकर जो व्यक्ति मुझे पुरुषोत्तम के रूप में जानता है; हे अर्जुन, वह सब कुछ जान जाता है तथा सब प्रकार से मुझे भजता है ॥ २४ ॥ हे निष्पाप (अर्जुन), इस प्रकार मैंने सबसे अधिक गोपनीय शास्त्र का वर्णन किया, हे अर्जुन, इसे जान कर मनुष्य बुद्धिमान् (आन्तरिक ज्ञान सम्पन्न) तथा कृतकृत्य (अपने कार्यों को समाप्त कर देने वाला) हो जाता है।' (गीता १५।१६-२०)।

(१०. मोक्ष ईश्वर के प्रसाद से ही मिलता है)

महावराहेऽपि—
२६. मुख्यं च सर्ववेदानां तात्पर्यं श्रीपतौ परे ।
उत्कर्षे तु तदन्यत्र तात्पर्यं स्यादवान्तरम् ॥ इति ।

---

१. तुल०—ब्रह्मा शिवः सुरेशाद्याः शरीरक्षरणात्क्षराः ।
लक्ष्मीरक्षरदेहत्वादक्षरा तत्परो हरिः ॥
ब्रह्मा, शिव, इन्द्र आदि क्षर हैं क्योंकि इनके शरीर नष्ट होते हैं। अक्षर देह होने के कारण लक्ष्मी अक्षरा है। इन दोनों चेतनों से भिन्न हरि हैं। लोक= संसार या पर्यालोचना करने पर।

युक्तं च विष्णोः सर्वोत्कर्षे महातात्पर्यम्। मोक्षो हि सर्वपुरुषार्थोत्तमः।

२७. धर्मार्थकामाः सर्वेऽपि न नित्या मोक्ष एव हि।
नित्यस्तस्मात्तदर्थाय यतेत मतिमान्नरः॥
इति भाल्लवेयश्रुतेः।

महावराह (पुराण) में भी कहा गया है कि सभी वेदों का मुख्य तात्पर्य परम श्रीपति (विष्णु) में ही स्थित है, उनसे भिन्न किसी देवता के गुणों में तात्पर्य होना तो गौण (Subordinate purport) है॥ २६॥ यह युक्तिसंगत है कि विष्णु के उत्कर्ष का वर्णन ही महान् (मुख्य) तात्पर्य [उन वेदों का] है। मोक्ष ही सभी पुरुषार्थों में ऊँचा है जैसा कि भाल्लवेय उपनिषद् में कहा गया है—'धर्म, अर्थ और काम ये सब कोई भी नित्य नहीं हैं; नित्य कोई है तो मोक्ष—इसलिये उसी की प्राप्ति के लिये बुद्धिमानों को प्रयत्न करना चाहिए।'

मोक्षश्च विष्णुप्रसादमन्तरेण न लभ्यते।

२८. यस्य प्रसादात्परमार्त्तिरूपा-
दस्मात्संसारान्मुच्यते नापरेण।
नारायणोऽसौ परमो विचिन्त्यो
मुमुक्षुभिः कर्मपाशादमुष्मात्॥
इति नारायणश्रुतेः।

२९. तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं
धर्मार्थकामैरलमल्पकास्ते।
समाश्रिताद् ब्रह्मतरोरनन्तात्
निःसंशयं मुक्तिफलं प्रयान्ति॥
(वि० पु० १।१७।९१)

इति विष्णुपुराणोक्तेश्च। प्रसादश्च गुणोत्कर्षज्ञानादेव नाभेदज्ञानादित्युक्तम्।

विष्णु की कृपा के बिना मोक्ष नहीं मिलता जैसा कि नारायण उपनिषद् में कहा गया है—'जिनकी कृपा पाकर परम दुःख-रूपी इस संसार से लोग मुक्त

हो जाते हैं, दूसरे लोग (बिना कृपा पाये) नहीं। इस कर्म के जाल से मुक्त होने की इच्छा रखने वालों को उन परम नारायण का चिन्तन (ध्यान) करना चाहिए।' ॥ २८ ॥ विष्णुपुराण में भी कहा गया है—'उन भगवान् (विष्णु) के प्रसन्न हो जाने पर इस लोक में कौन पदार्थ दुर्लभ है ? धर्म, अर्थ और काम की प्रार्थना करना व्यर्थ है क्योंकि वे बहुत थोड़े हैं (अस्थायी हैं)। अनन्त ब्रह्मवृक्ष पर आश्रित रह कर [मुक्ति के इच्छुक लोग] निःसन्देह मुक्ति रूपी फल प्राप्त करते हैं।' ॥ २९ ॥ यह कहा गया है कि गुणों के उत्कर्ष का ज्ञान होने से ही [भगवान् की] कृपा प्राप्त होती है, अभेद का ज्ञान होने से नहीं (जैसा कि अद्वैतवादी कहा करते हैं)।

(११. 'तत्त्वमसि' का अर्थ)

न च तत्त्वमस्यादितादात्म्यव्याकोपः। श्रुतितात्पर्यापरिज्ञानविजृम्भणात्।

३०. आह नित्यपरोक्षं तु त्वच्छब्दो ह्यविशेषतः।
त्वंशब्दश्चापरोक्षार्थं तयोरैक्यं कथं भवेत् ॥
३१. आदित्यो यूप इतिवत्साद‍ृश्यार्था तु सा श्रुतिः। इति।

तथा च परमा श्रुतिः—

३२. जीवस्य परमैक्यं तु बुद्धिसारूप्यमेव तु।
एकस्थाननिवेशो वा व्यक्तिस्थानमपेक्ष्य सः॥
३३. न स्वरूपैकता तस्य युक्तस्यापि विरूपतः।
स्वातन्त्र्यपूर्णतेऽल्पत्वपारतन्त्र्ये विरूपते ॥ इति।

ऐसा कहना ठीक नहीं कि 'तत्त्वमसि' (वह तुम्हीं हो) इस वाक्य में स्थित [जीव और ईश्वर के बीच] तादात्म्य-सम्बन्ध से कोई विरोध है क्योंकि ऐसा कहना वेदों के तात्पर्य को न जानकर किया गया बकवाद (Babbling) है।

[प्रश्न यह है कि] 'तत्' शब्द सामान्य-रूप से नित्य-परोक्ष पदार्थ का बोध कराता है, दूसरी ओर, 'त्वम्' शब्द प्रत्यक्ष वस्तु का बोधक है दोनों में एकता कैसे हो सकती है ? [किन्तु उत्तर यही होगा कि] इस श्रुतिवाक्य में 'आदित्य ही यूप है' (= आदित्य के समान यूप है)—इस वाक्य की तरह ही [लक्षणा] से साद‍ृश्य का अर्थ है। [जिस प्रकार आदित्य और यूप (यज्ञ का खूँटा) में एकता असम्भव देख कर साद‍ृश्य—अर्थ की कल्पना होती है उसी

प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' में एकता असम्भव होने से इस श्रुति में जीव को ब्रह्म का सरूप (सदृश) मानने का तात्पर्य लिया जाता है ।]

जैसा परम श्रुति में कहा गया है—'जीव की परम (Ultimate) एकता का अर्थ है बुद्धि (ज्ञान) में समरूप (Similar) हो जाना [यद्यपि परमात्मा के ज्ञान के अनुसार जीव का ज्ञान होने के कारण परमात्मा जो जो जान सकता है वही जीव नहीं जान सकता], या एक ही स्थान पर रहना (वैकुण्ठ लोक में जीव और परमात्मा का एक साथ रहना ही जीव की एकता है), किन्तु यह निवास मूलस्थान के व्यंजक (वैकुण्ठ लोक) को ही ध्यान में रखते हुए कहा गया है । ['एक साथ निवास करना' कहने पर बद्ध जीवों के साथ भी परमात्मा का रहना सम्भव है, पर ऐसी बात नहीं । मूलस्थान अर्थात् वैकुण्ठलोक में ही एक स्थान पर रहने का अभिप्राय है इसीलिए 'व्यक्ति स्थान' का उल्लेख किया गया है ।]' ॥ ३२ ॥

'जीव [बद्ध तो क्या,] यदि मुक्त हो जाय तब भी विरुद्ध धर्म होने के कारण (विरूपतः) ईश्वर से स्वरूप में एक नहीं हो सकता । उन दोनों में विरूपतायें यही हैं—ईश्वर में स्वतन्त्रता और पूर्णता है जब कि जीव में अल्पता (अणुत्व) और परतन्त्रता है ॥ ३३ ॥'

(११ क. तत्त्वमसि का दूसरा अर्थ)

अथवा तत्त्वमसीत्यत्र स एवात्मा स्वातन्त्र्यादिगुणोपेतत्वात् । अतत्त्वमसि त्वं तत्र भवसि तद्रहितत्वादित्यैकत्वमतिशयेन निराकृतम् । तदाह—

अतत्त्वमिति वा छेदस्तेनैक्यं सुनिराकृतम् । इति ।

तस्माद् दृष्टान्तनवकेऽपि 'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धः' (छा० ६।८।३) इत्यादिना भेद एव दृष्टान्ताभिधानान्नायमभेदोपदेश इति तत्त्ववादरहस्यम् ।

[अब 'आत्मा तत्त्वमसि' की व्याख्या दूसरे प्रकार से करने के लिए इसका पदच्छेद दूसरे रूप में करते हैं कि 'आत्मा + अतत् + त्वमसि' = तुम वही नहीं हो । इसके लिए वे कहते हैं—] या यह भी सम्भव है कि 'तत्त्वमसि' में [इसके पूर्व] उसी आत्मा (परमात्मा) का अर्थ हो जो स्वतन्त्रता आदि गुणों से युक्त है । [किन्तु इसके बाद] 'अतत् त्वम् असि' का अर्थ यही है कि तुम वही (परमात्मा) नहीं हो क्योंकि स्वतन्त्रता आदि वे गुण तुममें नहीं हैं ।

इसलिये दोनों की एकता का निराकरण अच्छी तरह किया गया है। जैसा कि कहते हैं—'अतत् त्वम्' के रूप में छेद करें जिससे [जीव और ईश्वर की] एकता अच्छी तरह निराकृत कर दी जाय।

[फिर भी प्रश्न हो सकता है कि छान्दोग्योपनिषद् में जहाँ से यह वाक्य लिया गया है वहाँ पर तो नव उदाहरणों से सिद्ध किया गया है कि जीव और ईश्वर एक हैं—तत् त्वम् असि। इसके उत्तर में वे कहते हैं—] इसीलिए नवों दृष्टान्तों के द्वारा, 'जैसे पक्षी सूते में बंध जाने पर' इत्यादि (छा० ६।८।२) वाक्यों से भेद का प्रतिपादन है, दृष्टान्त देकर यह समझाया गया है कि इनमें अभेद (अद्वैत) का उपदेश नहीं है—ऐसा तत्त्ववादरहस्य में कहा गया है।]

विशेष—छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में सद्विद्या का प्रकरण है। वहाँ आठवें खंड से आरम्भ करके सोलहवें खण्ड तक (कुल नव खण्डों में) प्रत्येक खण्ड में एक-एक उदाहरण देकर अंत में 'आत्मा तत्त्वमसि' निष्कर्ष निकाला गया है। वहाँ स्पष्ट रूप से ऐक्य का प्रतिपादन है, पर मध्व भेद स्वभाव के कारण दृष्टान्तों को भेद-प्रतिपादक मानते हैं। उन दृष्टान्तों का अवलोकन करें।

(१) प्रथम खण्ड में यह कहा गया कि सुषुप्ति अवस्था (Sleep) का अनुभव सभी प्राणी करते हैं। इसी अवस्था में जीव सद्रूप (Having reality as essence) ब्रह्म से संपन्न होता है। इसके लिए दृष्टान्त है—जैसे व्याध के हाथ में स्थित रस्सी में बंधा हुआ पक्षी बंधन से बचने के लिए इधर-उधर गिरकर कहीं आश्रय न पाकर फिर बन्धन में ही लौट आता है, उसी प्रकार जीव भी स्वप्न और जागृति की अवस्था में इधर-उधर गिरकर कहीं विश्रान्ति न पाने पर सुषुप्ति अवस्था में सद्रूपी ब्रह्म का ही आश्रय लेता है। मध्व कहते हैं कि इस दृष्टान्त में आश्रय-आश्रित का भेद है, यह शकुनि (पक्षी) और सूते के उदाहरण से स्पष्ट किया गया है। अतः ब्रह्म और जीव में भी भेद है। वही 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' कह कर दिखलाया गया है। [उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को यह समझाते हैं।]

(२) द्वितीय खंड में यह बतलाया गया है—'इस शरीर में जीव को आश्रय देने वाला उससे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि भेदरूप में किसी ऐसे पदार्थ की उपलब्धि नहीं होती।' इस शंका के निवारण के लिए दृष्टान्त है—जैसे भौंरे नाना प्रकार के वृक्षों के फूलों का रस लाकर एकत्र करते हैं तब मधु बनता है। उसके रस भिन्न होने पर भी यह नहीं जानते कि मैं इस फूल का रस हूँ, वह उस फूल का—इस प्रकार वे आपसी भेद नहीं जानते। वैसे ही जीव भी अपने

आश्रय को नहीं जानते। वास्तव में आश्रय तो है ही। इस प्रकार 'जहाँ भेद नहीं दिखलाई पड़ता, वहाँ भेद है ही नहीं'— इस नियम का उल्लंघन हुआ। भेद नहीं दिखलाई पड़ने पर भी भेद की सत्ता रह सकती है। फिर भी शंका हो सकती है कि चेतन पदार्थों में तो यह नियम रहेगा ही कि भेद न दिखलाई पड़ने पर भेद नहीं हो। इसका उत्तर आगे है।

(३) तृतीय खंड में कहते हैं कि जैसे गंगा, यमुना आदि नदियों की चेतन देवियाँ समुद्र में चली जाने पर यह नहीं जानतीं, कि मैं गंगा हूँ, वह यमुना, और मेघ के द्वारा समुद्र से निकल जाने पर भी अपना अस्तित्व नहीं जानतीं, मेघ से पृथ्वी पर गिरने पर भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखतीं, उसी प्रकार जीव भी जागृति-सुषुप्ति में आश्रय का ज्ञान नहीं रखता। परन्तु मध्व के अनुसार भेद तो है ही। इस प्रकार चेतन पदार्थों में भी उस नियम का उल्लंघन होता है। फिर भी शंका होगी कि ईश्वर जीव से भिन्न होने पर भी जीव को अपने अधीन कैसे रखेगा ?

(४) चतुर्थ खंड में इसका उत्तर है। वृक्ष के मूल में, बीच में, आगे में या कहीं भी आघात होने पर केवल रस का स्राव (Flow) होता है, वृक्ष ही नहीं सूख जाता। कभी-कभी तो बाहरी कारण के अभाव में भी वृक्ष सूख जाता है—यह जीव के अधीन नहीं है। जीव तो सदा सुख ही चाहता है। जैसे वृक्ष के शरीर में रहने वाला जीव ईश्वर के अधीन है वैसे ही मनुष्यादि के शरीर में रहने वाला जीव भी ईश्वराधीन ही होगा। इससे भेदवादी जीव से भिन्न, जीवाश्रय के रूप में ईश्वर की सिद्धि करते हैं। फिर भी अद्वैतवादी शंका करेंगे कि किस कारण से ईश्वर का ज्ञान जीव को नहीं होता ?

(५) पंचम खंड में इसके समाधान के लिए कहा है कि जैसे वटवृक्ष के फल को तोड़ने पर सूक्ष्म बीज दिखलाई पड़ते हैं। इन बीजों के तोड़ने पर कुछ भी दिखलाई नहीं पड़ता क्योंकि ये बीज के बीज और भी सूक्ष्म हैं। किन्तु इन सूक्ष्मतर बीजावयवों से ही विशाल वटवृक्ष उत्पन्न होता है। ईश्वर भी जीव की अपेक्षा परम सूक्ष्म होने के कारण ज्ञात नहीं होता। सूक्ष्म अवयवों (कारण) को न देखने पर भी हम वटवृक्ष (कार्य) को देख सकते हैं। वैसे ही कार्यरूप संसार को देखने पर भी कारण-स्वरूप ईश्वर को नहीं देख सकते। पर इस पर विश्वास कैसे करें ?

(६) षष्ठ खंड में उत्तर दिया गया है कि पानी में डालने पर नमक जब विलीन हो जाता है तब कहीं दिखलाई नहीं पड़ता, त्वचा (Skin) से भी स्पर्श का अनुभव नहीं होता, हाँ, जीभ से उसे जान सकते हैं। जैसे लवण के

गुण (रस) का अनुभव करने पर भी लवण दिखलाई नहीं पड़ता वैसे ही ईश्वर की सामर्थ्य का दर्शन होने पर भी ईश्वर दिखलाई नहीं पड़ते। फिर ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म ईश्वर को जानते और पाते कैसे हैं ?

(७) सप्तम खंड में कहा है कि जैसे गान्धार देश के एक धनी निवासी को चोर मिलकर हाथ पैर बाँध दें, आँखों पर पट्टी बाँध दें और सब कुछ छीन कर जंगल में छोड़ दें—उसे ऐसी अवस्था में रोते कलपते देखकर कोई दयालु पुरुष बंधन से छुड़ा दे और कह दे कि इस दिशा में गांधार देश है, चले जाओ, वह धनी भी गाँव-गाँव घूमते हुए गान्धार पहुँच जाता है; ठीक उसी प्रकार कर्मरूपी चोरों के द्वारा जीव का सारा ज्ञान छीन लिया जाता है और वह जीव शरीररूपी जंगल में छोड़ दिया जाता है, कोई कृपालु सद्गुरु उसे उपदेश देते हैं और वह श्रवण, मनन आदि साधनों से होते हुए अपनी जन्मभूमि अर्थात् भगवान् को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वृक्ष के शरीर में स्थित जीव भगवान् के अधीन है वैसे ही मनुष्य के शरीर में भी अनुमान कर लें, यह चतुर्थ खण्ड का तात्पर्य यहाँ भी कहा है। अब मनुष्य के शरीर में ही जीव की ईश्वराधीनता का अनुभव होता है इसके लिए अष्टम खण्ड में लिखते हैं।

(८) अष्टम खंड में कहा है कि मनुष्य की जब मृत्यु निकट आती है तब वाणी आदि का नाश होने से वह कुछ बोल नहीं पाता, निकट आये हुए बन्धु-बान्धवों को भी नहीं पहचानता। ईश्वराधीन होने के कारण जीव भी उसी दशा का अनुभव करता है।

(९) नवम खंड में कहा है कि जिस चोर पर राजा को सन्देह है, उसके यह कहने पर भी कि मैंने चोरी नहीं की है, राजाधिकारी लोग परीक्षा के लिए गर्म लोहा उसके हाथ पर रखते हैं। झूठ बोलने वाला चोर जल जाता है, सत्य बोलने वाला सत्य के द्वारा व्यवधान पड़ने से नहीं जलता। इसी तरह तत्त्व को जानने वाला भी मुक्त हो जाता है दूसरे लोग बन्धन में रहते हैं। परमात्मा को भेदरूप में जानने वाला ही तत्त्वज्ञानी है।

इस प्रकार नवों स्थानों में भेद का ही प्रतिपादन है। पक्षी और सूते में, विभिन्न वृक्षों के रसों में, नदी और समुद्र में, जीव और वृक्ष में, वटवृक्ष और सूक्ष्म बीजों में, नमक और पानी में, गान्धार और पुरुष में, मरणासन्न और उसके बन्धुओं में तथा चोर और वस्तु में ऐक्य हो नहीं सकता। विशेष के लिए छांदोग्योपनिषद् ही देखें।

(११ ख. उक्त नव दृष्टान्तों से भेदसिद्धि)

तथा च महोपनिषद्—

३४. यथा पक्षी च सूत्रं च नानावृक्षरसा यथा।

यथा नद्यः समुद्राश्च यथा जीवमहीरुहौ ॥
३५. यथाणिमा च धाना च शुद्धोदलवणे यथा ।
चोरापहार्यौ च यथा यथा पुंविषयावपि ॥
३६. यथाज्ञो जीवसंघश्च प्राणादेश्च नियामकः ।
तथा जीवेश्वरौ भिन्नौ सर्वदैव विलक्षणौ ॥
३७. तथापि सूक्ष्मरूपत्वान्न जीवात्परमो हरिः ।
भेदेन मन्ददृष्टीनां दृश्यते प्रेरकोऽपि सन् ॥
३८. वैलक्षण्यं तयोर्ज्ञात्वा मुच्यते बध्यतेऽन्यथा । इति ।

इसलिए महोपनिषद् में कहा गया है—'जैसे पक्षी और सूत्र, जैसे नाना प्रकार के वृक्षों के रस, जैसे नदियाँ और समुद्र, जैसे जीव और वृक्ष, जैसे अणुता और धारणशक्ति, जैसे शुद्ध जल और नमक, जैसे चोर और अपहरणीय वस्तु, जैसे पुरुष और उसके विषय, जैसे अज्ञ जीवों का समूह और प्राणादि का नियामक—ये सब भिन्न हैं उसी प्रकार जीव और ईश्वर विभिन्न लक्षणों के होने के कारण सदा ही भिन्न हैं ॥ ३४-३६ ॥ फिर भी सूक्ष्मरूप होने के कारण परम (सर्वोच्च) हरि को मन्द दृष्टि वाले पुरुष जीव से भिन्न रूप में नहीं देखते हैं यद्यपि वे ही (हरि) सबों को कार्य में प्रवृत्त करते हैं ॥ ३७ ॥ इन दोनों की विलक्षणता (Difference) जानने पर मनुष्य मुक्त हो जाता है, नहीं तो वह बन्धन में पड़ा रहता है ॥'

विशेष—छान्दोग्योपनिषद् के उक्त नव उदाहरणों का उल्लेख यहाँ किया गया है, उसमें भी क्रम में कुछ परिवर्तन किया गया है। एक ही बात–भेद–का प्रतिपादन करने से कुछ एकरसता-सी लगती है।

३९. ब्रह्मा शिवः सुराद्याश्च शरीरक्षरणात्क्षराः ।
लक्ष्मीरक्षरदेहत्वादक्षरा तत्परो हरिः ॥
४०. स्वातन्त्र्यशक्तिविज्ञानसुखाद्यैरखिलैर्गुणैः ।
निःसीमत्वेन ते सर्वे तद्वशाः सर्वदैव च ॥ इति ।
४१. विष्णुं सर्वगुणैः पूर्णं ज्ञात्वा संसारवर्जितः ।
निर्दुःखानन्दभुङ् नित्यं तत्समीपे स मोदते ॥

४२. मुक्तानां चाश्रयो विष्णुरधिकोऽधिपतिस्तथा ।
तद्वशा एव ते सर्वे सर्वदैव स ईश्वरः ॥
इति च ।

'ब्रह्मा, शिव, इन्द्रादि **क्षर** कहलाते हैं क्योंकि इनके शरीर नाशवान् हैं, अनश्वर शरीर होने के कारण लक्ष्मी अक्षरा है, हरि इन दोनों से परे हैं ॥३९॥ स्वतन्त्रता, शक्ति, विज्ञान, सुख आदि सभी गुणों के ईश्वर में असीम मात्रा में होने के कारण सर्वदा सभी पदार्थ उनके वश में रहते हैं ॥ ४० ॥'

'विष्णु को सभी गुणों से परिपूर्ण जानकर, पुरुष संसार (आवागमन) से मुक्त हो जाता है, दुःख से रहित आनन्द का भोग करते हुए नित्यरूप से वह (पुरुष) परमात्मा के पास सुख-भोग करता है ॥ ४१ ॥ मुक्त पुरुषों के आश्रय विष्णु ही हैं, सर्वोच्च स्वामी वे ही हैं। उन्हीं के वश में वे सब हमेशा के लिए रहते हैं, वे ही ईश्वर हैं ॥ ४२ ॥'

(१२. एक के ज्ञान से सभी वस्तुओं का ज्ञान—इसका अर्थ)

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं च प्रधानत्वकारणत्वादिना युज्यते न तु सर्वमिथ्यात्वेन । न हि सत्यज्ञानेन मिथ्याज्ञानं संभवति । यथा प्रधानपुरुषाणां ज्ञानाज्ञानाभ्यां ग्रामो ज्ञातोऽज्ञात इत्येवमादिव्यपदेशो दृष्ट एव । यथा च कारणे पितरि ज्ञाते ज्ञानात्यस्य पुत्रमिति । यथा वा सादृश्यादेकस्त्रीज्ञानाद् अन्यस्त्री-ज्ञानमिति ।

[छान्दोग्योपनिषद् (६।१।४) में एक वाक्य है—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्' । इसके पूर्व में वाक्य है—एवं चाविज्ञातं विज्ञातं भवति । इन उद्धरणों में एक के ज्ञान से सभी अविज्ञात वस्तुओं के ज्ञान का वर्णन किया गया है। इसका अर्थ अद्वैतवेदान्ती लोग जगत् को मिथ्या मानते हुए करते हैं। जगत् ब्रह्म की शक्ति अविद्या से विवर्तरूप से उत्पन्न हुआ है, वह मिथ्या है इसीलिए वास्तव में आत्मा का ज्ञान ही सब कुछ है, उसे जानने से ही सबों का ज्ञान हो जाता है—इसी के आधार पर जगत् को मिथ्या मानते हैं। लेकिन मध्वाचार्य इस श्रुतिवाक्य का दूसरे रूप में अर्थ करते हैं, दोनों के फलों या निष्कर्षों में अन्तर है। उनका कहना है कि] एक के जानने से सबों का जानना इसलिए युक्तियुक्त है कि प्रधानता या कार्यकारण-सम्बन्ध आदि होने के कारण ऐसा कहा गया है, इसलिए नहीं कि सब कुछ मिथ्या है।

इसका कारण यह है कि सत्य वस्तु (जैसे शुक्ति, ब्रह्म आदि) के ज्ञान से मिथ्या वस्तु (रजत, जगत् आदि) का ज्ञान सम्भव नहीं है। [सीपी को जानने से चांदी को भी जान लेगा, ऐसी स्थिति कहीं नहीं है बल्कि यही ज्ञान हो सकता है कि यह चाँदी नहीं है। दोनों ज्ञान एक दूसरे के विरोधी हैं।][1]

[अब प्रधानता, कार्यकारणसंबंध तथा सादृश्य के कारण उक्त श्रुति कैसे युक्तियुक्त है इसका विवेचन करते हैं—] जैसे किसी गाँव के **प्रधान** व्यक्तियों को जानने या न जानने से गाँव को ही जानने या नहीं जानने का लौकिक-प्रयोग लोगों में साधारणतः देखा जाता है। पुनः जिस प्रकार **कारण** के रूप में पिता को जान लेने पर उसके पुत्र को भी जान लेते हैं अथवा जिस तरह **सादृश्य** के कारण एक स्त्री को जान लेने पर दूसरी स्त्रियों का ज्ञान हो जाता है।

विशेष—एक विज्ञान से सबों का विज्ञान स्वरूप पर आधारित नहीं है, फल पर ही निर्भर करता है। ऐसी बात नहीं है कि एक वस्तु का स्वरूप जान लेने पर सभी वस्तुओं का विधिवत् ज्ञान हो जाता है। बल्कि सबों के ज्ञान का फल एक के ज्ञान से ही मिलता है। प्रधान वस्तु के ज्ञान से सबों का ज्ञान होता है, कारण के ज्ञान से कार्य का ज्ञान होता है तथा किसी वस्तु के ज्ञान से उसकी तरह की अन्य वस्तुओं का ज्ञान होता है। स्त्री का लक्षण है—स्तनों और केशों (कोमल) का होना,[2] इसे देखने से अन्य स्त्रियों के ज्ञान का फल मिल जाता है। दूसरी स्त्रियों को देखने पर अपने आप पहला ज्ञान चला आता है। किन्तु इस सादृश्य के आधार पर जीव और ईश्वर के बीच सादृश्य स्थापित नहीं कर सकते। कुछ बातों में ऐसा हो सकता है, पर सभी पहलुओं से नहीं। ब्रह्म और जीव में चैतन्य, सत्यता, ज्ञान आदि की तुलना हो सकती है परन्तु स्वतन्त्रता आदि कतिपय गुणों का सादृश्य नहीं है क्योंकि श्रुति प्रमाण से इसका विरोध होता है। अतः परमात्मा को सत्य रूप में जानकर जगत् को भी सत्य रूप में जान लेंगे—यह सिद्ध है।

तदेव सादृश्यमत्रापि विवक्षितं 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्' (छा० ६।१।४) इत्यादिना। अन्यथा 'सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातम्' इत्यत्र

---

१. इसके विरुद्ध पतंजलि महाभाष्य में कहते हैं—यो हि शब्दाञ्जानात्यप-शब्दानप्यसौ जानाति। (पस्पशाह्निक, व्याकरणप्रयोजनप्रकरण)।

२, तुलनीय—'स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः'।

एक-पिण्डशब्दौ वृथा प्रसज्येयाताम् । 'मृदा विज्ञातया' इत्येतावतैव वाक्यस्य पूर्णत्वात् ।

उपर्युक्त तीन प्रकार के सम्बन्धों में सादृश्य-सम्बन्ध ही इस निम्नलिखित उदाहरण में कहना अभीष्ट है—'हे सौम्य (प्रसन्नमुख शिष्य), जैसे मिट्टी के एक पिण्ड को जानने से मिट्टी जाति का ही बोध हो जाता है' (छा० ६।१।४) इत्यादि । यदि ऐसा नहीं होता (= सादृश्य इसका कारण नहीं होता, बल्कि उपादानोपादेय-भाव कारण होता) तब 'सौम्य, मिट्टी के एक पिण्ड से सभी मृण्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है' इस वाक्य में 'एक' और 'पिण्ड' शब्द व्यर्थ ही हो जाते, केवल इतना कहने से ही वाक्य पूर्ण हो जाता—'मिट्टी को जानने से······' इत्यादि ।

विशेष—जब सादृश्य के कारण एक के जानने से सबों का ज्ञान होना मानेंगे तभी मिट्टी के किसी एक पिंड की अभिव्यक्ति दिखलाकर 'दूसरी अभिव्यक्तियाँ भी ऐसी ही होती हैं' ऐसा ज्ञान दूसरों के विषय में हो जायगा । इस प्रकार एक शब्द का अपना महत्व होगा । सादृश्य के लिए भी भेद की तरह ही दो पदार्थ होते हैं—एक धर्मी, दूसरा प्रतियोगी । मिट्टी के बने घट आदि को धर्मी बनाकर मिट्टी का पिंड स्वयं प्रतियोगी हो जाता है । मिट्टी का बना हुआ पिंड भी है, घट भी । पिंड के सादृश्य से ही मिट्टी के दूसरे विकार घट का ज्ञान होता है । अतः पिंड शब्द भी सार्थक है ।

दूसरी ओर, यदि उपादानोपादेय-सम्बन्ध से उक्त वाक्य की प्रामाणिकता मानें तो एक और पिंड शब्दों की आवश्यकता नहीं रहेगी । इनके बिना भी वाक्य का पूरा-पूरा अर्थ निकलता । 'मृदा विज्ञातया सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्'—केवल इतना ही कहते । कहीं की थोड़ी मिट्टी का ज्ञान उपादान (Material cause) होता और सारी मिट्टियों का ज्ञान उपादेय (effect) होता । परन्तु 'एक' और 'पिंड' शब्दों का प्रयोग निरर्थक नहीं, अतः सादृश्य संबन्ध ही विवक्षित है । इसके अलावे, एक और पिंड शब्दों में विरोध भी हो जायगा । एक ही मृत्पिंड सभी मृण्मय पदार्थों (Earthen objects) का उपादान कारण नहीं हो सकता । मिट्टी मृण्मय घट आदि का उपादान है, मिट्टी का पिंड नहीं । मिट्टी का पिंड तो घट बनाने के समय रूँध दिया जाता है पर मिट्टी ज्यों की त्यों रहती है । नष्ट होने पर मिट्टी का पिंड कारण कैसे होगा ?

न च 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६।१।५) इत्येतत्कार्यस्य मिथ्यात्वमाचष्ट इत्येष्टव्यम् ।

वाचारम्भणं विकारो यस्य तदविकृतं नित्यं नामधेयं मृत्तिकेत्यादिकमित्येतद्वचनं सत्यमित्यर्थस्य स्वीकारात्। अपरथा नामधेयमितिशब्दयोर्वैयर्थ्यं प्रसज्येत। अतो न कुत्रापि जगतो मिथ्यात्वसिद्धिः।

ऐसा नहीं समझें कि निम्नलिखित वाक्य में कार्य (संसार) का मिथ्यारूप होना कहा गया है—'(घटादि) विकार केवल शब्दों में अवस्थित (शाब्दिक) नाममात्र है, वास्तव में तो [उन विकारों में कारण के रूप में विद्यमान] मृत्तिका ही सत्य है' (छा० ६।१।५)। [शंका करने वालों का यह कथन है कि 'वाचारम्भणम्०' वाला वाक्य 'यथा सोम्यैकेन०' वाले वाक्य का पूरक है, उसका दृष्टान्त है। घट, सुराही, सिकोरा, कटोरा आदि बर्तनों का कारण एकमात्र मिट्टी है, जिसे जान लेने पर सब बर्तनों का (मिट्टी से बने हुए बर्तनों का) ज्ञान हो जाता है। कारण का ज्ञान होने पर कार्य का ज्ञान हो ही जायगा क्योंकि कार्य-कारण परस्पर सम्बद्ध होते हैं। अतः कारणरूप मिट्टी सत्य है, उसके विकार मिथ्या। इस पर पूर्णप्रज्ञ-दार्शनिक कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है—इसका कारण आगे देखें।]

कारण यह है कि इसका अर्थ हम दूसरे रूप में स्वीकार करते हैं। वागिन्द्रिय से उच्चारण करना विकार (उत्पादन) है, [अभिव्यंजन नहीं]। यह विकार जिस पदार्थ का होता है वह (पदार्थ) अविकृत (संस्कृत) है, नित्य है, नाम है जैसे मृत्तिका इत्यादि, यह वाक्य बिल्कुल सत्य है। यदि ऐसा अर्थ नहीं रखें तो 'नामधेय' और 'इति' दोनों शब्द व्यर्थ हो जायँगे। इसलिए कहीं भी (किसी श्रुतिवाक्य से) संसार को मिथ्यारूप सिद्ध नहीं कर सकते। [शब्द के दो स्वरूप हैं—असंस्कृत (अनित्य) और संस्कृत (नित्य)। अनित्य शब्दों का वागिन्द्रिय से केवल उत्पादन होता है, ये उत्पत्ति-विनाश होने के कारण ही अनित्य (Non-eternal) कहलाते हैं। 'मृत्तिका' आदि नित्य शब्दों का उत्पादन नहीं होता, उनकी अभिव्यक्ति (Manifestation) होती है क्योंकि उत्पत्ति-विनाश इनका होता ही नहीं। इस आकार में रहने वाला शब्दस्वरूप पदार्थ का वास्तविक नाम है। यही अविकृत और नित्य भी है। नामधेय संस्कृत (नित्य) और असंस्कृत (अनित्य) दोनों शब्दों से पड़ता है परन्तु योग्य नामधेय नित्य शब्द का ही है। 'विश्वविद्यालय में सत्यदेवजी ही अध्यापक हैं, दूसरे लोग छायामात्र हैं' इस वाक्य में 'अध्यापक' का अर्थ योग्य अध्यापक है। यद्यपि सभी अध्यापक ही हैं परन्तु अयोग्यता के कारण उन्हें ऐसा नहीं कहते। इसलिए उद्दालक श्वेतकेतु को कह रहे हैं कि वागिन्द्रिय से

उच्चारण करना (वाचारंभण) विकार (=विकृति, अनित्य) है, नामधेय तो मृत्तिका आदि शब्द (नित्य शब्द-स्वरूप) ही है,—यह वाक्य जो मैंने कहा यही ठीक है, झूठा नहीं। यदि शंका करने वालों के अनुसार—वाचारम्भणं विकारः, मृत्तिका सत्यम्—विकार केवल शाब्दिक या मिथ्या है, सत्य तो मृत्तिका ही है)—ऐसा अर्थ करें तो उक्त वाक्य में 'इति' और 'नामधेयम्' शब्द व्यर्थ हो जायँगे। अद्वैतवेदान्तियों के द्वारा दिया गया अर्थ यहाँ देख ही चुके। हम अर्थ करते हैं—'मृत्तिका इत्येव नामधेयम्', यहाँ नामधेय शब्द विधेय हो जाता है। अद्वैत-पक्ष में इसकी कोई उपयोगिता ही नहीं रहती। 'इति' का हमारे यहाँ यह उपयोग है कि 'मृत्तिका' को इसी के द्वारा शब्द के रूप में लेते हैं। मृत्तिकेति = 'मृत्तिका' इति शब्दः।[1]]

विशेष—इस प्रकार 'वाचारम्भणं विकारः' को पूर्ववाक्य का पूरक न मानकर स्वतन्त्र दृष्टान्त मान लेते हैं। अविकृत और नित्य होने के कारण 'मृत्तिका' शब्द संस्कृत (प्रधान) नाम है। असंस्कृत नामों के जानने का जो फल है वह संस्कृत नाम को जानने से ही प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार संसार को जानने का फल परमात्मा के ज्ञान से प्राप्य है। किसी रूप में संसार मिथ्या नहीं, वह सत्य (Real) ही है।

(१३. मिथ्या का खण्डन)

किं च प्रपञ्चो मिथ्येत्यत्र मिथ्यात्वं तथ्यमतथ्यं वा। प्रथमे सत्याद्वैतभङ्गप्रसङ्गः। चरमे प्रपञ्चसत्यत्वापातः। नन्वनित्यत्वं नित्यमनित्यं वा। उभयथाप्यनुपपत्तिरित्याक्षेपवदयमपि नित्यसमजातिभेदः स्यात्।

तदुक्तं न्यायनिर्माणवेधसा—'नित्यमनित्यभावादनित्ये

---

१. 'इति' शब्द की उपयोगिता केवल उद्धरण देने में ही नहीं है, प्रत्युत पदार्थों का विपर्यय भी यह करता है। जब किसी शब्द से शब्द का ही अर्थ निकलता है तब उसमें इति लगा देने पर अर्थपरक अर्थ हो जाता है। 'अग्नेर्ढक्' (पा० सू० ४।२।३३) कहने पर 'अग्नि' शब्द (अर्थ नहीं) से ढक् प्रत्यय विहित है। उसी प्रकार 'न वेति विभाषा' (१।१।४४) कहने पर भी 'न' और 'वा' शब्दों की प्राप्ति होती है जब कि इति के प्रयोग के कारण यहाँ न = निषेध और वा=विकल्प अर्थ लेते हैं, शब्द से काम नहीं चलता। 'गवित्ययमाह, में अर्थ की प्राप्ति को इति शब्द ही रोकता है और शब्द की प्राप्ति कराता है।

नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः' (न्या० सू० ५।१।३५) इति। तार्किकरक्षायां च—

४३. धर्मस्य तदतद्रूपविकल्पानुपपत्तितः।
धर्मिणस्तद्विशिष्टत्वभङ्गो नित्यसमो भवेत्॥ इति।

अस्याः संज्ञाया उपलक्षणत्वमभिप्रेत्याभिहितं प्रबोधसिद्धावन्वर्थित्वात्तूपरञ्जकधर्मसमेति। तस्मादसदुत्तरमिति चेत्—।

इसके अतिरिक्त हम यह पूछें कि 'प्रपंच (संसार) मिथ्या है' इस वाक्य में 'मिथ्या होना' वास्तव में तथ्य (Fact) है या नहीं (= झूठा है) ? यदि प्रपंच का मिथ्या होना सत्य मानते हैं तो सत्य अद्वैत का खण्डन होता है। [वास्तव में सत्य एक होता है। अद्वैतवादी केवल ब्रह्म या अद्वैत-तत्त्व को ही सत्य स्वीकार करते हैं। यदि प्रपंच का मिथ्या होना भी सच मान लें तो पहले सत्य का भंग हो जाता है। एक साथ ही दो-दो सत्यों को मानने का प्रसंग आ पड़ेगा।] दूसरी ओर यदि प्रपंच का मिथ्या होना झूठ समझ लें तब प्रपंच को सत्य ही मानना पड़ेगा [जिससे मायावाद का आधार ही नष्ट हो जायगा]।

कुछ लोग ऐसा तर्क कर सकते हैं कि हमारे द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त द्विविधा (Dilemma) ठीक निम्नांकित द्विविधा की तरह ही 'नित्यसम' नामक जाति (न्यायशास्त्र का एक दोष) का उदाहरण हो जायगा—अनित्य होना क्या नित्य है या अनित्य ? दोनों ही विकल्पों की असिद्धि होती है (ऐसा तर्क दोषपूर्ण हो जाता है।) [कहने का अभिप्राय यह है कि अनित्यत्व को यदि नित्य या अनित्य के रूप में लेकर तर्क द्वारा दोनों पक्षों का खण्डन कर दिया जाय तो यह उचित ढंग नहीं है, न्यायशास्त्र में कही गयी जाति नामक दोषों की कोटि में यह आ जायगा। दूसरों के द्वारा किये गये प्रश्न का असमीचीन (गलत) उत्तर देना 'जाति' है। उत्तर इसलिए गलत माना जाता है कि दोष उसमें नहीं दिखला सकते। गौतम ने न्यायसूत्र के पंचम अध्याय के प्रथम आह्निक में इस जाति के २४ भेद बतलाये हैं। उनमें एक भेद 'नित्यसम' भी है। यहाँ यही जाति लगती है। यदि 'प्रपंच का मिथ्या होना' उसी प्रकार तथ्य या अतथ्य मानकर खण्डित कर दें तो नित्यसम जाति हो जायगी। अब नित्यसम जाति के विषय में कुछ विचार कर लें।]

न्यायशास्त्र के निर्माण में ब्रह्मा बाबा की तरह पूज्य [गौतम] कहते हैं—अनित्य होने के कारण [अनित्यत्व] नित्य है, क्योंकि अनित्य में नित्यत्व की

सिद्धि होती है, इस प्रकार का तर्क करना **नित्यसम** कहलाता है (गौतमीय-न्यायसूत्र, ५।१।३५)। [अभिप्राय यह है कि स्वयं अनित्यत्व (Non-eternity) को स्थायी मान लेते हैं, वह इस आधार पर कि अनित्यत्व भले ही अस्थायी हो परन्तु अनित्यत्व के अभाव की अवस्था में शब्द अनित्य नहीं माना जा सकता।] इसे वरदाचार्य (१०५० ई०) ने अपने तार्किकरक्षा नाम के ग्रन्थ में पल्लवित किया है—'जब धर्म का (जो शब्दगत है तथा अनित्यत्व के रूप में है) तद्रूप होना (= अनित्य होना) या अतद्रूप होना (नित्य होना), ये दोनों विकल्प असिद्ध हो जाते हैं तब धर्मी (शब्द) का उन विकल्पों के द्वारा विभूषित होने की दशाओं का खण्डन होता है, इसे ही नित्यसम कहते हैं।' [अनित्यत्व अनित्य है या नित्य इन दोनों में कोई भी सिद्ध नहीं होता। उलटे इनसे विरुद्ध वाक्य की सिद्धि हो जाती है]

इसी संज्ञा (= नित्यसम) को आदर्श मानकर प्रबोधसिद्धि नाम के ग्रन्थ में कहा है कि अर्थ के अनुसार [प्रस्तुत प्रसंग में नित्यसम के समान ही] उपरंजकसम नाम की जाति मानें। अतः पूर्वपक्षी लोगों का यह कहना है कि मिथ्या के खण्डन के लिए आपका तर्क असंगत है।

विशेष—मिथ्या का खण्डन करने के लिए पूर्णप्रज्ञ यही तर्क देते हैं—

'प्रपञ्च मिथ्या है' (प्रपञ्चो मिथ्या)

इस वाक्य में मिथ्यात्व तथ्य है या अतथ्य। उपर्युक्त विवेचन में दोनों विकल्पों की निस्सारता देखी जा चुकी है। अब मिथ्या को मानने वाले लोग कहते हैं कि इस तर्क से मिथ्या का खण्डन करने पर न्यायशास्त्र के अनुसार नित्यसम नामक जाति (-दोष) होगा। नित्यसम में ठीक ऐसा ही होता है—'अनित्यः शब्दः' इस वाक्य में पूछें कि यह अनित्यत्व स्वयं नित्य है या अनित्य? यदि नित्य है तो धर्म (अनित्यः) के नित्य रहने पर धर्मी (शब्दः) को भी नित्य ही मानना पड़ेगा, क्यों न हो, धर्मी और धर्म तो एक ही तरह के रहेंगे न ? और प्रतिज्ञा के ठीक विपरीत 'नित्यः शब्दः' सिद्ध हो गया। दूसरी ओर अनित्यत्व यदि सदा नहीं रहता (अनित्य होता) तो अनित्याभाव अर्थात् नित्य शब्द की ही सिद्धि होगी (अनित्यता की अनित्यता = नित्यता) किसी भी दशा में ऐसा तर्क करना नित्यसम है, यह दोष है। नित्य तक पहुँचना नित्यसम है।

प्रबोधसिद्धि में नित्यसम की तौल का ही एक शब्द उपरंजकसम दिया गया है जिसका अर्थ है ऐसा उत्तर देना जिसमें धर्म की उपरंजकता का प्रतिपादन हो। उपरंजक उसे कहते हैं जो विकल्पों का विचार उठने के पूर्व तक ही अच्छा लगे। 'प्रपञ्चो मिथ्या' या 'अनित्यः शब्दः' आदि वाक्यों में धर्म (मिथ्या

अनित्य) तभी तक लुभा सकता है जब तक विकल्प नहीं आते। विकल्पों के आते ही ठीक उलटे अमिथ्या या नित्यकी सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार पूर्वपक्षी पूर्णप्रज्ञ के मिथ्याखण्डक तर्क को असत् कहते हैं। अब पूर्णप्रज्ञ इसका उत्तर देंगे।

अशिक्षितत्रासनमेतत्। दुष्टत्वमूलानिरूपणात्। तद् द्विविधं साधारणमसाधारणं च। तत्राद्यं स्वव्याघातकम्। द्वितीयं त्रिविधं युक्ताङ्गहीनत्वमयुक्ताङ्गाधिकत्वमविषयवृत्तित्वं चेति।

तत्र साधारणमसंभावितमेव। उक्तस्याक्षेपस्य स्वात्मव्यापनानुलम्भात्। एवमसाधारणमपि। घटस्य नास्तितायां नास्तितोक्तौ अस्तित्ववत्प्रकृतेऽप्युपपत्तेः।

[पूर्णप्रज्ञ उत्तर देते हैं कि इस प्रकार जाति (गलत उत्तर) का आक्षेप लगाने से] मूर्ख लोग ही डर सकेंगे (हमारा इससे कुछ होना नहीं है)। आपने दोष के मूल का तो प्रतिपादन किया ही नहीं। [दोष के बीज का निरूपण बिना किये हुए किसी उत्तर को गलत (जाति) नहीं कह सकते]। अब, दोष का मूल दो प्रकार का हो सकता है—साधारण (General) और असाधारण (Particular)। इनमें जो पहला (साधारण दोषमूल) है वह अपने आपका ही विनाशक है [क्योंकि जिसके लिए इसका प्रयोग होता है उसको व्याप्त करने के साथ-साथ अपने को भी व्याप्त कर लेता है। इसलिए यह उत्तर आत्मघातक होने से ठीक नहीं। यदि कोई विरोधी अपने अभिमत की सिद्धि के लिए कुछ तर्क उपस्थित करता है तो उसके तर्क की अप्रामाणिकता तर्क से ही सिद्ध की जा सकती है। अब यह अप्रामाणिकता केवल विरोधी के तर्क को ही नहीं व्याप्त करती, प्रत्युत उस तर्क की अप्रामाणिकता सिद्ध करने वाले अपने तर्क को भी समेट लेती है।]

दूसरा भेद (असाधारण) तीन प्रकार का है—आवश्यक (युक्त) अंग से रहित हो सकता है या कोई अनावश्यक अंग उसमें अधिक हो सकता है या अविषय (असंगत स्थान) में उसकी वृत्ति (चाल, गति) हो सकती है। [इस प्रकार असाधारण दोषमूल भी ठीक नहीं जंचता।]

प्रस्तुत प्रसंग में 'साधारण' दोष की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि यहाँ दिये गये आक्षेप में अपने आपको व्याप्त करने की शक्ति नहीं है। [साधारण वही है जो पर की तरह अपने को भी व्याप्त करे। प्रस्तुत स्थल में 'प्रपञ्चगत मिथ्या तथ्य है या अतथ्य'—इसमें प्रपंचगत मिथ्या को ही दूषित कर सकते हैं, प्रपंच की सत्यता (जिसे दूषित करना अभीष्ट है) का इससे कुछ नहीं बिगड़ता। अतः

अपने अभीष्ट दूषणीय पदार्थ—प्रपञ्च की सत्यता—को व्याप्त न कर सकने से 'साधारण'–दोष की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रपञ्च की सत्यता पर लगाये गये आरोप व्यर्थ हैं।]

'असाधारण' दोष की भी प्रवृत्ति नहीं होगी क्योंकि यदि वास्तव में [उदाहरणार्थ] घट नहीं रहे और हम कहें कि घट नहीं है तो यह निषेध-कल्पना घट पर उसी प्रकार आरोपित होती है जिस प्रकार अस्तित्व की कल्पना। ठीक इसी प्रकार यहाँ भी सिद्धि होगी। [असाधारण दोष अपने अभीष्टार्थ को दूषित नहीं करता, फिर भी दूसरों की बातों को भी दूषित नहीं करता क्योंकि कहीं तो उसमें आवश्यक अंग नहीं रहता जैसे—कोई प्रतिपक्षी पहाड़ में अग्नि का अभाव सिद्ध कर चुका हो और हम अग्नि की सत्ता सिद्ध करते हुए कहें कि पहाड़ में अग्नि है जैसे रसोईघर में; यहाँ एक आवश्यक अंग हेतु—'धूमवान् होने के कारण'—छूट गया जिससे यह उत्तर न तो अपने अभीष्ट अग्नि की सिद्धि ही कर सकता है और न प्रतिपक्षी के अभीष्ट 'अग्नि के अभाव' को ही दोषपूर्ण दिखा सकता—यह युक्तांगरहित असाधारण दोष है। कहीं-कहीं उसमें अनावश्यक अंग जुड़ा रहता है जैसे—उपर्युक्त स्थल के उत्तर में यह कहें कि पहाड़ में अग्नि है क्योंकि वहाँ धूम है तथा प्रकाश भी है वह पार्थिव भी है जैसा कि रसोईघर। 'यहाँ प्रकाश भी है' यह अनावश्यक अंग अधिक है किन्तु यह अपने अभीष्ट अग्नि की सिद्धि भी नहीं करता और पराभिमत 'अग्नि के अभाव' को दूषित भी नहीं करता। हाँ, यह अधिकांग अपने उत्तर में वक्ता का अविश्वास प्रकट करता है—इसमें योग्यता नहीं। कहीं-कहीं उसमें अविषय में वृत्ति होती है (अपने विषय से सम्बन्ध नहीं रहता)। उदाहरणार्थ यदि उत्तर में यह कहें कि पहाड़ पार्थिव है क्योंकि घट की तरह गन्धयुक्त है तो यह उत्तर अपने अभीष्ट (अभ्युपगत) अग्नि से संबद्ध नहीं है और न दूसरे के अभीष्ट 'अग्नि के अभाव' से ही असंबद्ध है। अतः न यह अग्नि की सिद्धि करता और न अग्नि के अभाव को ही दूषित कर पाता। प्रस्तुत प्रसंग में 'मिथ्या तथ्य है या अतथ्य' यह उत्तर न तो आवश्यक अंग से रहित है, न अनावश्यक अंग से युक्त और न प्रपंच की सत्यता विषय से ही असंबद्ध। तब फिर असाधारण दोष क्यों होगा? विकल्प की उद्भावना करने से प्रपंच के मिथ्यात्व को दूषित कर देने पर प्रपंच की सत्यता की सिद्धि हो जायगी।]

ननु प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमभ्युपेयते नासत्त्वमिति चेत्, तदेतत्सोऽयं शिरश्छेदेऽपि शतं न ददाति, विंशतिपञ्चकं तु प्रयच्छ-

तीति शाकटिकवृत्तान्तमनुहरेत्। मिथ्यात्वासत्त्वयोः पर्यायत्वा-दित्यलमतिप्रपञ्चेन।

अब यदि वे लोग कहें कि हम प्रपंच का मिथ्या होना सिद्ध करते हैं, असत् होना नहीं—तो यह ठीक वैसा ही हुआ जैसा कोई गाड़ीवान सिर काटे जाने पर भी सौ रुपये नहीं देता, किन्तु पाँच बीस (बीस × पाँच = १००) देने के लिए तुरत तैयार हो जाता है। मिथ्या और असत् दोनों का अर्थ एक ही तो है—अब अधिक बढ़ाकर क्या कहें ?

विशेष—शंकराचार्य के अनुसार मिथ्या और असत् में अन्तर है—जगत् मिथ्या है, किन्तु असत् नहीं क्योंकि व्यावहारिक दशा में तो उसकी सत्ता है। असत् वह है जो किसी भी दशा में न रहे जैसे वन्ध्यापुत्र, शशशृंग आदि। पारमार्थिक दशा में जिसकी सत्ता न हो वह मिथ्या है। परन्तु मध्व दोनों को एक मानकर व्यंग्य करते हैं कि मूर्ख गाड़ीवान सौ रुपये देता नहीं, ५ × २० देने को तैयार हो जाता है—उसे १०० और पाँच-बीस में बड़ा अन्तर मालूम पड़ता है। मिथ्या और असत् को एक मानने पर फल यह होता है कि मिथ्यात्व को दूषित करके सत्ता की सिद्धि हो जाती है। अतः यह उत्तर 'जाति' (Fallacious) नहीं है, वस्तुतः 'मिथ्यात्वं तथ्यमतथ्यं वा' आदि तर्क के द्वारा मिथ्या का खण्डन संभव है, (प्रपंच) संसार की सत्यता इसी से सिद्ध हो जायगी।

(१४. ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र का अर्थ)

तत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) इति प्रथमसूत्रस्यायमर्थः। तत्राथशब्दो मङ्गलार्थोऽधिकारानन्तर्यार्थश्च स्वीक्रियते। अतःशब्दो हेत्वर्थः। तदुक्तं गारुडे—

४४. अथातःशब्दपूर्वाणि सूत्राणि निखिलान्यपि।
प्रारभ्यन्ते नियत्यैव तत्किमत्र नियामकम्॥

४५. कश्चार्थस्तु तयोर्विद्वन्कथमुत्तमता तयोः।
एतदाख्याहि मे ब्रह्मन्यथा ज्ञास्यामि तत्त्वतः॥

अब 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' ब्रह्मसूत्र के इस प्रथम सूत्र का यह अर्थ है—इसमें 'अथ' (इसके बाद) शब्द मंगल का द्योतक (व्यंजक) है और [ब्रह्म-ज्ञान के] अधिकार की प्राप्ति के बाद का वाचक है। [अथ शब्द का अर्थ मंगल नहीं है वह केवल इससे व्यक्त होता है। वास्तव में उसका वाच्यार्थ है—आनन्तर्य अर्थात् इसके बाद। पर प्रश्न उठता है किसके बाद ? ब्रह्म-ज्ञान का

अधिकार मिलने के बाद ही ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए ।] 'अतः' (इसलिए) शब्द का अर्थ है प्रयोजन । जैसा कि गरुड़-पुराण में कहा गया है—'सभी सूत्रग्रन्थ नियम (नियति) से 'अथ' और 'इति' शब्दों के द्वारा आरम्भ होते हैं, इसका क्या कारण है ?' [नारद ब्रह्मा से पूछते हैं]—'हे विद्वन् ! इन दोनों का क्या अर्थ है, इन दोनों की उत्तमता (श्रेष्ठता) का क्या कारण है ? हे ब्रह्मन् ! आप यह बतलावें जिससे मैं इनका रहस्य जान जाऊँ ।'

४६. एवमुक्तो नारदेन ब्रह्मा प्रोवाच सत्तमः ।
आनन्तर्याधिकारे च मङ्गलार्थे तथैव च ॥
अथशब्दस्त्वतःशब्दो हेत्वर्थे समुदीरितः । इति ।

यतो नारायणप्रसादमन्तरेण न मोक्षो लभ्यते प्रसादश्च ज्ञानमन्तरेण, अतो ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति सिद्धम् ।

नारद के द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर सज्जनों में श्रेष्ठ ब्रह्मा बोले—"आनन्तर्य, अधिकार और मंगल के अर्थ में 'अथ' शब्द होता है और 'अतः' शब्द हेतु के अर्थ में प्रयुक्त होता है ।" चूँकि नारायण के प्रसाद के बिना मोक्ष नहीं मिलता और ज्ञान के बिना यह प्रसाद नहीं मिलता, इसलिए ब्रह्म को जानने की इच्छा करनी चाहिए, यह सिद्ध हो गया ।

विशेष—किसी शास्त्र में चार अनुबन्ध होते हैं—विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध । वेदान्तशास्त्र का **विषय** ब्रह्म है । ब्रह्म जीव से पृथक् और सभी गुणों से पूर्ण है, श्रुतिवाक्य 'तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म' (तै० ३।१।१) के द्वारा उसका प्रतिपादन होता है । उसके अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं है । सूत्र में भी जिज्ञासा का विषय ब्रह्म को ही बनाकर 'ब्रह्मजिज्ञासा' पद का प्रयोग किया गया है । इस शास्त्र का **प्रयोजन** है मोक्ष की प्राप्ति, क्योंकि 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' (नृ० पू० १।६) इस श्रुति में ब्रह्मज्ञान से मोक्षलाभ का वर्णन किया गया है । ब्रह्मज्ञान हो जाने पर ज्ञानियों को ब्रह्म के प्रसाद से मोक्ष मिलता है । कहा भी है—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (का० २।२३) । जिस भक्त पर परमात्मा प्रसन्न होते हैं उसे अपनाते हैं, उसी भक्त को परमात्मा मिल सकते हैं । प्रेम बढ़ाने से ही कृपा होती है, परमात्मा प्रसन्न होते हैं । ब्रह्मज्ञान होने पर प्रेम बढ़ ही जायगा । गीता (७।१७) में कहा है—प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः । वेदान्त का यह प्रयोजन 'अतः' शब्द के द्वारा व्यक्त किया गया है । विषय और प्रयोजन की सत्ता होने पर **अधिकारी** की सम्भावना कठिन नहीं । इसके बाद अधिकारी और शास्त्र का **सम्बन्ध** निश्चित ही होगा ।

इस प्रकार चारों अनुबन्धों के सिद्ध होने पर शास्त्र का आरम्भ करना बिल्कुल संगत है।

ब्रह्मविद्या के अधिकारियों में देवता उत्तम, ऋषि-गन्धर्व मध्यम तथा मनुष्य मन्द या अधम हैं। अधिकारियों में (१) विष्णुभक्ति, (२) अध्ययन, (३) शमदमादियोग, (४) संसार की असारता ध्यान में रखते हुए वैराग्य लेना तथा (५) विष्णु के चरणों में एकमात्र शरण लेना—ये गुण आवश्यक हैं। प्रथम दो गुणों की अधिकता से अधम, तृतीय की अधिकता से मध्यम और अन्तिम दोनों की अधिकता से उत्तम अधिकारी होता है।

(१५. ब्रह्म का लक्षण)

जिज्ञास्यब्रह्मणो लक्षणमुक्तं 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) इति। सृष्टिस्थित्यादि यतो भवति तद् ब्रह्मेति वाक्यार्थः। तथा च स्कान्दं वचः—

**४७. उत्पत्तिस्थितिसंहारा नियतिर्ज्ञानमावृतिः।
बन्धमोक्षौ च पुरुषाद्यमात्स हरिरेकराट्॥**

यतो वा इमानीत्यादिश्रुतिभ्यश्च।

जिस ब्रह्म की जिज्ञासा की जाती है उसका लक्षण बतलाया गया है—'इस (संसार) के जन्म आदि जिससे हुआ करते हैं' (ब्र०सू० १।१।२) वाक्य का अर्थ यह है कि सृष्टि, स्थिति आदि जिससे हों वही ब्रह्म है। स्कन्दपुराण की उक्ति भी है—'जिस पुरुष से उत्पत्ति, स्थिति, संहार नियंत्रण, ज्ञान, अज्ञान (आवृति), बन्ध तथा मोक्ष उत्पन्न होते हैं, वे ही एक मात्र सम्राट् हरि हैं।' यही नहीं, श्रुति का प्रमाण भी है—'जिससे सभी जीव···' (तै० ३।१।१)

विशेष—शंकर जन्मादि का अर्थ केवल सृष्टि, पालन और संहार लेते हैं। देखें—'जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थः।······श्रुतिनिर्देशस्तावत् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति, अस्मिन्वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात्।······अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वेवान्तर्भावः इति जन्मस्थितिनाशानामिह ग्रहणम्।' (शारीरकभाष्य, १।१।२)। द्वैतवेदान्ती खींचखाँच करके आठ उत्पन्न पदार्थ लेते हैं। यों तो और भी संभव हैं। जो श्रुति इसका आधार है वह यह है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० ३।१।१)। तात्पर्य यह है कि उसी ब्रह्म से सारे पदार्थ जन्म लेते हैं, जन्म

लेने पर जीते हैं, उसी में लीन होकर प्रवेश कर जाते हैं। स्पष्टतः तीन ही विकारों का वर्णन किया गया है। पर मध्वपक्षी 'य आदित्यमन्तरो यमयति' (बृ० ३।७।९) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा नियमन आदि भावों का संग्रह करते हैं।

(१६. ब्रह्म के विषय में प्रमाण)

तत्र प्रमाणमप्युक्तं 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इति। 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७), 'तं त्वौपनिषदम्' (बृ० ३।९।२६) इत्यादिश्रुतिभ्यस्तस्यानुमानिकत्वं निराक्रियते। च चानुमानस्य स्वातन्त्र्येण प्रामाण्यमस्ति। तदुक्तं कौर्मे—

४८. श्रुतिसाहाय्यरहितमनुमानं न कुत्रचित्।
निश्चयात्साधयेदर्थं प्रमाणान्तरमेव च॥
४९. श्रुतिस्मृतिसहायं यत्प्रमाणान्तरमुत्तमम्।
प्रमाणपदवीं गच्छेन्नात्र कार्या विचारणा॥ इति।

उस (ब्रह्म) के विषय में प्रमाण भी कहा गया है—'शास्त्रों में इसका स्रोत है (शास्त्रों से वह ब्रह्म ज्ञेय है)' (ब्र० सू० १।१।३)। 'उस महान् पुरुष को वेद नहीं जानने वाला व्यक्ति नहीं जान पाता (तै० ब्रा० ३।१२।९।७)', 'उपनिषदों में वर्णित उस पुरुष को (बृ० ३।९।२६)' आदि श्रुतियों से इस बात का खण्डन होता है कि वह अनुमान के द्वारा ज्ञेय है। [अशास्त्रज्ञ व्यक्ति के द्वारा ब्रह्म का अज्ञेय होना, उपनिषदों के द्वारा उसका ज्ञान आदि बातें स्पष्ट रूप से घोषित करती हैं कि ब्रह्म एकमात्र शास्त्रों के द्वारा ही समधिगम्य (जानने योग्य) है, अनुमान द्वारा इसका ज्ञान नहीं होता।]

अनुमान स्वतंत्र रूप से प्रमाण है भी नहीं। कूर्म-पुराण में तो कहा ही गया है—'श्रुति (शब्द प्रमाण) की सहायता से रहित होकर अनुमान या कोई भी दूसरा प्रमाण (प्रत्यक्षादि) निश्चित रूप से [अदृष्ट विषय की] किसी वस्तु की सिद्धि नहीं कर सकता (प्रामाणिक नहीं हो सकता)। श्रुति-स्मृति की सहायता मिलने पर ही कोई दूसरा प्रमाण (प्रत्यक्षादि) अच्छा हो सकता है और प्रमाण की कोटि में जा सकता है, इसमें विचार (संदेह) नहीं करना चाहिए।

शास्त्रस्वरूपमुक्तं स्कान्दे—

५०. ऋग्यजुःसामाथर्वा च भारतं पाञ्चरात्रकम् ।
मूलरामायणं चैव शास्त्रमित्यभिधीयते ॥

५१. यच्चानुकूलमेतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्तितम् ।
अतोऽन्यो ग्रन्थविस्तारो नैव शास्त्रं कुवर्त्म तत् ॥ इति ।

शास्त्र का स्वरूप स्कन्दपुराण में कहा गया है—'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद; महाभारत, पंचरात्र और मूलरामायण (वाल्मीकि रामायण का प्रथम अध्याय)—ये ही ग्रन्थ **शास्त्र** कहलाते हैं, जो ग्रन्थ इनके सिद्धान्तों के अनुकूल हैं वे भी शास्त्र ही हैं । इनके अतिरिक्त जो भी ग्रन्थों का समूह है, वह शास्त्र नहीं है । उन पर चलना कुमार्ग पर चलना है । [अपने शास्त्रों का उल्लेख इस प्रकार हुआ ।]

तदनेन, 'अनन्यलभ्यः शास्त्रार्थः' इति न्यायेन भेदस्य प्राप्तत्वेन तत्र न तात्पर्यं किन्तु अद्वैत एव वेदवाक्यानां तात्पर्यम्—इत्यद्वैतवादिनां प्रत्याशा प्रतिक्षिप्ता । अनुमानादीश्वरस्य सिद्ध्यभावेन तद्भेदस्यापि ततः सिद्ध्यभावात् । तस्मान्न भेदानुवादकत्वमिति तत्परत्वमवगम्यते । अत एवोक्तम्—

५२. सदागमैकविज्ञेयं समतीतक्षराक्षरम् ।
नारायणं सदा वन्दे निर्दोषाशेषसद्गुणम् ॥
(वि० त० १) इति ।

अद्वैतवादियों का यह कहना है कि 'शास्त्र का अर्थ (प्रयोजन, आवश्यकता) वहीं है जहाँ दूसरे प्रमाणों के द्वारा उसकी सिद्धि नहीं होती हो' इस न्याय (नियम) से केवल अद्वैत में ही शास्त्रों का तात्पर्य (अर्थ) है, भेद (द्वैत) तो प्रत्यक्षतः उपलब्ध होता है इसलिए उसमें शास्त्र का तात्पर्य नहीं हो सकता । उनकी इस धारणा का खण्डन उपर्युक्त विधि से कर दिया गया । [अद्वैत की सिद्धि प्रत्यक्षादि से नहीं होती, शास्त्र यदि है तो अद्वैत के लिए—यह अद्वैतियों की धारणा है ।]

अनुमान से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती, फिर उसके भेद की भी तो सिद्धि उससे नहीं ही हो सकेगी । इसलिए इन श्रुतिवाक्यों में भेद का अनुवाद (व्याख्या) नहीं किया गया है, प्रत्युत ये शास्त्र ही भेदपरक हैं । ['अनन्यलभ्यः

शास्त्रार्थः' के न्याय से ही यह कहा जा सकता है कि भेद की सिद्धि किसी दूसरे प्रमाण से नहीं होती इसलिए शास्त्र का तात्पर्य ही भेद-प्रतिपादन में है। अनुमान के द्वारा भेद की सिद्धि नहीं होती। बस, इतना ही पर्याप्त है! शास्त्र का तात्पर्य ही उसीमें है।]

इसीलिए कहा गया है—'जो केवल श्रेष्ठ आगमों (शास्त्रों) से जाने जाते हैं, जो क्षर (प्रकृति) और अक्षर (जीव) को अच्छी तरह पार कर चुके हैं, जो सर्वथा निर्दोष हैं एवं सभी सद्गुणों (जैसे पूर्णानन्द आदि) से युक्त हैं वैसे नारायण की मैं सदा वन्दना करता हूँ।' (विष्णुतत्त्वविनिर्णय, मङ्गलश्लोक)।

(१७. शास्त्रों का समन्वय)

शास्त्रस्य तत्र प्रामाण्यमुपपादितं 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इति। समन्वय उपक्रमादिलिङ्गम्। उक्तं च बृहत्संहितायाम्—

५३. उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥ इति।

ब्रह्म के विषय में शास्त्र की प्रामाणिकता भी सिद्ध की गई है—'किन्तु उसकी [प्रामाणिकता तो] समन्वय करने के बाद ही सिद्ध होती है' (ब्र० सू० १।१।४) [शास्त्र की प्रामाणिकता तभी सम्भव है जब विष्णु के अर्थ में ही उन शास्त्रों या श्रुतियों का समन्वय किया जाय। समन्वय का अर्थ है सम्यक् (ठीक) प्रकार से सम्बन्ध या अन्वय दिखलाना।] उपक्रम (आरम्भ) आदि चिह्नों के द्वारा समन्वय (शास्त्र के अर्थ का निर्णय) होता है। बृहत्संहिता में कहा गया है—'उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति शास्त्र का तात्पर्य निर्णय करने के समय लिङ्ग (चिह्न Mark) के रूप में रहते हैं।'

विशेष—श्रुति के अर्थ का संशय होने पर उपक्रम आदि लिंगों के द्वारा उसका निर्णय होता है, कम से कम तात्पर्य तो समझा जा सकता है, भले ही व्याख्या न हो सके। प्रतिपाद्य विषय का आरम्भ करना **उपक्रम** (Commencement) है। आरम्भ को देखकर बीच के वाक्यों का अर्थ अपने आप खुल ही जाता है। जब इसके बाद भी संशय रह जाय तो **उपसंहार** (Conclusion) का सहारा लें। विस्तारपूर्वक निरूपित बातों का सारांश करना उपसंहार है, जिससे अर्थनिर्णय में सहायता मिलती है। फिर भी यदि सन्देह रहे तो एक ही बात को एक ही प्रकार से कहे जाने वाले स्थलों अर्थात्

अभ्यास (Reiteration) का आश्रय लें। इसके बाद **अपूर्वता** (Novelty) का आग्रह है जिसमें किसी दूसरे प्रमाण से असिद्ध नई बात को दृढ़तापूर्वक कहा जाता है। संभव है कि नई बात के प्रतिपादन में ही श्रुति का अर्थ छिपा हो। प्रयोजन से युक्त होना **फल** (Result) है। इसकी आवश्यकता अपूर्वता के बाद पड़ती है। अपूर्वता में मुख्य का प्रतिपादन होता है जब कि फल में मुख्य वस्तु के उद्देश्य का वर्णन होता है। फल के बाद भी सन्देह होने पर **अर्थवाद** (Eulogy) का आश्रय लेते हैं जिसमें स्तुति या निन्दा का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन होता है। अन्त में उपपत्ति या युक्ति (Demonstration) ही सहायक होती है जिससे अर्थ का निर्णय होता है। इन लिङ्गों में पूर्वापर के क्रम से प्रबलता बढ़ती जाती है। कहा है—उपक्रमादिलिङ्गानां बलीयो ह्युत्तरोत्तरम्। मीमांसा-दर्शन में इन लिङ्गों का बड़ा महत्व है क्योंकि श्रुति में कहे गये विधिवाक्यों का अर्थ-निर्णय करना उनका प्रथम कर्त्तव्य है। विशेष विवरण के लिए लौगाक्षिभास्कर का अर्थसंग्रह या आपदेव का मीमांसान्यायप्रकाश देखना चाहिए।

(१८. पूर्णप्रज्ञ-दर्शन का उपसंहार)

एवं वेदान्ततात्पर्यवशात् तदेव ब्रह्म शास्त्रगम्यमित्युक्तं भवति। दिङ्मात्रमत्र प्रादर्शि। शिष्टमानन्दतीर्थभाष्यव्याख्यानादौ द्रष्टव्यम्। ग्रन्थबहुत्वभियोपरम्यत इति।

इस प्रकार वेदान्तों (उपनिषदों) का तात्पर्य जानकर वही ब्रह्म शास्त्र के द्वारा बोधनीय है—यही कहने का अभिप्राय है। हमने यहाँ केवल दिशा का निर्देश किया है, बाकी बातें आनन्दतीर्थ के [ब्रह्मसूत्र] - भाष्य के व्याख्यान आदि में देखनी चाहिए। ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से अब हम रुकते हैं।

विशेष—आनन्दतीर्थ या पूर्णप्रज्ञ (समय ११२०—११९९ ई०) ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा था जिससे द्वैतवाद का प्रवर्तन हुआ। इस भाष्य पर जयतीर्थ (११९३–१२६८), श्रीनिवासतीर्थ (१३००), विद्याधीश आदि ने टीकायें की हैं।

एतच्च रहस्यं पूर्णप्रज्ञेन मध्यमन्दिरेण वायोस्तृतीयावतारम्मन्येन निरूपितम्।

५४. प्रथमस्तु हनूमान्स्याद् द्वितीयो भीम एव च।
पूर्णप्रज्ञस्तृतीयश्च भगवत्कार्यसाधकः॥

एतदेवाभिप्रेत्य तत्र तत्र ग्रन्थसमाप्ताविदं पद्यं लिख्यते—

५५. यस्य त्रीण्युदितानि वेदवचने दिव्यानि रूपाण्यलं
बट् तद्दर्शतमित्थमेव निहितं देवस्य भर्गो महत्।
वायो रामवचोनयं प्रथमकं पृक्षो द्वितीयं वपु-
र्मध्वो यत्तु तृतीयमेतदमुना ग्रन्थः कृतः केशवे ॥
(म० भा० ता० ३२।१८१)।

पूर्णप्रज्ञ जो अपने को वायु का तीसरा अवतार मानते हैं तथा जिनका नाम मध्व-मन्दिर भी है, उन्होंने इन सभी रहस्यों का निरूपण किया है। [वायु के तीनों अवतार ये हैं—] 'पहले हनूमान् हैं, दूसरे भीम और तीसरे पूर्णप्रज्ञ—ये सब भगवान् के कार्यों के साधक हैं।' इसी को लक्ष्य में रखकर जहाँ-तहाँ (जैसे—ब्रह्मसूत्रभाष्य, विष्णुतत्त्वविनिर्णय, महाभारततात्पर्यनिर्णय आदि ग्रन्थों में) ग्रन्थ की समाप्ति होने पर उन्होंने यह पद्य लिखा है—'(५५) वेद के वाक्यों में जिसके तीन रूप पर्याप्त रूप से मिलते हैं (कहे गये हैं). 'बडित्था' और 'तद्दर्शतम्' (ऋ० १।१४१।१) आदि श्रुतियों में इस रूप में ही (बट् = बलात्मक, दर्शतम्= ज्ञानपूर्ण) जिस वायु-देव के भर्ग (भरण और गमन) रूपी गुण और महत् नामक तत्त्व माने गये हैं, उस वायु का पहला शरीर वह है जो राम के सन्देश को [सीता के पास] पहुँचाने वाला है (= हनुमान् का अवतार), दूसरा शरीर पृक्ष (सेनानाशक, पृ = पृतना = सेना, क्ष = √क्षि = नाश करना, कौरव-सैन्य का विनाश करनेवाला) भीम का है और तीसरा शरीर मध्व का है जिनके द्वारा केशव के लिए यह ग्रन्थ लिखा गया।' (महाभारततात्पर्यनिर्णय ३२।१८१)।

विशेष—हनुमान् का उल्लेख 'रामवचोनयम्' के द्वारा हुआ है। इसके तीन अर्थ हो सकते हैं। राम के वचनों अर्थात् संवाद को सीता तक पहुँचाने वाला; राम के विषय की बातें जैसे मूलरामायण, उसे शिष्यों तक पहुँचानेवाला; राम की वाणी द्वारा जो नय (आज्ञा) मिले उसको पालनेवाला। 'मध्व' शब्द में मधु और व हैं। मधु का आनन्द अर्थ है और व का तीर्थ, जिसका तीर्थ (शास्त्र) आनन्दकर हो। आनन्दतीर्थ नाम पड़ने का भी यही रहस्य है। कुल मिलाकर चार शब्दों से इनका बोध होता है—मध्वाचार्य, आनन्दतीर्थ, पूर्णप्रज्ञ और मध्यमन्दिर। मध्व के विषय में कहा है—

मध्वित्यानन्द उद्दिष्टो वेति तीर्थमुदाहृतम्।
मध्व आनन्दतीर्थः स्यात्तृतीया मारुती तनुः ॥

बलित्था आदि मन्त्र का अर्थ आगे देखें।

एतत्पद्यार्थस्तु 'बळित्था तद्वपुषे धायि दर्शतं देवस्य भर्गः सहसो यतोऽजनि' (ऋ० १।१४१।१) इत्यादिश्रुतिपर्यालोचनयाऽवगम्यत इति। तस्मात्सर्वस्य शास्त्रस्य विष्णुतत्त्वं सर्वोत्तममित्यत्र तात्पर्यमिति सर्वं निरवद्यम्।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे पूर्णप्रज्ञदर्शनम्।



इस पद्य का अर्थ निम्न श्रुतियों का सम्यक् मनन करने से आता है—'देव (वायु) का वह दर्शनीय तेज (भर्गः) शारीरिक व्यवहार के लिए एवं बलप्राप्ति के लिए (बट्) इस प्रकार से (इत्था=इत्थं) धारण किया जाता है क्योंकि वह बल से (सहसः) ही उत्पन्न हुआ है।' (ऋ० १।१४१।१)। इसलिए सभी शास्त्रों का तात्पर्य यही है कि विष्णुतत्त्व ही सबसे अच्छा है। इस प्रकार सब कुछ ठीक (निर्दोष) है।

इस प्रकार श्रीमान् सायण माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में पूर्णप्रज्ञ-दर्शन समाप्त हुआ।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां पूर्णप्रज्ञदर्शनमवसितम्॥



(६) नकुलीश-पाशुपत-दर्शनम्

कार्यं कलादि किल कारणमीश्वरोऽसौ
योगस्तयोर्विधिरथापि जपादिरूपः ।
दुःखान्त इत्यविहतं विहितं प्रपञ्चं
वन्दे तमादिशति पाशुपतं मतं यः ॥—ऋषिः ।

(१. वैष्णव-दर्शनों में दोष)

तदेतद्वैष्णवमतं दासत्वादिपदवेदनीयं परतन्त्रत्वं, दुःखावहत्वान्न दुःखान्तादीप्सितास्पदम् इत्यरोचयमानाः, पारमैश्वर्यं कामयमानाः, 'पराभिमता मुक्ता न भवन्ति, परतन्त्रत्वात् , पारमैश्वर्यरहितत्वात् , अस्मदादिवत्', 'मुक्तात्मानश्च परमेश्वरगुणसंबन्धिनः, पुरुषत्वे सति समस्तदुःखबीजविधुरत्वात्परमेश्वरवत्'—इत्याद्यनुमानं प्रमाणं प्रतिपद्यमानाः, केचन माहेश्वराः परमपुरुषार्थसाधनं पञ्चार्थप्रपञ्चनपरं पाशुपतशास्त्रमाश्रयन्ते ।

वैष्णवों का यह मत तो परतन्त्रता का ही दूसरा नाम है जिसका बोध दासत्वादि शब्दों के द्वारा होता है, [किसी का दास होना] सचमुच बहुत दुःखकर है, इसमें दुःख का अन्त नहीं होता इसलिए यह कभी भी अभीष्ट नहीं हो सकता [क्योंकि जब परतन्त्रता रह ही गई, विष्णु के दास ही बने रह गये, तब मुक्ति किस काम की ?]—इस प्रकार माहेश्वर-सम्प्रदाय के कुछ दार्शनिकों को यह मत अच्छा नहीं लगता। वे लोग [मुक्त होने पर साक्षात्] परमेश्वर ही बन जाने की कामना करते हैं। वे निम्नोक्त प्रकार से दिये गये अनुमान को प्रमाण मानते हैं—

(१) इन प्रतिपक्षियों के द्वारा वर्णित मुक्त पुरुष वास्तव में मुक्त नहीं हैं (प्रतिज्ञा), क्योंकि मुक्त होने पर भी ये परतन्त्र हैं या इनमें परमेश्वरता (अन्तिम ऐश्वर्य) का अभाव है (हेतु), जैसे हम लोगों के समान बद्धजीव होते हैं (उदाहरण)।

(२) मुक्त आत्मायें वे ही हैं जिनमें परमेश्वरकी तरह ही गुण हों (प्रतिज्ञा) क्योंकि पुरुषत्व होने पर भी ये सारे दुःखों के कारणों से रहित हैं (हेतु), जिस प्रकार साक्षात् परमेश्वर होते हैं (उदाहरण)।

ये माहेश्वर-सम्प्रदाय वाले परम पुरुषार्थ का साधन पाशुपत-शास्त्र को ही मानते हैं जिसमें पाँच पदार्थों का विस्तार किया जाता है।

विशेष—वैष्णव-दर्शन में मुक्त पुरुष को ईश्वर का दास का रूप देते हैं। मुक्त होने पर भी दासता ही रह गई तो मुक्ति का अर्थ ही क्या रहा ? मुक्ति तो वह है जो सर्वोच्च पद पर पहुँचा दे। इसलिए माहेश्वर-दर्शन में मुक्त को साक्षात् ईश्वर ही माना जाता है।

माहेश्वर-सम्प्रदाय में बहुत से अवान्तर भेद हैं। धार्मिक दृष्टि से इनके चार भेद हैं—पाशुपत, शैव, कालामुख और कापालिक जिनके मूलग्रन्थ शैवागम कहलाते हैं। यह आगम वैदिक और अवैदिक दोनों है। माहेश्वर-सम्प्रदाय में दार्शनिक दृष्टिकोण से भी चार भेद हैं—पाशुपतदर्शन (जिसका प्रचार गुजरात और राजपूताना में था), शैवदर्शन (तामिल देश में), वीरशैवदर्शन (कर्नाटक) तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन या त्रिक या स्पन्द (काश्मीर)। पाशुपत-दर्शन के संस्थापक नकुलीश (या लकुलीश) थे। शिवपुराण में 'कारवण-माहात्म्य' से पता चलता है कि भृगुकच्छ के पास कारबन नामक स्थान में इनका जन्म हुआ था। नकुलीश की मूर्तियाँ राजपूताना और गुजरात में बहुत मिलती हैं। इन मूर्तियों में सिर केश से ढँका रहता है, दाहिने हाथ में बीजपूर का फल तथा बायें में लगुड़ (लाठी) रहता है। लगुड़ धारण करने के कारण ही इन्हें लगुड़ेश >लकुलीश >नकुलीश कहते हैं। भगवान् शंकर के १८ अवतारों में लकुलीश प्रथम हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इनका समय विक्रम संवत् के आरम्भ होने के समय का है। पाशुपतों और न्यायवैशेषिक में घना सम्बन्ध है। गुणरत्न ने तो नैयायिकों को शैव तथा वैशेषिकों को पाशुपत कहा भी है। भारद्वाज उद्योतकर (न्यायवार्तिक के रचयिता) अपने को 'पाशुपताचार्य' कहते हैं। पाशुपतों का मूल सूत्रग्रंथ 'माहेश्वररचित पाशुपतसूत्र' अनन्तशयन ग्रन्थमाला में कौण्डिन्यरचित 'पञ्चार्थी-भाष्य' के साथ प्रकाशित हुआ है जिसे राशीकरभाष्य या कौण्डिन्यभाष्य भी कहते हैं।

पाशुपत-दर्शन की मूल भित्ति पांच पदार्थों—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त—के विवेचन पर आधारित है। इनका विवरण हमें आगे प्राप्त होगा। शैवदर्शन के सांगोपांग विवेचन के लिए देखें—डा० यदुवंशी का प्रबन्ध-ग्रन्थ 'शैवमत' (वि० राष्ट्र० परि० पटना से प्रकाशित)।

'पाशुपत' शब्द पशुपति (= शिव) से बना है। पशु सभी प्राणियों को कहते हैं। लिङ्गपुराण में कहा है—

ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च देवदेवस्य शूलिनः।
पशवः परिकीर्त्यन्ते समस्ताः पशुवर्तिनः॥

जिस प्रकार हमारे लिए गाय, भैंस आदि पशु हैं उसी प्रकार महेश्वर के लिए सारे प्राणिमात्र पशु हैं क्योंकि सबों में ज्ञान का अभाव है, पशु की तरह आचरण है। इन पशुओं के पति महादेव हैं, अतः वह वे पशुपति कहलाते हैं। जीवों की परवशता पर शेक्सपीयर का कहना है—

Like flies to the wanton lads, we are all to the gods,
They kill us for their sport.

'चंचल बालकों के लिये मक्खियों का जो महत्त्व है वही देवताओं के लिए हमारा है। वे खेल-खेल में हमें मार डालते हैं।' किन्तु शिव का कल्याणकारी रूप भी है।

(२. पाशुपत-सूत्र की व्याख्या—गुरु का स्वरूप)

तत्रेदमादिसूत्रम्—'अथातः पशुपतेः पाशुपतयोगविधिं व्याख्यास्याम' इति। अस्यार्थः—अत्राथशब्दः पूर्वप्रकृतापेक्षः। पूर्वप्रकृतश्च गुरुं प्रति शिष्यस्य प्रश्नः। गुरुस्वरूपं गणकारिकायां निरूपितम्—

१. पञ्चकास्त्वष्ट विज्ञेया गणश्चैकस्त्रिकात्मकः।
वेत्ता नवगणस्यास्य संस्कर्त्ता गुरुरुच्यते॥

२. लाभा मला उपायाश्च देशावस्थाविशुद्धयः।
दीक्षाकारिबलान्यष्टौ पञ्चकास्त्रीणि वृत्तयः॥

'तिस्रो वृत्तयः' इति प्रयोक्तव्ये 'त्रीणि वृत्तयः' इति च्छान्दसः प्रयोगः।

उस (पाशुपत-शास्त्र) का यह पहला सूत्र है—'अब इसलिए पशुपति के पाशुपतशास्त्र के योग और विधि की व्याख्या करेंगे।' इसका अर्थ इस प्रकार है—यहाँ 'अथ' शब्द पहले के कुछ प्रसंग का द्योतक है। पहले का कुछ प्रसंग यही है कि गुरु के प्रति शिष्य का प्रश्न हो चुका है। [प्रश्न यही है कि त्रिविध दुःखों का सर्वथा विनाश कैसे हो ? यह दुःखान्त के विषय का प्रश्न है।] गुरु का स्वरूप गणकारिका में निश्चित किया गया है—'आठ पंचक (पाँच-पाँच अवान्तर भेदों से युक्त गण) जानने योग्य हैं और एक गण तीन अवान्तर भेदों का है। इन नव गणों का ज्ञाता और जो संस्कार करनेवाला हो वह गुरु कहलाता है॥ १॥ लाभ, मल, उपाय, देश, अवस्था, विशुद्धि, दीक्षाकारी और

बल ये आठ पंचक (प्रत्येक के पाँच भेद) हैं। वृत्तियाँ (कार्य) तीन हैं ॥२॥ मूलश्लोक में 'तिस्रो वृत्तयः' (दोनों स्त्रीलिङ्ग शब्द) का प्रयोग करना चाहिए किन्तु 'त्रीणि (नपुं०) वृत्तयः (स्त्री०)' प्रयोग है यह वैदिक व्यत्यय का उदाहरण है। ['व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) में लिङ्ग का व्यत्यय]।

विशेष—नव गणों का ज्ञाता गुरु है। इन गणों में प्रथम आठ पंचक (Pentads) हैं अर्थात् इनमें प्रत्येक के पाँच-पाँच अवान्तर भेद हैं। नवें गण को त्रिक कहते हैं क्योंकि इसके तीन ही भेद हैं। इनकी गणना करें—

(१) **लाभ** (Acquisition)—ज्ञान, तपस्, नित्यत्व, स्थिति, शुद्धि।

(२) **मल** (Impurity)—मिथ्याज्ञान, अधर्म, आसक्तिहेतु, च्युति, पशुत्वमूल।

(३) **उपाय** (Expedient)—वासचर्या, जप, ध्यान, रुद्रस्मृति, प्रपत्ति।

(४) **देश** (Locality)—गुरु, जन, गुहादेश, श्मशान, रुद्र।

(५) **अवस्था** (Perseverence)—व्यक्ता, अव्यक्ता, जया, दान, निष्ठा।

(६) **विशुद्धि** (Purification)—प्रत्येक मल की हानि, जैसे मिथ्याज्ञानहानि, अधर्महानि आदि।

(७) **दीक्षाकारिन्** (Initiation)—द्रव्य, काल, क्रिया, मूर्ति, गुरु।

(८) **बल** (Power)—गुरुभक्ति, बुद्धिप्रसाद, द्वन्द्वजय, धर्म, अप्रमाद।

(९) **वृत्ति** (Functions) = जीविकोपाय—भिक्षा, उत्सृष्टग्रहण, यथालब्धग्रहण। इन गणों का संक्षिप्त वर्णन आगे प्रस्तुत किया जायगा।

तत्र विधीयमानमुपायफलं लाभः। ज्ञानतपोनित्यत्वस्थितिशुद्धिभेदात्पञ्चविधः। तदाह हरदत्ताचार्यः—

ज्ञानं तपोऽथ नित्यत्वं स्थितिः शुद्धिश्च पञ्चमम्।

आत्माश्रितो दुष्टभावो मलः। स मिथ्याज्ञानादिभेदात्पञ्चविधः। तदप्याह—

३. मिथ्याज्ञानमधर्मश्च सक्तिहेतुश्च्युतिस्तथा।
पशुत्वमूलं पञ्चैते तन्त्रे हेया विविक्तितः* ॥

(गणकारिका, ८) इति।

---

* हेयाधिकारतः—इति क्वचित्पाठः।

(१) उपाय के फलों को प्राप्त करने का नाम **लाभ** है। ज्ञान, तपस्, नित्यत्व, स्थिति और शुद्धि के भेद से पाँच प्रकार का है, जैसा कि हरदत्ताचार्य कहते हैं—'ज्ञान, तपस्या, नित्यता, स्थिति (धैर्य) और पाँचवाँ शुद्धि (स्वच्छता, पवित्रता)-ये लाभ हैं।'

(२) आत्मा में अवस्थित दुष्ट भावों (Condition) को **मल** कहते हैं। मिथ्याज्ञान आदि के भेद से वह पाँच प्रकार का है। यह भी कहा है—'मिथ्याज्ञान, अधर्म (Demerit), सक्तिहेतु (Causes of Attachment), च्युति (सदाचार से भ्रष्ट होना) और पशुत्वमूल (जीव प्राप्त करने के अनादि संस्कार), इन पाँच मलों को तन्त्र में (इस शास्त्र में) विवेक द्वारा त्यागना चाहिए।'

साधकस्य शुद्धिहेतुरुपायो वासचर्यादिभेदात्पञ्चविधः। तदप्याह—

४. वासचर्या जपो ध्यानं सदा रुद्रस्मृतिस्तथा।
प्रपत्तिश्चेति लाभानामुपायाः पञ्च निश्चिताः॥ इति।

येनार्थानुसंधानपूर्वकं ज्ञानतपोवृद्धी प्राप्नोति स देशो गुरुजनादिः। यदाह—

५. गुरुर्जनो गुहादेशः श्मशानं रुद्र एव च। इति।

(३) साधक की शुद्धि के कारणों को **उपाय** कहते है जिसके वासचर्या आदि पाँच भेद हैं। इसे भी कहा है—वासचर्या (अच्छी तरह निवास करने के नियम), जप, ध्यान, रुद्र का सदा स्मरण करना और प्रपत्ति (शरणागति)—ये लाभों के उपाय निश्चित किये गए हैं। [वासचर्या आदि पाँच प्रकार की शुद्धि करके साधक पाँच लाभों को प्राप्त करता है। उपाय=लाभ के उपाय, लाभ=उपाय के फलों की प्राप्ति]।

(४) जिनके पास रहकर अर्थों (=कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त) का अनुसन्धान करते हुए [साधक] ज्ञान और तपस्या की वृद्धि प्राप्त करता है वह देश है जैसे गुरु, जन आदि। उसे कहा है—गुरु, जन (ज्ञानियों की सभा), गुहा-देश (गुफा, एकान्त स्थान), श्मशान तथा रुद्र। [इनके पास रहकर साधक ज्ञान की वृद्धि करता है (गुरु और जन के साथ), तथा तपस्या की भी वृद्धि करता है (अवशिष्ट तीनों के साथ)]।

आ लाभप्राप्तेरेकमर्यादावस्थितस्य यदवस्थानं सावस्था व्यक्तादिविशेषणविशिष्टा। तदुक्तम्—

व्यक्ताऽव्यक्ता जया दानं निष्ठा चैव हि पञ्चमम्। इति।

मिथ्याज्ञानादीनामत्यन्तव्यपोहो विशुद्धिः। सा प्रतियोगि-भेदात्पञ्चविधा। तदुक्तम्—

६. अज्ञानस्याप्यधर्मस्य हानिः सङ्करस्य च।
च्युतेर्हानिः पशुत्वस्य शुद्धिः पञ्चविधा स्मृता॥ इति।

(५) लाभ की प्राप्ति पर्यन्त जब साधक एक ही प्रकार से अवस्थित रहता है तब उसकी यही अवस्थिति **अवस्था** कहलाती है जिसमें व्यक्त आदि विशेषण लगाते हैं [तथा पाँच प्रकार की होती है]। यह कहा है—व्यक्तावस्था (जब किसी साधक के उपाय अनुष्ठान आदि प्रकाशित हों, लोगों की स्तुति-निन्दा की चिन्ता न रहे), अव्यक्तावस्था (जब साधक सब गुप्त रूप से करे), जयावस्था (मन और इन्द्रियों की विजय करके अवस्थित रहना), दानावस्था (सब कुछ त्याग देना) और निष्ठावस्था (महेश्वर में सदा अविच्छिन्न भक्ति रखना), यह पाँचवीं है।

(६) मिथ्याज्ञान आदि का बिलकुल (सर्वथा) विनाश हो जाना **विशुद्धि** है। प्रतियोगियों (जिनका विनाश होता है, Partner, Competitor) के पाँच भेद होने के कारण यह भी पाँच प्रकार की है। [मल पाँच प्रकार के हैं, उनमें प्रत्येक का विनाश करना अभीष्ट है, इसलिए इस विशुद्धि के पाँच भेद हैं।] कहा है—अज्ञानहानि, अधर्महानि, आसक्तिहेतु की हानि, च्युतिहानि और पशुत्वहानि—शुद्धि पाँच प्रकार की मानी गयी है।

दीक्षाकारिपञ्चकं चोक्तम्-

७. द्रव्यं कालः क्रिया मूर्तिर्गुरुश्चैव हि पञ्चमः। इति।

बलपञ्चकं च-

८. गुरुभक्तिः प्रसादश्च मतेर्द्वन्द्वजयस्तथा।
धर्मश्चैवाप्रमादश्च बलं पञ्चविधं स्मृतम्॥ इति।

पञ्चमल-लघूकरणार्थमागमाविरोधिनोऽन्नार्जनोपाया वृत्तयो भैक्ष्योत्सृष्टयथालब्धाभिधा इति। शेषमशेषमाकर एवावगन्तव्यम्।

(७) पाँच **दीक्षाकारियों** (दीक्षा के तत्त्वों Aspects of initiation) का कथन हुआ है—द्रव्य (दीक्षा के समय उपयोगी वस्तुएँ), काल (शुभ मुहूर्त, दीक्षा के योग्य समय), क्रिया (गुरुसेवनादि, दीक्षा की विधियाँ), मूर्ति (देवप्रतिमा) और गुरु, यह पाँचवाँ है।

(८) पाँच **बल** हैं—गुरुभक्ति, बुद्धि की निर्मलता, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों पर विजय, धर्म और अप्रमाद (सावधान रहना), इस तरह बल पाँच प्रकार का माना गया है।

(९) पाँच मलों को क्षीण (कम) करने के लिये, आगमों (शास्त्रों) के विरुद्ध नहीं जाने वाले (शास्त्रानुकूल कर्म करने वाले) पुरुषों के अन्नार्जन (जीविका-निर्वाह) के उपायों को **वृत्ति** कहते हैं। [पाँच मलों का विनाश वासचर्या आदि उपायों से होता है। किन्तु किसी भी वस्तु का तुरत विनाश कर देना सम्भव नहीं है अतः पहले इन्हें कम करते हैं। इसी में वृत्तियाँ काम देती हैं जो तीन हैं—] भिक्षा में मिले हुए अन्न पर निर्वाह करना, लोग जिसे छोड़ दें उसे ग्रहण करना (उत्सृष्ट) तथा जो मिल जाय उसे ही लेना। (यहाँ ध्येय है कि इन सभी पदार्थों का ग्रहण करते समय शास्त्र के विरोध पर भी ध्यान दिया जाता है, नहीं तो कीटादि-दूषित अन्न या नीचादि व्यक्तियों से मिला अन्न भी ग्राह्य ही होगा। शास्त्र इस प्रकार के अन्न का विरोध करते हैं अतः इन्हें लेना वृत्ति नहीं है।) अवशिष्ट सारी बातें आकर-ग्रंथों से ही जाननी चाहिएँ।

विशेष—प्रथम सूत्र में स्थित 'अर्थ' शब्द की व्याख्या में ही गुरु के द्वारा ज्ञातव्य इन नव गणों का उल्लेख कर दिया गया है। अब दूसरे शब्द 'अतः' की व्याख्या में दुःखान्त का, 'पशु' के द्वारा कार्य का, 'पति' के द्वारा कारण का तथा 'योग' और 'विधि' का स्वतंत्र रूप से विचार होगा, इस प्रकार पाँचों पदार्थों का वर्णन हो जायगा।

(२ क. सूत्र के अन्य शब्द—अतः, पति आदि)

अतःशब्देन दुःखान्तस्य प्रतिपादनम्। आध्यात्मिकादि-दुःखत्रयव्यपोहप्रश्नार्थत्वात्तस्य। पशुशब्देन कार्यस्य। परतन्त्र-वचनत्वात्तस्य। पतिशब्देन कारणस्य। 'ईश्वरः पतिरीशिता' इति जगत्कारणीभूतेश्वरवचनत्वात्तस्य। योगविधी तु प्रसिद्धौ।

'अतः' (इसलिए) शब्द के द्वारा दुःखान्त का प्रतिपादन होता है क्योंकि इस शब्द से आध्यात्मिक आदि तीन दुःखों के विनाश के लिए प्रश्न करना व्यक्त

होता है। [जब शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया कि दुःखान्त कैसे हो तब उसका उत्तर देने के लिए गुरु तैयार हुए और बोले—'इसलिए'··· । अब यहाँ 'इसलिए' के द्वारा 'दुःखान्त के लिए' का बोध हो गया। पाँच पदार्थों में दुःखान्त भी एक है। जिसकी ध्वनि प्रथम सूत्र में मिलती है। यही नहीं, अन्य पदार्थ भी इस सूत्र से ध्वनित हो जाते हैं।]

'पशु' शब्द के द्वारा **कार्य** का प्रतिपादन होता है क्योंकि वह (पशु या कार्य) परतंत्र होता है। [पशु पति के वश में रहता है और कार्य कारण के अधीन है इस समानता से दोनों की एकरूपता सिद्ध हो जाती है।] 'पति' शब्द से **कारण** का बोध होता है क्योंकि 'ईश्वर शासन करने वाला पति है' इस वाक्य में संसार के कारणस्वरूप ईश्वर का वर्णन है। [पति शब्द से ईश्वर का बोध होता है और ईश्वर संसार का कारण है। अतः पति के द्वारा कारण की ध्वनि निकलती है।] **योग** और **विधि** तो अपने आप में स्पष्ट है (शब्दों से ही व्यक्त हैं)।

विशेष—पाशुपत-दर्शन में कहे गये पाँचों पदार्थों का प्रतिपादन प्रथम सूत्र के द्वारा ही हो गया है। सूत्र का अर्थ है कि शिष्य के द्वारा पूछे गये प्रश्न के उत्तर में गुरु दुःखान्त की सिद्धि के लिए महेश्वर के द्वारा प्रतिपादित महेश्वर की प्राप्ति के लिए जो योग (Union) है उसकी विधि बतलाते हैं। इस प्रकार पाशुपत शास्त्र के आरम्भ की यह प्रतिज्ञा है। पशु के द्वारा कार्य, पति के द्वारा कारण, अतः के द्वारा दुःखान्त—इस प्रकार इन तीन पदार्थों की ध्वनि है; योग और विधि तो शब्दों से ही स्पष्ट हैं।

सभी परतन्त्र पदार्थों (पशु, मनुष्य, द्रव्य) को पशु कहते हैं। जिस प्रकार पशु अपने स्वामियों के अधीन होते हैं उसी प्रकार ये पारिभाषिक 'पशु' भी अपने पति (ईश्वर) के अधीन हैं। चिदात्मक या अचिदात्मक, सभी पदार्थ पशु (कार्य) हैं जिनका कारण स्वतंत्र परमेश्वर है। परतन्त्र सदा स्वतन्त्र के अधीन रहता है। जप, ध्यान आदि को योग कहते हैं और भस्मलेपन, स्नान आदि के व्रत विधि हैं। दुःख से निवृत्त होने पर ऐश्वर्य की प्राप्ति करना दुःखान्त है। ये ही पाँच तत्त्व हैं क्योंकि परम पुरुषार्थ के साधन हैं। **तत्त्व वही है जिसका ज्ञान परम-पुरुषार्थ का साधन हो।** प्रस्तुत दर्शन में इन पाँचों का ज्ञान उसकी प्राप्ति के लिए अनिवार्य है। पंचम तत्त्व (दुःखान्त) तो परम-पुरुषार्थ के रूप में ही है अतः उसका ज्ञान तो आवश्यक है ही; दुःख के बीज के रूप में अस्वतंत्र (कार्य, पशु) को जानना भी नितान्त आवश्यक है क्योंकि इसीकी निवृत्ति करनी है। ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए स्वतंत्र ईश्वर (कारण, पति) को जानना

अनिवार्य है, यह कौन अस्वीकार करेगा ? ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए भस्म-स्नानादि विधि के साथ जप-ध्यानादि योग भी ज्ञेय हैं। इस प्रकार पाँचों का ज्ञान परमावश्यक है।

(३. दुःखान्त का निरूपण)

तत्र दुःखान्तो द्विविधः—अनात्मकः सात्मकश्चेति। तत्रानात्मकः सर्वदुःखानामत्यन्तोच्छेदरूपः। सात्मकस्तु दृक्क्रियाशक्तिलक्षणमैश्वर्यम्। तत्र दृक्शक्तिरेकापि विषयभेदात्पञ्चविधोपचर्यते—दर्शनं श्रवणं मननं विज्ञानं सर्वज्ञत्वं चेति।

इनमें दुःखान्त दो प्रकार का होता है—अनात्मक और सात्मक। अनात्मक (Impersonal) दुःखान्त उसे कहते हैं जिसमें सभी दुःखों का पूर्ण रूप से विनाश हो जाय [इसके बाद ऐश्वर्य की प्राप्ति न हो]। सात्मक (Personal) दुःखान्त वह है जिसमें दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति से युक्त (लक्षित) ऐश्वर्य की भी प्राप्ति हो। दृक्शक्ति (बुद्धि या ज्ञान की शक्ति) यद्यपि एक है किन्तु विषयों (Objects) की विभिन्नता के कारण पाँच प्रकार से व्यक्त की जाती है—दर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान (विवेचन) और सर्वज्ञता। [अब इनमें प्रत्येक की परिभाषा बतलाई जायगी।]

तत्र सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्टाशेष-चाक्षुष-स्पर्शादिविषयं ज्ञानं दर्शनम्। अशेषशब्दविषयं सिद्धिज्ञानं श्रवणम्। समस्तचिन्ताविषयं सिद्धिज्ञानं मननम्। निरवशेषशास्त्रविषयं ग्रन्थतोऽर्थतश्च सिद्धिज्ञानं विज्ञानम्। स्वशास्त्रं येनोच्यते। उक्तानुक्ताशेषार्थेषु समासविस्तरविभागविशेषतश्च तत्त्वव्याप्तसदोदितसिद्धिज्ञानं सर्वज्ञत्वमिति। एषा धीशक्तिः।

दर्शन उस ज्ञान-शक्ति का नाम है जिसके द्वारा समस्त चाक्षुष विषयों (नेत्र सम्बन्धी जैसे रूप और तदाश्रित द्रव्य), स्पर्श सम्बन्धी विषयों, [रस सम्बन्धी विषयों और घ्राण सम्बन्धी विषयों] का ज्ञान होता है चाहे वे विषय कितने ही सूक्ष्म हों (परमाणु आदि) या किसी वस्तु के द्वारा व्यवहित (Intervened) हों या दूर पर स्थित हों। [बद्ध जीव सभी चाक्षुष, स्पार्शनादि विषयों को नहीं जान सकते, वे दूरस्थ, व्यवहित या सूक्ष्म पदार्थों को भी नहीं जान सकते किन्तु मुक्त पुरुषों में यह ऐश्वर्यशक्ति आ जाती है कि वे ईश्वर की

तरह इन सारे विषयों की जानकारी कर सकते हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे वे नहीं जान पाते।] सभी शब्दों के विषय में (सूक्ष्म, दूरस्थ या पशु-पक्षी आदि के द्वारा किये गए शब्द) सिद्धि के रूप में उत्पन्न ज्ञान को **श्रवण** कहते है। [यद्यपि श्रवण दर्शन में अन्तर्भूत हो सकता है पर तत्त्वज्ञान में इसकी विशेष उपयोगिता होने के कारण इसे पृथक् रखा गया है। इसमें सिद्धि अर्थात् योगादि साधनों से उत्पन्न एक विशेष शक्ति के द्वारा ज्ञान होता है।] जिन-जिन विषयों का चिन्तन संभव है उन सबों का केवल चिन्तन करते ही [बिना शास्त्रादि देखे हुए ही] योग की सिद्धि द्वारा ज्ञान पा लेना **मनन** (Cogitation) कहलाता है। सिद्धि के द्वारा सभी शास्त्रों के विषयों को ग्रन्थ (पंक्ति) और उसके अर्थ के साथ जान लेना **विज्ञान** है। [ग्रन्थ में इस तरह की पंक्ति है और उसका यह अर्थ है, यह जान लेना विज्ञान है।] इसी से अपने (पाशुपत) शास्त्र का प्रवचन होता है (शास्त्र की असंदिग्ध व्याख्या में विज्ञान ही उपयोगी है)।

[गुरु के द्वारा] उपदिष्ट या अनुपदिष्ट, सभी अर्थों (विषयों) में समास, विस्तर, विभाग और विशेष के द्वारा (इनका वर्णन इसी दर्शन में बाद में होगा) तत्त्व के रूप में संबद्ध और सदैव प्रकाशित सिद्धि-ज्ञान को **सर्वज्ञत्व** कहते हैं। [यह वैसा ज्ञान है जो सदा उदित या प्रकाशित रहता है, कभी छिपता नहीं। तत्त्वों के रूप में यह सदा बँधा हुआ रहता है। बातें बतलाई गई हों या नहीं, सभी सर्वज्ञ को मालूम हो जाती हैं, वह भी संक्षिप्त (समास) विस्तृत, विश्लिष्ट (Analysea) तथा विशिष्ट (Specialised) रूप में। ज्ञान शक्ति की यहाँ पराकाष्ठा है।] यह (दृक्शक्ति) ज्ञान (बुद्धि intellect) की शक्ति है।

क्रियाशक्तिरेकापि त्रिविधोपचर्यते—मनोजवित्वं कामरूपित्वं विकरणधर्मित्वं चेति। तत्र निरतिशयशीघ्रकारित्वं मनोजवित्वम्। कर्मादिनिरपेक्षस्य स्वेच्छया एवानन्त-सलक्षण-विलक्षण-स्वरूप-करणाधिष्ठातृत्वं कामरूपित्वम्। उपसंहृतकरणस्यापि निरतिशयैश्वर्यसम्बन्धित्वं विकरणधर्मित्वमिति। एषा क्रियाशक्तिः।

क्रियाशक्ति यद्यपि एक ही होती है फिर भी परोक्षतः तीन प्रकार की कही जाती है—मन की तरह वेगवान् होना, इच्छा से रूप बदलना तथा विकरण (इन्द्रियादिहीन) होने पर भी ऐश्वर्य धारण करना (विकरणधर्मित्व)। मन

की तरह वेगवान् होने का अर्थ है कि इतनी शीघ्रता से काम करें जिससे अधिक शीघ्र और कोई न करे। कर्मफल आदि से निरपेक्ष (पृथक्) होकर, केवल अपनी इच्छा से ही अनन्त सलक्षण (समान धर्मों वाले), विलक्षण (विभिन्न लक्षणों वाले) तथा सरूप (एक तरह के) करणों (शरीरों और इन्द्रियों) में अधिष्ठित होना ही कामरूपित्व (अपनी इच्छा से रूप बदलना) है। विकरणधर्मित्व वह है जब करणों के न होने पर (या संक्षिप्त होने पर) भी सर्वोच्च (निरतिशय) ऐश्वर्य से सम्बन्ध हो जाय। यह क्रिया की शक्ति है।

विशेष—अनात्मक दुःखान्त बिल्कुल निषेधात्मक (Negative) है क्योंकि इसमें केवल दुःख की निवृत्ति ही होती है। दुःख की निवृत्ति के बाद ऐश्वर्य की प्राप्ति सात्मक दुःखान्त में होती है। ऐश्वर्य मिलने में भी दो प्रकार की शक्तियाँ मिलती हैं—दृक्शक्ति या जानने की शक्ति तथा क्रियाशक्ति या कार्य के रूप में दिखलाने की शक्ति। इनके क्रमशः पाँच और तीन भेद हैं। इस प्रकार दुःखान्त का निरूपण हुआ।

(४. कार्य का निरूपण)

अस्वतन्त्रं सर्वं कार्यम्। तत्त्रिविधं—विद्या कला पशुश्चेति। एतेषां ज्ञानात्संशयादिनिवृत्तिः। तत्र पशुगुणो विद्या। सापि द्विविधा—बोधाबोधस्वभावभेदात्।

बोधस्वभावा विवेकाविवेकप्रवृत्तिभेदाद् द्विविधा। सा चित्तमित्युच्यते। चित्तेन हि सर्वः प्राणी बोधात्मकप्रकाशानुगृहीतं सामान्येन विवेचितमविवेचितं चार्थं चेतयत इति।

जो कुछ भी अस्वतंत्र (परतंत्र) है वह सब कार्य कहलाता है। वह तीन प्रकार का है—विद्या, कला और पशु। [जीव-जड़-वर्ग अपने-अपने गुणों के साथ कभी स्वतन्त्र नहीं है। गुण अपने-अपने आश्रयों के अधीन हैं, जड़पदार्थ जीवों के अधीन हैं। जीवों में भी एक दूसरे की पराधीनता देखी जाती है—स्त्री पति के अधीन, नौकर अपने स्वामी के अधीन, प्रजा राजा के अधीन आदि। परमेश्वर के अधीन तो सभी हैं। पाशुपत-दर्शन में जीवों को पशु कहते हैं, जीवों के गुणों को विद्या और गुणसहित पृथिवी आदि जड़-द्रव्यों को कला कहते हैं।] इन (भेदों) के ज्ञान से संशय आदि की निवृत्ति होती है। इनमें पशुओं के गुण को विद्या (Sentiency) कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं—बोधस्वभाव और अबोधस्वभाव वाली विद्या।

बोध स्वभाववाली या बोधात्मिका विद्या दो प्रकार की है क्योंकि उसमें विवेक या अविवेक की प्रवृत्तियाँ होती हैं। इस बोधात्मिका विद्या को चित्त भी कहते हैं। चित्त के ही द्वारा सभी प्राणी बोधात्मक (वस्तुओं का ज्ञान करानेवाले) प्रकाश से अनुगृहीत (प्रकाशित) सामान्य रूप से सभी वस्तुओं को जानता है (चेतयते, √चित् = जानना), चाहे वे वस्तुएँ विवेक प्रवृत्ति से पूर्ण हों या विवेक प्रवृत्ति से रहित। [जीवों में विषय का ज्ञान करने के लिए जो प्रवृत्ति उत्पन्न होती है उसी के रूप में जीव में अवस्थित एक विशेष गुण का ही नाम चित्त है। यह चित्त-गुण स्वयं बोधात्मक होने के कारण घट, पट आदि पदार्थों का बोध कराता है। जैसे सूर्य या दीपक स्वयं प्रकाशात्मक होने के कारण वस्तुओं का बोध कराते हैं उसी प्रकार चित्त के साथ भी यही बात है। चित्त नाम की यह प्रवृत्ति कभी विवेक से युक्त होती है कभी उससे रहित। अब इन दोनों की कृतियाँ व्यक्त होंगी।]

तत्र विवेकप्रवृत्तिः प्रमाणमात्रव्यङ्ग्या। पश्वर्थधर्माधर्मिका पुनरबोधात्मिका विद्या। चेतनपरतन्त्रत्वे सत्यचेतना कला। सापि द्विविधा—कार्याख्या कारणाख्या चेति। तत्र कार्याख्या दशविधा—पृथिव्यादीनि पञ्च तत्त्वानि, रूपादयः पञ्च गुणाश्चेति। कारणाख्या त्रयोदशविधा—ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं, कर्मेन्द्रियपञ्चकम्, अध्यवसायाभिमानसंकल्पाभिधवृत्तिभेदाद् बुद्ध्यहंकारमनोलक्षणमन्तःकरणत्रयं चेति।

उनमें विवेक-प्रवृत्ति केवल प्रमाणों के ज्ञान से ही व्यक्त होती है। [इसके अतिरिक्त जो सामान्य या विवेक से रहित प्रवृत्ति है वह अतीन्द्रिय होती है। वह अपने साध्य अर्थात् सामान्यज्ञानात्मक फल से व्यक्त होती है। चित्त बोधात्मक है तथा अपने बोधरूप स्वभाव से घटादि पदार्थों को (जड़ होने पर भी इन्हें) व्यक्त कर देता है। यह चित्त-गुण बोधात्मक है अतः ज्ञान का साधन बन सकता है।]

अबोधात्मिका विद्या वह है जिसमें पशुत्व की प्राप्ति कराने वाले धर्म और अधर्म ये दोनों संस्कार रहें। [यह भी जीव का एक विशिष्ट गुण ही है किन्तु इसका उपयोग ज्ञान में कुछ नहीं। कारण यह है कि बोध कराना इसके स्वभाव में ही नहीं और ज्ञान बोध से ही होता है।]

चेतन के अधीन रहनेवाली कला स्वयम् अचेतन होती है। इसके भी दो भेद हैं—कार्य के रूप में कला (विषयरूपा कला) और कारण के रूप में कला

(इन्द्रियरूपा कला)। कार्याख्या कला दस प्रकार की होती है—पृथिवी आदि पाँच तत्त्व (Gross elements) और रूप आदि पाँच गुण (Subtle elements)। कारणाख्या कला के तेरह भेद हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (Sense organs), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (Motor organs) तथा अध्यवसाय (निश्चय), अभिमान (अनात्मा के साथ आत्मा का तादात्म्य स्थापित करना) और संकल्प नाम की तीन वृत्तियों (Functions) के भेद के कारण तीन प्रकार के अन्तःकरण—बुद्धि (Intellect), अहंकार (Ego) और मन (Cogitant Principle)।

विशेष—दस इन्द्रियाँ और तीन अन्तःकरण कारण के रूप में (कारणाख्या) कला हैं क्योंकि ये विषयज्ञापन के कारण हैं। दूसरी ओर पाँच महाभूतों और उनके गुणों (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द) को 'कार्य के रूप में कला' कहते हैं क्योंकि ये इन्द्रियों के कार्य हैं। विषय इन्द्रियों के अधीन हैं और इन्द्रियाँ विषयों के अधीन—इस प्रकार ये दोनों प्रकार की कलाएँ आपस में एक दूसरे के अधीन हैं। चेतन के अधीन तो दोनों ही हैं। इस प्रकार की गणना सिद्ध करती है कि सांख्य-दर्शन का प्रभाव इन पर पर्याप्त मात्रा में है। सांख्य में इन दस और तेरह तत्त्वों के अतिरिक्त पुरुष और प्रकृति मिलाकर कुल पचीस तत्त्व दिखलाये जाते हैं।

पशुत्वसंबन्धी पशुः। सोऽपि द्विविधः—साञ्जनो निरञ्जनश्चेति। तत्र साञ्जनः शरीरेन्द्रियसम्बन्धी। निरञ्जनस्तु तद्रहितः। तत्प्रपञ्चस्तु पञ्चार्थभाष्यदीपिकादौ द्रष्टव्यः।

पशुत्व (पुनर्जन्मादि गुण) जिसमें हों वह पशु है। यह भी दो प्रकार का है—साञ्जन (शरीर और इन्द्रियों से युक्त) तथा निरञ्जन (शरीरेन्द्रिय से रहित)। साञ्जन वह है जिसे शरीर और इन्द्रियों से सम्बन्ध हो। [जिस सम्बन्ध के द्वारा एक सम्बन्धी के धर्म दूसरे सम्बन्धी में भी समझे या कहे जाते हैं उस विशेष सम्बन्ध को अञ्जन कहते हैं। जीव में शरीर और इन्द्रिय के सम्बन्ध से स्थूलत्व काणत्व आदि धर्मों का वर्णन होता है अतः वह साञ्जन है।] निरञ्जन उस सम्बन्ध से रहित होता है। इनका विस्तार पञ्चार्थभाष्यदीपिका (राशीकरभट्ट के भाष्य पर टीका— लेखक अज्ञात) आदि ग्रन्थों में देखना चाहिए।

(५. कारण और योग का निरूपण)

समस्तसृष्टिसंहारानुग्रहकारि कारणम्। तस्यैकस्यापि गुणकर्मभेदापेक्षया विभागः उक्तः 'पतिः साद्यः' इत्यादिना।

तत्र पतित्वं निरतिशयदृक्क्रियाशक्तिमत्त्वं तेनैश्वर्येण नित्यसंबन्धित्वम्। आद्यत्वमनागन्तुकैश्वर्यसंबन्धित्वम्—इत्यादर्शकारादिभिस्तीर्थकरैर्निरूपितम्।

सारी वस्तुओं की सृष्टि, संहार और अनुग्रह (कृपा) करनेवाले तत्त्व को कारण (ईश्वर) कहते हैं। यद्यपि यह एक ही है फिर भी गुण और कर्म के भेदों* की अपेक्षा रखने के कारण इसके विभाग (Kinds) भी कहे गये हैं—'पति आद्यगुण से युक्त है······' इत्यादि। इस सूत्र में पति का अर्थ है निरतिशय (सर्वोच्च) दृक्शक्ति और क्रिया शक्ति (देखें परि० ३) से युक्त होकर उसी ऐश्वर्य के द्वारा नित्य सम्बन्ध धारण करना। आद्य का अर्थ है ऐसे ऐश्वर्य से संबद्ध होना जो (ऐश्वर्य) आगन्तुक या आकस्मिक न हो (प्रत्युत नित्य हो)—इसी प्रकार 'आदर्श' आदि ग्रन्थों के लेखक तीर्थकरों (शास्त्रप्रवर्तकों) ने इसका निरूपण किया है।

चित्तद्वारेणेश्वरसंबन्धहेतुर्योगः (पाशु० सू० ५।२)। स च द्विविधः—क्रियालक्षणः, क्रियोपरमलक्षणश्चेति। तत्र जपध्यानादिरूपः क्रियालक्षणः। क्रियोपरमलक्षणस्तु निष्ठासंविद्गत्यादिसंज्ञितः।

चित्त (जीव के बोधात्मक गुणविशेष) के द्वारा [जीव का] ईश्वर के साथ जो सम्बन्ध होता है उसके कारणों को **योग** कहते हैं। यह भी दो प्रकार का है—क्रिया से युक्त और क्रिया की निवृत्ति वाला। जप, ध्यान आदि के रूप में जो योग (जीवेश्वर सम्बन्ध करानेवाला) है उसे क्रियायुक्त योग कहते हैं [क्योंकि इसमें कुछ काम करना पड़ता है।] क्रिया की निवृत्तिवाला योग वह है जिसकी संज्ञायें निष्ठा (महेश्वर में अविचल भक्ति), संवित् (तत्त्वज्ञान), गति (शरणागति) आदि हैं।

(६. विधि का निरूपण)

धर्मार्थसाधकव्यापारो विधिः। स च द्विविधः—प्रधानभूतो गुणभूतश्च। तत्र प्रधानभूतः साक्षाद्धर्महेतुश्चर्या। सा द्विविधा—व्रतं द्वाराणि चेति। तत्र भस्मस्नानशयनोपहारजपप्रदक्षिणानि व्रतम्। तदुक्तं भगवता नकुलीशेन—भस्मना

*गुण—सत्त्व, रजस्, तमस्। कर्म—सृष्टि, पालन, संहार।

त्रिषवणं स्नायीत, भस्मनि शयीत (पा० सू० १।८ अग्रतः) इति ।

अत्रोपहारो नियमः । स च षडङ्गः । तदुक्तं सूत्रकारेण—हसित-गीत-नृत्य-हुडुक्कार - नमस्कार-जप्यषडङ्गोपहारेणोपतिष्ठेतेति ।

धर्म (महेश्वर) रूपी अर्थ (लक्ष्य) की सिद्धि कराने के लिए (महेश्वर के समीप पहुँचाने के लिए) जो भी व्यापार या कर्म करें वह विधि है । [विधान होने के कारण इसे विधि कहते हैं ।] इसके दो भेद हैं—प्रधान विधि और गौण विधि । प्रधान विधि वह है जो साक्षात् धर्म का कारण हो, इसे चर्या भी कहते हैं । इसके भी दो भेद हैं—व्रत और द्वार । भस्म से स्नान, भस्म में शयन, उपहार, जप और प्रदक्षिणा—ये व्रत हैं । भगवान् नकुलीश ने कहा है—भस्म से तीन समय (प्रातः, मध्याह्न, सन्ध्या) स्नान करे (लेपन करे), भस्म में ही शयन करे, इत्यादि ।

यहाँ उपहार का अर्थ है नियमों का पालन । इसके छह अंग हैं जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—हसित, गीत, नृत्य, हुडुक्कार (एक प्रकार की ध्वनि), नमस्कार और जप्य—इस षडंग उपहार के द्वारा पूजा करे ।

तत्र हसितं नाम कण्ठोष्ठपुटविस्फूर्जनपुरःसरम् अहहेत्यट्टहासः । गीतं गान्धर्वशास्त्रसमयानुसारेण महेश्वरसंबन्धिगुणधर्मादिनिमित्तानां चिन्तनम् । नृत्यमपि नाट्यशास्त्रानुसारेण हस्तपादादीनामुत्क्षेपणादिकमङ्गप्रत्यङ्गोपाङ्गसहितं भावाभावसमेतं च प्रयोक्तव्यम् । हुडुक्कारो नाम जिह्वातालुसंयोगान्निष्पाद्यमानः पुण्यो वृषनादसदृशो नादः । हुडुगिति शब्दानुकारो वषडितिवत् । यत्र लौकिका भवन्ति तत्रैतत्सर्वं गूढं प्रयोक्तव्यम् । शिष्टं प्रसिद्धम् ।

हसित (Laughter) का अर्थ है कण्ठ और ओष्ठपुटों को हिला-हिलाकर 'अहह' ध्वनि करते हुए अट्टहास करना । गान्धर्व-शास्त्र (संगीत विद्या) की परम्परा (समय = प्रसिद्धि, आचार, Convention) के अनुसार महेश्वर से सम्बद्ध गुण और धर्म आदि निमित्तों का चिन्तन करना ही गीत (Song) है । नाट्यशास्त्र (Science of Dramaturgy) के अनुसार हस्त-पादादि

का ऊपर फेंकना आदि अपने अंगों, प्रत्यंगों और उपांगों के साथ करें जिसमें भाव (आन्तरिक) का अभाव (हाव या अभिव्यक्ति) भी रहे, यही नृत्य है। [नाट्यशास्त्र के नियमों से नृत्य को सीमित करना अनिवार्य है। हस्तोत्क्षेपण, पादोत्क्षेपण आदि की भी विभिन्न मुद्रायें हैं जिनमें हृदय की भावनायें बाह्य मुद्राओं द्वारा अभिव्यक्त होती हैं। इनका विस्तृत विवरण भरत ने नाट्यशास्त्र में किया है। नृत्य के आचार्य स्वयं महेश्वर हैं जिनका नाम नटराज भी है अतः इनकी प्रसन्नता के लिए नृत्य की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है।] हुडुक्कार उस नादविशेष को कहते हैं जो वृषभ (साँड़) की आवाज की तरह का है तथा जिह्वा और तालु (चवर्ग का उच्चारणस्थान) के संयोग से उत्पन्न होनेवाला जो पुण्यप्रद शब्द है। 'हुडुक्' शब्द वास्तव में 'वषट्' की तरह ही [एक अव्यक्त] ध्वनि का अनुकरण करनेवाला शब्द है।

जहाँ पर लौकिक पुरुष (सामान्य जन) विद्यमान रहें, वहाँ पर इन सबों का प्रयोग गुप्त रूप से करना चाहिए [क्योंकि प्रत्यक्षतः लोगों के सामने करने पर लोग 'मूर्ख' कहकर उपासक को अपने व्रत से भ्रष्ट कर दे सकते हैं। इसलिए व्रतचर्या को गोपनीय रखें या एकान्त में ही ये सब किया करें। एकान्तता ही रखने के लिए क्राथनादि द्वारचर्याओं की आवश्यकता पड़ती है जिन्हें हम इसके बाद देखेंगे।] अवशिष्ट [दोनों व्रतचर्यायें—जप और नमस्कार] तो प्रसिद्ध ही है।

द्वाराणि तु क्राथन-स्पन्दन-मन्दन-शृङ्गारणावितत्करणावितद्भाषणानि। तत्रासुप्तस्यैव सुप्तलिङ्गप्रदर्शनं क्राथनम्। वाय्वभिभूतस्येव शरीरावयवानां कम्पनम् स्पन्दनम्। उपहतपादेन्द्रियस्येव गमनम् मन्दनम्। रूपयौवनसम्पन्नां कामिनीमवलोक्यात्मानम् कामुकमिव यैर्विलासैः प्रदर्शयति तत् शृङ्गारणम्।

द्वारचर्यायें (बाह्य प्रदर्शन के योग्य मुद्रायें) ये हैं—क्राथन (खर्राटे भरना Snoring), स्पन्दन (देह कँपाना Trembling), मन्दन (लड़खड़ाकर चलना Limping), शृंगारण (विलास का प्रदर्शन), अवितत्करण (उलटा-सीधा काम करना) और अवितद्भाषण (अनाप-शनाप बकना Nonsense talks)।

बिना नींद आये ही (जगे हुए ही) सोये हुए व्यक्ति के समान चेष्टायें (आँखें बन्द करना, खर्राटे भरना आदि) प्रदर्शित करना क्राथन है। वायुरोग

से अभिभूत व्यक्ति की भाँति अपने शरीर के अंगों को कँपाना **स्पन्दन** कहलाता है। टूटे हुए पैर वाले व्यक्ति की तरह लड़खड़ा कर चलना **मन्दन** है। रूप (सौन्दर्य) और यौवन से संपन्न किसी कामिनी को देखकर अपने को कामुक के समान प्रदर्शित करते हुए (साधक) जब कामुकों के योग्य जिन-जिन विलासों का प्रदर्शन करता है वे **शृंगारण** हैं। (दे० पा० सू० ३।१२-१७) [वास्तव में उपासक इन दोषों से मुक्त है किन्तु लोगों को अपने पास से अलग करने के लिए वह उक्त चेष्टायें दिखलाता है। अभी भी बहुत से ऐसे साधक भारत में विद्यमान हैं।]

कार्याकार्यविवेकविकलस्येव लोकनिन्दितकर्मकरणमवितत्करणम्। व्याहतापार्थकादिशब्दोच्चारणमवितद्भाषणमिति।

गुणभूतस्तु विधिश्चर्यानुग्राहकोऽनुस्नानादिः भैक्ष्योच्छिष्टादिनिमितायोग्यताप्रत्ययनिवृत्त्यर्थः। तदप्युक्तं सूत्रकारेण—अनुस्नाननिर्माल्यलिङ्गधारीति।

कर्तव्य और अकर्तव्य की विवेचना करने में असमर्थ व्यक्ति की तरह लोगों के द्वारा निन्दनीय कर्म करना **अवितत्करण** है। परस्परविरोधी, निरर्थक आदि शब्दों को बकते फिरना **अवितद्भाषण** कहलाता है। [इस प्रकार प्रधान विधि का वर्णन समाप्त हुआ।]

चर्या के अनुग्राहक (सहायक) अनुस्नान आदि को गौण विधि कहते हैं। इसका प्रयोग इसलिए होता है कि भिक्षान्न-भोजन, उच्छिष्ट-भोजन आदि के द्वारा शरीर में जो अयोग्यता (अपवित्रता) आ जाती है उसका निवारण इस विधि के द्वारा ही होता है। सूत्रकार ने यह भी कहा है—अनुस्नान, निर्माल्य और लिंग का धारण करनेवाला [पवित्र होता है]।

विशेष—प्रधान विधि (या चर्या) का पालन अपवित्र अवस्था में नहीं किया जाता। भोजन के अनन्तर बिना स्नान किये हुए उच्छिष्टादि अन्नजनित दोष रहते हैं। अतः अपवित्र दशा में योग्यता के अभाव में चर्या का अधिकार नहीं रहता। मल-मूत्र-त्याग के बाद भी वही बात है। यह अपवित्रता अनुस्नान आदि गौण विधियों से दूर की जा सकती है। अनुस्नान स्नान का प्रतिनिधि है जिसमें जलस्पर्श, आचमन, भस्मस्नान आदि हैं। व्रतों में पढ़ा गया भस्मस्नान तीनों कालों में विहित है, वह नित्य है जब कि यहाँ का भस्मस्नान नैमित्तिक (Occasional) है। अनुस्नान के अनन्तर पवित्र होकर निर्माल्य

और भस्म धारण करें। जब तक ये शरीर में हैं तब तक उपासक अपवित्र नहीं हो सकता। तन्त्रसार में कहा है—निर्माल्यं शिरसा धार्यं सर्वाङ्गे चानुलेपनम्।

(७. समासादि पदार्थ और अन्य शास्त्रों से तुलना)

तत्र समासो नाम धर्मिमात्राभिधानम्। तच्च प्रथमसूत्र एव कृतम्। पञ्चानां पदार्थानां प्रमाणतः पञ्चाभिधानं विस्तरः। स खलु राशीकरभाष्ये द्रष्टव्यः। एतेषां यथासम्भवं लक्षणतोऽसङ्करेणाभिधानं विभागः। स तु विहित एव।

[ऊपर सर्वज्ञत्व का लक्षण करते हुए समास, विस्तर, विभाग और विशेष जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया था। अब उन शब्दों की व्याख्या की जाती है।] केवल धर्मियों (पदार्थों) का नाम भर ले लेना **समास** कहलाता है। ऐसा प्रथम सूत्र में ही किया गया है [कि पाँचों पदार्थों का चतुराई से नाम ले लिया गया है]। पाँचों पदार्थों का प्रामाणिक रूप में विस्तारपूर्वक (पञ्च = विस्तार) नाम लेना **विस्तर** है। इसे राशीकर-भाष्य (संभवतः कौण्डिन्य-भाष्य) में देखना चाहिए। इन सबों का यथासंभव लक्षण दिखलाते हुए, एक दूसरे पदार्थ से बिना मिलाये हुए (स्पष्ट रूप से), वर्णन करना **विभाग** कहलाता है। इसका विधान तो इस शास्त्र में हुआ ही है।

शास्त्रान्तरेभ्योऽमीषां गुणातिशयेन कथनं विशेषः। तथा हि—अन्यत्र दुःखनिवृत्तिरेव दुःखान्तः। इह तु पारमैश्वर्यप्राप्तिश्च। अन्यत्राभूत्वा भावि कार्यम्। इह तु नित्यं पश्वादि। अन्यत्र सापेक्षं कारणम्। इह तु निरपेक्षो भगवानेव। अन्यत्र कैवल्यादिफलको योगः। इह तु पारमैश्वर्यदुःखान्तफलकः। अन्यत्र पुनरावृत्तिरूपस्वर्गादिफलको विधिः। इह पुनरपुनरावृत्तिरूपसामीप्यादिफलकः।

दूसरे शास्त्रों (न्याय आदि) से इस शास्त्र में कथित इन पदार्थों के गुणों के पार्थक्य का वर्णन करना **विशेष** कहलाता है। [पाशुपत शास्त्र में जिन पाँच पदार्थों का वर्णन हुआ है उनके लक्षण दूसरे शास्त्रों में पृथक् रूप में दिये गये हैं। इस शास्त्र के लक्षणों से उन लक्षणों की तुलना करके अपने लक्षणों को श्रेष्ठ सिद्ध करना ही विशेष कहलाता है। स्मरणीय है कि सर्वज्ञ पाँचों पदार्थों को

समास, विस्तर, विभाग और विशेष के साथ ही जानता है। अब अन्य शास्त्रों से अपने शास्त्र की विशेषतायें बतलाई जायँगी।]

उदाहरणतः, (१) दूसरे शास्त्रों में दुःख से मुक्त हो जाना ही दुःखान्त (Liberation मोक्ष) है किन्तु अपने (पाशुपत) शास्त्र में परम ऐश्वर्य की प्राप्ति भी होती है। (२) दूसरे शास्त्रों में कार्य वह है जो पहले विद्यमान न हो पीछे [कारकादि के व्यापारों (प्रयासों) से] उत्पन्न हो (अर्थात् कार्य अनित्य है)। किन्तु अपने शास्त्र में पशु आदि नित्य पदार्थों को कार्य कहते हैं। (३) अन्य शास्त्रों में कारण सापेक्ष होता है (जैसे वेदान्त में धर्माधर्म की अपेक्षा रखने वाला ईश्वर) जब कि इस शास्त्र में निरपेक्ष भगवान् ही कारण होता है। (४) दूसरे शास्त्रों में योग वह है जो कैवल्य की प्राप्ति करा दे (जैसे योगशास्त्र में कहा गया है कि जब चेतन बुद्धि आदि उपाधियों से रहित होकर अपने स्वरूप में अवस्थित होता है तब पुरुष को कैवल्य मिलता है जो योग से संभव है)। इस शास्त्र में योग उसे कहते हैं जो परम ऐश्वर्य से युक्त दुःखान्त (मोक्ष) देता है। (५) अन्य शास्त्रों में (जैसे मीमांसा में) विधि वह है जो स्वर्ग आदि ऐसा फल प्रदान करे जिस (फल) की आवृत्ति (निवृत्ति) फिर हो जाय, लेकिन इस शास्त्र में विधि से सामीप्य आदि फल मिलता है जिसका नाश संभव नहीं। [ईश्वरसामीप्य पाकर फिर वहाँ से लौटना नहीं है, मीमांसा की विधियों के अनुसार काम करने के बाद स्वर्गफल मिलता है किन्तु वह क्षणिक होता है—पुण्य क्षीण होने पर फिर मर्त्यलोक में आना ही पड़ता है।]

विशेष—पाशुपत-शास्त्र का 'विशेष' बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि सभी दार्शनिक अपने-अपने दर्शनों का विशेष व्यक्त करते तो बड़ा ही सुन्दर होता। विज्ञापन और पदार्थज्ञान दोनों का अभूत समन्वय होता। यह विशेष पाशुपत-दर्शन को विशिष्ट भूमि पर स्थापित करता है जिससे अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा पाशुपत शास्त्र की अपनी विशेषतायें स्पष्ट व्यक्त होती हैं।

(८. निरपेक्ष ईश्वर की कारणता)

ननु महदेतदिन्द्रजालं यन्निरपेक्षः परमेश्वरः कारणमिति। तथात्वे कर्मवैफल्यं स्वकार्याणां समसमयसमुत्पादश्चेति दोषद्वयं प्रादुःष्यात्।

मैवं मन्येथाः। व्यधिकरणत्वात्। यदि निरपेक्षस्य भगवतः कारणत्वं स्यात्तर्हि कर्मणो वैफल्ये किमायातम्? प्रयोज-

नाभाव इति चेत्—कस्य प्रयोजनाभावः कर्मवैफल्ये कारणम् ? किं कर्मिणः, किं वा भगवतः ?

यह शंका होती है कि यह बहुत बड़ा इन्द्रजाल (झूठी बात, इन्द्रियों की भ्रान्ति, ईश्वर की माया) है कि निरपेक्ष (Absolute) परमेश्वर को [पाशुपत दर्शन में] कारण मानते हैं क्योंकि ऐसा करने पर दो दोष उत्पन्न होंगे—सभी कर्म निष्फल होंगे तथा सभी कार्य एक साथ ही उत्पन्न होने लग जायँगे। [यदि ईश्वर निरपेक्ष या बिल्कुल स्वतन्त्र होकर कार्य करता है तब तो प्राणियों के द्वारा किये जाने वाले धर्म या अधर्म का बिना विचार ही किये फल देता होगा। ऐसी दशा में पुण्य या पाप कर्म तो व्यर्थ ही हैं। कार्य की उत्पत्ति में हाथ न बँटाने के कारण सभी कार्य अपने-आप एक ही साथ उत्पन्न होने लगेंगे। दूसरी ओर यदि ईश्वर को सापेक्ष मान लें तो ये कठिनाइयाँ स्वयं सहल हो जायँ क्योंकि ईश्वर के द्वारा सुख-दुःख का संपादन होगा और कर्मों की सफलता मानी जायगी। यदि सभी कर्म एक साथ नहीं किये जायँगे तो उनकी फलप्राप्ति भी एक साथ नहीं होगी। यही कारण है कि वेदान्त में ईश्वर को धर्माधर्मापेक्षी मानते हैं। (ब्र० सू० २।१।३४)]

पाशुपत-दर्शनवाले कहते हैं कि आप लोग ऐसा न समझें क्योंकि दोनों के (ईश्वर और प्राणियों के) कार्यक्षेत्र के आधार अलग-अलग हैं। [प्राणियों के द्वारा किये गये कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट प्राणियों पर ही आधारित है। संसार की उत्पत्ति का व्यापार ईश्वर पर आधारित है। दूसरी जगह का अदृष्ट दूसरी जगह के व्यापार पर कैसे अपनी छाप दे सकता है ? संसारोत्पत्ति और कर्मफल बिल्कुल पृथक् हैं—एक को दूसरे से क्या लेना देना ? अतः निरपेक्ष ईश्वर को ही कारण बनाना ठीक है।]

यदि निरपेक्ष भगवान् को ही संसार का कारण मानें और कर्म की विफलता माननी पड़े तो क्या आपत्ति है (क्या फल पड़ेगा) ? यदि आप कहें कि ऐसा करने से कोई प्रयोजन ही नहीं रहेगा, तो हम फिर पूछेंगे कि कर्म को विफल मानने में कारणस्वरूप किसका प्रयोजनाभाव रहेगा ? क्या कर्म करनेवाले प्राणी के प्रयोजन का अभाव कर्म की विफलता का कारण होगा या भगवान् (संसारोत्पादक) के प्रयोजन का अभाव ?

नाद्यः। ईश्वरेच्छानुगृहीतस्य कर्मणः सफलत्वोपपत्तेः। तदननुगृहीतस्य ययातिप्रभृतिकर्मवत् कदाचिन्निष्फलत्वसंभवाच्च। न

चैतावता कर्मसु अप्रवृत्तिः। कर्षकादिवदुपपत्तेः। ईश्वरेच्छायत्तत्वाच्च पशूनां प्रवृत्तेः।

पहला विकल्प (कि कर्म करने वाले प्राणी की प्रयोजन-शून्यता कर्मवैफल्य का कारण है) तो हो ही नहीं सकता। ईश्वर की इच्छा से अनुगृहीत होने (Supported) पर ही कर्म की सफलता निर्भर करती है। ईश्वर की इच्छा से संपादित न होने पर कभी-कभी ययाति आदि पुरुषों के कर्म की तरह हमारे कर्म भी निष्फल हो जा सकते हैं। [ईश्वर तो कर्म से निरपेक्ष रहकर ही जगत्कारण बनता है किन्तु कर्म को हरेक दशा में ईश्वरसापेक्ष होना पड़ता है। कृषि-कर्म में अंकुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य मेघ पर निर्भर है किन्तु मेघ कृषि-कर्म से निरपेक्ष है। जीव तीन प्रकार का कर्म करता है—कुछ कर्मों से ईश्वर प्रसन्न होता है, कुछ कर्मों से क्रुद्ध होता है और कुछ कर्मों पर उदासीन रहता है। प्रथम दो कर्म तो फल देते ही हैं, भले ही वह अच्छा फल हो या बुरा। किन्तु अन्तिम कर्म निष्फल होता है। जिस कर्म को वह अनुगृहीत या स्वीकार नहीं करता उसका फल नहीं मिलता। फिर भी इससे कोई क्षति नहीं है।] इससे (कर्म के निष्फल होने पर) भी कर्मों में अप्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि किसान आदि के उदाहरणों से इसकी पुष्टि हो जाती है। ईश्वर की इच्छा के अधीन ही पशुओं की प्रवृत्ति होती है। [आशय यह है कि जहाँ ईश्वर उदासीन रहता है उन कर्मों का फल नहीं मिलता। परन्तु यह कोई पहले से नहीं जानता कि इस कर्म के प्रति ईश्वर उदासीन है। परिणाम यह होता है कि कर्म के निष्फल होने पर लोग फिर से उसके सम्पादन में लगते हैं। खेती खराब हो जाने पर भी किसान उसमें फिर लगता है—उसे यह ज्ञान कहाँ कि खेती फिर खराब होगी। यदि कोई पहले से कर्मवैफल्य का ज्ञान रखे तब तो उसे करेगा ही नहीं। इसलिए यह कहना कि प्राणी का प्रयोजनाभाव ही कर्मवैफल्य का कारण है, ठीक नहीं। प्राणी में प्रयोजन (लक्ष्य motive) रहने पर भी तो कर्म निष्फल हो जाता है। ईश्वर की इच्छा पर ही कर्म निर्भर करते हैं। स्मरण रखना है कि फलदान के दो स्रोत हैं—ईश्वर और कर्म। ईश्वर के द्वारा दिये गये फल में कर्म की अपेक्षा नहीं है जब कि कर्म के द्वारा मिलनेवाले फल में ईश्वर की अपेक्षा रहती है। न तो ईश्वर के स्वातन्त्र्य की हानि ही होती है और न जीव की अप्रवृत्ति ही देखी जाती।]

नापि द्वितीयः। परमेश्वरस्य पर्याप्तकामत्वेन कर्मसाध्यप्रयोजनापेक्षाया अभावात्। यदुक्तं समसमयसमुत्पाद इति, तदप्ययुक्तम्। अचिन्त्यशक्तिकस्य परमेश्वरस्य इच्छानुविधा-

यिन्या अव्याहतक्रियाशक्त्या कार्यकारित्वाभ्युपगमात् । तदुक्तं सम्प्रदायविद्भिः—

९. कर्मादिनिरपेक्षस्तु स्वेच्छाचारी यतो ह्ययम् ।
ततः कारणतः शास्त्रे सर्वकारणकारणम् ॥ इति ।

दूसरा विकल्प (कि ईश्वर में प्रयोजन न होना ही कर्म की विफलता का कारण है) भी ठीक नहीं है। परमेश्वर को सारी कामनायें परिपूर्ण हैं अतः कर्म के द्वारा उत्पन्न होनेवाले प्रयोजन को उसे अपेक्षा नहीं रहती। [ईश्वर कर्मनिरपेक्ष है, कर्म सम्बन्धी कोई भी इच्छा उसमें नहीं है। इस प्रकार कर्म की विफलता का कोई कारण नहीं है। निरपेक्ष ईश्वर की कारणता पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।]

दूसरा आरोप जो यह लगाया गया है कि सभी कार्यों का उत्पादन एक ही साथ होने लगेगा यह भी ठीक नहीं है। परमेश्वर की शक्ति अचिन्तनीय है, उसकी क्रियाशक्ति अव्याहत है (कहीं भी कुण्ठित नहीं होती) जो उसकी इच्छा का ही अनुसरण करती है। परमेश्वर की इस शक्ति में कोई भी कार्य करने की शक्ति है। संप्रदाय के वेत्ताओं ने कहा है—

'चूँकि वह (ईश्वर) कर्मादि से निरपेक्ष (स्वतन्त्र) है, अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करनेवाला है इसी कारण से शास्त्र में उसे सभी कारणों का कारण कहा गया है।'

(१०. ईश्वर के ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति)

ननु दर्शनान्तरेऽपीश्वरज्ञानान्मोक्षो लभ्यत एवेति कुतोऽस्य विशेष इति चेत्—मैवं वादीः। विकल्पानुपपत्तेः। किमीश्वर-विषयज्ञानमात्रं निर्वाणकारणं किं वा साक्षात्कारः अथ वा यथा-वत्तत्त्वनिश्चयः ?

नाद्यः। शास्त्रमन्तरेणापि प्राकृतजनवद् 'देवानामधिपो महादेवः' इति ज्ञानोत्पत्तिमात्रेण मोक्षसिद्धौ शास्त्राभ्यासवैफ-ल्यप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः । अनेकमलप्रचयोपचितानां पिशितलोचनानां पशूनाम् परमेश्वरसाक्षात्कारानुपपत्तेः ।

कोई यह पूछ सकते हैं कि दूसरे दर्शनों में भी तो ईश्वर के ज्ञान से मोक्ष मिलता ही है, इस पाशुपत-दर्शन में क्या विशेषता है ? हम कहेंगे कि ऐसा मत कहो। नीचे दिये गये विकल्पों में [किसी के द्वारा भी तुम्हारी बात] सिद्ध नहीं

होगी। निर्वाण या मोक्ष का कारण वास्तव में क्या है—ईश्वर के विषय में केवल ज्ञान प्राप्त कर लेना या उसका साक्षात्कार (दर्शन) करना या यथार्थ रूप से (जैसी वस्तुस्थिति है वैसे) तत्त्वों का निर्णय करना ?

पहला विकल्प तो ठीक नहीं है क्योंकि बिना शास्त्र के भी साधारण व्यक्तियों की तरह, 'महादेव देवताओं के राजा हैं' केवल इसी ज्ञान की उत्पत्ति से ही मोक्ष की सिद्धि हो जायगी, शास्त्रों का अभ्यास करना निष्फल है।

दूसरा विकल्प भी नहीं ही ठीक है। अनेक प्रकार के मलों के समूह से भरे हुए तथा मांस की आँखोंवाले पशु (जीव) परमेश्वर का साक्षात्कार कर सकेंगे, यह असम्भव है।

तृतीयेऽस्मन्मतापातः। पाशुपतशास्त्रमन्तरेण यथावत्तत्त्वनिश्चयानुपपत्तेः। तदुक्तमाचार्यैः—

१०. ज्ञानमात्रे वृथा शास्त्रं साक्षाद् दृष्टिस्तु दुर्लभा।
पञ्चार्थादन्यतो नास्ति यथावत्तत्त्वनिश्चयः॥ इति।

तस्मात्पुरुषार्थकामैः पुरुषधौरेयैः पञ्चार्थप्रतिपादनपरं पाशुपतशास्त्रमाश्रयणीयमिति रमणीयम्॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे
नकुलीशपाशुपतदर्शनम्॥



तीसरे विकल्प को स्वीकार करने पर तो फिर हमारे ही दर्शन में आना पड़ेगा। पाशुपतशास्त्र के बिना तत्त्वों का यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता। इसी बात को आचार्यों ने इस प्रकार कहा है—'यदि ज्ञान मात्र से [मोक्ष मिलता है] तो शास्त्र व्यर्थ हो जायँगे, ईश्वर का साक्षात् दर्शन करना दुर्लभ ही है; तत्त्वों का यथार्थ निश्चय पञ्चार्थ (पाँच पदार्थों का प्रतिपादक पाशुपत शास्त्र) के बिना हो ही नहीं सकता' इसलिए पुरुषार्थ की कामना करनेवाले उत्तम पुरुषों को पाँच पदार्थों का प्रतिपादन करनेवाले पाशुपत-शास्त्र का आश्रय लेना चाहिए—यही अच्छा है।

इस प्रकार श्रीमान् सायण माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में
नकुलीश-पाशुपत-दर्शन [समाप्त हुआ।]

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां नकुलीशपाशुपतदर्शनमवसितम्॥



(७) शैव-दर्शनम्

पाशः पशुः पतिरिति त्रितयेन सर्वं
व्याप्तं स एव भगवाञ्छिव ईश्वरोऽत्र ।
कर्माद्यपेक्षत इतीह विशेषणेन
युक्तं तमेव पतिमीश्वररूपमीडे ॥—ऋषिः ।

(१. शैवागमसिद्धान्त के तीन पदार्थ)

तमिमं 'परमेश्वरः कर्मादिनिरपेक्षः कारणमिति' पक्षं वैषम्य-नैर्घृण्य-दोषदूषितत्वात् प्रतिक्षिपन्तः, केचन माहेश्वराः शैवागमसिद्धान्ततत्त्वं यथावदीक्षमाणाः, 'कर्मादिसापेक्षः परमेश्वरः कारणमिति' पक्षं कक्षीकुर्वाणाः, पक्षान्तरमुपक्षिपन्ति— पतिपशुपाशभेदात् त्रयः पदार्था इति । तदुक्तम् तन्त्रतत्त्वज्ञैः—

१. त्रिपदार्थं चतुष्पादं महातन्त्रं जगद्गुरुः ।
सूत्रेणैकेन संक्षिप्य प्राह विस्तरतः पुनः ॥ इति ।

कुछ माहेश्वर (महेश्वर-सम्प्रदाय के दार्शनिक) इस उपर्युक्त (पाशुपत) पक्ष को स्वीकार नहीं करते कि 'कर्मादि से पृथक् रहकर परमेश्वर संसार का कारण है' । यह पक्ष इसलिए तिरस्करणीय है कि इसे स्वीकार करने में दो दोष आते हैं—वैषम्य (अर्थात् जीवों के सुख-दुःख के सम्बन्ध में ईश्वर की दृष्टि असमान या पक्षपाती रहेगी, कुछ जीव अपने-आप दुःख ही दुःख झेलेंगे, दूसरे सुखोपभोग करेंगे—ईश्वर कारण होने पर भी देखता रहेगा, लोग उसपर पक्षपात का आरोप करेंगे ही) तथा निर्दयता (ईश्वर निर्दयतापूर्वक संसार का संहार करेंगे क्योंकि प्राणियों के कर्म से तो ईश्वर को कुछ लेना देना नहीं है) । [यदि ईश्वर कर्मादिसापेक्ष रहें तो कोई दोष ही न रहे—सुख-दुःख का उपभोग अपने आप नहीं होगा, प्राणियों के कर्मों का भी फलदान के समय विचार होगा, कर्म भी असाधारण कारण रहेंगे; अतः न तो पक्षपात की भावना रहेगी क्योंकि कर्मानुसार फल मिलेगा, और न निर्दयता का आरोप ईश्वर पर लगेगा क्योंकि न्याय होने पर निर्दय और सदय कैसा ?] ये (माहेश्वर) शैवागम (सभी शैव सम्प्रदायों का मूलग्रन्थ) के सिद्धान्तों के रहस्य को यथार्थ रूप

से देखते हैं वे यह पक्ष मानते हैं कि कर्मादि से संबद्ध (सापेक्ष) परमेश्वर संसार का कारण है, इस प्रकार दूसरे पक्षों (मतों) का प्रस्ताव करते हैं—पति (ईश्वर), पशु (जीव), पाश (बन्धन) के भेद से पदार्थ तीन हैं। तन्त्र का तत्त्व जानने वाले लोगों ने कहा भी है—'संसार के गुरु ने एक सूत्र में ही तीन पदार्थों और चार पादों से निर्मित महातंत्र का संक्षेप किया, फिर उसका निरूपण विस्तार से किया।'

विशेष—शैवदर्शन के मूल ग्रन्थ हैं शैवागम जिनमें शिवसंहिता, अहिर्बुध्न्य-संहिता आदि प्रसिद्ध हैं। इसके अनंतर आगम और यामल ग्रन्थ हैं जो सभी संस्कृत में हैं। इनके अतिरिक्त शैवमत का जो गढ़ तमिळ देश में है, वहाँ की परंपरा में तमिळ भाषा में शैव ग्रंथ प्राप्त हैं। ८४ संतों की बात वहाँ मिलती है जिनमें चार आचार्यों—अप्पार, ज्ञानसंबंध, सुन्दरमूर्ति तथा माणिक्कवाचक (समय ७वीं-८वीं श०)—का नाम प्रसिद्ध है। इन सबों ने इस मत का प्रवर्तन किया। इस प्रकार उत्तरी भारत में जहाँ संस्कृत के आगम-ग्रन्थ शैवमत की मूल भित्ति हैं वहाँ भारत में उक्त आचार्यों की तमिळ रचनायें ही शैवमत का आधार हैं। इन्हें दक्षिण में लोग दक्षिणी आगमों के समान ही अत्यंत अभ्यर्हित मानते हैं। वास्तव में शैवमत अभी दक्षिण में ही जीवित है। इन ग्रंथों को दक्षिण में 'शैवसिद्धान्त' या 'शैवागम' भी कहते हैं। वहाँ प्रसिद्धि है कि शिव ने अपने पाँच मुखों से २८ तन्त्रों का आविर्भाव किया। उनकी संख्या निम्नलिखित है—

(१) सद्योजात मुख से—कामिक, योगज, चिन्त्य, करण, अजित (५)।
(२) वामदेव मुख से—दीप्त, सूक्ष्म, सहस्र, अंशुमान् , सुप्रभेद (५)।
(३) अघोर मुख से—विजय, निश्वास, स्वायम्भुव, अनल, वीर (५)।
(४) तत्पुरुष मुख से—रौरव, मुकुट, विमल, चन्द्रज्ञान, बिम्ब (५)।
(५) ईशान मुख से—प्रोद्गीत, ललित, सिद्ध, संतान, सर्वोत्तर, परमेश्वर, किरण और वातुल (८)।

अभिनवगुप्त द्वारा रचित तन्त्रालोक की टीका करते समय जयरथ ने इन तंत्रों का उल्लेख किया है। इन तन्त्रों पर भी अनेक टीकायें हैं जिनसे शैवागम-साहित्य की विपुलता का अनुमान लग सकता है। इसके अलावे भी सद्योज्योति (८०० ई०) के द्वारा रचित नरेश्वरपरीक्षा, रौरवागमवृत्ति, तत्त्वसंग्रह, तत्त्व-त्रय, भोगकारिका, मोक्षकारिका और परमोक्षनिरासकारिका, **हरदत्त शिवाचार्य** (१०५० ई०) रचित श्रुतिसूक्तिमाला और चतुर्वेदतात्पर्यसंग्रह, **रामकण्ठ** (११०० ई०) लिखित मातङ्गवृत्ति, नादकारिका और सद्योज्योति के ग्रन्थों की टीकायें, **श्रीकण्ठ** (११२५ ई०) का रत्नत्रय, **भोजराज** (वही समय)

की तत्त्वप्रकाशिका और रामकण्ठ के शिष्य **अघोरशिवाचार्य** रचित तत्त्व-प्रकाशिका और नादकारिका की वृत्तियाँ—ये ग्रन्थ भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। सद्योज्योति के अन्तिम पाँच ग्रन्थ, भोजराज की तत्त्वप्रकाशिका, रामकण्ठ की नादकारिका और श्रीकण्ठ का रत्नत्रय—ये आठ ग्रन्थ **अष्टप्रकरण** कहलाते हैं। ये सिद्धान्तग्रंथ शैवागमसंघ से नागराक्षरों में प्रकाशित हो रहे हैं। विशेष विवरण देखें—पं० बलदेव उपाध्याय, 'भारतीय दर्शन' पृ० ५५०-५२।

अस्यार्थ :—उक्तास्त्रयः पदार्था यस्मिन्सन्ति तत्त्रिपदार्थं, विद्याक्रियायोगचर्याख्याश्चत्वारः पादा यस्मिँस्तच्चतुश्चरणं महातन्त्रमिति। तत्र पशूनामस्वतन्त्रत्वात्पाशानामचैतन्यात् तद्विलक्षणस्य पत्युः प्रथममुद्देशः। चेतनत्वसाधर्म्यात् पशूनां तदानन्तर्यम्। अवशिष्टानां पाशानामन्ते विनिवेश इति क्रम-नियमः।

इसका यह अर्थ है कि उपर्युक्त तीन पदार्थ (पति, पशु, पाश) जिसमें हैं वह (महातंत्र) 'त्रिपदार्थ' कहलाता है, विद्या, क्रिया, योग, और चर्या नाम के चार पाद (चरण) भी जिसमें हैं वह महातंत्र 'चतुश्चरण' है।

तीन पदार्थों में पूर्वापरक्रम—इनमें पशु तो स्वतंत्र ही नहीं हैं, पाश (संसार) अचेतन ही है, इसलिए इनसे विलक्षण (dissimilar) रहने वाले (अर्थात् स्वतन्त्र और चेतन) पति का पहले नाम लिया गया है। [पति से] चैतन्य धर्म समान रूप में होने के कारण उसके बाद **पशुओं** (जीवों) का नाम लेते हैं। अब बाकी बचे हुए **पाश** (जड़ पदार्थों) का नाम अंत में लेते हैं, यही इनके पूर्वापर क्रम का नियम है।

दीक्षायाः परमपुरुषार्थहेतुत्वात् तस्याश्च पशुपाशेश्वरस्वरूप-निर्णयोपायभूतेन मन्त्रमन्त्रेश्वरादिमाहात्म्यनिश्चायकेन ज्ञानेन विना निष्पादयितुमशक्यत्वात् तदवबोधकस्य विद्यापादस्य प्राथ-म्यम्। अनेकविधसाङ्गदीक्षाविधिप्रदर्शकस्य क्रियापादस्य तदा-नन्तर्यम्। योगेन विना नाभिमतप्राप्तिरिति साङ्गयोगज्ञापकस्य योगपादस्य तदुत्तरत्वम्। विहिताचरणनिषिद्धवर्जनरूपां चर्यां विना योगोऽपि न निर्वहतीति तत्प्रतिपादकस्य चर्यापादस्य चरमत्वमिति विवेकः।

चार पादों का तारतम्य—दीक्षा (गुरु से नियमपूर्वक मंत्र का उपदेश लेना[1]) से ही परम पुरुषार्थ (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, किन्तु दीक्षा का निष्पादन (संपादन) उस ज्ञान के बिना संभव नहीं है जिस ज्ञान के द्वारा पशु, पाश और ईश्वर के स्वरूप का निर्णय होता है (= पदार्थों के निर्णय करने का जो उपाय है), तथा जो ज्ञान मन्त्र, मन्त्रेश्वर आदि की महिमाओं का निर्णय कराता है। [पशुओं की विशिष्ट सामर्थ्य के प्रतिबन्धक अनेक पाश हैं, भक्तों के अधिकार के अनुसार ईश्वर इन पाशों को मिटाता है। इन सबों को जानने पर ही पति, पशु और पाश पृथक् रूप में समझ में आ सकता है। इसीलिए सबसे पहले दीक्षा का उपपादक (साधक) ज्ञान या **विद्या** अपेक्षित है।]

अंगों के साथ अनेक प्रकार की दीक्षाओं की विधियों का प्रदर्शन करने वाले **क्रियापाद** का वर्णन उसके बाद हुआ है। उसके बाद **योगपाद** आता है जिसमें सांग योग का वर्णन है क्योंकि योग के बिना अभिमत वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। चर्या वह है जिसमें विहित कर्म का आचरण तथा निषिद्ध कर्म का वर्जन (त्याग) हो, इसके बिना योग परिपक्व नहीं होता, अतः योग के प्रतिपादक **चर्यापाद** को सबसे अन्त में रखा गया है। यही विचार किया जाता है। [सर्वप्रथम ज्ञान की आवश्यकता होने से विद्यापाद, फिर दीक्षाविधि के रूप में क्रियापाद, तब दीक्षा का ग्रहण करने के अधिकार की सिद्धि के लिए जप-ध्यानादि से युक्त योगपाद और अन्त में योग की सहायता करने वाली चर्याओं का पाद। योग औषधि है तथा चर्या पथ्य। दोनों की परस्पर अपेक्षा है। इसी क्रम से शैवागमों में चार पादों का क्रम रखा गया है।[2] अब क्रमशः तीन पदार्थों का निरूपण आरम्भ होता है।]

(२. 'पति' का निरूपण)

तत्र पतिपदार्थः शिवोऽभिमतः। मुक्तात्मनां विद्येश्वरादीनां च यद्यपि शिवत्वमस्ति, तथापि परमेश्वरपारतन्त्र्यात् स्वातन्त्र्यं नास्ति। ततश्च तनुकरणभुवनादीनां भावानां संनिवेशविशिष्टत्वेन

---

१ दिव्यज्ञानं बलो दद्यात्कुर्यात्पापस्य संक्षयम्। तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तत्त्ववेदिभिः। मन्त्रों का ग्रहण दीक्षा-विधि से ही होता है—

ग्रन्थे दृष्ट्वा तु मन्त्रं वै यो गृह्णाति नराधमः। मन्वन्तरसहस्रेषु निष्कृतिर्नैव जायते।

२ इन्हें तमिल में सरियेइ, किरिकेइ, योकम् और ज्ञानम् कहते हैं।

कार्यत्वमवगम्यते। तेन च कार्यत्वेनैषां बुद्धिमत्पूर्वकत्वमनुमीयत इत्यनुमानवशात्परमेश्वरप्रसिद्धिरुपपद्यते।

इनमें 'पति' पदार्थ से शिव का अर्थ समझा जाता है। मुक्त आत्मावाले (तथा) विद्येश्वर आदि यद्यपि शिव हैं (उनमें शिवत्व गुण है), तथापि परमेश्वर के पराधीन होने के कारण वे स्वतन्त्र नहीं हैं। [यह स्मरणीय है कि नकुलीश-पाशुपत दर्शन में मुक्तों को शिवत्व-प्राप्ति के साथ स्वतन्त्रता भी मिल जाती है, परतन्त्रता नहीं रहती, किन्तु शैवदर्शन में उनकी परतन्त्रता मानी जाती है। 'मुक्त आत्मा वाले' शब्द विद्येश्वरादि के विशेषण भी हो सकते हैं और स्वतन्त्र शब्द भी। विद्येश्वरादि को परा (highest) मुक्ति नहीं मिलती। हाँ, अपरा मुक्ति के अधिकारी तो वे अवश्य हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जिस तरह संसार के उत्पादन में परमेश्वर को प्राणियों के कर्म की अपेक्षा रहती है या नहीं, इस विषय में मतभेद है—उसी तरह मुक्तों की स्वतन्त्रता के विषय में भी मतभेद है। अब परमेश्वर की सत्ता का निरूपण होता है।]

इसीसे शरीर, इन्द्रियों और संसार आदि पदार्थों को कार्य के रूप में हम समझते हैं क्योंकि इन पदार्थों में अवयव-रचना (संनिवेश symmetry) की विशिष्टतायें हैं। [मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, पर्वत आदि पदार्थों के अवयवों की रचना में एक नियमितता देखते हैं, इससे मालूम होता है कि ये कार्य हैं। किसी ने इन्हें उत्पन्न किया है।] चूँकि ये कार्य हैं इसलिए किसी बुद्धियुक्त कर्ता ने इनका निर्माण किया है, ऐसा अनुमान होता है—इसी अनुमान के बल से परमेश्वर की प्रसिद्धि की बात सिद्ध हो जाती है। [कर्त्ता वह है जो इच्छा और प्रयत्न का आधार हो—'चिकीर्षाप्रयत्नाधारत्वं कर्तृत्वम्'। कार्य के पूर्व उसकी सत्ता अवश्य होगी और चूँकि कर्ता इच्छा से युक्त होता है अतः इसमें बुद्धि का होना अनिवार्य है। संसार रूपी विराट् कार्य के लिए तदनुरूप कर्ता होना चाहिए जो, और कोई नहीं, परमेश्वर ही है। नैयायिकों के द्वारा भी ईश्वर की सिद्धि के लिए यही तर्क प्रस्तुत किया जाता है। देखिए—मंगलाचरणश्लोक—१ (सर्वदर्शनसंग्रह)।]

(२ क. ईश्वर को कर्ता मानने में आपत्ति और समाधान)

ननु देहस्यैव तावत्कार्यत्वमसिद्धम्। नहि क्वचित्केनचित् कदाचित् देहः क्रियमाणो दृष्टचरः। सत्यम्, तथापि न केनचित् क्रियमाणत्वं देहस्य दृष्टमिति कर्तृदर्शनापह्नवो न युज्यते। तस्यानुमेयत्वेनाप्युपपत्तेः।

तथा हि—देहादिकं कार्यं भवितुमर्हति संनिवेशविशिष्टत्वात् विनश्वरत्वाद्वा घटादिवत्। तेन च कार्यत्वेन बुद्धिमत्पूर्वकत्वमनुमातुं सुकरमेव।

[पूर्वपक्षियों का तर्क है कि] 'देह कार्य है' यही वाक्य पहले असिद्ध है। कारण यह है कि कहीं पर, किसी ने, कभी भी देह को उत्पन्न होते हुए नहीं देखा। हम (शैव) इसे मानते हैं, फिर भी 'किसी ने देह को उत्पन्न होते हुए नहीं देखा' इस आधार पर कर्ता की सत्ता को अस्वीकार करना ठीक नहीं है। किसी का कर्ता होना अनुमान से भी तो सिद्ध हो सकता है [भले ही प्रत्यक्ष प्रमाण न मिले]।

उदाहरण के लिए देखा जाये—देह आदि कार्य हो सकते हैं क्योंकि अवयव-रचना से ये विशिष्ट होते हैं या नश्वर हैं जैसे घटादि (कार्य) हैं। जब इन्हें कार्य मान लेंगे तो फिर किसी बुद्धिमान् पुरुष की रचना मानना और आसान ही है।

विमतं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्। यदुक्तसाधनं तदुक्तसाध्यं यथार्थादि। न यदेवं न तदेवं यथात्मादि। परमेश्वरानुमानप्रामाण्यसाधनमन्यत्राकारीत्युपरम्यते।

२. अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥

इति न्यायेन प्राणिकृतकर्मापेक्षया परमेश्वरस्य कर्तृत्वोपपत्तेः।

विवादग्रस्त वस्तु (= तनु, भुवनादि पदार्थ, क्योंकि इन्हीं के विषय में संदेह है कि ये सकर्तृक हैं या अकर्तृक) सकर्तृक है, क्योंकि कार्य यह है जिस प्रकार घट हुआ करता है। जो पदार्थ उक्त साधन वाले हैं (कार्य हैं), वे उक्त साध्य (सकर्तृक) वाले हैं जैसे अर्थ (घट, पट) आदि। जो इस प्रकार का नहीं (जो सकर्तृक नहीं), वह वैसा नहीं (वह कार्य नहीं) जैसे आत्मा आदि। [यहाँ पर सायणमाधव की शैली संक्षेपीकरण की चरम सीमा पर पहुँची हुई है। ऊपर विवाद है कि पदार्थों का कर्ता कोई है कि नहीं। अब अनुमान होता है—

सारे पदार्थ सकर्तृक (साध्य) हैं,
क्योंकि वे पदार्थ कार्य हैं,
जिस तरह घट होता है।

अनुमान के अनन्तर अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा व्याप्ति की स्थापना की जाती है। (अन्वय—) जो कुछ भी कार्य (उक्तसाधनं) है वह सकर्तृक होता

है (उक्तसाध्यम्) जैसे घट, पट आदि। (व्यतिरेक—) जो वस्तु कार्य नहीं वह सकर्तृक भी नहीं है जैसे आत्मा आदि।]

परमेश्वर के विषय में (सिद्धि के लिए) जो अनुमान दिया गया है उसकी प्रामाणिकता की सिद्धि दूसरे स्थान पर दी गई है, इसलिए यहाँ पर छोड़ देते हैं। [यदि शरीर, इन्द्रिय, भुवन आदि पदार्थों का कोई भी कर्त्ता नहीं होता तो अपनी इच्छा से ही सबों की उत्पत्ति माननी पड़ती। वैसी दशा में जीव को क्या पड़ा था कि दुःख के साधन ग्रहण करता ? वह केवल सुख के साधन ही खोजता किन्तु जीव का इसमें वश चले तब तो ? अतः सुख-दुःख का कोई दूसरा नियन्ता जरूर होगा। प्राणियों के द्वारा किये गये कर्मों की अपेक्षा रखते हुए ही ईश्वर संसार का कर्ता है।]

'जीव अज्ञ है, वह अपने सुख-दुःख को नियंत्रित करने में असमर्थ है, ईश्वर से प्रेरित होकर ही या तो वह स्वर्ग जाता है या नरक (श्वभ्र)।'[1] इस न्याय से प्राणियों के कर्मों की अपेक्षा रखते हुए ही ईश्वर का कर्ता होना सिद्ध होता है।

न च स्वातन्त्र्यविहतिरिति वाच्यम्। करणापेक्षया कर्तुः स्वातन्त्र्यविहतेरनुपलम्भात्। कोषाध्यक्षापेक्षस्य राज्ञः प्रसादादिना दानवत्। यथोक्तं सिद्धगुरुभि :—

३. स्वतन्त्रस्याप्रयोज्यत्वं करणादिप्रयोक्तृता।
कर्तुः स्वातन्त्र्यमेतद्धि न कर्माद्यनपेक्षता॥ इति॥

तथा च तत्तत्कर्माशयवशाद् भोग-तत्साधन-तदुपादानादि-विशेषज्ञः कर्तानुमानादिसिद्ध इति सिद्धम्। तदिदमुक्तं तत्रभवद्भिर्बृहस्पतिभि :—

४. इह भोग्यभोगसाधनतदुपादानादि यो विजानाति।
तमृते भवेन्न हीदं पुंस्कर्माशयविपाकज्ञम्॥ इति।

ऐसा नहीं समझें कि [कर्मों की अपेक्षा रखने से ईश्वर की] स्वतंत्रता में किसी प्रकार की क्षति पहुँचेगी। क्योंकि आज तक ऐसा कभी नहीं पाया गया है कि करणों (साधनों) की अपेक्षा रखने से कर्ता की स्वतंत्रता में बाधा पहुँची

१ तुल० दुर्योधन की यह प्रसिद्ध उक्ति—
जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

हो। राजा यद्यपि कोषाध्यक्ष की अपेक्षा रखते हैं किन्तु अपने ही प्रसाद (कृपा) से दान करते हैं। (कोषाध्यक्ष से दान दिलवाने का अर्थ यह नहीं है कि राजा से बड़ा कोषाध्यक्ष ही है और राजा को स्वतंत्रता नहीं)। जैसा कि सिद्ध गुरु ने कहा है—'किसी स्वतंत्र व्यक्ति में ही ये विशेषतायें होती हैं कि दूसरा कोई उसे प्रयोजित न करे (काम में न लगा दे वे अप्रयोज्य हों) तथा स्वयं जो करण (साधन) आदि का प्रयोग करे। इसे ही कर्त्ता की स्वतंत्रता कहते हैं, यह नहीं कि कर्मादि की अपेक्षा न रखने वाला ही स्वतंत्र है।' [यदि ईश्वर स्वतंत्र नहीं होता तो उसके प्रयोजक या उस पर आदेश चलानेवाले कुछ प्रयोजक होते। प्रयोजक दो ही काम करता है—या तो अपने अभीष्ट कार्य का विनाश करता है या अनिष्ट कार्य कराता है। यही परतंत्रता है। लेकिन प्रयोजक कोई चेतन हो तभी परतंत्रता है, इसलिए कर्मों के द्वारा ईश्वर यदि प्रयोजित हो तो भी कोई हानि नहीं। कर्मों की अपेक्षा न रखना स्वतंत्रता नहीं है। स्वतंत्र दूसरों का उपयोग तो करता ही है, इसलिए ईश्वर भी कर्त्ता होकर करण, सम्प्रदानादि कारक-चक्र का खूब उपयोग करता है।]

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि भिन्न-भिन्न [पाप-पुण्य] कर्मों के समूह या आशय के फलस्वरूप मिलने वाले भोग, भोग्य वस्तुएँ (भोग-साधन) और उनके उपादान आदि को विशेष रूप से जानने वाला कर्ता (ईश्वर) अनुमान आदि (=श्रुति-प्रमाण से भी) से सिद्ध किया जाता है। पूज्यपाद बृहस्पति ने इसे इस तरह निरूपित किया है—'इस संसार में भोग्य, भोग के साधन, उनके उपादान (प्राप्ति या कारण) आदि को जो विशेषरूप से जानता है उस (ईश्वर) के अतिरिक्त पुरुषों के कर्म-समूह के परिणाम का ज्ञाता यहाँ कोई नहीं है।'

विशेष—'आशय' पाप और पुण्य-रूपी कर्मों के संघात को कहते हैं जो फल मिलने के समय तक अंतःकरण में विराजमान रहता है—आशेरते फल-पाकपर्यन्तमन्तःकरण इत्याशयाः। 'भोग' का अर्थ सुख और दुःख से मिलना; भोग के साधन = सुख दुःख मिलने की वस्तुएँ—रोग, शोक, द्रव्यप्राप्ति आदि। उपादान = मिलकर फल देने वाला कारण (Material cause)।

अन्यत्रापि—

५. विवादाध्यासितं सर्वं बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकम्।
कार्यत्वादावयोः सिद्धं कार्यं कुम्भादिकं यथा॥ इति।

सर्वकर्तृत्वादेवास्य सर्वज्ञत्वं सिद्धम्। अज्ञस्य करणासंभवात्। उक्तं च श्रीमन्मृगेन्द्रैः—

६. सर्वज्ञः सर्वकर्तृत्वात्साधनाङ्गफलैः सह।
यो यज्जानाति कुरुते स तदेवेति सुस्थितम् ॥ इति।

दूसरी जगह भी कहा है—'संपूर्ण संसार (पक्ष) जो विवाद का विषय है, वह किसी बुद्धिमान् कर्ता के द्वारा निर्मित है क्योंकि यह (संसार) कार्य है। हम दोनों (पूर्वपक्षी, सिद्धान्ती) के मत से यह कार्य के रूप में सिद्ध है ही, जिस तरह घट आदि को [हम मान कर किसी कर्ता के द्वारा निर्मित मानते हैं।]'

चूँकि इस ईश्वर ने सभी वस्तुओं का निर्माण किया है इसीलिए उसकी सर्वज्ञता सिद्ध हो गई। अज्ञ व्यक्ति किसी को उत्पन्न नहीं कर सकता। [जब तक सर्वज्ञता नहीं होगी, सभी वस्तुओं का निर्माण नहीं होगा। जो जिसे जानता है उसीका निर्माण कर सकता है।] श्रीमान् मृगेन्द्र ने कहा है—'सभी वस्तुओं की उत्पत्ति करने के कारण वह सर्वज्ञ है, वह वस्तुओं को साधन, अंग और उनके फल के साथ [जानता और बनाता है। दर्श-पूर्णमास यज्ञ का संपादन करने वाला व्यक्ति उसके साधनों (समिधा, पुरोडाशादि), अंगों (प्रयाज आदि) तथा फल (स्वर्गादि) को भी जानता है।] जो व्यक्ति जिस काम को जानता है, वही काम वह करता है—यह तो अच्छी तरह निश्चित है।'

(३. ईश्वर का शरीर-धारण)

अस्तु तर्हि स्वतन्त्रः ईश्वरः कर्ता। स तु नाशरीरः। घटादिकार्यस्य शरीरवता कुलालादिना क्रियमाणत्वदर्शनात्। शरीरवत्त्वे चास्मदादिवदीश्वरः। क्लेशयुक्तोऽसर्वज्ञः परिमितशक्ति प्राप्नुयादिति चेत्—मैवं मंस्थाः। अशरीरस्याप्यात्मनः स्वशरीरस्पन्दादौ कर्तृत्वदर्शनात्।

[पूर्वपक्षी कहते हैं—] अच्छा मान लिया कि ईश्वर स्वतंत्र कर्ता है किन्तु यह भी तो मानना होगा कि वह अशरीर नहीं है (शरीरधारी है)। घटादि कार्यों [के जो दृष्टान्त आप देते हैं] वे तो शरीर धारण करने वाले कुम्भकारादि के द्वारा निर्मित होते हैं। शरीरधारी ईश्वर मानने का कुपरिणाम यह होगा कि वह भी हम लोगों की तरह माना जायगा। [हमलोगों के समान] क्लेशों से युक्त, असर्वज्ञ होकर केवल एक निश्चित सीमा के ही भीतर शक्ति प्राप्त करेगा। [शैव दर्शनकारों का उत्तर है—] ऐसी बात नहीं समझें। आत्मा तो शरीर धारण नहीं करती, किन्तु [जिस शरीर के भीतर वास करती है उस] अपने शरीर का स्पंदन, संचालन आदि तो वही करती है, [इसलिए 'शरीरधारी

ही कर्ता होंगे' इस प्रकार की व्याप्ति आप नहीं सिद्ध कर सकते। शरीर की सहायता के बिना भी कोई कर्ता हो सकता है। ईश्वर भी शरीरहीन होकर कर्ता हो सकता है।]

अभ्युपगम्यापि ब्रूमहे। शरीरवत्त्वेऽपि भगवतो न प्रागुक्तदोषानुषङ्गः। परमेश्वरस्य हि मलकर्मादिपाशजालासंभवेन प्राकृतं शरीरं न भवति, किंतु शाक्तम्। शक्तिरूपैरीशानादिभिः पञ्चभिः मन्त्रैः मस्तकादिकल्पनायाम्—ईशानमस्तकः, तत्पुरुषवक्त्रः, अघोरहृदयः, वामदेवगुह्यः, सद्योजातपादः ईश्वरः—इति प्रसिद्ध्या यथाक्रमानुग्रहतिरोभावादानलक्षणस्थितिलक्षणोद्भवलक्षणकृत्यपञ्चककारणं, स्वेच्छानिर्मितं तच्छरीरं न चास्मच्छरीरसदृशम्। तदुक्तं श्रीमन्मृगेन्द्रैः—

मलाद्यसंभवाच्छाक्तं वपुर्नैतादृशं प्रभोः ॥ इति।

अब इसे स्वीकार करें (ईश्वर को शरीर मानें) तो भी कहेंगे कि शरीरधारी मानने पर भी भगवान् में पूर्वोक्त दोषों के लगने का प्रसंग नहीं है। परमेश्वर में मल, कर्म आदि पाशजालों की संभावना ही नहीं, अतः उसका शरीर प्राकृत (प्रकृति से उत्पन्न, हम लोगों की तरह का) नहीं है उसका शरीर शक्ति से बना है। [कुछ पाश हैं जैसे—मल, प्राणियों के कर्म, माया की आवरण-शक्ति। इन सबों का वर्णन इसी दर्शन में प्रायः अन्त में होगा। इन पाशों का क्षेत्र प्रकृति है। जिनके शरीर प्राकृत होते हैं उन्हीं में ये पाश रहते हैं। परमेश्वर अनादि काल से मुक्त है। यदि ऐसा न मानें तो अनवस्था-दोष उत्पन्न होगा। ईश्वर के मुक्त न होने पर कोई उसे मुक्ति देने वाला तो होगा, फिर उसे भी कोई मुक्त करेगा इत्यादि। इसलिए कोई न कोई तो अनादि मुक्त होगा ही, जो ईश्वर ही है। अनादि मुक्त मानने से पाश-मुक्त भी वह होगा। इसलिए ईश्वर का शरीर शक्ति (मातृका, वर्णमाला) से निर्मित मानते हैं।]

शक्ति के रूप में ईशान आदि पाँच मंत्र हैं जिनके द्वारा परमेश्वर के मस्तक आदि की कल्पना की जाती है। वे इस प्रकार हैं—ईश्वर का मस्तक 'ईशानः०' (महानारायणोपनिषद्, २१) मंत्र से बना है, मुख 'तत्पुरुषाय०' (म०, २०) से, हृदय 'अघोरेभ्यो०' (म०, १९) से, गुह्यस्थान 'वामदेवाय०' (म०, १८) से तथा पाद 'सद्योजातं०' (म०, १७) मन्त्र से बना है। इस प्रकार की प्रसिद्धि होने से, उसका शरीर स्वेच्छा से ही निर्मित हुआ है, वह क्रमशः अनुग्रह (दया)

तिरोभाव (अन्तर्धान concealment), आदान-लक्षण (संहार), स्थिति-लक्षण (पालन) और उद्भवलक्षण (सृष्टि)—इन पाँच प्रकार के कार्यों का कारण है, इसलिए हम लोगों के शरीर की तरह नहीं है। श्रीमन्मृगेन्द्र ने कहा है—'प्रभु के शरीर में मल आदि होना असंभव है, इसलिए [हम लोगों के शरीर की तरह] उनका शरीर नहीं है, किन्तु उनका शरीर शक्तिनिष्पन्न है।

विशेष—तन्त्रशास्त्र में मन्त्रों को ही शक्ति माना गया है। मन्त्र का एक-एक अक्षर अनुभव शक्ति का प्रतीक है—शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका। मातृकाओं या वर्णमालाओं में ही सारे मन्त्रों की सत्ता होती है। कालिकापुराण में कहते हैं—

ये ये मन्त्रा देवतानामृषीणामथ रक्षसाम्।
ते मन्त्रा मातृकायन्त्रे नित्यमेव प्रतिष्ठिताः॥

ईश्वर का शरीर मंत्रमय होने से उसके अवयव भी मंत्रों से ही बनते हैं।

अन्यत्रापि—

७. तद्वपुः पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चकृत्योपयोगिभिः।
ईशतत्पुरुषाघोरवामाद्यैर्मस्तकादिमत्॥ इति॥

ननु पञ्चवक्त्रस्त्रिपञ्चदृगित्यादिनागमेषु परमेश्वरस्य मुख्यत एव शरीरेन्द्रियादियोगः श्रूयत इति चेत्—सत्यम्, निराकारे ध्यान-पूजाद्यसंभवेन भक्तानुग्रहकारणाय तत्तदाकारग्रहणाविरोधात्।

दूसरी जगह भी कहा है—'उसका शरीर पाँच कृत्यों (अनुग्रह, तिरोभाव, संहार, पालन, सृष्टि) के उपयोग में आने वाले पाँच मंत्रों से बना है जो ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वाम आदि के द्वारा मस्तकादि अवयवों का है।' [इनमें ईशान-मंत्र अनुग्रह के लिए, तत्पुरुष-मंत्र तिरोभाव के लिए अघोर-मंत्र संहार के लिए, वामदेव-मंत्र पालन के लिए तथा सद्योजात-मंत्र सृष्टि के लिए उपयोगी है।]

अब कोई प्रश्न कर सकता है कि आपके आगमों में ही तो 'पाँच मुँहों से युक्त' 'पंद्रह आँखों से युक्त' आदि विशेषणों से परमेश्वर के मुख्यतः शरीर, इन्द्रिय आदि का संबंध सुनते हैं [फिर उसे सशरीर मानने में क्या आपत्ति है ?] ठीक है, निराकार ईश्वर का ध्यान करना, पूजा करना आदि असंभव है इसलिए भक्तों पर अनुग्रह करने वाले परमेश्वर के लिए उन आकारों को धारण करने में विरोध की कोई बात नहीं।

तदुक्तं श्रीमत्पौष्करे—

८. साधकस्य तु रक्षार्थं तस्य रूपमिदं स्मृतम्। इति।

अन्यत्रापि—

आकारवांस्त्वं नियमादुपास्यो
न वस्त्वनाकारमुपैति बुद्धिः ॥ इति ।

कृत्यपञ्चकं च प्रपञ्चितं भोजराजेन—

९. पञ्चविधं तत्कृत्यं सृष्टिस्थितिसंहारतिरोभावः ।
तद्वदनुग्रहकरणं प्रोक्तं सततोदितस्यास्य ॥ इति ।

जैसा कि श्रीमान् पुष्कर के ग्रंथ में लिखा है—'साधक की रक्षा के लिए ही उस परमेश्वर का ऐसा रूप माना जाता है।' दूसरी जगह भी कहा गया है—'तुम आकारवान् हो, नियम से उपासना करने के योग्य हो क्योंकि निराकार वस्तु का ग्रहण हमारी बुद्धि नहीं कर सकती।' [यह भगवान् के समक्ष की गई भक्त की प्रार्थना का खण्ड है] ।

भोजराज ने पाँच कृत्यों का निरूपण इस प्रकार किया है—'उस (परमेश्वर) के कृत्य पाँच प्रकार के होते हैं—सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुग्रह करना, ये उस निरन्तर जागरूक रहने वाले परमेश्वर के कृत्य हैं।'

विशेष—उपासना का अर्थ है सेवा। इसके कायिक, वाचिक और मानसिक तीन भेद हैं। कायिक का अर्थ है पाद्य, अर्घ्य, स्नान, धूप, दीप, नैवेद्य आदि पंचोपचार या षोड़शोपचार से पूजा। वाचिक का अर्थ स्तोत्रपाठ करना है। मानसिक का अर्थ ध्यान जपादि है। निराकार का खंडन करते हुए ये लोग कहते हैं कि निराकार की सेवा मानसिक ही नहीं हो सकती, कायिक और वाचिक की तो बात ही दूर है। निराकार पदार्थ को मन (बुद्धि) अपना विषय बना ही नहीं सकता क्योंकि विषय बनाने का अर्थ है वस्तु के आकार के समान ही बुद्धि में आकार ग्रहण करना, जो निराकार वस्तु के साथ होना असंभव ही है। बुद्धि की पकड़ में न आने के कारण वाचिक स्तोत्रपाठ भी नहीं होगा। कायिक सेवा तो निराकार की हो ही नहीं सकती।

एतच्च कृत्यपञ्चकं शुद्धाध्वविषये साक्षाच्छिवकर्तृकं कृच्छ्राध्वविषये त्वन्तादिद्वारेणेति विवेकः । तदुक्तं श्रीमत्करणे—

शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽहिते प्रभोः ॥ इति ।

एवं च शिवशब्देन शिवत्वयोगिनां मन्त्रमन्त्रेश्वरमहेश्वरमुक्तात्मशिवानां सवाचकानां शिवत्वप्राप्तिसाधनेन दीक्षादिनो-

पायकलापेन सह पतिपदार्थे संग्रहः कृत इति बोद्धव्यम्। तदित्थं पतिपदार्थो निरूपितः।

इन पाँच कृत्यों का संपादन, शुद्ध-मार्ग के विषय में, साक्षात् शिव के ही द्वारा होता है, यदि कृच्छ्र (कृष्ण या अशुद्ध या अहित) मार्ग की चर्चा हो तो अनन्त आदि अधिकारियों के द्वारा इनका संपादन होता है—यही पार्थक्य है। जैसा कि श्रीमत् करण (चौथे आगम) में कहा है—'शुद्ध मार्ग में शिव ही कर्ता कहलाता है और अहित मार्ग में शिव के [प्रयोज्य रूप में विख्यात] अनन्त कर्ता हैं।'

इस प्रकार यह समझ लें कि 'शिव' शब्द के द्वारा, शिवत्व से संबद्ध सभी पदार्थ जैसे मन्त्र, मंत्रेश्वर, महेश्वर, मुक्त आत्मा, शिव—इन सभी का, शैवदर्शन के प्रवचनकर्ताओं का तथा शिवत्व की प्राप्ति कराने वाले साधन, जैसे दीक्षादि उपाय समूह, का संग्रह पति-पदार्थ में ही हो जाता है। इस तरह पति पदार्थ का निरूपण समाप्त हुआ।

विशेष—उपसंहार-वाक्य में 'पति' पदार्थ की व्याप्ति पर विचार किया गया है। ऊपर कह चुके हैं कि पति का अर्थ शिव है, किन्तु अब विश्लेषण करने पर उसका क्षेत्र कुछ बड़ा मालूम पड़ता है। शिवत्व-धर्म से जिन पदार्थों का संबंध है वे सभी (शिवत्वयोगी) पदार्थ पति के अंतर्गत हैं। वे हैं—पाँचों मंत्र, मण्डली आदि मन्त्रों के ईश्वर, महेश्वर अर्थात् विद्येश्वर (जिनका निरूपण तुरत ही होने वाला है), मुक्त आत्मायें तथा स्वयं शिव पदार्थ। मंत्र से जीवविशेष का भी बोध होता है जिनका वर्णन विद्येश्वरों के साथ होगा। यही नहीं, इन पदार्थों के वाचक शब्द या आचार्य भी इसी 'पति' पदार्थ के अन्तर्गत हैं। शिवत्व-प्राप्ति कराने वाले साधन, जैसे—दीक्षा आदि सारे उपाय-समूह, भी पति ही हैं। अतः पति का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उसके अनन्तर 'पशु' पदार्थ का निरूपण होगा।

(४. 'पशु' पदार्थ का निरूपण—अन्य मतों का खण्डन)

संप्रति पशुपदार्थो निरूप्यते—अनणुः क्षेत्रज्ञादिपदवेदनीयो जीवात्मा पशुः। न तु चार्वाकादिवद् देहादिरूपः। 'नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः' इति न्यायेन प्रतिसंधानानुपपत्तेः। नापि नैयायिकादिवत्प्रकाश्यः। अनवस्थाप्रसङ्गात्। तदुक्तम्—

१०. आत्मा यदि भवेन्मेयस्तस्य माता भवेत्परः।
पर आत्मा तदानीं स्यात्स परो यदि दृश्यते॥ इति।

अब हम 'पशु' पदार्थ का निरूपण करते हैं। जो अणु नहीं है, 'क्षेत्रज्ञ' (शरीर का ज्ञाता) आदि पर्यायवाची शब्दों से जिसका बोध हो, वह जीवात्मा पशु है।

(१) चार्वाक आदि मतवादियों की तरह आत्मा को शरीर के रूप में नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में [दो अवस्थाओं की बातों में स्मृति के द्वारा] संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता—एक नियम है कि एक व्यक्ति के द्वारा देखी गई बातों का स्मरण दूसरा व्यक्ति नहीं कर सकता। [यदि आत्मा को शरीर मान लेते हैं तो शरीर में अन्तर के साथ-साथ आत्मा भी बदल जायगी। बाल्यावस्था में जो शरीर हैं वह तरुणावस्था में नहीं—चार्वाकों के अनुसार तब तो आत्मा भी बदल गई होगी। अर्थात् दो अवस्थाओं में दो पृथक्-पृथक् जीवात्मायें हैं। फिर एक जीवात्मा के काल में होने वाली घटना का स्मरण दूसरी जीवात्मा कैसे कर लेगी ? बाल्यावस्था की बात तरुणावस्था में कैसे याद आयेगी ? अतः चार्वाकों का आत्म-विषयक मत ठीक नहीं है।]

(२) नैयायिकों की तरह आत्मा को प्रकाश्य (ज्ञेय knowable) भी नहीं मान सकते क्योंकि ऐसा करने पर अनवस्था-दोष होने का भय है। [आत्मा यदि प्रकाश्य है तो उसका प्रकाशक या ज्ञाता कोई अवश्य होगा क्योंकि एक ही क्रिया (जानना) में एक ही साथ कोई एक पदार्थ कर्ता और कर्म नहीं हो सकता। अब जो दूसरा ज्ञाता (आत्मा ही को लें) है उसका भी तो कोई ज्ञाता होगा जो उससे पृथक् ही होगा। इस प्रकार यह समस्या अनन्त काल तक चलती चलेगी।] जैसा कि कहा गया है—'आत्मा यदि मेय (ज्ञेय) है तो इसका माता (ज्ञाता, जानने वाला, √ मा) कोई दूसरा अवश्य होना चाहिए। उसी अवस्था में दूसरे ज्ञाता की सत्ता स्वीकरणीय है जब वह दूसरी आत्मा जानी जाय या देखने में आये। [पहली दशा में अनवस्था होगी, दूसरी दशा में अनुभव का विरोध होगा।]

न च जैनवदव्यापकः। नापि बौद्धवत्क्षणिकः। देशकालाभ्यामनवच्छिन्नत्वात्। तदप्युक्तम्—

११. अनवच्छिन्नसद्भावं वस्तु यद्देशकालतः।
तन्नित्यं विभु चेच्छन्तीत्यात्मनो विभुनित्यता॥ इति।

नापि अद्वैतवादिनामिवैकः। भोगप्रतिनियमस्य पुरुषबहुत्वज्ञापकस्य संभवात्।

(३) जैनों की तरह आत्मा को अव्यापक (non-pervading) भी नहीं मान सकते और (४) न बौद्धों की तरह क्षणिक ही। देश और काल

(Space and Time) के द्वारा आत्मा की इयत्ता (अवच्छेद, limit सीमा) निर्धारित नहीं हो सकती। [जैन लोग आत्मा को अव्यापक मानते हैं अर्थात् आत्मा की सीमा देश के द्वारा निर्धारित हो जाती है। परन्तु आत्मा देश (Space) के द्वारा निर्धारित नहीं हो सकती कि वह अमुक देश में है, अमुक में नहीं। स्थान से अव्याप्त रहने पर व्यापक-अव्यापक का प्रश्न नहीं उठता, वस्तुतः आत्मा विभु (All-pervading) है। अव्यापक मानने का अर्थ है कि देश के द्वारा आत्मा अवच्छिन्न (व्याप्त) हो जाती है जो अभीष्ट नहीं। दूसरी ओर, बौद्ध लोग आत्मा को क्षणिक मानते हैं अर्थात् आत्मा काल के द्वारा अवच्छिन्न है, परन्तु वास्तव में काल की सीमा में आत्मा नहीं आती—यह नित्य है।]

यह भी कहा गया है—'जो वस्तु देश और काल की इयत्ता से रहित सत्ता धारण करती है उसे नित्य और विभु मानने की इच्छा वे लोग करते हैं, इस प्रकार आत्मा की विभुता और नित्यता स्वीकार की जाती है।'

(५) अद्वैतवादियों की तरह आत्मा को एक (Monistic) भी नहीं माना जा सकता। विभिन्न भोगों (सुख और दुःख का साक्षात्कार) के नियम को देखकर यह मालूम होता है कि पुरुष की बहुलता है। [विभिन्न पुरुष विभिन्न भोग भोगते हैं, कोई सुख भोगता है तो कोई दुःख। जो फल राम को मिलता है वही मोहन को नहीं—भोगों के इस नियम से पुरुषों की अनेकता का अनुमान होता है। कर्मों के द्वारा इसका नियन्त्रण नहीं होता। यदि जीव को एक मानें तो अमुक ने यह कर्म किया और अमुक ने नहीं—ऐसा कहना कठिन हो जायगा, इसलिए जीवों को अनेक मानें।]

नापि सांख्यानामिवाकर्ता। पाशजालापोहने नित्यनिरतिशयदृक्क्रियारूपचैतन्यात्मकशिवत्वश्रवणात्। तदुक्तं श्रीमन्मृगेन्द्रैः—'पाशान्ते शिवताश्रुतेः' इति।

१२. चैतन्यं दृक्क्रियारूपं तदस्त्यात्मनि सर्वदा।
सर्वतश्च यतो मुक्तौ श्रूयते सर्वतोमुखम्॥ इति।

तत्त्वप्रकाशेऽपि—

१३. मुक्तात्मानोऽपि शिवाः किं त्वेते यत्प्रसादतो मुक्ताः।
सोऽनादिमुक्त एको विज्ञेयः पञ्चमन्त्रतनुः॥ इति।

(६) सांख्यों की तरह हम आत्मा को अकर्ता भी नहीं मान सकते। जब पाशों का जाल (समूह) समाप्त हो जाता है, तब नित्य और निरतिशय (सबसे

ऊँची) दृष्टिशक्ति और क्रियाशक्ति के रूप में चैतन्यात्मक शिवत्व की प्राप्ति होती है, ऐसा श्रुतियों में कहा है। [चैतन्य नित्य है, वह दृक् और क्रिया के रूप में है, अतः वह नित्य रूप से कर्ता है। बद्ध जीवात्मायें अपनी इन्द्रियों के द्वारा विभिन्न क्रियायें करती हैं, यह हम रोज देखते हैं। जो जीव मोक्ष की इच्छा रखते हैं वे मल, कर्म आदि पाश-जाल का विनाश करने के लिए व्रत, चर्या आदि क्रियायें ही तो करते हैं। मुक्त आत्मायें भी शिवत्व की प्राप्ति करती हैं—यह भी तो कर्म ही है क्योंकि शिवत्व का अर्थ होता है दृक् और क्रिया के रूप में चैतन्य। क्रिया बिना कर्ता के सम्भव नहीं है इसलिए जीवात्मा कर्ता है।] श्रीमान् मृगेन्द्र ने यही कहा है—'पाशों का नाश हो जाने पर शिवत्व-प्राप्ति की बात श्रुतियों से सिद्ध है।'

'दृक् (Vision) और क्रिया (Action) के रूप में जो चैतन्य है, वह आत्मा में सब समय सब तरह से है क्योंकि मुक्ति होने पर सभी ओर मुख (द्वार, अप्रतिहत गति) वाला चैतन्य सुना जाता है।' [तात्पर्य यह है कि मुक्ति मिल जाने पर जीव की दृक्शक्ति (ज्ञान) या क्रियाशक्ति सर्वतोगामिनी बन जाती है, उसे रोक नहीं सकता।] तत्त्वप्रकाश में भी कहा है—'मुक्त आत्मायें भी शिव ही हैं, किन्तु ये जिसकी कृपा से मुक्त हुई हैं, वह अनादि काल से मुक्त परमेश्वर एक ही है जिसका शरीर पाँच मन्त्रों का बना हुआ समझें।'

(५. जीव के तीन भेद)

पशुस्त्रिविधः—विज्ञानाकल-प्रलयाकल-सकलभेदात्। तत्र प्रथमो विज्ञानयोगसंन्यासैर्भोगेन वा कर्मक्षये सति कर्मक्षयार्थस्य कलादिभोगबन्धस्य अभावात् केवलमलमात्रयुक्तो 'विज्ञानाकल' इति व्यपदिश्यते। द्वितीयस्तु प्रलयेन कलादेरुपसंहारान्मलकर्मयुक्तः 'प्रलयाकल' इति व्यवह्रियते। तृतीयस्तु मलमायाकर्मात्मकबन्धत्रयसहितः 'सकल' इति संलिप्यते।

पशु तीन प्रकार का है—(१) विज्ञानाकल, (२) प्रलयाकल और (३) सकल। उनमें पहला केवल मल से ही युक्त रहता है (अन्य तीन पाशों से नहीं) तथा **विज्ञानाकल** कहलाता है क्योंकि इसमें विज्ञान (परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान), योग (जप, ध्यान आदि) और संन्यास से अथवा भोग से (= कर्मफल का भोग कर लेने पर) कर्म का विनाश हो जाता है तथा कर्मक्षय के लिए बने कला (इनका वर्णन आगे होगा) आदि भोगबन्ध (शरीर) का अभाव रहता है। [जिसमें कला न हो वह अकल है। कर्म का क्षय हो जाने पर उनका फल-

भोग करने वाले शरीर की आवश्यकता नहीं रहती। अतः शरीर के प्रयोजक कला आदि या इन्द्रियों का अत्यन्त अभाव हो जाता है इसलिए वह पशु अ-कल है। चूँकि विज्ञान के कारण अकलता प्राप्त होती है इसलिए इसे विज्ञानाकल कहते हैं।] दूसरा **प्रलयाकल** कहलाता है क्योंकि प्रलय (dissolution) के द्वारा इसमें कलादि (शरीर के प्रयोजक) का विनाश होता है—इसमें मल के साथ कर्म भी (=कुल दो पाश) रहता है। तीसरा **सकल** है क्योंकि इसमें मल, माया, कर्म—ये तीन बन्धन या पाश रहते हैं।

(५ क. विज्ञानाकल जीव के दो भेद)

तत्र प्रथमो द्विप्रकारो भवति—समाप्तकलुषासमाप्तकलुष-भेदात्। तत्राद्यान् कालुष्यपरिपाकवतः पुरुषधौरेयानधिकारयोग्यान् अनुगृह्य अनन्तादिविद्येश्वराष्टपदं प्रापयति। तद्विद्येश्वराष्टकं निर्दिष्टं बहुदैवत्ये—

१४. अनन्तश्चैव सूक्ष्मश्च तथैव च शिवोत्तमः।
एकनेत्रस्तथैवैकरुद्रश्चापि त्रिमूर्त्तिकः॥
१५. श्रीखण्डश्च शिखण्डी च प्रोक्ता विद्येश्वरा इमे। इति।

उनमें पहला (विज्ञानाकल) दो प्रकार का है—जिनका कलुष (मल) समाप्त हो गया है तथा जिनका कलुष समाप्त नहीं हुआ है। जिन लोगों के कालुष्य या मल का विनाश (परिपाक) हो जाता है वे पुरुषों में श्रेष्ठ हैं तथा अधिकार (ईश्वरप्राप्ति) के सर्वथा योग्य हैं, उन्हें अनुगृहीत (उन पर कृपा) करके उन्हें अनन्त आदि आठ विद्येश्वरों के पद पर पहुँचाया जाता है [—इन्हें ही समाप्तकलुष विज्ञानाकल जीव कहते हैं] आठ विद्येश्वरों का निर्देश बहुदैवत्य नामक ग्रन्थ में इस प्रकार हुआ है—'अनन्त, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकनेत्र, एकरुद्र, त्रिमूर्ति, श्रीकण्ठ और शिखण्डी—ये ही आठ विद्येश्वर कहे गये हैं।' [ये विद्येश्वर जीवों में सबसे ऊँचे हैं, इन्हें शिवत्व की प्राप्ति हो जाती है। जीव अधिक से अधिक यही पद पा सकता है, यदि जीवावस्था में हो। ये मुक्त नहीं हैं, केवल शिव का अनुग्रह प्राप्त किये हुए अधिकारी हैं। समाप्तकलुष से केवल इन विद्येश्वरों का ही बोध होता है।]

अन्या (न्त्या) न्सप्तकोटिसंख्यातान्मन्त्राननुग्रहकरणान्विधत्ते। तदुक्तं तत्त्वप्रकाशे—

१६. पशवस्त्रिविधाः प्रोक्ता विज्ञानप्रलयकेवलौ सकलः ।
मलयुक्तस्तत्राद्यो मलकर्मयुतो द्वितीयः स्यात् ॥

१७. मलमायाकर्मयुतः सकलस्तेषु द्विधा भवेदाद्यः ।
आद्यः समाप्तकलुषोऽसमाप्तकलुषो द्वितीयः स्यात् ॥

१८. आद्यानतुगृह्य शिवो विद्येशत्वे नियोजयत्यष्टौ ।
मन्त्रांश्च करोत्यपरांस्ते चोक्ताः कोटयः सप्त ॥ इति ।

असमाप्तकलुष जीवों को [शिव] अनुग्रह करनेवाले सात करोड़ मन्त्रों का रूप दे देता है । [मन्त्र तो कर्म और शरीर से मुक्त रहते हैं, केवल मल उनमें रहता है, ये ऐसे जीव-विशेष हैं । ये संख्या में सात करोड़ हैं तथा दूसरे जीवों पर दया भी करते हैं ।] तत्त्वप्रकाश में कहा गया है—

'तीन प्रकार के पशु होते हैं, केवल विज्ञान, केवल प्रलय तथा सकल । उनमें पहला (विज्ञानाकल) मलयुक्त होता है, दूसरा (प्रलयाकल) मल और कर्म से युक्त रहता है । सकल में मल, माया और कर्म होते हैं । उनमें प्रथम के दो भेद हैं—समाप्तकलुष और असमाप्तकलुष । प्रथम भेद में पड़नेवाले जीवों पर शिव कृपा करके विद्येश्वरों के आठ पद प्रदान करता है जब कि दूसरे भेद में आनेवाले जीवों को मन्त्रों का पद देता है जो संख्या में सात करोड़ हैं ।'

सोमशंभुनाप्यभिहितम्—

१९. विज्ञानाकलनामैको द्वितीयः प्रलयाकलः ।
तृतीयः सकलः शास्त्रेऽनुग्राह्यस्त्रिविधो मतः ॥

२०. तत्राद्यो मलमात्रेण युक्तोऽन्यो मलकर्मभिः ।
कलादिभूमिपर्यन्ततत्त्वैस्तु सकलो युतः ॥ इति ।

सोम-शंभु ने भी ऐसा ही कहा है—'एक विज्ञानाकल नाम का है, दूसरा प्रलयाकल, तीसरा सकल—शास्त्र में ये तीन प्रकार के अनुग्राह्य (दया के पात्र, जीव) माने गये हैं । उनमें प्रथम केवल मल से ही युक्त रहता है, दूसरा मल और कर्म से युक्त है तथा सकल कला से लेकर भूमि पर्यन्त तत्त्वों (सात कलायें, तीन अन्तःकरण, दस इन्द्रियाँ, शब्दादि पाँच तन्मात्र, आकाशादि भूमिपर्यन्त पाँच तत्त्व = कुल ३० तत्त्व) से युक्त रहता है ।'

(५ ख. प्रलयाकल जीव के दो भेद)

प्रलयाकलोऽपि द्विविधः—पक्वपाशद्वयस्तद्विलक्षणश्च। तत्र प्रथमो मोक्षं प्राप्नोति। द्वितीयस्तु पुर्यष्टकयुतः कर्मवशान्नानाविधजन्मभाग्भवति। तदप्युक्तं तत्त्वप्रकाशे—

२१. प्रलयाकलेषु येषामपक्वमलकर्मणी व्रजन्त्येते।
पुर्यष्टकदेहयुता योनिषु निखिलासु कर्मवशात्॥ इति।

प्रलयाकल जीव भी दो प्रकार का होता है—जिसके दो पाश (मल और कर्म) परिपक्व हो गये हैं तथा जिसके दो पाश परिपक्व नहीं हुए हैं। [परिपक्व का अर्थ है जो अपने कार्य को करने में असमर्थ है। दो पाशों के परिपक्व हो जाने से भोग की भी हानि हो जाती है और जीव मुक्त होता है।] इनमें पहले प्रकार का जीव मोक्ष प्राप्त करता है जब कि दूसरा पुर्यष्टक (शरीर) प्राप्त करके कर्म के वश में होकर नाना प्रकार के जन्म प्राप्त करता है। [पुर्यष्टक से 'तीस तत्त्वों से बना हुआ शरीर' अर्थ लिया जाता है। वे तत्त्व हैं—पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्र, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, सात कलादि, तीन अन्तःकरण—इनके विवरण के लिए आगे देखें।] तत्त्वप्रकाश में यह भी कहा गया है—'प्रलयाकल जीवों में जिनके मल और कर्म परिपक्व नहीं, वे कर्म के वश में होकर पुर्यष्टक (तीस तत्त्वों से बनी) देह धारण करके सभी योनियों में विचरण करते रहते हैं।'

पुर्यष्टकमपि तत्रैव निर्दिष्टम्—

स्यात्पुर्यष्टकमन्तःकरणं धीकर्मकरणानि। इति।

विवृतं चाघोरशिवाचार्येण—पुर्यष्टकं नाम प्रतिपुरुषं नियतः, सर्गादारभ्य कल्पान्तं मोक्षान्तं वा स्थितः, पृथिव्यादिकलापर्यन्तस्त्रिंशत्तत्त्वात्मकः, सूक्ष्मो देहः। तथा चोक्तं तत्त्वसंग्रहे—

२२. वसुधाद्यस्तत्त्वगणः प्रतिपुंनियतः कलान्तोऽयम्।
पर्यटति कर्मवशाद् भुवनजदेहेष्वयं च सर्वेषु॥ इति।

पुर्यष्टक का उल्लेख भी उसी स्थान पर हुआ है—अन्तःकरण (मन, बुद्धि और अहंकार तथा सात कलादि), बुद्धि के कर्म (= ज्ञेय; पाँच भूत + पाँच तन्मात्र) और करण (साधन अर्थात् दस इन्द्रियाँ क्योंकि वे ज्ञान और कर्म के साधन हैं)—इसे पुर्यष्टक कहते हैं।

अघोरशिवाचार्य ने इसका विवरण दिया है—पुर्यष्टक उस सूक्ष्म देह को कहते हैं जो प्रत्येक पुरुष के लिए निश्चित रहती है, सृष्टि के आरम्भ से लेकर कल्प के अन्त तक या मोक्ष के अन्त तक स्थिर रहती है और पृथिवी आदि कला-पर्यन्त तीस तत्त्वों से निर्मित होती है। जैसा कि तत्त्वसंग्रह में कहा गया है—'वसुधा (पृथिवी) से आरम्भ करके कला-पर्यन्त जो तत्त्वों का समूह है वह प्रत्येक पुरुष के लिए नियत है तथा कर्मसिद्धान्त के अनुसार वह भुवन में उत्पन्न होनेवाले (पशु, पक्षी, मनुष्य आदि) सभी जीवों के शरीरों में घूमता रहता है।'

तथा चायमर्थः समपद्यत—अन्तःकरणशब्देन मनोबुद्ध्यहंकारवाचिनाऽन्यान्यपि पुंसो भोगक्रियायामन्तरङ्गाणि कला-काल-नियति-विद्या-राग-प्रकृति-गुणाख्यानि सप्त तत्त्वान्युपलक्ष्यन्ते। धीकर्मशब्देन ज्ञेयानि पञ्चभूतानि तत्कारणानि च तन्मात्राणि विवक्ष्यन्ते। करणशब्देन ज्ञानकर्मेन्द्रियदशकं संगृह्यते।

इस प्रकार यह अर्थ संपन्न हुआ—'अन्तःकरण' शब्द से, जिससे मन, बुद्धि और अहंकार का बोध होता है, पुरुष की भोग-क्रिया में अनिवार्य (अन्तरंग) रूप से विद्यमान कला, काल, नियति (अदृष्ट Fate), विद्या, राग (Infatuation विषयासक्ति), प्रकृति और गुण—इन सात तत्त्वों को भी उपलक्षित (include) किया जाता है। 'धीकर्म' शब्द से ज्ञेय पाँच भूतों को और उनके कारणरूप पाँच तन्मात्रों को समझा जाता है। 'करण' शब्द से ज्ञान और कर्म की दस इन्द्रियाँ ली जाती हैं। [इस तरह कुल तीस तत्त्वों को **पुर्यष्टक** कहते हैं।]

विशेष—कलादि सात तत्त्वों से सृष्टि का क्रम समझा जाता है। समस्त सृष्टि के मूल में माया-तत्त्व है जो अत्यन्त सूक्ष्म तथा प्रलय-काल में भी नष्ट नहीं होने वाला है। परमेश्वर के साथ, सृष्टि के आरंभ में, उसका संपर्क होता है और उसमें परिणाम उत्पन्न होते हैं। प्रथम परिणाम कला है जो माया की अपेक्षा कम सूक्ष्म तथा प्रलयकाल में नष्ट हो जानेवाली है। अभी भी तीन गुणों की उत्पत्ति न होने के कारण यह गुणत्रय से भी परे है। इसके बाद काल आता है जो एक ही है, बाद में आने वाली सभी चीजें काल के अधीन हैं। तदनन्तर नियति की उत्पत्ति होती है जो विभिन्न प्रकार की है क्योंकि जीव के द्वारा किये गये पूर्व कर्मों के अनुसार काल के नियम से, जीवों से यह संबद्ध रहती है। नियति से विद्या उत्पन्न होती है जिसे चित्त के रूप में जीव का गुण भी मानते हैं। उसके बाद राग (विषयासक्ति) आता है। यह द्वेष का विरोधी है तथा जीव का एक गुण ही है। उपर्युक्त ··नों तत्त्व (विद्या और राग) प्रत्येक जीव

के लिए भिन्न-भिन्न हैं। तब प्रकृति (स्वभाव) का तत्त्व उत्पन्न होता है, तब तीन गुण आते हैं।

इन सात तत्त्वों की उत्पत्ति के बाद ही तीन अन्तःकरण उत्पन्न होते हैं। अन्तःकरण के पश्चात् पाँच सूक्ष्म-तत्त्व (शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—ये तन्मात्र) उत्पन्न होते हैं तथा पाँच स्थूल-तत्त्व (पृथ्वी आदि पाँच महाभूत) उसके बाद आते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति उसके बाद होने पर स्थूल देह बनती है। यह सृष्टिक्रम सांख्यदर्शन से बहुलांश में समान है। यहाँ इन तीस तत्त्वों को पुर्यष्टक कहते हैं।

ननु श्रीमत्कालोत्तरे—

२३. शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चकम्।
बुद्धिर्मनस्त्वहंकारः पुर्यष्टकमुदाहृतम्॥

इति श्रूयते। तत्कथमन्यथा कथ्यते ? अद्धा, अत एव च तत्रभवता रामकाण्डेन तत्सूत्रं त्रिंशत्तत्त्वपरतया व्याख्यायीत्यलमतिप्रपञ्चेन।

अब कोई पूछ सकता है कि श्रीमत् कालोत्तर नामक आगम में ऐसा सुनते हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँचों का समूह तथा बुद्धि, मन और अहंकार, ये मिलकर पुर्यष्टक कहलाते हैं।' तो फिर आप लोग यहाँ अन्य प्रकार से (तीस तत्त्वों का पुर्यष्टक) कैसे कहते हैं ? ठीक है, इसीलिए तो आदरणीय रामकाण्ड ने उपर्युक्त उद्धृत सूत्र (श्लोकात्मक) की व्याख्या इस तरह की है कि तीस तत्त्वों का अभिप्राय निकले—अधिक विस्तार क्या करें ?

विशेष—पुर्यष्टक में दो शब्द हैं 'पुरि = शरीरे, अष्टकम्।' शरीर में आठ चीजों का ही वास्तव में ग्रहण करना चाहिए किन्तु मूल-शब्द को कौन पूछता है ? शब्द पड़ा रह जाता है और अर्थ कहाँ-से-कहाँ पहुँच जाता है—पुर्यष्टक = तीस तत्त्वों से निर्मित शरीर ! कोई आठ तत्त्वों का निर्देश भी करे तो उसकी व्याख्या में ३० तत्त्वों को समाहित करना ही है।

तथापि कथमस्य पुर्यष्टकत्वम् ? भूततन्मात्रबुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियान्तःकरणसंज्ञैः पञ्चभिर्वर्गैः तत्कारणेन प्रधानेन कलादिपञ्चकात्मना वर्गेण चारब्धत्वादित्यविरोधः। तत्र पुर्यष्टकयुतान्विशिष्टपुण्यसंपन्नान् कांश्चिदनुगृह्य भुवनपतित्वमत्र महेश्वरोऽनन्तः प्रयच्छति। तदुक्तम्—

काांश्चिदनुगृह्य वितरति भुवनपतित्वं महेश्वरस्तेषाम् ॥ इति ।

फिर भी इसे पुर्यष्टक कैसे कहते हैं ? ['पुर्यष्टक' में 'आठ' शब्द है जिसका तात्पर्य कुछ न-कुछ तो होगा ही। तोस तत्त्वों वाले पुर्यष्टक में 'अष्ट' संख्या आई कैसे ?]

इस प्रकार यदि अवान्तर वर्गों के द्वारा हम गिनायें तो विरोध नहीं होगा--पञ्च महाभूत, पञ्च तन्मात्र, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और तीन अन्तःकरण--ये पाँच वर्ग हुए; अब इनके कारणस्वरूप तीन गुण, प्रधान (= समस्त संसार का मूल कारण, प्रकृति) तथा कलादि पाँच तत्त्वों (कला, काल, नियति, विद्या, राग) का वर्ग--ये तीन वर्ग हुए। [सब मिलकर आठ वर्ग हो जाते हैं। फिर विरोध कैसे ?] पुर्यष्टक से युक्त तथा विशेष पुण्य करने वाले कुछ लोगों पर अनुग्रह (दया) करके महेश्वर अनन्त उन्हें इसी संसार से भुवनपति का पद देते हैं। जैसा कि कहा गया है--'इन लोगों में कुछ पुरुषों पर दया करके महेश्वर उन्हें भुवनपति का पद दे देते हैं।' [यहाँ महेश्वर का अर्थ विद्येश्वर है।]

(५. ग. 'सकल' जीव के भेद)

सकलोऽपि द्विविधः। पक्वकलुषापक्वकलुषभेदात्। तत्राद्यान्परमेश्वरस्तत्परिपाकपरिपाट्या तदनुगुणशक्तिपातेन मण्डल्याद्यष्टादशोत्तरशतमन्त्रेश्वरपदं प्रापयति। तदुक्तम्—

२४. शेषा भवन्ति सकलाः कलादियोगादहर्मुखे काले।
शतमष्टादश तेषां कुरुते स्वयमेव मन्त्रेशान् ॥

२५. तत्राष्टौ मण्डलिनः क्रोधाद्यास्तत्समाश्च वीरेशः।
श्रीकण्ठः शतरुद्राः शतमित्यष्टादशाभ्यधिकम् ॥ इति।

सकल भी दो प्रकार का है—पक्वकलुष (जिनके कलुष पक्व हो गये हैं) तथा अपक्वकलुष। उनमें पक्वकलुष जीवों को, परमेश्वर, उनके परिपाक की प्रणाली को देखकर, उसके अनुसार ही [दृक् और क्रिया को आच्छादित करने वाली] शक्ति का ह्रास होने पर, मण्डली आदि एक सौ अठारह मन्त्रेश्वरों (एक प्रकार के जीव) का पद प्रदान करता है। [तात्पर्य यह है कि जैसे-जैसे मल आदि पाशों का परिपाक बढ़ते जाता है वैसे-वैसे ही उन पाशों में विद्यमान ज्ञान और क्रिया की आच्छादन-शक्ति भी क्षीण होती जाती है। शक्ति क्षीण हो जाने से पाश बेचारे कुछ नहीं कर पाते—रहकर भी नहीं रहते। ऐसी दशा में ही

जीव मन्त्रेश्वर का पद प्राप्त करता है। इसके पहले सात करोड़ मन्त्रों का वर्णन हो चुका है, जो जीव ही हैं—उस पद को प्राप्त करने के अधिकारी ये मन्त्रेश्वर ही हैं।]

जैसा कि कहा गया है—'अवशिष्ट जीव सकल कहलाते हैं क्योंकि सृष्टि के आरंभ के समय में इनका संबंध कला आदि के साथ रहता है। इनमें एक सौ अठारह जीवों के शिव स्वयं मन्त्रेश्वर बना देते हैं ॥ २४ ॥ इनमें आठ तो मण्डली कहलाते हैं, फिर उतने ही क्रोधादि तत्त्व हैं (= आठ), वीरेश और श्रीकण्ठ के बाद एक सौ रुद्र—इस प्रकार कुल ११८ मन्त्रेश्वर हैं ॥ २५ ॥'

विशेष—अहर्मुख काल = सृष्टि के आरंभ का समय। सृष्टि को दिन कहते हैं तथा प्रलय को रात्रि। दिन का मुख अर्थात् सृष्टि का आरंभ।

तत्परिपाकाधिक्यानुरोधेन शक्त्युपसंहारेण दीक्षाकरणेन मोक्षप्रदो भवत्याचार्यमूर्तिमास्थाय परमेश्वरः। तदप्युक्तम्—

२६. परिपक्वमलानेतानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन।
योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाचार्यमूर्तिस्थः ॥ इति।

श्रीमन्मृगेन्द्रेऽपि—

पूर्वं व्यत्यासितस्याणोः पाशजालमपोहति ॥ इति।

उन पाशों का परिपाक इतना अधिक हो जाता है कि उन्हीं के आग्रह से, रोध-शक्ति का सर्वथा विनाश हो जाने पर, उन जीवों के लिए, आचार्य की मूर्ति में प्रवेश करके, परमेश्वर दीक्षा के द्वारा मोक्षप्रद बनता है। यह भी कहा गया है—'जिनके मल पूर्णतः परिपक्व हो जाते हैं, उनकी विनाशक (उत्सादनहेतु = ज्ञान की विनाशक) शक्ति को समाप्त करके, वह परमेश्वर आचार्य की मूर्ति (शरीर) में अवस्थित होकर दीक्षा-दान करके परम तत्त्व से मिला देता है।'

श्रीमत् मृगेन्द्र में भी यही कहा है—'पहले व्यत्यासित (अनादि संस्कार से मुक्त किये गये) जीव (अणु) के पाश-जाल को ही वह दूर करता है।'

व्याकृतं च नारायणकण्ठेन। तत्सर्वं तत एवावधार्यम्। अस्माभिस्तु विस्तरभिया न प्रस्तूयते। अपक्वकलुषान्बद्धानणून्भोगभाजो विधत्ते परमेश्वरः कर्मवशात्। तदप्युक्तम्—

२७. बद्धाञ्छेषानपरान् विनियुङ्क्ते भोगभुक्तये पुंसः।
तत्कर्मणामनुगमादित्येवं कीर्तिताः पशवः ॥ इति।

नारायणकण्ठ ने इसकी व्याख्या भी की है। सब कुछ वहीं से देख लेना चाहिए। हम यहाँ केवल विस्तार के भय से नहीं दे रहे हैं।

जिन जीवों (अणुओं) के कलुष परिपक्व नहीं हुए हैं वे बद्ध हैं। उन्हें परमेश्वर कर्म के कारण भोग भोगने देता है। यह भी कहा है—'अवशिष्ट बचे हुए दूसरे पुरुषों को, जो अपने कर्मों में बँधे हैं, परमेश्वर उनके कर्मों के अनुसार भोग भोगने का विधान करता है; इस प्रकार पशुओं या जीवों का निरूपण समाप्त हुआ।'

(६. 'पाश' पदार्थ का निरूपण)

अथ पाशपदार्थः कथ्यते। पाशश्चतुर्विधः—मलकर्ममाया-रोधशक्तिभेदात्। ननु—

२८. शैवागमेषु मुख्यं पतिपशुपाशा इति क्रमात्त्रितयम्।
तत्र पतिः शिव उक्तः पशवो ह्यणवोऽर्थपञ्चकं पाशाः॥

इति पाशः पञ्चविधः कथ्यते। तत्कथं चतुर्विध इति गण्यते ?

अब पाश पदार्थ के विषय में कहा जाता है। पाश चार प्रकार के हैं—मल, कर्म, माया और रोधशक्ति। कुछ लोग आशंका करते हैं कि निम्नलिखित श्लोक में पाँच प्रकार के पाश बतलाये गये हैं, फिर आप लोग चार ही प्रकार कैसे गिनाते हैं ?—'शैवागमों में मुख्यरूप से पति, पशु और पाश ये क्रमशः तीन पदार्थ हैं। उनमें पति शिव को कहते हैं, अणु अर्थात् जीव पशु हैं और पाँच पदार्थ पाश, में हैं।' [इस आशंका का उत्तर अब दिया जायगा।]

उच्यते—बिन्दोर्मायात्मनः शिवतत्त्वपदवेदनीयस्य शिवपद-प्राप्तिलक्षणपरममुक्त्यपेक्षया पाशत्वेऽपि तद्योगस्य विद्येश्वरादि-पदप्राप्तिहेतुत्वेन अपरमुक्तित्वात्पाशत्वेनानुपादानम् इत्यविरोधः। अत एवोक्तं तत्त्वप्रकाशे—'पाशाश्चतुर्विधाः स्युः' इति। श्रीमन्मृगेन्द्रेऽपि—

२९. प्राग्वृतीशो बलं कर्म मायाकार्यं चतुर्विधम्।
पाशजालं समासेन धर्मा नाम्नैव कीर्तिताः॥ इति।

आशंका का उत्तर दिया जाता है—माया के रूप में जो बिन्दु है, जिसे 'शिवतत्त्व' भी कहते हैं [यही पंचम पाश है]। जिस मुक्ति में शिवपद की प्राप्ति हो जाय वही परम-मुक्ति है। इसकी अपेक्षा करने से तो बिन्दु पाश ही है किन्तु इससे सम्बन्ध होने पर केवल विद्येश्वर आदि के पदों की प्राप्ति होती है।

इसलिए इससे केवल अपर-मुक्ति ही होती है—यही कारण है कि इसे पाश के रूप में नहीं लिया जाता है, इस प्रकार दोनों मतों में कोई विरोध नहीं। [तात्पर्य यह है कि पाँचवाँ पाश मायात्मक बिन्दु को मानते हैं, जिसका दूसरा नाम शिवतत्त्व भी है। इस पाश से बद्ध जीव को परामुक्ति, जिसमें शिवपद की प्राप्ति होती है, नहीं मिलती; हाँ, अपरा या गौण मुक्ति मिलती है क्योंकि यह पाश केवल विद्येश्वर आदि पद ही दे सकता है। मलादि की तरह इसकी गति सर्वत्र नहीं है इसलिए इसे पाश नहीं माना जाता।]

इसीलिए तत्त्व-प्रकाश में कहा गया है—'पाश चार प्रकार के हैं।' श्रीमत् मृगेन्द्र में भी कहा गया है—'आवरण का स्वामी (आवृति + ईश = मल), बलवान् (रोधशक्ति), कर्म तथा माया के कार्य—ये पाशजाल हैं, इनके धर्म इनके अपने-अपने नाम (निर्वचन करके) से ही स्पष्ट हैं. [व्याख्या की आवश्यकता नहीं है।]

अस्यार्थः—आवृणोति प्रकर्षेणाच्छादयत्यात्मनः स्वाभाविक्यौ दृक्क्रिये इति आवृतिरशुचिर्मलः। स च ईष्टे स्वातन्त्र्येणेति ईशः। तदुक्तम्—

३०. एको ह्यनेकशक्तिर्दृक्क्रिययोश्छादको मलः पुंसः।
तुषतण्डुलवज्ज्ञेयस्ताम्राश्रितकालिकावद्वा॥ इति।

इसका यह अर्थ है—(१) आवरण अर्थात् अच्छी तरह (प्र) आत्मा की स्वभाविक दृक् (ज्ञान) और क्रिया की शक्तियों को आच्छादित (आवरण) करे वह आवृति या अपवित्र मल है। साथ-ही-साथ जो स्वतन्त्रतापूर्वक शासन (√ईश्) करे वह ईश है (अर्थात् शासक मल ही आवृतीश है)। कहा है—'जो एक होने पर भी अनेक शक्तियों (अनेक प्रकार की आच्छादनशक्ति तथा नियामकशक्ति) से युक्त है तथा पुरुष के ज्ञान और क्रिया को ढँकने वाला है, वही मल है। इसका ज्ञान तुष-तण्डुल के संबन्ध की तुलना से करें (आच्छादक और आच्छाद्य का संबन्ध, या ताम्र-धातु में स्थित कालिका (जंग या मोरचा लगना rust) की तुलना से करें।'

बलं रोधशक्तिः। अस्याः शिवशक्तेः पाशाधिष्ठानेन पुरुषतिरोधायकत्वादुपचारेण पाशत्वम्। तदुक्तम्—

३१. तासामहं वरा शक्तिः सर्वानुग्राहिका शिवा।
धर्मानुवर्तनादेव पाश इत्युपचर्यते॥ इति।

(२) बल का अर्थ रोधशक्ति है। यह शिवशक्ति (वस्तु की अपनी सामर्थ्य, जैसे अग्नि में दहनशक्ति, जल में शैत्योत्पादनशक्ति आदि) पाश में अधिष्ठित होकर पुरुष (आत्मा) के स्वरूप को छिपा देती है, इसलिए इसे औपचारिक (आलंकारिक) विधि से पाश मानते हैं। कहा गया है—'इनमें मैं सर्वश्रेष्ठ शक्ति हूँ और सबों पर दया करने वाली शिवा (कल्याणमयी) हूँ। धर्म (आश्रय की वस्तुओं के धर्म) के अनुसार चलने के कारण इसे पाश कहते हैं।' [ज्ञान और क्रिया की शक्तियों को ढँक देने की सामर्थ्य ही रोधशक्ति है जो मल में स्थित है।]

क्रियते फलार्थिभिरिति कर्म धर्माधर्मात्मकं बीजाङ्कुरवत्प्रवाहरूपेणानादि। यथोक्तं श्रीमत्किरणे—

३२. यथानादिर्मलस्तस्य कर्माल्पकमनादिकम्।
यद्यनादि न संसिद्धं वैचित्र्यं केन हेतुना ॥ इति।

(३) फल के इच्छुक व्यक्ति जो कुछ करें वह कर्म है जिसमें धर्म और अधर्म दोनों ही आते हैं। बीज और अंकुर की तरह प्रवाह के रूप में यह अनादि काल से चला आ रहा है। श्रीमत् किरण में कहा गया है—'जिस प्रकार मल अनादि है उसी प्रकार जीव के जो थोड़े से कर्म हैं वे भी अनादि ही हैं। यदि कर्म को अनादि सिद्ध नहीं करें तो कर्मों की विचित्रता कैसे सिद्ध कर सकेंगे ? [इस समय जैसा विचित्र कर्म देखते हैं वैसा ही वह अनादि भी सिद्ध होता है। यदि कर्म को आदियुक्त मान लें तो उसकी विचित्रता का प्रारंभ में कोई कारण जरूर देना पड़ेगा। किन्तु कोई भी हेतु दिखलाया नहीं जा सकता इसलिए कर्म अनादि ही हैं।]

मात्यस्यां शक्त्यात्मना प्रलये सर्वं जगत्सृष्टौ व्यक्तिमायातीति माया। यथोक्तं श्रीमत्सौरभेये—

३३. शक्तिरूपेण कार्याणि तल्लीनानि महाक्षये।
विकृतौ व्यक्तिमायाति सा कार्येण कलादिना ॥ इति।

(४) प्रलयकाल में शक्ति के रूप में जिसमें समूचा संसार परिमित रहता है (√ मा) तथा सृष्टिकाल में अभिव्यक्ति प्राप्त करता है (आ + √ या) वही माया है। जैसा कि श्रीमत् सौरभेय में कहा गया है—'महाक्षय (प्रलय) होने पर शक्ति के रूप में सारे कार्य (जगत् के पदार्थ) उसीमें विलीन हो जाते हैं और विकृति (सृष्टि) की अवस्था में कलादि कार्य के द्वारा अभिव्यक्त

हो जाते हैं । [अतः 'माया' शब्द की व्युत्पत्ति है √मा + आङ् उपसर्गसहित √या + घञ् के अर्थ में क प्रत्यय + टाप् स्त्रीलिंग प्रत्यय । अर्थ होगा--लीन होना और अभिव्यक्ति में आना ।]

(७. उपसंहार)

यद्यप्यत्र बहु वक्तव्यमस्ति तथापि ग्रन्थभूयस्त्वभयादुपरम्यते । तदित्थं पतिपशुपाशपदार्थास्त्रयः प्रदर्शिताः ।

३४. पतिविद्ये तथाविद्या पशुः पाशश्च कारणम् ।
तन्निवृत्ताविति प्रोक्ताः पदार्थाः षट् समासतः ॥

इत्यादिना प्रकारान्तरं ज्ञानरत्नावल्यादौ प्रसिद्धम् । सर्वं तत एवावगन्तव्यमिति सर्वं समञ्जसम् ॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे शैवदर्शनम् ॥



यद्यपि यहां पर बहुत कुछ कहना है तथापि ग्रन्थ बड़ा हो जाने के भय से अब हम यहीं रुकें । तो इस प्रकार पति, पशु और पाश के तीन पदार्थ दिखलाये गये । ज्ञानरत्नावली आदि ग्रन्थों में पदार्थों की गणना दूसरे ढंग से प्रसिद्ध है--'पति, विद्या, अविद्या, पशु, पाश और कारण, उस (कारण) की निवृत्ति के लिए ये छह पदार्थ संक्षिप्त रूप से कहे गये हैं ।' वे सब बातें वहीं से जानी जायँ, इस तरह सारी बातें ठीक हैं ।

इस प्रकार श्रीमान् सायणमाधव के सर्वदर्शनसंग्रह में
शैव-दर्शन [समाप्त हुआ] ।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य
प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां शैवदर्शनमवसितम् ॥



(८) प्रत्यभिज्ञा-दर्शनम्

स्वच्छन्दतः सृजति संसृतिमीश्वरोऽयं,
भावान्विभासयति चात्मनि बिम्बरूपान् ।
अद्वैतरूपविदितं नवतत्त्वमत्र
साक्षात्कृतिं दिशति तत्परमं समीहे ॥—ऋषिः

(१. प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का स्वरूप)

अत्रापेक्षाविहीनानां जडानां कारणत्वं दुष्यतीत्यपरितुष्यन्तो, मतान्तरमन्विष्यन्तः, परमेश्वरेच्छावशादेव जगन्निर्माणं परिघुष्यन्तः, स्वसंवेदनोपपत्त्या आगमसिद्धप्रत्यगात्मतादात्म्ये नानाविधमानमेयादिभेदाभेदशालिपरमेश्वरोऽनन्यमुखप्रेक्षित्वलक्षणस्वातन्त्र्यभाक् स्वात्मदर्पणे भावान्प्रतिबिम्बवद् अवभासयतीति भणन्तो, बाह्याभ्यन्तरचर्याप्राणायामादिक्लेशप्रयासकलापवैधुर्येण सर्वसुलभमभिनवं प्रत्यभिज्ञामात्रं परापरसिद्ध्युपायमभ्युपगच्छन्तः, परे माहेश्वराः प्रत्यभिज्ञाशास्त्रमभ्यस्यन्ति ।

महेश्वर-संप्रदाय के ही कुछ दूसरे दार्शनिक हैं जो उपर्युक्त शैव-दर्शन से असंतुष्ट हैं क्योंकि उस दर्शन के अनुसार अपेक्षारहित (प्रयोजनशून्य motiveless) जड़ पदार्थों को कारण माना गया है जो दोषपूर्ण है । [लौकिक व्यवहार में लोग कहते हैं कि घट-निर्माण के कारण हैं मिट्टी, डंडा, चाक आदि । लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है । न तो केवल मिट्टी से घट बनता है, न केवल चाक से, न डंडे से । अब यदि यह मानें कि ये सब मिलकर घट बनाते हैं तब प्रश्न होगा कि घट-निर्माण में किसकी अपेक्षा हुई ? मिट्टी, डंडे या चाक की तो अपेक्षा नहीं है क्योंकि अपेक्षा किसी चेतन पदार्थ में ही होती है, यह चेतन का धर्म है । अब यदि कुम्भकार को घट का कारण मानें कि वह मिट्टी आदि की अपेक्षा रखते हुए घट बनाता है तो ठीक होगा । ठीक यही उदाहरण संसार के निर्माण में दिया जा सकता है । कर्म तो जड़-पदार्थ है, उससे संसार का निर्माण कैसे हो सकेगा ? अब यदि इसी उदाहरण के बल पर, कर्मों की अपेक्षा रखनेवाले ईश्वर को संसार का कारण मानें तो ठीक

नहीं है क्योंकि ऐसा होने से संसार के निर्माण में ईश्वर पूर्णतः स्वतंत्र नहीं रहेगा। पूर्ण स्वातंत्र्य का अभिप्राय है कि किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा न रहे। किसी रूप में दूसरे का सहारा न ले।]

इसीलिए ये लोग किसी दूसरे मत की खोज में हैं। ये घोषणा करते हैं कि परमेश्वर की इच्छामात्र से संसार का निर्माण होता है। अपने संवेदन (अनुभव) के द्वारा अनुमान करने से (उपपत्ति=अनुमान) और शैवागमों से सिद्ध होने वाली, प्रत्यक् (सबों के ऊपर Transcendent) आत्मा के साथ तादात्म्य (एकरूपता identity) होने पर नाना प्रकार के मान (ज्ञान Cognitions) और मेय (ज्ञेय Knowable) आदि के भेदों और अभेदों को धारण करने वाला परमेश्वर ही है; वह ऐसी स्वतन्त्रता धारण करता है जिसमें किसी दूसरे की मुखापेक्षिता (हस्तक्षेप, आवश्यकता) नहीं रहती; वह अपनी आत्मा पर आकाशादि भावों को उसी प्रकार अवभासित (व्यक्त) करता है जिस प्रकार किसी दर्पण पर प्रतिबिम्ब (परछाईं) पड़ता है—इन लोगों का यही मत है। [आशय यह है—जिस प्रकार दर्पण पर प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार परमेश्वर अपने ही स्वरूप में सृष्टि, स्थिति संहार आदि संसार की सभी क्रियाओं को व्यक्त करता है[1] क्योंकि चेतन-अचेतन सभी पदार्थ परमेश्वर के अन्तर्गत ही हैं, कोई उससे पृथक् नहीं—यही अद्वैत तत्त्व है। किन्तु यहां माया न मान कर सब पदार्थों का ईश्वर में अवभास मानते हैं इसीलिए यह दर्शन वस्तुवादी प्रत्ययवाद या Realistic Idealism कहलाता है। अब परमेश्वर के अन्तर्गत देखें—वहां विद्यमान पदार्थों में भेद और अभेद दोनों हैं। वस्तुओं में पारस्परिक भेद है, संसार में नाना प्रकार के ज्ञेय पदार्थ हैं जिसके ज्ञान भी पृथक्-पृथक् होते हैं, किन्तु यह संसार परमेश्वर से थोड़ा भी भिन्न नहीं है। वृक्ष एक है, शाखायें भिन्न-भिन्न हैं—वैसे ही ईश्वर में भी भेद और अभेद दोनों है। यह परमेश्वर प्रत्यगात्मा के साथ तादात्म्य रखता है पर इसे जानते कैसे हैं? या तो अनुमान से या शैवागमों के बल पर। 'मैं ही ईश्वर हूं दूसरा कोई नहीं' इसे ही प्रत्यभिज्ञा कहते हैं क्योंकि यहां साक्षात्कार होता है—जीव और ईश्वर का तादात्म्य स्थिर होना है। यही स्वानुभाव

---

१. अतोऽसौ परमेशानः स्वात्मव्योमन्यनर्गलः।
इयतः सृष्टिसंहाराडम्बरस्य प्रकाशकः॥
निर्मले मुकुरे यद्वद् भान्ति भूमिजलादयः।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः॥
तन्त्रालोक (२।३-४)।

('मैं ईश्वर हूँ') अनुमान का आधार है। ईश्वर की स्वतंत्रता भी मानी जाती है, वह अपनी इच्छा से ही संसार को बना और मिटा सकता है।]

बाह्य-चर्या (भस्मस्नानादि), आभ्यन्तर-चर्या (क्राथनादि), प्राणायाम आदि क्लेशप्रद प्रयासों से दूर रह कर, सब लोगों के लिए सुलभ, बिल्कुल नवीन, प्रत्यभिज्ञा मात्र को ही परसिद्धि (मुक्ति) और अपरसिद्धि (अभ्युदय, स्वर्गप्राप्ति आदि) मानते हुए ये महेश्वर-सिद्धान्त वाले प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का अभ्यास करते हैं।

(२. प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का साहित्य)

तस्येयत्तापि न्यरूपि परीक्षकैः—

१. सूत्रं वृत्तिर्विवृतिर्लघ्वी बृहतीत्युभे विमर्शिन्यौ।
प्रकरणविवरणपञ्चकमिति शास्त्रं प्रत्यभिज्ञायाः॥

परीक्षकों (अधिकारियों) ने इस शास्त्र की सीमा (इयत्ता) का भी विचार किया है—'सूत्र (संक्षेप में अर्थ को समझाना), वृत्ति (सम्बद्ध अर्थ का कथन) विवृति (विवरण, दूसरे शब्दों के द्वारा अर्थ-वर्णन), लघु और बृहत् दो प्रकार की विमर्शिनी (कुछ और अधिक विचार करना), ये पाँच प्रकार के प्रकरण (प्रसंगबोधक या एकार्थप्रतिपादक ग्रंथांश) और विवरण (व्याख्यानग्रंथ की व्याख्या) प्रत्यभिज्ञा के शास्त्र (साहित्य) हैं।

विशेष—प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का वास्तव में त्रिक-दर्शन नाम होना चाहिए क्योंकि इसीसे पूरे दर्शन का बोध हो जाता है। 'स्पन्द' और 'प्रत्यभिज्ञा' तो इसके केवल अंगमात्र हैं, भले ही वे आवश्यक ही क्यों न हों। त्रिक नाम पड़ने में यह कहा जाता है कि ९२ आगमों में केवल तीन—सिद्धा, नामक और मालिनी—की प्रधानता होने के कारण (तंत्रालोक १।३५), या पर, अपर और परापर के त्रिकों का वर्णन करने के कारण (वही, १।७–२१), या अभेदवाद के आलोक में अभेद, भेद और भेदाभेद तीनों का वर्णन करने के कारण इसका नाम त्रिक पड़ा हो। काश्मीर में ही सभी ग्रंथकारों के उत्पन्न होने के कारण इसे काश्मीरी शैव-सिद्धान्त भी कहते हैं। काश्मीर में इस दर्शन का बहुत प्रचार था, किन्तु गत १०० वर्षों से इसकी परंपरा वहाँ भी समाप्त हो गई है। स्मरणीय है कि हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि और नाटककार श्री जयशंकर 'प्रसाद' के परिवार में भी इसी त्रिक-दर्शन का प्रचार था जिसे उन्होंने अपने युग-प्रवर्तक महाकाव्य 'कामायनी' में अमर कर दिया है।

त्रिक-दर्शन शैव सिद्धान्त का ही एक भेद है किन्तु अद्वैतवादी विचारों से परिपूर्ण है। ऐसी मान्यता है कि परम शिव ने अपने पाँच मुखों से उत्पन्न शिवागमों की द्वैतवादी व्याख्या देखकर अद्वैत तत्त्व के प्रचार के लिए दुर्वासा ऋषि को अपना कार्य-भार सौंपा। दुर्वासा ने अपने तीन मानस पुत्र उत्पन्न किये और उन्हें तीन उपदेश दिये—त्र्यम्बक को अद्वैत दर्शन का, आमर्दक को द्वैत का तथा श्रीनाथ को द्वैताद्वैत दर्शन का उपदेश दिया। त्र्यम्बक के द्वारा प्रचारित होने के कारण इस दर्शन (अद्वैतवादी त्रिक) को त्रैयम्बक दर्शन भी कहते हैं जिससे सोमानन्द (८५० ई०) अपने को त्र्यम्बक से १९ वीं पीढ़ी में रखता है। बहुत संभव है त्रिक-दर्शन का आविर्भाव पंचम शतक में हुआ हो।

दोनों की विचारधारा एक होने पर भी स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा के साहित्य पृथक्-पृथक् हैं परन्तु दोनों को प्रायः मिला कर ही रखते हैं। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के पांच प्रकरण विवरण ग्रंथों में ये हैं—सूत्र, वृत्ति, विवृति, लघुविमर्शिनी, बृहद्-विमर्शिनी। प्रथम तीन की रचना उत्पल ने की और अंतिम दोनों **अभिनवगुप्त** की रचनाएँ हैं। इस प्रकार संक्षेपतः दो आचार्य ही प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के सर्वस्व हैं। डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय (अभिनवगुप्त—ऐतिहासिक और दार्शनिक अध्ययन, पृ० ८३) का कहना है कि दोनों के पूर्वज काश्मीर के बाहर के निवासी थे। सोमानन्द की चौथी पीढ़ी के पूर्वज इसे काश्मीर में अष्टम शतक के मध्य में ले आये थे तथा अभिनवगुप्त के पूर्वज अत्रिगुप्त को ललितादित्य नामक काश्मीर-नरेश प्रायः ७४० ई० के बाद काश्मीर ले गये थे। तब से दोनों के पूर्वज वहीं बस गये थे। उक्त दोनों आचार्यों के पूर्व त्रिक का प्रवर्तन वसुगुप्त (८२५ ई०) ने किया था जिनसे स्पन्द-शाखा का आरंभ होता है।

वसुगुप्त (८२५ ई०) ने अपने 'शिवसूत्र' में तांत्रिक शैवमत को अद्वैतवादी रूप दिया। राजतरंगिणी (५।६६) में इन्हें सिद्ध कहा गया है तथा इनके शिष्य कल्लट को अवन्तिवर्मा (८५५–८८३ ई०) का समकालिक माना गया है। क्षेमराज ने शिवसूत्रविमर्शिनी में कहा है कि वसुगुप्त को स्वप्न हुआ था कि वह महादेव गिरि के एक विशाल शिलाखंड पर उत्कीर्ण शिवसूत्रों का उद्धार करे। ये ७७ शिवसूत्र ही इस दर्शन के मूल हैं जो तीन खंडों में बँटे हैं। इसने और भी कई पुस्तकें लिखीं जैसे—स्पन्दकारिका, स्पन्दामृत, गीता की वासवी टीका तथा सिद्धान्त-चन्द्रिका। **कल्लट** (८५५ ई०) ने स्पन्दकारिका पर स्पन्दसर्वस्व टीका लिखी तथा तत्त्वार्थचिन्तामणि और स्पन्दसूत्र भी इसके लिखे ग्रंथ हैं। **रामकण्ठ** (९५० ई०) ने स्पन्दविवरणसारमात्र नामक ग्रंथ लिखा जो स्पन्दकारिका की टीका है। भास्कराचार्य (अभिनव के समकालिक) के साथ स्पन्द शाखा का

इतिहास समाप्त होता है यद्यपि अभिनव के बाद भी कुछ न कुछ टीकायें लिखी गईं।

प्रत्यभिज्ञा शाखा का प्रवर्तन **सोमानन्द** (८५० ई०) ने अपनी 'शिवदृष्टि' के द्वारा किया। इसमें सात अध्यायों में ७०० श्लोक हैं। स्पन्द-शाखा में प्रचलित रूढ़िवाद के विरुद्ध इसमें तर्कवाद की प्रतिष्ठा हुई है। इनके पुत्र और शिष्य **उत्पल** (९०० ई०) थे जिन्होंने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-कारिका, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-वृत्ति, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-टीका, स्तोत्रावली आदि प्रायः ११ ग्रंथ लिखे। प्रत्यभिज्ञा का दार्शनिक विवेचन सर्वप्रथम इन्होंने ही किया। **लक्ष्मणगुप्त** उत्पल के पुत्र और शिष्य भी थे जिन्हें **अभिनवगुप्त** (९५०-१०२० ई०) के समान बहुमुखी प्रतिभा वाले शिष्य को उत्पन्न करने का गौरव प्राप्त है। अभिनवगुप्त का नाम दर्शन और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में प्रसिद्ध है। इनके पिता का नाम नरसिंहगुप्त था जिनसे इन्होंने व्याकरण पढ़ा था।

अभिनवगुप्त ने प्रायः पचास ग्रन्थ विभिन्न विषयों के लिखे। साहित्यिक ग्रन्थों में ध्वन्यालोक की टीका लोचन तथा नाट्यशास्त्र की टीका अभिनवभारती अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। त्रिक-दर्शन पर इनके ये सुप्रसिद्ध ग्रंथ है—मालिनीविजय-वार्तिक, परात्रिंशिका विवृति, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, परमार्थसार, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिनी इत्यादि। अभिनवगुप्त पर विशेष ज्ञान के लिए डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय की पुस्तक (चौखम्बा से प्रकाशित) देखें। अभिनव के शिष्य **क्षेमराज** (९७५-१०५०) ने भी गुरु की तरह ही तंत्र, काव्यशास्त्र और शैवदर्शन पर ग्रंथ लिखे। शैव-दर्शन पर स्पन्द-सन्दोह, स्पन्द-निर्णय, प्रत्यभिज्ञा हृदय, शिवसूत्रविमर्शिनी आदि इनमें विख्यात ग्रन्थ हैं। इनके शिष्य **योगराज** (१०७५) ने अभिनव के परमार्थ-सार पर विवृति लिखी। तन्त्रालोक पर सर्वप्रथम टीका **सुभटदत्त** (१२००) ने लिखी थी यद्यपि **जयरथ** (१२२५ ई०) की सुविशाल टीका 'विवेक' के समक्ष उसकी कीर्ति मन्द पड़ गई। **भास्करकण्ठ** (१७५० ई०) ने अभिनव की प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी पर एकमात्र उपलब्ध टीका लिखी जिसका नाम भास्करी है। इसके अतिरिक्त इन्होंने १४ वीं शती में किसी स्त्री के द्वारा प्राचीन काश्मीरी भाषा में लिखित लल्ला वाक्य का संस्कृत मे अनुवाद किया और योगवासिष्ठ पर टीका लिखी। **वरदराज** ने वसुगुप्त के शिवसूत्रों पर वार्तिक लिखा है।

इस प्रकार काश्मीरी शैव-दर्शन में विपुल साहित्य है जो अपने आलोडन के लिए विद्वानों का निरन्तर आवाहन करता है।

(३. प्रथम सूत्र की व्याख्या)

तत्रेदं प्रथमं सूत्रम्—

२. कथंचिदासाद्य महेश्वरस्य
दास्यं जनस्याप्युपकारमिच्छन् ।
समस्तसंपत्समवाप्तिहेतुं
तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि ॥ इति ।

उनमें यही प्रथम सूत्र है (वास्तव में प्रत्यभिज्ञासूत्र पर अभिनवगुप्त की टीका का मंगलाचरण है)—'किसी प्रकार महेश्वर के दास का पद पाकर और लोगों का उपकार करने की इच्छा से सारी संपत्तियों की प्राप्ति करानेवाले प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र का मैं आरंभ कर रहा हूँ।'

विशेष—अभिनवगुप्त बहुत बड़े तांत्रिक भी थे और उनका महेश्वर की दासता स्वीकार करना सर्वथा उचित है। तांत्रिक और संन्यासी के रूप में उन्होंने संसार का बड़ा भारी कल्याण किया था। प्रत्यभिज्ञा सूत्र पर विमर्शिनी के आरंभ में ही यह श्लोक दिया गया है। यह स्मरणीय है कि नकुलीश-पाशुपत-दर्शन में जहाँ वैष्णवों की ईश्वर-दासता का उपहास किया गया है वहाँ एक माहेश्वर ईश्वर की दासता प्राप्त करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं तथा पा लेने पर गर्वपूर्वक इसका उल्लेख करते हैं। इसके बाद इसी सूत्र की व्याख्या में सारे दर्शन का विपुलांश समझाया जायगा।

कथंचिदिति—परमेश्वराभिन्नगुरुचरणारविन्दयुगलसमाराधनेन परमेश्वरघटितेन एवेत्यर्थः। आसाद्येति—आ समन्तात्परिपूर्णतया सादयित्वा, स्वात्मोपभोग्यतां निरर्गलां गमयित्वा। तदनेन विदितवेद्यत्वेन परार्थशास्त्रकरणेऽधिकारो दर्शितः। अन्यथा प्रतारणमेव प्रसज्येत।

कथंचित् का यह अर्थ है—गुरु जो परमेश्वर से भिन्न नहीं है, उनके दोनों चरणकमलों की आराधना करके; यह आराधना भी परमेश्वर के स्वीकार करने पर ही होती है। **आसाद्य** का अर्थ है—आ अर्थात् चारों ओर से या पूर्णरूप से पाकर (√सद् + णिच्), या निर्बन्ध रूप से अपनी आत्मा के उपभोग करने की योग्यता पाकर। [अभिप्राय यह है कि आत्मा को बन्धनरहित उपभोग प्राप्त होता है। यह उपभोग है प्रत्यभिज्ञा के प्रकाशन और परोपकार के द्वारा प्राप्त मानसिक संतोष। अभिनवगुप्त आत्मा की उपभोग्यता या संतुष्टि प्राप्त कर चुके

हैं इसीलिए प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र लिखने का उपक्रम कर रहे है। संतोष तभी होगा जब जानने लायक सारी वस्तुएँ जान चुके हों, ज्ञान के विषय में कोई बन्धन नहीं हो।] इस प्रकार इस शब्द से यह दिखलाया जाता है कि सारी ज्ञेय वस्तुएँ जान लेने के बाद ही परोपयोगी (परार्थ) शास्त्र निर्माण करने का अधिकार मिलता है। नहीं तो (ज्ञान के अभाव में) लोगों को ठगना ही भर हो सकता है। [यह आशय है—राजा के द्वारा अधिकार मिल जाने पर नौकर अपनी नौकरी के अधिकार का इच्छापूर्वक उपभोग करता है। सूत्रकार ने भी अपनी इच्छा के अनुसार ईश्वर की दासता प्राप्त की है जो उनके उपभोग के योग्य है और जिसमें कहीं कोई रुकावट नहीं। वे सारे ज्ञेय पदार्थ जान चुके हैं, इससे अपने अधिकार का उपभोग अच्छी तरह कर सकते हैं,—परोपकार का काम कर सकते हैं, प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र लिख सकते हैं इत्यादि। जो अपना अधिकार नहीं जानते, वे केवल दूसरों को ठगते हैं, वास्तव में उन्हें ग्रंथ लिखना नहीं चाहिए। यदि ग्रन्थ लिखते हैं तो गलत बातों का भी तो प्रदिपादन कर सकते हैं और इस प्रकार वे शास्त्र पढ़नेवालों को मार्ग से भ्रष्ट करेंगे।]

मायोत्तीर्णा अपि महामायाधिकृता विष्णुविरिञ्च्याद्या यदीयैश्वर्यलेशेन ईश्वरीभूताः स भगवाननवच्छिन्नप्रकाशानन्द-स्वातन्त्र्यपरमार्थो महेश्वरः। तस्य दास्यम्। दीयतेऽस्मै स्वामिना सर्वं यथाभिलषितमिति दासः। परमेश्वरस्वरूपस्वातन्त्र्यपात्र-मित्यर्थः।

विष्णु, विरिञ्चि (ब्रह्मा) आदि देवता यद्यपि माया को पार कर चुके हैं, परन्तु महामाया (अनन्त माया) के अधीन हैं। जिस शक्ति के ऐश्वर्य के केवल लेश (अल्पांश) से ये देवता ईश्वर के रूप में माने जाते हैं वही भगवान् (ऐश्वर्य से युक्त) **महेश्वर** है जो असीम (अनवच्छिन्न) प्रकाश, आनन्द तथा स्वातन्त्र्य के रूप में है तथा परमतत्त्व भी यही है। उस महेश्वर की दासता (पाकर···)। दास उसे कहते हैं जिसे स्वामी की ओर से सारी अभीष्ट वस्तुएँ दी जाती हैं। दूसरे शब्दों में यह कहेंगे कि दास परमेश्वर के ही स्वरूप—स्वतंत्रता—का पात्र होता है। [परमेश्वर की स्वतंत्रता का थोड़ा अंश दास को भी प्राप्त होता है। परमेश्वर के स्वरूप में ये हैं—प्रकाश, आनन्द, स्वातंत्र्य। यही परमतत्त्व या परमार्थ (Ultimate Reality) है। ये किसी भी पदार्थ के द्वारा व्याप्त नहीं है।]

जनशब्देनाधिकारिविषयनियमाभावः प्रादर्शि। यस्य यस्य

हीदं स्वरूपकथनं तस्य तस्य महाफलं भवति। प्रज्ञानस्यैव परमार्थफलत्वात्। तथोपदिष्टं शिवदृष्टौ परमगुरुभिर्भगवत्सोमानन्दनाथपादैः—

३. एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः।
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना॥
४. करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा।
ज्ञाते सुवर्णे करणं भावनां वा परित्यजेत्॥ इति।

'जन' शब्द से अधिकारी बनने के विशेष नियमों का अभाव व्यक्त होता है। [जन का अर्थ है सामान्य व्यक्ति। अन्य दर्शनों में जहाँ शास्त्र सुनने के लिए कड़े-कड़े नियम बनाये गये हैं, वहीं प्रत्यभिज्ञा का द्वार जनसाधारण के लिए खुला है। मुमुक्षु कोई भी हो प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र सुने। भस्म में स्नान, व्रत आदि किसी नियम की आवश्यकता नहीं।[1]] जिस किसी व्यक्ति को महेश्वर के इस स्वरूप का ज्ञान कराया जाय महान् फल की प्राप्ति होती है। कारण यह है कि प्रकृष्ट ज्ञान (प्रत्यभिज्ञा) से ही परमार्थ का फल प्राप्त होता है। [महेश्वर के स्वरूप का कथन इस प्रकार होता है—'यह सब कुछ महेश्वर ही है', जिस व्यक्ति को ऐसी बात बतलायी जाती है वह जान लेता है कि 'मैं ही महेश्वर हूँ'। इस अद्वैत-तत्त्व का साक्षात्कार कर लेना ही परमार्थ है, महाफल है जो मुमुक्षुओं को प्राप्त होता है।

शिवदृष्टि नामक अपने ग्रन्थ में परम-गुरु (शास्त्र-प्रवर्तक) भगवान् पूज्य श्री सोमानन्दनाथ ने यही कहा है—'जब एक बार प्रमाणों के द्वारा, शास्त्र (प्रत्यभिज्ञा) के द्वारा या गुरुओं की वाणी के द्वारा दृढ़ आत्मा से प्रतिपत्ति-पूर्वक (विश्वासपूर्वक) सर्वत्र स्थित शिव-तत्त्व का ज्ञान हो जाता है तब न

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (२।२७६) से सूचित होता है कि शास्त्राध्ययन के लिए जाति-पाँति का कोई बन्धन नहीं। फिर भी अध्ययन के लिए छह वैदिक दर्शनों और वेदाङ्गों का अध्ययन पहले से हो क्योंकि इस दर्शन में सबों की आलोचना है। इसके अतिरिक्त भी कहा है—

योऽधीती निखिलागमेषु पदविद्यो योगशास्त्रश्रमी,
यो वाक्यार्थसमन्वये कृतरतिः श्रीप्रत्यभिज्ञामृते।
यस्तर्कान्तरविश्रुतश्रुततया द्वैताद्वयज्ञानवित्
सोऽस्मिन्स्यादधिकारवान्कलकलप्रायः परेषां रवः॥

Dr. K. C. Pandey, Abhinavagupta, pp. 171–2.

तो किसी करण (प्रमाणादि साधन) का कोई काम (आवश्यकता) है और न भावना का ही। सुवर्ण का ज्ञान हो जाने पर करण और भावना को लोग छोड़ ही देते हैं।'

विशेष—भावना का अर्थ है—पर्यालोचना या विशेष गुणों का चिन्तन। इस स्थान पर 'मैं शिव हूँ' इस प्रकार का निरन्तर चिन्तन करना भावना है। जब शिव का सर्वस्वरूप में ज्ञान हो जाता है तब उसके ज्ञान के प्रमाणों की आवश्यकता नहीं होती और न उक्त चिन्तन या भावना-व्यापार की ही। जब तक 'यह सुवर्ण है' इस रूप में सुवर्ण का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक उसके ज्ञान के साधन कसौटी-पत्थर (touch-stone) आदि चीजें ले आते हैं। कोई व्यक्ति किसी चीज को अ-सुवर्ण समझ कर त्यागना चाहता हो और हम उसे कहें कि यह सुवर्ण ही के रूप में भावनीय है तो यह भावना हुई। सुवर्ण का ज्ञान हो जाने पर न तो कसौटी की जरूरत है और न सुवर्ण-भावना की। रोगमुक्ति के बाद औषधि का क्या काम ?

(३ क. 'अपि' और 'उप' शब्दों के अर्थ)

अपिशब्देन स्वात्मनस्तदभिन्नतामाविष्कुर्वता पूर्णत्वेन स्वात्मनि परार्थसंपत्त्यतिरिक्तप्रयोजनान्तरावकाशश्च पराकृतः। परार्थश्च प्रयोजनं भवत्येव। तल्लक्षणयोगात्। न ह्ययं देवशापः 'स्वार्थ एव प्रयोजनं न परार्थ' इति। अत एवोक्तमक्षपादेन—'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्' (गौ० सू० १।१।२४) इति।

'अपि' शब्द के द्वारा, अपनी आत्मा की अभिन्नता उस महेश्वर से स्थापित करने वाले पूर्णत्व के कारण, अपनी ही आत्मा में परोपकार का कार्य संपादित करने के अतिरिक्त किसी अन्य प्रयोजन की संभावना समाप्त हो जाती है। [अभिप्राय यह है कि आत्मा और महेश्वर एक ही है। अभिनवगुप्त सभी लोगों को महेश्वर के समीप पहुँचाना चाहते हैं (उपकार = समीप ले जाना) अर्थात् दास का पद देना चाहते हैं। स्वयं तो दास्य पा ही चुके हैं, लोगों को भी देना चाहते हैं। इस प्रकार 'अपि' के द्वारा उनकी अपनी प्रत्यभिज्ञा या साक्षात्कार का अर्थ समझा जाता है। दास्य-प्राप्ति के लिए सूत्रकार ने परमेश्वर के साथ अपनी अभिन्नता का साक्षात्कार किया है—उस अर्थ की प्राप्ति इस 'अपि' के द्वारा हो जाती है। फलतः अब सूत्रकार को केवल परोपकार ही सूझता है अब स्वार्थ की भावना तो रही नहीं—इसलिए परोपकार के

अतिरिक्त सारे प्रयोजनों का खण्डन ही 'अपि' के द्वारा होता है। 'अपि' से एक ही साथ कई चीजें ज्ञात हो जाती हैं।]

[शास्त्र का] प्रयोजन परोपकार तो हो ही सकता है क्योंकि परोपकार के लक्षणों की प्राप्ति प्रस्तुत स्थल में हो जाती है। यह किसी देवता का शाप नहीं है कि मनुष्य का प्रयोजन जब होगा तब स्वार्थ ही, परमार्थ नहीं। [बहुत से व्यक्ति निस्वार्थ-भाव से परमार्थ (परोपकार) में लगे हैं।] प्रयोजन का लक्षण करते हुए अक्षपाद (गौतम) अपने न्यायसूत्र में कहते हैं—'जिस (उपादेय या त्याज्य) वस्तु को लक्षित करके [उसकी प्राप्ति या त्याग के लिए मनुष्य] उपाय करता है वही उसका प्रयोजन कहलाता है।' (न्यायसूत्र १।१।२४)। [ऐसी स्थिति में यदि मनुष्य का अभीष्ट—उपादेय—परोपकार हो तो वही प्रयोजन है, इसमें सन्देह की क्या बात है ?]

उपशब्दः सामीप्यार्थः। तेन जनस्य परमेश्वरसमीपताकरणमात्रं फलम्। अत एवाह—समस्तेति। परमेश्वरतालाभे हि सर्वाः संपदस्तन्निष्यन्दमय्यः संपन्ना एव, रोहणाचललाभे रत्नसंपद इव। एवं परमेश्वरतालाभे किमन्यत्प्रार्थनीयम् ?

'उप' शब्द का अर्थ है समीप आना। इसलिए यह ज्ञात होता है कि प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र का फल केवल परमेश्वर के समीप कर देना ही है, और कुछ नहीं। इसीलिए आगे कहा है—'समस्तसंपत्समवाप्तिहेतुम्'। परमेश्वर का पद पा लेने पर ही सारी संपत्तियाँ उस (परमेश्वर) के निष्यन्द (प्रवाहित वस्तु) के रूप में निकल कर प्राप्त हो जाती हैं जिस प्रकार रोहणाचल (मेरुपर्वत जिसमें रत्न के मैदान हैं और जो स्वयं स्वर्ण का ही है) के मिल जाने पर रत्न-संपत्तियाँ प्राप्त होती हैं। इस प्रकार परमेश्वर का पद मिल जाने पर और कौन सी ऐसी वस्तु है जिसके लिए प्रार्थना की जाये ?

तदुक्तमुत्पलाचार्यैः—

६. भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।
एतया वा दरिद्राणां किमन्यदुपयाचितम्॥ इति।

इत्थं षष्ठीसमासपक्षे प्रयोजनं निर्दिष्टम्। बहुव्रीहिपक्षे तूपपादयामः।

जैसा कि उत्पलाचार्य ने कहा है—'भक्ति-रूपी लक्ष्मी से समृद्ध पुरुषों के लिए कौन-सी दूसरी चीज है जिसके लिए वे प्रार्थना करें ? और जो व्यक्ति उस

(भक्ति रूपी धन) से रहित हैं उनके लिए कौन सी वस्तु त्याज्य है ? [भक्ति से रहित व्यक्ति की याचना सभी वस्तुओं के लिए होती है—याचना की इयत्ता तो कहीं है ही नहीं। Demands are never fulfilled.]

इस प्रकार 'समस्त···समवाप्तिहेतु' में षष्ठी तत्पुरुष समास मानने पर प्रयोजन दिखलाया गया। [षष्ठीसमास—'सारी संपत्तियों की प्राप्ति का कारण'। बहुव्रीहि समास—'सारी संपत्तियों की प्राप्ति ही जिसका हेतु (लक्ष्य) है।] बहुव्रीहि-समास मान लेने पर जो स्थिति होगी उसका निर्णय अब करते हैं।

समस्तस्य बाह्याभ्यन्तरस्य नित्यसुखादेर्या संपत्सिद्धिः तथात्वप्रकाशः, तस्याः सम्यगवाप्तिर्यस्याः प्रत्यभिज्ञायाः हेतुः सा तथोक्ता। तस्य महेश्वरस्य प्रत्यभिज्ञा, प्रति आभिमुख्येन, ज्ञानम्। लोके हि स एवायं चैत्र इति प्रतिसंधानेनाभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेति व्यवह्रियते। इहापि प्रसिद्धपुराणसिद्धागमानुमानादिज्ञातपरिपूर्णशक्तिके परमेश्वरे सति स्वात्मनि अभिमुखीभूते तच्छक्तिप्रतिसंधानेन ज्ञानमुदेति नूनं स एवेश्वरोऽहमिति।

[बहुव्रीहि-पक्ष में अर्थ—] बाहरी या भीतरी सभी प्रकार के नित्य-सुख आदि संपदाओं की सिद्धि अर्थात् उनके वास्तविक स्वरूप का प्रकाशन होता है। उक्त सिद्धि या प्रकाशन को अच्छी तरह से प्राप्त कर लेना ही जिस प्रत्यभिज्ञा का हेतु (लक्ष्य) है वह [प्रत्यभिज्ञा ही 'समस्तसंपत्समवाप्तिहेतुः' के द्वारा व्यक्त होती है]। उस महेश्वर की प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है—प्रति अर्थात् अभिमुख होकर ज्ञान प्राप्त करना। लौकिक व्यवहार में 'यह वही चैत्र है' इस प्रकार प्रतिसंधान (बीती बात का संबन्ध जोड़ना) करके सम्मुख आई हुई वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने को 'प्रत्यभिज्ञा' (Recognition पहचानना) कह कर पुकारते हैं।

यहाँ भी परमेश्वर की सत्ता मानते हैं जिस (परमेश्वर) की परिपूर्ण शक्ति को प्रसिद्ध पुराणों, सिद्ध आगमों और अनुमानादि प्रमाणों से जानते हैं। जब आत्मा हमारे सम्मुख आती है तब परमेश्वर की शक्ति का संबन्ध इससे जोड़ लेते हैं (प्रतिसंधान), इससे ज्ञान उत्पन्न होता है कि सचमुच मैं भी वही ईश्वर हूँ। [प्रत्यभिज्ञा किसी बीती बात के आधार पर होती है। यहाँ वह बीती बात है ईश्वर की आगमानुमानसिद्ध सत्ता। इसी के आधार पर आत्मा में ईश्वर की प्रत्यभिज्ञा (साक्षात्कार) कर लेते हैं। यही प्रत्यभिज्ञा-दर्शन नाम पड़ने का कारण है। हम ऊपर देख चुके हैं कि प्रत्यभिज्ञा केवल एक आवश्यक तत्त्व मात्र है, पूरे दर्शन का नाम इस पर पड़ जाना ठीक नहीं।]

तामेतां प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि । उपपत्तिः संभवः । संभवतीति तत्समर्थाचरणेन प्रयोजकव्यापारेण संपादयामीत्यर्थः ।

[सूत्र की व्याख्या का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि] उक्त गुणों से युक्त प्रत्यभिज्ञा का आरंभ कर रहा हूँ। उपपत्ति का यहाँ अर्थ है संभव (उत्पत्ति करना)। संभव हो रहा है = मैं [प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र की रचना की] सामर्थ्य व्यक्त करने वाने वाले आचरण से युक्त प्रयोजक (सूत्रकार, काम कराने वाला) की क्रिया के द्वारा इसकी स्थापना कर रहा हूँ। [सूत्रकार यहाँ पर प्रयोजक है, अपने व्यापार में वह लगा है कि लोग इस शास्त्र को पढ़ें। उसका व्यापार यही है कि प्रत्यभिज्ञा के उपपादन के अनुकूल आचरण करे। प्रत्यभिज्ञा तभी संभव है जब इसकी प्रतिबन्धक विपरीत भावनाओं का विनाश कर दिया जाय। दृष्टान्त के लिए अग्नि को लें। शीतकाल में ठंढक बढ़ जाने पर अध्ययन करने में असमर्थ छात्र आग पास में रखकर अध्ययन करते हैं। तब ऐसा कहा जाता है कि आग ही उन्हें पढ़ा रही है। अग्नि यहाँ प्रयोजक कर्ता है इसका व्यापार यही है कि अध्ययन करने में छात्रों को समर्थ बना दे जिसमें उसे शीत का निवारण करना पड़ता है। उसी प्रकार प्रयोजक सूत्रकार प्रत्यभिज्ञाशास्त्र को अपने व्यापार से अभिव्यक्ति के समर्थ बनाता है और विरोधी भावनाओं का बहिष्कार करता है।]

(४. प्रत्यभिज्ञा के प्रदर्शन की आवश्यकता)

यदीश्वरस्वभाव एवात्मा प्रकाशते, तर्हि किमनेन प्रत्यभिज्ञाप्रदर्शनप्रयासेनेति चेत्—तत्रायं समाधिः । स्वप्रकाशतया सततमवभासमानेऽप्यात्मनि मायावशाद् भागेन प्रकाशमाने पूर्णतावभाससिद्धये दृक्क्रियात्मकशक्त्याविष्करणेन प्रत्यभिज्ञा प्रदर्श्यते ।

[यह प्रश्न हो सकता है कि] यदि ईश्वर के स्वरूप (= चैतन्य) के रूप में ही आत्मा प्रकाशित होती है (अर्थात् यदि चैतन्य ही आत्मा के रूप में व्यक्त होता है) तो प्रत्यभिज्ञा (आत्मा द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार) को प्रदर्शित करने का यह इतना परिश्रम व्यर्थ किया जा रहा है। [आशय यह है कि आत्मा और ईश्वर में एकता यदि पहले ही से सिद्ध है और आत्मा ईश्वर का अपना रूप ही है तो अपने आप वह व्यक्त हो जायगी, उसके द्वारा ईश्वर को पहचाने जाने की बात तो बिल्कुल व्यर्थ है।]

इसका यह समाधान है—आत्मा अपनी प्रकाशन शक्ति के कारण निरंतर अवभासित (व्यक्त) होती रहती है, फिर भी माया के कारण उसका यह प्रकाशन अंशतः ही होता है। [आत्मा में चैतन्य का प्रकाशन होता है किन्तु पूर्ण चैतन्य का नहीं; पूर्ण चैतन्य ईश्वर में है। आत्मा में माया के कारण ही पूर्ण चैतन्य का प्रकाशन नहीं होता। साधारण व्यक्तियों को आंशिक चैतन्य का अवभास होता है] इसलिए पूर्णता के अवभास की सिद्धि के लिए दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति का आविष्कार करके प्रत्यभिज्ञा का प्रदर्शन होता है। [प्रत्यभिज्ञा निष्फल नहीं है। जिस समय ज्ञान और क्रिया दोनों प्रकार की शक्तियाँ मिल जाती हैं तब प्रत्यभिज्ञा होती है कि 'मैं वही ईश्वर हूँ'। तभी पूर्णतः ईश्वर का साक्षात्कार या आत्मा से एकीकरण संभव है। वस्तुतः त्रिक-दर्शन अद्वैतवादी है इसीलिए जीव और ईश्वर का ऐक्य स्थापित किया जाता है। ऐक्य होने पर पार्थक्य की जो प्रतीति होती है वह मायाजनित है। वह माया अद्वैतवेदान्तियों के पक्ष में रहकर स्वीकृत होती है। अवभास या आभास प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का अपना शास्त्रीय शब्द है जिसका प्रयोग ये लोग प्रकाशन (Manifestation) के अर्थ करते हैं। सामान्य व्यक्ति के लिए जीव भागतः चैतन्य से युक्त है, प्रज्ञों के लिए पूर्णतः चैतन्ययुक्त। प्रत्यभिज्ञा ही यह ज्ञान दे सकती है।]

तथा च प्रयोगः 'अयमात्मा परमेश्वरो भवितुमर्हति। ज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वात्। यो यावति ज्ञाता कर्ता च स तावतीश्वरः प्रसिद्धेश्वरवद्राजवद्वा। आत्मा च विश्वज्ञाता कर्ता च। तस्मादीश्वरोऽयम्' इति। अवयवपञ्चकस्याश्रयणं मायावदेव नैयायिकमतस्य कक्षीकारात्।

उसे सिद्ध करने के लिए यह प्रयोग (अनुमान) है—(१) यह आत्मा परमेश्वर बनने में समर्थ है (२) क्योंकि इसके पास ज्ञान और क्रिया की शक्तियाँ हैं। (३) जो जितनी चीजों का ज्ञाता और कर्ता होता है वह उतनी चीजों के लिए ईश्वर (स्वामी) है, जैसे संसार-प्रसिद्ध ईश्वर (मंडलेश्वर, नरेश आदि) हैं या राजा लोग होते हैं। (४) आत्मा संसार का ज्ञाता और कर्ता है; (५) इसलिए यह आत्मा ईश्वर है।[1] इन पांच अवयवों वाले (परार्था-

१. इन पाँच वाक्यों में क्रमशः प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन के वाक्य हैं। न्यायशास्त्र के अनुसार ही ये पाँचों वाक्य दूसरे शास्त्रों में भी प्रयुक्त होते हैं। कहा है—न्यायमूलं सर्वशास्त्रम्।

नुमान) का आश्रय लेते समय नैयायिकों के सिद्धान्त को स्वीकृत किया गया है (या नैयायिकों से पंचावयव अनुमान लिया है) जिस प्रकार माया का विचार [हमने अद्वैतवेदान्त से लिया है]।

तदुक्तमुदयाकरसूनुना—

७. कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः॥
८. किं तु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते॥

जैसा कि उदयाकर के पुत्र ने कहा है—(प्रश्न है कि) जब हम जानते हैं कि कर्त्ता और ज्ञाता के रूप में जो यह जीवात्मा है वह आदि-सिद्ध महेश्वर ही है, तो फिर कौन ऐसा विवेकशील (अजडात्मा) व्यक्ति है जो इस ईश्वर का [जीवात्मा में] निषेध करे या सिद्धि करे ? [तात्पर्य यह है कि जब स्वात्मा और महेश्वर की एकता अनादि काल से सिद्ध है तब हमें इस प्रश्न पर तनिक भी प्रयास करने की आवश्यकता नहीं—न तो हम जीवात्मा में ईश्वर का निषेध कर सकते हैं क्योंकि ऐसा करने से सिद्ध वस्तु का खण्डन होगा, और न ही इसकी सिद्धि की आवश्यकता है क्योंकि स्वयंसिद्ध वस्तु को पुनः सिद्ध करना निरर्थक है, कम से कम विवेकी व्यक्ति तो ऐसा नहीं करते।] ॥ ७ ॥

[इसका उत्तर यह होगा—] 'यद्यपि स्वात्मा में ईश्वर के दर्शन होते हैं (ईश्वर का स्वरूप—चैतन्य कुछ दृष्टिगोचर होता है) किन्तु मोह या माया के कारण यह स्पष्टतः उपलक्षित (दिखलाई) नहीं होता। इसलिए शक्ति का (ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का) प्रतिसंधान (संबंध-स्थापना) करने के लिए इस प्रत्यभिज्ञा का प्रदर्शन होता है। [प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ही जीवात्मा में विद्यमान ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का संबंध ईश्वर की ज्ञानशक्ति और क्रिया-शक्ति के साथ कर लेते हैं तथा दोनों के बीच अद्वैत-तत्त्व की स्थापना संभव होती है। इसीलिए प्रत्यभिज्ञा आवश्यक है।]' ॥ ८ ॥

विशेष—सायण-माधव की पुरानी बीमारी फिर उत्पन्न हो गई है। शैव-दर्शन में जिस प्रकार एक-एक बात कहकर उसकी पुष्टि के लिए प्रमाणों का अम्बार लगा रहे थे, अब यहाँ भी अनेक उद्धरणों के द्वारा अपनी सुप्रतिपादित बातों का पुनः प्रतिपादन करते हैं। क्यों न हो—द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति = दो बार बाँध देने पर अच्छी तरह बँध जाता है।

(५. ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति)

तथा हि—

९. सर्वेषामिह भूतानां प्रतिष्ठा जीवदाश्रया ।
ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम् ॥

१०. तत्र ज्ञानं स्वतःसिद्धं क्रिया कार्याश्रिता सती ।
परैरप्युपलक्ष्येत तथान्यज्ञानमुच्यते ॥ इति ।

११. या चैषां प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता ।
अक्रमानन्दचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ॥ इति च ।

जैसा कि इन श्लोकों से प्रकट है—'इस लोक में सभी प्राणियों की प्रतिष्ठा (स्थिति) जीव पर ही आश्रित है; जीवित प्राणियों का जीवन भी उनके ज्ञान और क्रिया पर निर्भर करता है ॥ ९ ॥ अब उन दोनों शक्तियों में ज्ञान तो स्वतः सिद्ध है (ज्ञान का अनुभव अपने आप में ही व्यक्ति करता है, दूसरे लोग किसी के ज्ञान को नहीं जान पाते)। किन्तु क्रिया कार्यों पर निर्भर करती है इसलिए दूसरे लोग भी इसे जान लेते हैं (स्वयं को तो क्रिया मालूम रहती ही है)। इसी प्रकार दूसरों के ज्ञान को भी जाना जा सकता है (जब कि वह कार्य के रूप में परिणत हो) ॥ १० ॥'

और भी कहा है—'इन जीवों में जो यह ज्ञानशक्ति (प्रतिभा) है [वह देश, काल और वस्तु की उपाधियों के द्वारा सीमित है] वह विभिन्न ज्ञेय पदार्थों का पता लगाने पर उसी क्रम से निरूपित है। यही ज्ञानशक्ति प्रमाता (सर्वज्ञ) महेश्वर है जब कि [उपाधियों से रहित होने पर] क्रम से रहित, आनन्द और चित् के रूप में यह प्रकट होती है। [जीव के ज्ञान में उपाधियाँ हैं, ईश्वर की ज्ञानशक्ति निरुपाधिक है, आनन्दस्वरूप है और चिद्रूप है। यह शुद्ध ज्ञानशक्ति है।]' ॥ ११ ॥

सोमानन्दनाथपादैरपि—

सदा शिवात्मना वेत्ति सदा वेत्ति मदात्मना । इत्यादि ।

ज्ञानाधिकारपरिसमाप्तावपि—

१२. तदैक्येन विना नास्ति संविदां लोकपद्धतिः ।
प्रकाशैक्यात्तदेकत्वं मातैकः स इति स्थितिः ॥

१३. स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः ।
विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः ॥ इति ।

पूज्यपाद श्री सोमानन्दनाथ ने भी कहा है—'[महेश्वर का दास अपनी आत्मा को] सदैव शिव के रूप में जानता है, वह उसे आत्मा अर्थात् शिव-शक्ति के रूप में जानता है ।' इत्यादि । (मत् = मैं, आत्मा) ।

इसके अतिरिक्त ग्रन्थ में जहाँ ज्ञान का अधिकार (अध्याय, topic) समाप्त हुआ है, वहाँ पर भी कहा गया है—'उस महेश्वर के साथ एकता स्थापित हुए बिना प्रकाश या ज्ञान (संवित्) का लौकिक व्यवहार नहीं हो सकता । सभी प्रकार के प्रकाशों में एकता होने के कारण महेश्वर-विषयक एकता को जानने वाला वह एक ही तत्त्व है—ऐसी वस्तुस्थिति है । [तात्पर्य यह है कि सूर्यादि के प्रकाश से बहुत सी चीजें प्रकाशित होती हैं, उनका ज्ञान हमें प्राप्त होता है । इस प्रकार सांसारिक ज्ञान की प्रणाली या पद्धति है । इस प्रकार के प्रकाशन और महेश्वर के प्रकाशन में एकता है—महेश्वर उसी प्रकार आभासित होता है, मोहवश हमें दिखलाई नहीं पड़ता । यह एकता तभी सिद्ध होगी जब हम उपाधिहीन प्रकाशों में भेद न मानें । यह एकमात्र प्रकाश ही सभी वस्तुओं का प्रमाता (ज्ञाता) है ।] वही (प्रकाश, ज्ञान) एक निश्चित विमर्श (ज्ञान-क्रिया शक्ति) के कारण महेश्वर कहलाता है क्योंकि देवदेव महेश्वर के विमर्श का अर्थ ही है शुद्ध (उपाधिहीन) ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का होना ।

विशेष—ईश्वर के प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है । निरुपाधिक ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति में ही संपूर्ण जगत् निहित है । ईश्वर के प्रकाशन और वस्तुओं का प्रकाशन प्रायः एक ही है । प्रायः इसलिए कि वस्तुओं में देश-काल आदि उपाधियाँ लगी हैं । इन के हट जाने पर तो अद्वयतत्त्व ही बच रहता है । यह ऐक्य या अद्वयतत्त्व ही महेश्वर है ।

(६. वस्तुओं का प्रकाशन—आभासवाद)

विवृतं चाभिनवगुप्ताचार्यैः । 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (काठक० २।२) इति श्रुत्या प्रकाशचिद्रूपमहिम्ना सर्वस्य भावजातस्य भासकत्वमभ्युपेयते । ततश्च विषयप्रकाशस्य नीलप्रकाशः पीतप्रकाश इति विषयोपराग-भेदाद्भेदः । वस्तुतस्तु देशकालाकारसंकोचवैकल्यादभेद एव । स एव चैतन्यरूपः प्रकाशः प्रमातेत्युच्यते ।

आचार्य अभिनवगुप्त ने व्याख्या भी की है। एक श्रुतिवाक्य है—'उस प्रकाशमान पुरुष के पीछे-पीछे सारी चीजें प्रकाशित होती हैं, उसी के प्रकाश से ये सारी चीजें प्रकाशित होती हैं।' (काठक० २।२) [इस श्रुति का तात्पर्य है कि महेश्वर के प्रकाशित होने पर सूर्यादि का प्रकाश होता है। जैसे जाते हुए पुरुष के पीछे-पीछे चलने वाले पुरुष की गति स्वतंत्र नहीं होती, उसी प्रकार सूर्यादि का प्रकाश स्वतंत्र नहीं होता—उसी महेश्वर के अधीन इनका प्रकाश स्फुरित होता है।] इस श्रुति से सिद्ध होता है कि उस प्रकाशस्वरूप, चिद्रूप अर्थात् बुद्धिस्वरूप (महेश्वर) की महिमा से सारे पदार्थ (= प्रकाश देनेवाले, सूर्यचन्द्रादि) प्रकाशक कहलाते हैं। इसके बाद विषयों के प्रकाशन में नीला प्रकाश (= नीली वस्तु), पीला प्रकाश (वस्तु) इस प्रकार के भेद इसलिए होते हैं कि स्वयं विषयों (objects) में ही रंग (colour) का भेद है [और ये ही रंग प्रकाश पर पड़कर वस्तु को नीली, पीली बना कर प्रकाशित कराते हैं—वस्तुओं में भेद का यही कारण है।]

वास्तव में देश, काल और आकार की सीमा (संकोच) न होने के कारण तत्त्व तो एक ही है। वही चैतन्य (बुद्धि) के रूप में प्रकाश है जिसे हम प्रमाता या ज्ञाता भी कहते हैं। [ईश्वर प्रकाश है तथा चैतन्यरूप है। वही अपनी आत्मा के दर्पण पर प्रतिबिम्ब की तरह सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है। इसी सिद्धान्त को आभासवाद कहते हैं।]

तथा च पठितं शिवसूत्रेषु—'चैतन्यमात्मा' (१।१) इति। तस्य चिद्रूपत्वमनवच्छिन्नविमर्शत्वमनन्योन्मुखत्वमानन्दैकघनत्वं माहेश्वर्यमिति पर्यायः। स एव ह्ययं भावात्मा विमर्शः शुद्धे पारमार्थिक्यौ ज्ञानक्रिये। तत्र प्रकाशरूपता ज्ञानम्। स्वतो जगन्निर्मातृत्वं क्रिया।

जैसा कि शिवसूत्रों का आरंभ हुआ करता है—'चैतन्य ही आत्मा है' (शि० सू० १।१)। उसके बहुत से पर्याय भी हैं—चित् (Intelligence) के रूप में होना, विमर्श अर्थात् ज्ञान-क्रिया-शक्ति का अव्यवहित (उपाधिहीन) होना, दूसरे पर निर्भर न करना (= स्वतंत्रता), आनन्द के एकमात्र घन-पिण्ड के रूप में होना तथा सबसे अधिक ऐश्वर्य होना (महेश्वर होना)। [ये सभी ईश्वर के गुण के पर्यायवाची शब्द हैं।] इसी को भाव (धर्म, शक्ति) के रूप में विमर्श मानते हैं, जिसका अर्थ है विशुद्ध (उपाधिहीन) पारमार्थिक ज्ञान और क्रिया।

इनमें **ज्ञान** उसे कहते हैं जिसके द्वारा वस्तुओं का प्रकाशन हो। अपने आप से ही समूचे संसार का निर्माण करना **क्रिया** है। [ईश्वर के गुणों के पर्यायों में 'विमर्श' शब्द आया है। पूरा शब्द है—ईश्वर के विमर्श का अनवच्छिन्न होना। विमर्श अवच्छिन्न तभी होता है जब भ्रांतिवश हम विमर्श (ज्ञान और क्रिया) में देश, काल, आकार, वर्ण आदि अवच्छेदक या सीमित करनेवाली उपाधियाँ लगा दें। यदि इन उपाधियों का अभाव हो तो विमर्श अनवच्छिन्न अर्थात् अव्यवहित होता है। ईश्वर का विमर्श ऐसा ही होता है। अच्छा, यह बार-बार उच्चरित **'विमर्श'** है क्या? इसका अर्थ ज्ञान और क्रिया है। ईश्वर के पास शुद्ध विमर्श यानी शुद्ध ज्ञान और शुद्ध क्रिया है। अपने ज्ञान से वे सारी वस्तुओं का प्रकाशन करते हैं—सारी वस्तुएं उसी प्रकार सत्य हैं जिस प्रकार स्वयम् ईश्वर। सारी वस्तुएँ ईश्वर के आभास से आती हैं, अतः इस दर्शन को वस्तुवादी प्रत्ययवाद (Realistic Idealism) करते हैं। अब रही ईश्वर की क्रिया-शक्ति! तो उससे सारे संसार का निर्माण ही होता है। शक्ति की व्याख्या आगे की जायगी।]

तच्च निरूपितं क्रियाधिकारे—

१४. एष चानन्तशक्तित्वादेवमाभासयत्यमून्।
भावानिच्छावशादेषां क्रिया निर्मातृतास्य सा॥ इति।

उपसंहारेऽपि—

१५. इत्थं तथा घटपटाद्याकारजगदात्मना।
तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुकर्तृकृता क्रिया॥ इति।

इस दर्शन के क्रिया-परिच्छेद में उसका निरूपण भी हुआ है—'वह (महेश्वर) अपनी अपरिमित शक्ति होने के कारण उन भावों (पदार्थों) को प्रकाशित (आभासित) करता है [—यह उसकी ज्ञानशक्ति है]। उसी प्रकार अपनी इच्छा से ही वह उक्त पदार्थों का निर्माण करता है जो उसकी क्रिया-शक्ति है॥ १४॥'

उपसंहार करते हुए भी कहा गया है—'इस प्रकार घट, पट आदि आकारों (पदार्थों) से भरे हुए संसार के रूप में स्थिर रहने के इच्छुक, हेतुकर्ता (प्रयोजक कर्ता = महेश्वर) में उत्पन्न जो इच्छा है, वही क्रिया है॥ १५॥'

विशेष—हेतु का अर्थ प्रयोजक-कर्ता है क्योंकि पाणिनि-मुनि कहते हैं—**तत्प्रयोजको हेतुश्च** (पा० सू० १।४।५५)। प्रेरणार्थक क्रिया का प्रयोग होने पर दो कर्ता होते हैं—प्रयोज्य और प्रयोजक। रामः पठति। अध्यापकः

रामं पाठयति। इन वाक्यों में 'अध्यापक' और 'राम' दोनों ही कर्ता हैं, अध्यापक प्रयोजक या हेतु कर्ता है जब कि राम प्रयोज्य कर्ता। उसी प्रकार इस स्थान में, 'भावा आभासन्ते, महेश्वरो भावानाभासयति' के साथ भी बात है—महेश्वर प्रयोजक कर्ता है। महेश्वर को इच्छा होती है—'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय'। उसकी यह इच्छा ही क्रिया कहलाती है।

(७. ईश्वर की इच्छा से संसारोत्पत्ति)

१६. तस्मिन्सतीदमस्तीति कार्यकारणताऽपि या।
साप्यपेक्षाविहीनानां जडानां नोपपद्यते॥

इति न्यायेन यतो जडस्य न कारणता न वाऽनीश्वरस्य चेतनस्यापि, तस्मात्तेन तेन जगद्गतजन्मस्थित्यादिभावविकार-तत्तद्भेदक्रियासहस्ररूपेण स्थातुमिच्छोः स्वतन्त्रस्य भगवतो महेश्वरस्येच्छैव उत्तरोत्तरमुच्छूनस्वभावा क्रिया विश्वकर्तृत्वं वोच्यत इति।

'एक वस्तु (बीज) के होने पर दूसरी वस्तु (अंकुर) की सत्ता होगी—इस प्रकार का जो कार्य-कारण संबंध है वह भी अपेक्षारहित जड़ (insentient) पदार्थों में नहीं रह सकता॥ १६॥'

उपर्युक्त नियम से यह सिद्ध होता है कि जड़ पदार्थ (परमाणु आदि) संसार के कारण नहीं हो सकते [क्योंकि इनमें अपेक्षा नहीं है, अपेक्षा किसी चेतन में ही रहती है]। दूसरी ओर, ईश्वर के अतिरिक्त कोई दूसरा चेतन (जैसे जीव) भी [संसार का कारण नहीं हो सकता क्योंकि उसमें संसार उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है। इसलिए घटादि का कारण होने पर भी जीव संसार को नहीं उत्पन्न कर सकते]। इसलिए संसार के जन्म, स्थिति आदि भाव-विकारों के रूप में तथा उनके भेदों के रूप में हजारों क्रियाओं के द्वारा भगवान् ठहरना चाहता है। उस स्वतंत्र महेश्वर भगवान् की इच्छा, जो क्रमशः बढ़ती ही जाती है, हो क्रिया है। दूसरे शब्दों में उसे विश्व का उत्पादन (रचना) भी कहते हैं।

विशेष—संसार की रचना ईश्वर की इच्छा से ही होती है। जब ईश्वर चाहता है कि अपनी क्रियाओं के रूप में अवस्थित रहूँ—एक होकर भी बहुत से रूपों में रहूँ, तब भाव के छह विकारों (जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति—देखें निरुक्त १।२) और उनके नाना प्रकार के भेदों

के रूप में संसार की रचना हो जाती है। वस्तुत: क्रिया तो एक ही है—ईश्वर की इच्छा, परन्तु उसके विकार इतने प्रकार के हो जाते हैं कि क्रियायें हजारों-हजार हो जाती हैं। महेश्वर की इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है (उच्छून-स्वभावा)—इसीसे विकास होता है जिसका अन्त विनाश में है। इस प्रकार संसार की रचना के लिए किसी उपादान की आवश्यकता नहीं। वह केवल ईश्वर की एक शक्ति—क्रिया अर्थात् इच्छा—से ही उत्पन्न हो जाता है। इसे इस दर्शन के आरंभ में भी कह चुके हैं। केवल इच्छा से संसार की रचना मानने के लिए सांसारिक बुद्धि प्रस्तुत नहीं होती। इसी के कारण त्रिक-दर्शन की पृष्ठभूमि में तान्त्रिक-मत है। तंत्र के प्रभाव से इच्छामात्र से क्षण भर में बहुत सी चीजें उत्पन्न हो जाती हैं। अभिनवगुप्त स्वयं भी एक बड़े तान्त्रिक थे। इसके बिना कोई लौकिक दृष्टान्त देना असंभव है।

इच्छामात्रेण जगन्निर्माणमित्यत्र दृष्टान्तोऽपि स्पष्टं निर्दिष्टः—

१७. योगिनामपि मृद्बीजे विनैवेच्छावशेन यत्।
घटादि जायते तत्तत्स्थिरभावक्रियाकरम्॥ इति।

यदि घटादिकं प्रति मृदाद्येव परमार्थतः कारणं स्यात्तर्हि कथं योगीच्छामात्रेण घटादिजन्म स्यात्? अथोच्येत—अन्य एव मृद्बीजादिजन्या घटाङ्कुरादयो, योगीच्छाजन्यास्त्वन्य एवेति। तत्रापि बोध्यसे—सामग्रीभेदात्तावत्कार्यभेद इति सर्व-जनप्रसिद्धम्।

केवल इच्छा करने से ही संसार का निर्माण हो जाता है, इस विषय में लौकिक दृष्टान्त भी तो स्पष्टरूप से ही दिया गया है—'योगी लोग भी मिट्टी और बीज के बिना ही केवल इच्छा करके घट और अंकुर उत्पन्न कर देते हैं जो [इन्द्रजाल या आभासमात्र नहीं, प्रत्युत] लौकिक घट और अंकुर की तरह स्थिर तथा अपनी-अपनी आवश्यक क्रियाओं (जैसे जल लाना, पेड़ बनाना) के संपादन में भी समर्थ हैं—[ऐसा बहुधा सुना जाता है]॥ १७॥

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वास्तव में (पारमार्थिक दृष्टि से) घटादि के कारण मृत्तिकादि ही होते हैं। यह कैसी बात है कि योगियों की इच्छा करने से ही घटादि पदार्थों का जन्म हो जाता है? यहाँ उत्तर यह होगा—जो घट और अंकुर मिट्टी और बीज से उत्पन्न होते हैं वे कुछ दूसरे ही हैं। [योगियों की इच्छा से उत्पन्न होने पर भी दूसरे घड़ों और अंकुरों का संबंध

मिट्टी-बीज से टूटता नहीं। उनका वास्तविक संबंध रहेगा ही।] इसमें भी आपको जानना चाहिए कि सामग्री के भेद से कार्य में भेद पड़ता ही है। यह तो समूचे संसार में प्रसिद्ध है। [जिन घटों का निर्माण मिट्टी से होता है उनमें भी तो सामग्री के भेदके कारण भेद दिखलाई पड़ता है। कम मिट्टी लगाने पर छोटा या पतला घड़ा बनता है, दूसरी मिट्टी का दूसरा ही घड़ा होता है इत्यादि। सामान्य रूप से घट मिट्टी से ही बनता है। विशेष स्थितियों में योगी लोग भी बनाते हैं और ऐसे घटों में पर्याप्त भेद रहता है।]

(८. उपादान कारण और पदार्थों की उत्पत्ति)

ये तु वर्णयन्ति नोपादानं विना घटाद्युत्पत्तिरिति, योगी त्विच्छया परमाणून्व्यापारयन् संघटयतीति तेऽपि बोधनीयाः। यदि परिदृष्टकार्यकारणभावविपर्ययो न लभ्येत तर्हि घटे मृद्दण्डचक्रादि देहे स्त्रीपुरुषसंयोगादि सर्वमपेक्ष्येत। तथा च योगीच्छासमनन्तरसंजातघटदेहादिसंभवो दुःसमर्थ एव स्यात्।

जो लोग कहते हैं कि उपादान (material) कारण के बिना घट आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकती और उधर योगी अपनी इच्छा से परमाणुओं का संचालन करके उनका नवीन संघटन (Organisation) करता है, ऐसे लोगों को भी यह जानना चाहिए कि यदि कार्य-कारण-संबन्ध (Causal relation) का सुस्पष्ट उल्लंघन (विपर्यय Violation) नहीं हो रहा हो (अर्थात् योगियों की इच्छा के बाद ही कार्य संपादित नहीं होकर विलम्ब से हो) तब तो कार्य के उत्पादन के लिए सभी कारणों के व्यापारों की अपेक्षा रहेगी ही; घट के लिए मिट्टी, डंडा, चाक आदि की आवश्यकता होगी, शरीर-निर्माण के लिए स्त्री-पुरुष के संयोग आदि की आवश्यकता होगी। ऐसा करने पर योगी की इच्छा के तुरत बाद में उत्पन्न होने वाले घट, देहादि की संभावना करना बिल्कुल असंगत ही हो जायगा।

विशेष—इस संदर्भ में उन मतवादियों का उल्लेख किया गया है जो योगियों के कार्य में भी सामान्य-नियम के समान कार्य-कारण-संबंध ढूंढ़ने का प्रयत्न करते हैं। वे बिना उपादान के कार्योत्पत्ति मानते ही नहीं। यदि योगियों की क्रियाओं में कार्य-कारण संबंध नहीं मिला, तो कार्योत्पत्ति को ये असंगत (baseless) सिद्ध कर देंगे। योगी जो अपनी इच्छा से कार्य उत्पन्न किया करते हैं उनमें भी परमाणुओं का संघटन होता ही होगा। किसी

निर्धन व्यक्ति को योगी आशीर्वाद देकर धनाढ्य बना दें तथा वह व्यक्ति घर आकर देखे कि उसके यहाँ मिट्टी के स्थान पर सोने की दीवाल है तो इस इच्छात्मक आशीर्वाद में भी स्वर्ण के परमाणुओं की क्रिया हुई होगी--किसी भी अवस्था में कार्य लिए कारणसामग्री अपेक्षित ही है, वह चाहे सामान्य कार्य हो या योगी की इच्छा से उत्पन्न कार्य हो।

अब योगियों की इच्छा से उत्पन्न कार्य के भी दो भेद संभव हैं--एक तो वह जब योगियों की इच्छा (आशीर्वाद) के बाद ही कार्य हो जाय और दूसरा वह जब इच्छा के बहुत देर के बाद कार्य उत्पन्न हो। पहली स्थिति में तो कार्य-कारण का संबंध स्थिर करना बड़ा ही कठिन है क्योंकि बेचारे परमाणुओं को संघटित होने का समय कहाँ मिलता है कि उपादान बनकर कार्य उत्पन्न करें। हाँ, दूसरी स्थिति में कल्पना कर सकते हैं कि योगियों की इच्छा के बाद परमाणुओं को संघटित होने का पर्याप्त अवसर मिलता है जिससे वे कार्य उत्पन्न करते हैं। योगी लोग दोनों तरह के कार्य उत्पन्न करते देखे जाते हैं। किसी को देखते ही रोगमुक्त कर देते हैं तथा यथासमय पुत्र होने का भी आशीर्वाद देते हैं। शीघ्र कार्य करने वाले योगियों की इच्छा से कार्य उत्पन्न होने पर कार्य-कारण-भाव की रक्षा तो किसी भी मूल्य पर नहीं हो सकती। देर से होने वाले कार्य में भी अलक्षित परमाणु-व्यापार की कल्पना व्यर्थ ही है। किसी भी स्थिति में योगियों के कार्य में कार्य-कारण-भाव का बड़ा भारी अपमान होता है जो न्यायशास्त्र की दृष्टि से बहुत बड़ा अपराध है। यही उन मतवादियों का कथन है।

अब प्रत्यभिज्ञा-दर्शन वाले अपने पक्ष की रक्षा करते हुए, भगवान् की दुहाई देते हुए तथा उनके समक्ष कार्य-कारण-भाव की असंगति को गौण बतलाते हुए उत्तर देंगे।

चेतन एव तु तथा भाति, भगवान् भूरिभगो महादेवो नियत्यनुवर्तनोल्लङ्घनघनतरस्वातन्त्र्य इति पक्षे न काचिद-नुपपत्तिः। अत एवोक्तं वसुगुप्ताचार्यैः—

१८. निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने ॥ इति।

उपर्युक्त असंगति सामान्य चेतन पदार्थों के साथ ही हो सकती है [अर्थात् योगियों के कार्य में आप भले ही असंगति दिखा दें] किन्तु विपुल ऐश्वर्य वाले भगवान् महादेव तो नियति (Nature) का अनुवर्तन या उल्लंघन करने

में बिल्कुल स्वतंत्र हैं, उनके पक्ष में कार्यकारणभाव के विषय में कोई भी असंगति (Difficulty, Impropriety) नहीं होती। [ब्रह्मा नियति या अदृष्ट या सांसारिक नियमों का केवल अनुवर्तन कर सकते हैं, उल्लंघन नहीं। पर ईश्वर के लिए नियति का खंडन बायें हाथ का खेल है--अपनी लीला से ही वे नियति (जैसे--कार्यकारणभाव) को काट सकते हैं। बड़े लोगों के लिए कोई अनुचित कार्य नहीं।]

इसीलिए आचार्य वसुगुप्त ने कहा है--'जो बिना किसी भित्ति (आधार) के [शून्य प्रदेश में] बिना उपकरणों के समूह का सहारा लिए, इस विचित्र संसार की रचना करता है कलाओं के उस स्वामी शूलधारी भगवान् शिव को मैं प्रणाम करता हूँ।'

विशेष—इस मंगल-श्लोक में यह प्रदर्शित है कि महेश्वर को संसार की रचना करने में न किसी आधार की आवश्यकता पड़ती है और न किसी सामग्री की ही। उसकी इच्छा ही क्रिया है, विश्व की रचना है।

(९. विभिन्न प्रश्न—जीव और संसार का संबंध)

ननु प्रत्यगात्मनः परमेश्वराभिन्नत्वे संसारसंबन्धः कथं भवेदिति चेत्—तत्रोक्तमागमाधिकारे—

१९. एष प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबन्धनः।
विद्यादिज्ञापितैश्वर्यश्चिद्घनो मुक्त उच्यते ॥ इति।

अब प्रश्न है कि जब प्रत्यगात्मा (जीव Individual self) को परमेश्वर से अभिन्न ही मानते हैं तो जीव का संबन्ध संसार से कैसे होगा ? इसका उत्तर उसी दर्शन में आगमों का वर्णन करनेवाले परिच्छेद में हुआ है—'यह प्रमाता (ज्ञाता जीव) माया से अंधा होकर (ईश्वर के स्वरूप के विषय में ज्ञान न रहने के कारण) कर्म के बन्धन में पड़ा हुआ संसार में ही रहता है। विद्या (प्रत्यभिज्ञा) आदि के द्वारा जब उसे ऐश्वर्य (ईश्वर के स्वरूप) का ज्ञान प्राप्त कराया जाता है [कि वह ईश्वर ही है] तब चित् की मूर्ति बनकर [दृक्-शक्ति और क्रियाशक्ति से युक्त होकर] वह मुक्त कहलाता है ॥ १९ ॥' [यही जीव और संसार का संबन्ध है कि मुक्ति के पूर्व तक जीव इस संसार में ही विचरण करता रहता है।]

(९. क. प्रमेय को लेकर बद्ध और मुक्त में भेद)

ननु प्रमेयस्य प्रमात्रभिन्नत्वे बद्धमुक्तयोः प्रमेयं प्रति को विशेषः ? अत्राप्युत्तरमुक्तं तत्त्वार्थसंग्रहाधिकारे—

२०. मेयं साधारणं मुक्तः स्वात्माभेदेन मन्यते।
महेश्वरो यथा बद्धः पुनरत्यन्तभेदवत् ॥ इति ।

दूसरा प्रश्न है कि प्रमेय (Knowable) पदार्थ प्रमाता (Knower) से अभिन्न होता है तब प्रमेय को लेकर बद्ध और मुक्त जीवों में क्या अन्तर होगा ? [इस प्रश्न का यह आशय है—प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की यह मान्यता स्पष्ट है कि ईश्वर अपनी 'बहु स्याम्' की इच्छा से संपूर्ण जगत् के रूप में स्वयं ही आविर्भूत होता है। इस प्रकार जीव तो परमेश्वर से अभिन्न हैं ही, पृथ्वी आदि प्रमेय पदार्थ भी ईश्वर से अभिन्न ही हैं। किसी में कोई भेद-भाव नहीं। परिणाम यह होगा कि प्रमेय (पृथ्वी आदि पदार्थ) और प्रमाता (जीव) में भी एकता या अभिन्नता हो जायगी। जीव के दोनों भेद (बद्ध और मुक्त) एक ही प्रकार से प्रमेय का प्रयोग करेंगे। बद्ध और मुक्त जीवों में फिर अन्तर ही क्या रहा ?]

इसका भी तत्त्वार्थों का संग्रह (संकलन) करनेवाले परिच्छेद में दिया गया है—'मुक्त जीव महेश्वर के समान ही सभी प्रमेय पदार्थों (अच्छा-बुरा, सुन्दर-कुरूप, अमृत-विष) को अपनी आत्मा से अभिन्न समझते हुए समान-रूप से देखता है (अर्थात् विषयों में वह भेद-भाव नहीं करता है)। दूसरी ओर, बद्ध जीव [अभेद का ज्ञान न होने के कारण] प्रमेय पदार्थों में कई प्रकार के भेद देखता है (अमृत और विष को एक दृष्टि से नहीं देखता है) ॥ २० ॥'

(१०. प्रत्यभिज्ञा की आवश्यकता—अर्थक्रिया में भेद)

ननु आत्मनः परमेश्वरत्वं स्वाभाविकं चेन्नार्थः प्रत्यभिज्ञाप्रार्थनया। न हि बीजमप्रतिज्ञातं सति सहकारिसाकल्येऽङ्कुरं नोत्पादयति। तस्मात्कस्माद्वात्मप्रत्यभिज्ञाने निर्बन्ध इति चेत्—

उच्यते। शृणु तावदिदं रहस्यम्। द्विविधा ह्यर्थक्रिया—बाह्याङ्कुरादिका, प्रमातृविश्रान्तिचमत्कारसारा प्रीत्यादिरूपा च। तत्राद्या प्रत्यभिज्ञानं नापेक्षते। द्वितीया तु तदपेक्षत एव।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि परमेश्वर हो जाना यदि आत्मा का स्वाभाविक गुण ही है तो प्रत्यभिज्ञा की प्रार्थना करना तो निरर्थक ही न है ? यदि सारी सहकारी सामग्रियाँ तैयार हों और बीज का प्रत्यक्षीकरण नहीं भी हुआ हो (गुप्त रूप से बीज छीट दिया गया हो) तो क्या अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता ? [बीज ज्ञात रहे या अज्ञात, अन्य सामग्रियाँ (खेत, पानी, हवा, धूप आदि) तैयार रहें तो वह अवश्य अङ्कुरित होगा। उसी प्रकार, 'मैं ईश्वर हूँ' यह बात जीव को मालूम रहे या नहीं, यदि वह सचमुच ईश्वर का स्वरूप है, जैसा कि आप स्वीकार करते हैं, तो सदा ही मुक्त रहेगा।] तो, किस लिए आप लोग आत्मा की प्रत्यभिज्ञा (साक्षात्कार) के लिए आग्रह (निर्बन्ध) कर रहे हैं ? [इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा को आवश्यकता ही नहीं]।

इस शंका का समाधान हम करते हैं। पहले सुनो, रहस्य यह है। अर्थक्रिया (फल देने वाली क्रिया)* दो प्रकार की होती है—एक तो बाह्य (External) जिसमें अङ्कुर आदि आते हैं, दूसरी [आन्तरिक (Internal)] जिससे ज्ञाता को विश्राम मिल जाने के कारण अपूर्व आनन्द मिलता है तथा जो प्रीति, सन्तोष आदि के रूप में प्रकट होती है। [जब बीज अंकुर उत्पन्न करता है तब भी एक अर्थक्रिया (सफल कार्य) होती है किन्तु यह बाह्य जगत् से बँधी होने के कारण बाह्य अर्थक्रिया है। जब पुत्रजन्म का समाचार सुनने पर आनन्द उत्पन्न होता है तब आभ्यन्तर अर्थक्रिया होती है—यह क्रिया सफल हुई किन्तु अन्तर्जगत् में। ज्ञाता जीव जब बाहरी-भीतरी कामों से छुट्टी पा लेता है तब इससे उत्पन्न चमत्कार या आनन्द आन्तरिक क्रिया का सबसे अच्छा उदाहरण है।]

उनमें पहली अर्थक्रिया को तो प्रत्यभिज्ञा (साक्षात्कार, ज्ञान) की आवश्यकता नहीं किन्तु दूसरी (आन्तरिक) अर्थक्रिया को तो ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता है। [पूर्वपक्षियों ने जो बीज और अंकुर को शिखण्डी बना कर खड़ा किया है वह वास्तव में बाह्य अर्थक्रिया का उदाहरण है। बीज ज्ञात रहे या अज्ञात, उसका फल मिल ही जायगा, 'अंकुर उत्पन्न हो जायगा' ?। डॉक्टर के यहाँ ली गई दवा ज्ञात रहे या अज्ञात, उसकी अर्थक्रिया (रोगनिवृत्ति) होकर रहेगी। आप जानकर विष खायें या अनजाने, इसका फल मिलकर रहेगा। निष्कर्ष यह है कि बाह्य अर्थक्रिया को प्रत्यभिज्ञा की आवश्यकता नहीं है। रहे तो, नहीं रहे तो—दोनों स्थितियों में फल मिलेगा। किन्तु, पुत्रजन्म की बात, सुनने पर ही, कार्य में लगे हुए मन को भी तुरत विरत करके कुछ देर तक आनन्द नहीं

* देखें सर्वदर्शनसंग्रह में बौद्ध-दर्शन, क्षणिकवाद का प्रसंग, पृ० ३८–५६।

मिल सकता। इस प्रकार, यह सिद्ध हुआ कि आन्तरिक अर्थक्रिया उत्पादक का प्रत्यभिज्ञान (Knowledge) होने पर ही उत्पन्न होती है। आत्मा का साक्षात्कार भी आन्तरिक अर्थक्रिया ही है जिसमें ज्ञान होने पर ही फल मिल सकता है। यही आगे सिद्ध किया जायगा।]

इहाप्यहमीश्वर इत्येवंभूतचमत्कारसारा परापरसिद्धिलक्षण-जीवात्मैकत्वशक्तिविभूतिरूपार्थक्रियेति स्वरूपप्रत्यभिज्ञानमपेक्ष-णीयम्।

ननु प्रमातृविश्रान्तिसाराऽर्थक्रिया प्रत्यभिज्ञानेन विना अदृष्टा सती तस्मिन्दृष्टेति क्व दृष्टम्? अत्रोच्यते—नायकगुण-गणसंश्रवणप्रवृद्धानुरागा काचन कामिनी मदनविह्वला विरह-क्लेशमसहमाना मदनलेखावलम्बनेन स्वावस्थानिवेदनानि विधत्ते। तथा वेगात्तन्निकटमटन्त्यपि तस्मिन्नवलोकितेऽपि तदव-लोकनं तदीयगुणपरामर्शाभावे जनसाधारणत्वं प्राप्ते हृदयङ्गम-भावं न लभते। यदा तु दूतीवचनात् तदीयगुणपरामर्शं करोति तदा तत्क्षणमेव पूर्णभावमभ्येति।

यहाँ भी (प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में), 'मैं ईश्वर हूँ' इस प्रकार के आनन्द से परिपूर्ण, परसिद्धि (मोक्ष) और अपरसिद्धि (अभ्युदय) के लक्षण से युक्त, जीवात्मा के साथ [महेश्वर की] एकतारूपी शक्ति (ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति) की विभूति (आनन्द) के रूप में अर्थक्रिया प्राप्त होती है (अर्थात् यह अर्थक्रिया भी आन्तरिक ही है), इसलिए आत्मा को अपने स्वरूप का साक्षात्कार करना आवश्यक है। [यही कारण है कि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के द्वारा आत्मा को एकत्व ज्ञान कराया जाता है।]

अब यह प्रश्न है कि वह अर्थ क्रिया जो प्रमाता को विश्राम प्रदान करके आनन्द देने वाली है, वह प्रत्यभिज्ञान (साक्षात्कार Knowledge) के बिना तो अदृष्ट ही रहेगी, प्रत्यभिज्ञान हो जाने पर उसे देख लेते हैं—ऐसा कहीं किसी ने देखा है क्या? (यह कैसे जानते हैं?)

इसका यह उत्तर होगा। कोई कामिनी किसी नायक के गुण-समूह को केवल सुनकर उससे प्रेम करने लगती है, वह मदनाग्नि से पीड़ित होकर विरह-वेदना को सहने में असमर्थ हो जाती है। किसी प्रकार मदन-लेख (प्रेम-पत्र

Love-letter) भेज कर अपनी अवस्था का निवेदन उस नायक से करती है। यही नहीं, झटपट वह उसके पास दौड़ भी जाती है और उसे देखने लगती है। किन्तु, उसके गुणों के परामर्श (प्रत्यभिज्ञा Recognition) के अभाव में वह स्त्री उस नायक को साधारण आदमी की तरह ही देखती है। फल यह होता है कि उसके हृदय को वह ठीक नहीं लगता (वह आनन्द या संतोष नहीं पाती)। लेकिन जब कोई दूती आकर उसे अपने वाक्यों के द्वारा नायक के गुणों की पहचान करा देती है तब तो वह नायिका तुरत ही पूर्णरूप से प्रेम करने लगती है। [इस दृष्टान्त में यह दिखाया गया कि बिना पहचान कराये कोई किसी में रुचि नहीं ले सकता। इसी दृष्टान्त से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र के द्वारा ही कोई ईश्वर को पहचान सकता है।]

एवं स्वात्मनि विश्वेश्वरात्मना भासमानेऽपि तन्निर्भासनं तदीयगुणपरामर्शविरहसमये पूर्णभावं न संपादयति। यदा तु गुरुवचनादिना सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादिलक्षणपरमेश्वरोत्कर्षपरामर्शो जायते तदा तत्क्षणमेव पूर्णात्मतालाभः।

उसी तरह यद्यपि अपनी आत्मा में विश्वेश्वर की आत्मा (स्वरूप) का आभास होता है, किन्तु यह आभास भी ईश्वर के गुणों की पहचान नहीं होने की स्थिति में पूर्णभाव (पूरा संतोष, पूर्णत्व) नहीं दे सकता। लेकिन जब गुरु के वचन आदि से सब कुछ जानने वाले, सब कुछ उत्पन्न करने वाले तथा अन्य गुणों से युक्त परमेश्वर के उत्कृष्ट गुणों की प्रत्यभिज्ञा होती है उसी समय पूर्णत्व की प्राप्ति हो जाती है।

विशेष—प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की निरर्थकता का खण्डन हो रहा है। यद्यपि आत्मा में ईश्वर का स्वरूप निसर्गतः आभासित होता है तथापि उसकी पहचान कराने के लिए कोई माध्यम (Mediator) तो हो। गुरु की बातों से प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का अध्ययन करके परमेश्वर को पहचान लें तभी आत्मसाक्षात्कार या मोक्ष हो सकता है। इसलिए प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की आवश्यकता रहेगी ही। इसके बिना मूलतः और परमात्मा एक होने पर भी एक-से नहीं लगेंगे।

(११. उपसंहार)

तदुक्तं चतुर्थे विमर्शे—

२१. तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तस्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।

लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवायं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ॥
(ई० प्र० ४।२।२) इति।

अभिनवगुप्तादिभिराचार्यैर्विहितप्रतानोऽप्ययमर्थः संग्रहमुपक्रममाणैरस्माभिर्विस्तरभिया न प्रतानित इति सर्वं शिवम् ॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे प्रत्यभिज्ञादर्शनम् ॥



जैसा कि चतुर्थ विमर्श में कहा है—'विभिन्न प्रकार की प्रार्थनाओं के कारण [जो नायक नायिका के] पास आ गया है, उसके पास ही खड़ा भी है किन्तु बिना पहचाने हुए वह (नायिका) अपने प्रिय नायक को दूसरे लोगों के समान ही साधारण व्यक्ति समझ लेती है तथा उसके साथ रमण नहीं करती। उसी प्रकार इस संसार में लोगों की आत्मा में यदि विश्वेश्वर (महेश्वर) के गुणों को जाना नहीं जा सका तो यह (महेश्वर) अपने पूर्ण वैभव (ऐश्वर्य) को नहीं पा सकता। यही कारण है कि इस प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की व्याख्या की जाती है। (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्श ४।२।२)।

अभिनवगुप्त तथा दूसरे आचार्यों ने इस दर्शन का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है किन्तु हम तो यहाँ केवल संकलन (सारांश Summary) कर रहे हैं इसलिए विस्तार के भय से ग्रन्थ को आगे नहीं बढ़ा रहे हैं। इस प्रकार सब कुछ शिव (कल्याणकारी) हो।

इस प्रकार श्रीमान् सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में प्रत्यभिज्ञा-दर्शन [समाप्त हुआ]

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां
व्याख्यायां प्रत्यभिज्ञादर्शनमवसितम् ॥



(९) रसेश्वर-दर्शनम्

माहेश्वरः कलितकाञ्चनचारुरूपो
रोगक्षपाक्षरणदीप्तदिनेशरश्मिः ।
मोक्षं च जीवति जने तनुतेऽक्षरं यः
पायादपायनिचयात्परपारदोऽसौ ॥—ऋषिः

(१. रस से जीवन्मुक्ति—पारद और उसका स्वरूप)

अपरे माहेश्वराः परमेश्वरतादात्म्यवादिनोऽपि, पिण्डस्थैर्ये सर्वाभिमता जीवन्मुक्तिः सेत्स्यतीत्यास्थाय, पिण्डस्थैर्योपायं पारदादिपदवेदनीयं रसमेव संगिरन्ते ।

[उपर्युक्त] महेश्वर-सम्प्रदायों में (= नकुलीशपाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा तथा रसेश्वर में) कुछ दूसरे [दार्शनिक] (= रसेश्वर सम्प्रदाय को माननेवाले) यद्यपि परमेश्वर (परमात्मा) के साथ [जीव का] तादात्म्य (एक रूप होना) स्वीकार करते हैं, तथापि सभी [दर्शनकारों से सम्मत जीवन्मुक्ति (= शरीर के रहते हुए जरामरणादि से छूट जाना) शरीर (पिण्ड) की स्थिरता होने से ही मिलेगी—ऐसी आस्था (विश्वास) रखकर, शरीर को स्थिर करने का उपाय रस को, जिसको 'पारद'—आदि शब्दों से भी जानते हैं (पारद = रस), बतलाते हैं ।

विशेष—महेश्वर (शिव) को परम-तत्त्व के रूप में स्वीकार करनेवाले दार्शनिक माहेश्वर कहलाते हैं। सर्वदर्शन-संग्रह में चार माहेश्वरों का वर्णन है—नकुलीशपाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा और रसेश्वर। वे सभी जीवात्मा का परमात्मा से ऐकरूप्य मानते हैं। रसेश्वर-दर्शन इन सबों से इसलिए पृथक् है कि इसमें जीवन्मुक्ति के लिए रस अर्थात् पारद-रस का प्रयोग अनिवार्य माना गया है। पारदरस से शरीर को अजर-अमर कर देते हैं, बिना वैसा किये जीवन्मुक्ति नहीं मिल सकती है। जीवन्मुक्ति वह है जिसमें आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाय, अभ्यास के आधिक्य से मिथ्याज्ञान का विनाश हो जाय किन्तु प्रारब्ध-कर्म को भोगने के लिए जीव-धारण किया जाय। इसे अपर-मुक्ति भी कहते हैं। सभी दार्शनिक इसे स्वीकार करते हैं, रामानुज आदि नहीं मानते यह दूसरी बात है। रसेश्वर के अनुयायियों का कहना है कि जीवन्मुक्ति का वास्तविक

आनन्द हम लोग ही जानते हैं क्योंकि शरीर को बिना अमर किये अनन्त जीवन्मुक्ति हो नहीं सकती। आयुर्वेद-शास्त्र के अनुसार पारद का महत्त्व प्रतिपादित किया जाता है।

रसस्य पारदत्वं संसारपरप्रापणहेतुत्वेन। तदुक्तम्—

१. संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः। इति।

रसार्णवेऽपि—

पारदो गदितो यस्मात्परार्थं साधकोत्तमैः।
२. सुप्तोऽयं मत्समो देवि! मम प्रत्यङ्गसम्भवः।
मम देहरसो यस्माद्रसस्तेनायमुच्यते॥ इति॥

संसार [के कष्टों] से [बचाकर] मोक्ष दिलाने के कारण ही रस को पारद (पार + द = मोक्ष देनेवाला) कहते हैं। कहा भी है—'जो संसार (पुनर्जन्म) के दूसरे पार (मोक्ष) की ओर पहुँचा दे वही पारद कहलाता है।' रसार्णव (ई० पू० का एक प्राचीन ग्रन्थ) में भी [कहा है]—इसे पारद कहते हैं क्योंकि उत्तम साधक लोग मोक्ष (चरम लक्ष्य, पर-प्राप्ति) के लिए [इसका प्रयोग करते हैं]। [शिव पार्वती से कहते हैं कि] हे देवि, यह (पारद–रस) मेरे अन्तरङ्ग (प्रत्यङ्ग) से उत्पन्न है, सुप्तावस्था में रहने पर यह मेरे समान ही है, चूँकि यह मेरे शरीर का रस (द्रव-पदार्थ) है इसलिए रस कहा जाता है।'

विशेष—पारद (पारे) को रसशास्त्र में रुद्र का वीर्य माना गया है, इसलिए रसार्णव में शिव-पार्वती-संवाद के अन्तर्गत पारद को शिव अपना देहरस, प्रत्यंगसंभव आदि कह रहे हैं। पारद की उत्पत्ति के लिए देखें–"शिवाङ्गात् प्रच्युतं रेतः पतितं धरणीतले। तद्देहसारजातत्वाच्छुक्लमच्छमभूच्च तत्॥ अत्र भेदेन विज्ञेयं शिववीर्यं चतुर्विधम्। श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णं तत्तु भवेत् क्रमात्। ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रस्तु खलु जातितः॥" पारद की सुप्त अवस्था का अर्थ है जब वह मूल रूप में हो, शुद्ध नहीं किया गया हो। ऐसी ही अवस्था में उसकी तुलना शिव से की जाती है।

(२. जीवन्मुक्ति की आवश्यकता)

ननु प्रकारान्तरेणापि जीवन्मुक्तियुक्तौ नेयं वाचोयुक्तिर्युक्तिमतीति चेन्न, षट्स्वपि दर्शनेषु देहपातानन्तरं मुक्तेरुक्ततया तत्र विश्वासानुपपत्त्या निर्विचिकित्सप्रवृत्तेरनुपपत्तेः। तदप्युक्तं तत्रैव—

३. षड्दर्शनेऽपि मुक्तिस्तु दर्शिता पिण्डपातने ।
करामलकवत्सापि प्रत्यक्षा नोपलभ्यते ।
तस्मात्तं रक्षयेत्पिण्डं रसैश्चैव रसायनैः ॥ इति ।

यदि यह शंका करें कि दूसरे प्रकारों से भी तो जीवन्मुक्ति के उपाय [बतलाये गये] हैं इसलिए यह कथन (= पारद सेवन से शरीर को स्थिर करके जीवन्मुक्त होना) ठीक नहीं है—[तो समाधान यह होगा कि] ऐसी शंका न करें क्योंकि छह दर्शनों में देहपात के बाद मुक्ति का कथन होने से, विश्वास (= ऐसी मुक्ति में) न होकर, [लोगों की] असंदिग्ध (विश्वासपूर्वक) प्रवृत्ति [छह दर्शनों में कहे गये उपायों के प्रति] नहीं हो सकती । यह बात भी नहीं पर (रसार्णव में) कही गई है—'छह दर्शनों में शरीरनाश के बाद ही मुक्ति का निर्देश हुआ है, वह (मुक्ति) हाथ में रखे हुए आँवले की भाँति प्रत्यक्ष-रूप से नहीं मिलती; अतः इस शरीर की रक्षा रसों और रसायनों से करनी चाहिए ।'

विशेष—वाचोयुक्ति=घोषणा, कथन (अलुक् समास) निर्विचिकित्स= निःसंशय, विश्वासपूर्ण । करामलकवत्=हाथ में रखे आँवले की तरह; यह एक लौकिक-न्याय है । जब कोई बात प्रत्यक्ष से ही सिद्ध हो जाती है, किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती तब इसका प्रयोग होता है जैसे—शरीरस्य विनाशः करामलकवत् । रस=पारद से बने हुए योग (औषधियाँ) । रसायन=ऐसी औषधि जिससे वृद्धावस्था न आवे । रसेश्वर-दर्शन के विरोध में शंका यह की गई है कि छह दर्शनों में भी जीवन्मुक्ति का वर्णन है, मिथ्याज्ञान के विनाश के बाद सद्ज्ञान से होने वाली मुक्ति का निर्देश सभी लोग करते हैं (रामानुज-आदि इसे नहीं मानते)। तब रसेश्वर-दर्शन का उपक्रम व्यर्थ है । इसके उत्तर में ये कहते हैं—छह दर्शनों में जीवन्मुक्ति का निर्देश होने पर भी वहाँ शरीरनाश के बाद ही वास्तविक मुक्ति का कथन है । इससे मालूम पड़ता है कि जीवन्मुक्ति के प्रति वे लोग विरसता दिखलाते हैं । लोगों में यह भ्रम हो जायगा कि दो प्रकार की मुक्तियाँ कैसी हैं, वे जीवन्मुक्ति या परा-मुक्ति (मृत्यु के बाद) में भी सन्देह करने लग जायँगे और विश्वास के साथ मुक्ति प्राप्त करने में प्रवृत्ति नहीं दिखलायेंगे । सबसे अच्छा है कि रस-रसायन का सेवन करके शरीर को अजर-अमर कर लें और संसार को विश्वास दिलायें । सच तो यह है कि सभी लोग अपनी प्रशंसा करते हैं, दूसरे को निकृष्ट ही समझते हैं । कुलाचार (तांत्रिक-मत) में भी कहा है—

'जीवन्मुक्तावुपायस्तु कुलमार्गो हि नापरः ।'

(३. हर-गौरी की सृष्टि—पारद, अभ्रक)

गोविन्दभगवत्पादाचार्यैरपि—

४. इति धनशरीरभोगान्मत्वानित्यान्सदैव यतनीयम् ।
मुक्तौ सा च ज्ञानात्तच्चाभ्यासात्स च स्थिरे देहे ॥इति।

ननु विनश्वरतया दृश्यमानस्य देहस्य कथं नित्यत्वमवसीयत इति चेत्—मैवं मंस्थाः। षाट्कौशिकस्य शरीरस्यानित्यत्वेऽपि रसाभ्रकपदाभिलप्यहरगौरीसृष्टिजातस्य नित्यत्वोपपत्तेः।

पूज्य गोविन्द-भगवान् आचार्य जी भी [कहते हैं]—'इस प्रकार धन, शरीर और विलास को अनित्य (क्षणिक) समझ कर मुक्ति के लिए सदा यत्न करना चाहिए, वह (मुक्ति) ज्ञान से होती है, वह (ज्ञान) भी अभ्यास से होता है, अभ्यास तभी सम्भव है जब शरीर स्थायी (नीरोग) हो।' यदि कोई पूछे कि जो देह नश्वर के रूप में दिखाई पड़ती है वह कैसे नित्य बन सकती है; तो [यह शंका] ठीक नहीं–ऐसा मत समझो क्योंकि यद्यपि छह कोशों (त्वचा, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि और मज्जा) का बना शरीर अनित्य है तथापि रस और अभ्रक के नामों से अभिहित क्रमशः शिव और पार्वती की सृष्टि से उत्पन्न [देह तो] नित्य हो सकती है।

विशेष—षट्कोश = त्वचा, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि और मज्जा जो शरीर को ढँके रहते हैं। इनमें प्रथम तीन माता से तथा बाद के तीन पिता से प्राप्त होते हैं। ये छहों कोश आत्मा के आवरक (ढँकनेवाले, छिपानेवाले) हैं। वेदान्तशास्त्र में भी अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँच कोशों की मान्यता है। देखिये—पञ्चदशी (३।१–११)। आयुर्वेदोक्त षट्कोशों से बना शरीर भले ही अनित्य हो परन्तु जब इसमें हर-गौरी की सृष्टि रस (पारद) और अभ्रक का संयोग हो जायगा तब उसे (शरीर को) हम नित्य बना देंगे। पारद शिव की सृष्टि है तथा अभ्रक पार्वती की। इस तरह शरीर नित्य हो जाने पर छह कोशों वाले शरीर का त्याग भी नहीं होगा और उसे दिव्य तथा दृढ़ भी बना दिया जायगा। तब मृत्युभय मिट जायेगा।

तथा च रसहृदये—

५. ये चात्यक्तशरीरा हरगौरीसृष्टिजां तनुं प्राप्ताः ।
मुक्तास्ते रससिद्धा मन्त्रगणः किंकरो येषाम् ॥(१।७)इति।

तस्माज्जीवन्मुक्तिं समीहमानेन योगिना प्रथमं दिव्यतनुर्विधेया। हरगौरीसृष्टिसंयोगजनितत्वं च रसस्य हरजत्वेनाभ्रकस्य गौरीसंभवत्वेन तत्तदात्मकत्वमुक्तम्—

६. अभ्रकस्तव बीजं तु मम बीजं तु पारदः।
अनयोर्मेलनं देवि मृत्युदारिद्र्यनाशनम् ॥ इति।

उसी प्रकार रसहृदय में [कहा गया है]—'जो लोग शरीर को बिना त्यागे हुए ही हर-गौरी की सृष्टि (पारद-अभ्रक) से बना हुआ शरीर पाये हुए हैं, वे रससिद्ध (रसों को सिद्ध करनेवाले) लोक मुक्त हैं, मन्त्रों का समूह तो उनका किंकर (दास) है।' इसलिए जीवन्मुक्ति की कामना करने वाले योगी को पहले दिव्य-शरीर कर लेना चाहिए। रस (पारद) हर से उत्पन्न है, अभ्रक गौरी से; हर-गौरी-सृष्टि के संयोग से उत्पन्न होना तथा उन देवताओं रूप होना [इस श्लोक में] कहा गया है—[शिव पार्वती से कहते हैं]—'अभ्रक तुम्हारा बीज है और मेरा बीज पारद है; हे देवि, इन दोनों का मिलना मृत्यु और दरिद्रता का नाशक है।'

विशेष—रस-हृदय गोविन्द भगवत्पादाचार्य का लिखा हुआ ग्रन्थ है ये आद्य शंकराचार्य के गुरु थे। इनका समय प्रायः ७८० ई० है। यह आयुर्वेद-रसायन-शास्त्र का सुविख्यात ग्रन्थ है। अभ्रक-पारद मेलन से दिव्यशरीर धारण करके मृत्यु का नाश कर सकते हैं, सिद्ध-पारद से विद्ध होने पर लोहा सुवर्ण बन जाता है—इसीसे इसे दरिद्रता का नाशक कहा गया है। 'रससिद्ध' शब्द में श्लेष दिखलाते हुए भर्तृहरि ने नीतिशतक में ऐसे ही मुक्त पुरुषों का संकेत किया है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥

(४. रस की सामर्थ्य से दिव्य-देह की प्राप्ति)

अत्यल्पमिदमुच्यते। देवदैत्यमुनिमानवादिषु बहवो रससामर्थ्याद्दिव्यं देहमाश्रित्य जीवन्मुक्तिमाश्रिताः श्रूयन्ते रसेश्वरसिद्धान्ते—

७. देवाः केचिन्महेशाद्या दैत्याः काव्यपुरस्सराः।
मुनयो बालखिल्याद्या नृपाः सोमेश्वरादयः ॥

८. गोविन्दभगवत्पादाचार्यो गोविन्दनायकः ।
चर्वटिः कपिलो व्यालिः कापालिः कन्दलायनः ॥
९. एतेऽन्ये बहवः सिद्धा जीवन्मुक्ताश्चरन्ति हि ।
तनुं रसमयीं प्राप्य तदात्मककथाचणाः ॥ इति ।

यह तो बहुत थोड़ा ही कहा है। रसेश्वर सिद्धान्त में कहा गया है कि देवों, दैत्यों, मुनियों और मनुष्यों में, बहुत लोगों ने, रस की शक्ति से, दिव्य शरीर धारण करके जीवन्मुक्ति पाई है। [वे हैं—] कुछ देवतागण जैसे— महेश इत्यादि, काव्य (शुक्राचार्य) इत्यादि दैत्य; बालखिल्य आदि मुनि, सोमेश्वर आदि राजा, गोविन्द-भगवत्पादाचार्य, गोविन्दनायक, चर्वटि, कपिल, व्यालि, कापालि, कन्दलायन—ये तथा दूसरे भी बहुत-से सिद्ध लोग, जीवन्मुक्त होकर [पारद-] रस से बना शरीर पाकर, उस (रस की प्रशंसा) से परिपूर्ण आख्यानों से प्रसिद्ध होकर, विचरण करते हैं।

विशेष—रसेश्वरसिद्धान्त सोमदेव का लिखा हुआ ग्रन्थ है जिनका समय निर्धारित नहीं हो सका है। महेशाद्याः से अभिप्राय है शैवदर्शन में उक्त विद्येश्वरों का—अनन्त, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकनेत्र, एकरुद्र, त्रिमूर्तिक, श्रीकण्ठ शिखण्डी। कथाचणाः = कथाओं से प्रसिद्ध। 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' (पा० सू० ५।२।२६) से 'कथाभिः वित्तः प्रसिद्धः' इस अर्थ में चणप् प्रत्यय हुआ है। अर्थ होगा—सदा रस की कथा कहने वाले, कथाओं से प्रसिद्ध।

(५. दो प्रकार के कर्म-योग)

अयमेवार्थः परमेश्वरेण परमेश्वरीं प्रति प्रपञ्चितः—

१०. कर्मयोगेण देवेशि प्राप्यते पिण्डधारणम् ।
रसश्च पवनश्चेति कर्मयोगो द्विधा स्मृतः ॥
११. मूर्च्छितो हरति व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम् ।
बद्धः खेचरतां कुर्याद्रसो वायुश्च भैरवि ॥ इति ।

यही अर्थ परमेश्वर (शिव) ने पार्वती को विस्तारपूर्वक समझाया है—'हे देवियों की देवि ! कर्मयोग (क्रियाविधि) से शरीर की स्थिरता प्राप्त होती है, यह कर्मयोग दो प्रकार का है रस (पारद) और वायु (= प्राणवायु)। हे भैरवि ! पारद और पवन मूर्च्छित होने पर रोगों का हरण करते हैं; स्वयं मृत होने पर जिलाते हैं और बद्ध होने पर आकाश में चलने की शक्ति देते हैं।'

विशेष—कर्मयोग = शरीर के कर्मों को स्थिर करने वाले पदार्थ-- पारा और प्राणवायु। प्राणवायु शरीर के अन्दर संचरण करती है। प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु को रोक देते हैं जिससे उसमें विशेष गति उत्पन्न हो जाती है तथा यह 'मूर्च्छित' कहलाती है। मूर्च्छित होने से ही रोगनिवारण की शक्ति इसमें आ जाती है। रससिद्ध योगी के रोग नष्ट होते हैं। अधिक निरोध होने पर यह स्वयं मृत हो जाती है तथापि योगियों को अपने से अलग होने नहीं देती--शरीर नित्य हो जाता है। स्तम्भित होने पर आकाश में चलने की शक्ति भी देती है। इस प्रकार न केवल पारद, प्रत्युत प्राणवायु पर भी रससिद्ध योगियों का अधिकार देखा जाता है।

(६. पारद के तीन स्वरूप—मूर्छित, मृत और बद्ध)

मूर्च्छितस्वरूपमुक्तम्—

१२. नानावर्णो भवेत्सूतो विहाय घनचापलम्।
लक्षणं दृश्यते यस्य मूर्च्छितं तं वदन्ति हि॥

१३. आर्द्रत्वं च घनत्वं च तेजो गौरवचापलम्।
यस्यैतानि न दृश्यन्ते तं विद्यान्मृतसूतकम्॥ इति।

अन्यत्र बद्धस्वरूपमप्यभ्यधायि—

१४. अक्षतश्च लघुद्रावी तेजस्वी निर्मलो गुरुः।
स्फोटनं पुनरावृत्तौ बद्धसूतस्य लक्षणम्॥ इति।

मूर्छित [पारद] का स्वरूप यों कहा गया है—"जब पारद (सूत) कई वर्णों का हो और उसमें घनत्व और चंचलता (तरलता) न हो, इस प्रकार के लक्षण दिखलाई पड़ने पर उसे मूर्छित (-पारद) कहते हैं। आर्द्र होना, घनत्व, चमक, गुरुत्व और तरलत्व, ये (लक्षण) जिसमें नहीं दिखलाई पड़ें उसे मृत सूतक (पारद) समझना चाहिए।" दूसरी जगह (अन्य पुस्तक में) बद्ध (पारद) पारद का स्वरूप भी कहा गया है—"जो क्षयरहित; थोड़ा द्रवित होनेवाला, तेजोमय (चमकीला), स्वच्छ, गुरु (भारी) तथा पुनः आवृत्तिकाल (संस्कार करने के समय) में विकसित होनेवाला—यह बद्ध-पारद का लक्षण है।

(७. रस के अष्टादश संस्कार)

ननु हरगौरीसृष्टिसिद्धौ पिण्डस्थैर्यमास्थातुं पार्यते, तत्सिद्धिरेव कथमिति चेत्—न। अष्टादशसंस्कारवशात्तदुपपत्तेः। तदुक्तमाचार्यैः—

१५. तस्य प्रसाधनविधौ सुधिया प्रतिकर्मनिर्मलाः प्रथमम् ।
अष्टादश संस्कारा विज्ञातव्याः प्रयत्नेन ॥ इति ।

[ऐसा प्रश्न पूछ सकते हैं कि] यदि [पारद को] हर और गौरी की सृष्टि सिद्ध कर देने पर शरीर को स्थिर करना संभव है, लेकिन इसे सिद्ध कर कैसे सकते हैं ? यह तर्क ठीक नहीं क्योंकि [पारद] के अष्टादश संस्कारों से ही उसकी उपपत्ति (सिद्धि) हो जाती है। आचार्यों ने कहा है--'उस (पारद) के साधन की विधि में, पहले विद्वानों को, प्रयत्नपूर्वक, प्रत्येक कर्म में निर्मल करने वाले, [पारद के] अठारह संस्कारों को जानना चाहिए।'

विशेष—उपर्युक्त शंका का अभिप्राय यह है—रस और अभ्रक हर-गौरी की सृष्टि है सही, यह भी ठीक है कि उन दोनों को सिद्ध कर लेने पर शरीर अजर-अमर हो जायगा किन्तु हमारा भौतिक शरीर तो रसाभ्रक की तीव्रता को सहन नहीं कर सकेगा—इसीलिए पारद को अठारह कर्मों से संस्कृत करते हैं। इसके बाद वह शरीर के लिए सह्य बन सकता है। प्रतिकर्मनिर्मलाः=अठारह संस्कारों में एक के बाद दूसरे में पारद निर्मल से निर्मलतर होते जाता है।

ते च संस्कारा निरूपिताः—

१६. स्वेदनमर्दनमूर्च्छनस्थापनपातननिरोधनियमाश्च ।
दीपनगमनग्रासप्रमाणमथ जारणपिधानम् ॥
१७. गर्भद्रुतिबाह्यद्रुतिक्षारणसंरागसारणाश्चैव ।
क्रामणवेधौ भक्षणमष्टादशधेति रसकर्म ॥इति ।

तत्प्रपञ्चस्तु गोविन्दभगवत्पादाचार्य-सर्वज्ञरामेश्वरभट्टारक-प्रभृतिभिः प्राचीनैराचार्यैर्निरूपित इति ग्रन्थभूयस्त्वभयादुदास्यते।

[रस के] उन [अष्टादश] संस्कारों (शुद्ध करने के उपायों) का वर्णन इस प्रकार हुआ है—(१) स्वेदन, (२) मर्दन, (३) मूर्छन, (४) स्थापन, (५) पातन, (६) निरोध, (७) नियम, (८) दीपन, (९) गमन, (१०) ग्रासप्रमाण, (११) जारण, (१२) पिधान, (१३) गर्भद्रुति, (१४) बाह्यद्रुति, (१५) क्षारण, (१६) संराग, (१७) सारण तथा (१८) क्रामण और वेध करके भक्षण करना—ये रस के अठारह कर्म हैं। इनकी व्याख्या गोविन्दभगवत्पादाचार्य तथा सर्वज्ञ रामेश्वर आदि प्राचीन आचार्यों ने की है, अतः यहाँ ग्रंथ बढ़ जाने के भय से उसे छोड़ दिया जाता है।

विशेष--पारद के अठारह संस्कारों का वर्णन किसी रसायन-शास्त्र की पुस्तक में देखें। इनमें कितनी प्रक्रियायें तो वैज्ञानिक हैं, आधुनिकता से पूरा मेल रखती हैं। इनका सामान्य अर्थ इस प्रकार है—(१) स्वेदन=आर्द्रता निकाल देना, (२) मर्दन = मसलना, घिसना, (३) मूर्छन = घनत्व और तरलता निकाल देना, (४) स्थापन = स्थिर आकार का करना, (५) पातन = गिराना (६) निरोधन = रोकना, (७) नियमन = सीमित करना, (८) दीपन = जलाना (९) गमन = चलना या उड़ाना, (१०) ग्रासप्रमाण = गोली बनाना, (११) जारण = चूर्ण बनाना, (१२) पिधान = ढँक देना, (१३) गर्भद्रुति = आंतरिक परिवर्तन, (१४) बाह्यद्रुति = बाह्य परिवर्तन, (१५) क्षारण = क्षार के रूप में कर देना, (१६) संराग=रँगना, (१७) सारण=छिड़कना, तथा (१८) क्रामण (टुकड़े करके) और वेधन (चीर कर) करके भक्षण करना।

(८. देहवेध और उसकी आवश्यकता

न च रसशास्त्रं धातुवादार्थमेवेति मन्तव्यम्। देहवेधद्वारा मुक्तेरेव परमप्रयोजनत्वात्। तदुक्तं रसार्णवे—

१८. लोहवेधस्त्वया देव यदर्थमुपवर्णितः।
तं देहवेधमाचक्ष्व येन स्यात्खेचरी गतिः॥
१९. यथा लोहे तथा देहे कर्तव्यः सूतकः सता।
समानं कुरुते देवि प्रत्ययं देहलोहयोः॥
पूर्वं लोहे परीक्षेत पश्चाद्देहे प्रयोजयेत्॥ इति।

यह न समझें कि रस-शास्त्र केवल धातुओं के अर्थवाद (स्तुतिपरक लाक्षणिक वाक्य = प्रशंसा) के लिए है क्योंकि परम लक्ष्य तो देहवेध (शरीर में पारे का प्रयोग) से होनेवाली मुक्ति ही है। यह रसार्णव में कहा है--'[पार्वती शिव से पूछती हैं कि] हे देव, जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिए आपने लोहवेध का वर्णन किया हैं उस देहवेध का वर्णन कीजिए जिससे आकाश में चलने की शक्ति प्राप्त होती है। [शिव ने कहा]--हे देवि, सज्जनों को चाहिए कि जिस प्रकार लोह में (= रक्त में) पारद का प्रयोग करते हैं उसी प्रकार देह में भी करें [क्योंकि] शरीर और रक्त दोनों में इसका एक ही रूप रहता है। पहले रक्त में परीक्षा करे फिर देह में प्रयोग करे।

विशेष—अर्थवाद = स्तुति या निन्दा के लिए प्रयुक्त लक्ष्यार्थयुक्त वाक्य, जैसे अपि गिरिं शिरसा भिन्द्यात् = ऐसा करने पर पहाड़ को भी सिर से तोड़ दे

सकता है। इसका लक्ष्यार्थ है कि उसके पास काफी शक्ति हो जायगी। अभिप्राय यह है कि रसशास्त्र में धातुओं की प्रशंसा ही है, सो बात नहीं— उसका अंतिम लक्ष्य है मुक्ति (जीवन्मुक्ति) जो देहवेध से होती है। देहवेध = शरीर को नित्य करना, पारे का शरीर में प्रयोग। लोहवेध = लोह (लहू) पर रस का प्रयोग। जैसे रक्त में प्रविष्ट होने पर पारा रक्त को कांचनवत् दिव्य कर देता है उसी प्रकार देह में प्रविष्ट हो जाने पर उसे भी दिव्य कर देगा।

(९. जीवितावस्था में मुक्ति–देहवेध के विषय में शंका)

ननु सच्चिदानन्दात्मकपरतत्त्वस्फुरणादेव मुक्तिसिद्धौ किमनेन दिव्यदेहसंपादनप्रयासेनेति चेत्—तदेतद्वार्तम्। अन्यार्तशरीरालाभे तद्वार्ताया अयोगात्। तदुक्तं रसहृदये—

२०. गलितानल्पविकल्पः सर्वाध्वविवक्षितश्चिदानन्दः।
स्फुरितोऽप्यस्फुरिततनोः करोति किं जन्तुवर्गस्य॥
(र० हृ० १।२०) इति।

२१. यज्जरया जर्जरितं कासश्वासादिदुःखविशदं च।
योग्यं यन्न समाधौ प्रतिहतबुद्धीन्द्रियप्रसरम्॥
(र० हृ० १।२९) इति।

२२. बालः षोडशवर्षो विषयरसास्वादलम्पटः परतः।
यातविवेको वृद्धो मर्त्यः कथमाप्नुयान्मुक्तिम्॥ इति।

कोई यह पूछ सकता है कि सत्, चित् और आनन्द के रूप में परम-तत्त्व के स्फुरण (साक्षात्कार) से ही जब मुक्ति मिल जाती है तब दिव्य-देह बनाने के लिए इस प्रकार के प्रयास से क्या लाभ है? [उत्तर होगा कि] यह तर्क व्यर्थ (वार्त) है क्योंकि वास्तविक (सत्य) शरीर बिना पाये हुए ऐसी बात (आत्मसाक्षात्कार से मुक्ति की बात) हो ही नहीं सकती है। वैसा रसहृदय में कहा है—'सभी विकल्पों को नष्ट करनेवाला तथा सभी प्रस्थानों (दर्शनों) से सम्मत चिदानन्द स्फुरित (प्रकट) होने पर, अप्रकट (अस्थिर) शरीरवाले जीवों पर क्या कर सकता है? (रसहृदय, १।२०)। जो (शरीर) वृद्धावस्था से जर्जरित (जीर्ण-शीर्ण) हो गया है, जिसमें खाँसी और दमा आदि दुःख पूर्णतया व्याप्त हों, जिसमें ज्ञानेन्द्रियों का प्रसार (गति) कुण्ठित हो जाता हो, वह समाधि के योग्य (शरीर) नहीं है। (र० हृ० १।२९)। मनुष्य

सोलह वर्षों तक तो बालक रहता है, बाद में विषय-रस के आस्वाद में लिपटा रहता है, वृद्ध होने पर विवेक-शून्य हो जाता है, वह मुक्ति कैसे पा सकता है ?'*

(१२. जीवितावस्था में मुक्ति—एक वाद)

ननु जीवत्वं नाम संसारित्वम् । तद्विपरीतत्वं मुक्तत्वम् । तथा च परस्परविरुद्धयोः कथमेकायतनत्वमुपपन्नं स्यादिति चेत्—तदनुपपन्नम् । विकल्पानुपपत्तेः । मुक्तिस्तावत्सर्वतीर्थकरसंमता । सा किं ज्ञेयपदे निविशते न वा । चरमे शशविषाणकल्पा स्यात् । प्रथमे न जीवनं वर्जनीयम् । अजीवतो ज्ञातृत्वानुपपत्तेः । तदुक्तं रसेश्वरसिद्धान्ते—

२३. रसाङ्कमेयमार्गोक्तो जीवमोक्षोऽन्यथा तु न ।
प्रमाणान्तरवादेषु युक्तिभेदावलम्बिषु ॥
२४. ज्ञातृज्ञेयमिदं विद्धि सर्वतन्त्रेषु संमतम् ।
नाजीवञ्ज्ञास्यति ज्ञेयं यदतोऽस्त्येव जीवनम् ॥ इति ।

कोई पूछ सकता है कि जीव होने का अभिप्राय है संसार के साथ रहना, उससे पृथक् रहने में मुक्ति है। तब परस्पर विरुद्ध [वस्तुओं—जीव और मुक्ति—] का एक आयतन (आधार) में रहना कैसे सिद्ध हो सकता है ? [उत्तर होगा कि] यह तर्क ठीक नहीं क्योंकि इसमें होनेवाले दोनों विकल्प असिद्ध हो जायँगे। मुक्ति को तो सभी तीर्थंकर (दार्शनिक-सम्प्रदाय के आचार्य) मानते हैं। क्या वह मुक्ति (१) ज्ञेय है या (२) नहीं ? यदि अज्ञेय मानते हैं तो 'खरहे की सींग' जैसे शब्दों की तरह असंभव (कल्पना का विषय) हो जायगी, और यदि पहला विकल्प (मुक्ति को ज्ञेय) मानते हैं तो जीवन को त्याग नहीं सकते क्योंकि बिना जीवन के कोई ज्ञाता बन जायगा—ऐसा सिद्ध नहीं कर सकते। रसेश्वर सिद्धान्त में कहा है—'रस-शास्त्र (रसेश्वर-दर्शन) में कथित नियम के अनुसार ही जीवन्मुक्ति संभव है, दूसरे किसी प्रकार से नहीं। विभिन्न युक्तियों का अवलम्बन करनेवाले [विभिन्न दर्शनों में] जहाँ [जीवन्मुक्ति को सिद्ध करने के लिए] दूसरे प्रमाण दिये गये हैं, वहाँ भी समझ लो कि सभी

* तुलनीय—चर्पटपंजरिका स्तोत्र में—
बालस्तावत्क्रीडासक्तः·······।

तंत्रों से सम्मत ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध रहता ही है। ज्ञेय (मुक्ति) को चूँकि जीवन से रहित व्यक्ति नहीं जान सकता, अतः जीवन की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी ही।'

विशेष—ऊपर जीवन्मुक्ति को सिद्ध करने की बड़ी सुन्दर युक्ति है। पूर्व-पक्षियों का कहना है कि जीवित होना (संसार में रहना) और मुक्त होना दोनों विरोधी धारणायें हैं—एक स्थानपर दोनों की सत्ता हो ही नहीं सकती। इसपर उत्तर पक्षी दूसरी ही युक्ति का आश्रय लेते हैं कि मुक्ति की सत्ता यदि है तो ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध भी रहेगा—मुक्ति ज्ञेय रहेगी, इसका ज्ञाता कोई जीवधारी व्यक्ति होना चाहिए क्योंकि निर्जीव या मृत व्यक्ति इसे कैसे जान सकेंगे। इसलिए जीवित होना और मुक्त होना—दोनों की सत्ता एक साथ स्वीकार करने में ही कुशल है, नहीं तो ज्ञानमीमांसाविषयक (Epistemo-logical) आपत्तियाँ उठेंगी। यदि मुक्ति को अज्ञेय मानते हैं तब तो यह बिल्कुल कल्पना की वस्तु हो जायगी, दूसरी सत्ता ही नहीं रहेगी। मुक्ति की सत्ता मानने पर जीवन्मुक्ति ही एकमात्र माननी पड़ेगी, विदेह मुक्ति के लिए कोई स्थान नहीं।

(११. शरीर की नित्यता—इसके प्रमाण)

न चेदमदृष्टचरमिति मन्तव्यम्। विष्णुस्वामिमतानुसारिभिर्नृपञ्चास्यशरीरस्य नित्यत्वोपपादनात्। तदुक्तं साकारसिद्धौ—

२५. सच्चिन्नित्यनिजाचिन्त्यपूर्णानन्दैकविग्रहम्।
नृपञ्चास्यमहं वन्दे श्रीविष्णुस्वामिसंमतम्॥ इति।

ऐसा भी न समझें कि यह (देह का नित्यत्व) पहले से देखा नहीं गया है। विष्णुस्वामी के मत पर चलने वाले लोग नरसिंह (नृ + पंचास्य = पंचानन) के शरीर को नित्य सिद्ध करते हैं। जैसा कि साकारसिद्धि में कहा गया है—सत्, चित्, नित्य के स्वरूप में, निज (अपना), अचिंतनीय, और पूर्ण आनन्द ही के रूप में जिनका एकमात्र शरीर (विग्रह) है, वैसे नरसिंह की वन्दना करता हूं जो श्रीविष्णुस्वामी से संमत हैं।

विशेष—सत्=जिसकी सत्ता है, सदा प्रकाशित है। चित् = शुद्ध ज्ञान स्वरूप। नित्य = सदा संसार में विद्यमान, त्रिकाल में अबाधित। निज = आत्मस्वरूप। पूर्णानन्द = आत्म-साक्षात्कार के समय-जैसा आनन्द जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैध मिट जाय। विग्रह = शरीर। यह ध्येय है कि वे सारे विशेषण ब्रह्म के स्वरूप लक्षण के लिए अद्वैत-मत में युक्त होते हैं।

नन्वेतत्सावयवं रूपवदवभासमानं नृकण्ठीरवाङ्गं सदिति न संगच्छत इत्यादिनाक्षेपपुरःसरं सनकादिप्रत्यक्षं, 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (श्वे० ३।१४) इत्यादि श्रुति,—

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधम् ।
(भाग० १०।३।९),

इत्यादिपुराणलक्षणेन प्रमाणत्रयेण सिद्धं नृपञ्चाननाङ्गं कथमसत्स्यादिति सदादीनि विशेषणानि गर्भश्रीकान्तमिश्रैर्विष्णुस्वामिचरणपरिणतान्तःकरणैः प्रतिपादितानि । तस्मादस्मदिष्टदेहनित्यत्वमत्यन्तादृष्टं न भवतीति पुरुषार्थकामुकैः पुरुषैरेष्टव्यम् । अत एवोक्तम्—

२६. आयतनं विद्यानां मूलं धर्मार्थकाममोक्षाणाम् ।
श्रेयः परं किमन्यच्छरीरमजरामरं विहायैकम् ॥ इति ।

[अब प्रश्न हो सकता है कि] नरसिंह के दिखलाई पड़ने वाले शरीर को जिसमें अवयव (अंग-प्रत्यंग) तथा रूप (आकृति या रंग) भी हैं, सत्तायुक्त कहना संगत नहीं है। इस आक्षेप के बाद—(१) सनकादि ऋषियों के प्रत्यक्ष के आधार पर, (२) 'सहस्र सिर वाले पुरुष' —इस वैदिक प्रमाण के आधार पर तथा (३) 'उस विचित्र, कमलनयन, चारभुजाओंवाले, तथा शंख, गदा आदि आयुधों वाले बालक को' (कृष्ण के वर्णन में, भागवत १०।३।९)—इस प्रकार के पौराणिक-लक्षणों के आधार पर, तीन प्रमाणों से सिद्ध होने पर भी नरसिंह का शरीर कैसे असत् होगा। यही कारण है कि सत् आदि (चित्, नित्य, निज आदि) विशेषणों का प्रतिपादन, विष्णुस्वामी के चरणों में अपने अन्तःकरण को लगाने वाले उनके शिष्य श्रीकान्त मिश्र ने किया है। इसलिए हमारा प्रतिपाद्य विषय जो देह का नित्यत्व है वह बिल्कुल नहीं देखा गया, ऐसी बात नहीं—यह पुरुषार्थ की कामना करने वाले व्यक्ति खोज लें। इसीसे कहा है—'सभी विद्याओं का समूह तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल एक मात्र अजर और अमर शरीर को छोड़ कर, दूसरा क्या [हो सकता है] ?*

---

* तुल० कालिदास, कुमार०—शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् (५।३३)।

(१२. पारद-रस के सेवन से जरामरण से मुक्ति)

अजरामरीकरणसमर्थश्च रसेन्द्र एव। तदाह—

एकोऽसौ रसराजः शरीरमराजमरं कुरुते। इति।
किं वर्ण्यते रसस्य माहात्म्यम्।
दर्शनस्पर्शनादिनापि महत्फलं भवति।

अजर और अमर करने की सामर्थ्य रसराज (पारद) में ही है। उसे कहा है—'एक रसराज ही शरीर को अजर, अमर करता है।' रस की महिमा क्या कही जाय? देखने और छूने से भी बड़ा फल मिलता है।

(१३. पारद-लिंग की महिमा)

तदुक्तं रसार्णवे—

२७. दर्शनात्स्पर्शनात्तस्य भक्षणात्स्मरणादपि।
पूजनाद्रसदानाच्च दृश्यते षड्विधं फलम्॥
२८. केदारादीनि लिङ्गानि पृथिव्यां यानि कानिचित्।
तानि दृष्ट्वा तु यत्पुण्यं तत्पुण्यं रसदर्शनात्॥

इत्यादिना।

अन्यत्रापि—

२९. काश्यादिसर्वलिङ्गेभ्यो रसलिङ्गार्चनाच्छिवः।
प्राप्यते येन तल्लिङ्गं भोगारोग्यामृतप्रदम्॥ इति।

वैसा ही रसार्णव में कहा गया है—'उसके देखने से, छूने से, खाने से या केवल स्मरण से भी, इसकी पूजा करने से या स्वाद लेने से छह प्रकार के फल मिलते हैं। पृथ्वी में केदार आदि या दूसरे जो भी लिंग (शिवलिंग) हैं, उन्हें देखने से जो पुण्य होता है, वह रस (पारद) के दर्शन से भी मिलता है।' दूसरी जगह भी—'काशी-आदि [सभी तीर्थों] के लिङ्गों से बढ़कर रसरूपी लिंग की अर्चना से शिव (देवता या कल्याण) की प्राप्ति होती है क्योंकि वह लिंग भोग, आरोग्य और अमरता प्रदान करनेवाला है।*

---

* तुलनीय—पारदं परमेशानि ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम्।
यो यजेत्पारदं लिङ्गं स एष शम्भुरव्ययः॥
(अभ्यंकरटीका में उद्धृत)।

रसनिन्दायाः प्रत्यवायोऽपि दर्शितः—

३०. प्रमादाद्रसनिन्दायाः श्रुतावेनं स्मरेत्सुधीः ।
द्राक्त्यजेन्निन्दकं नित्यं निन्दया पूरिताशुभम् ॥ इति ।

[पारद-] रस की निन्दा करने का कुपरिणाम दिखलाया गया है—'विद्वान् यदि प्रमादवश रस की निन्दा कर दे तो अपने मन में [उसके परिहार के लिए] इस (पारद) का स्मरण कर ले । निन्दक को सदा के लिए तुरत छोड़ दे क्योंकि वह अपनी निन्दा के चलते पापपूर्ण है ।'

(१४. पुरुषार्थ और ब्रह्म-पद)

तस्मादस्मदुक्तया रीत्या दिव्यं देहं संपाद्य योगाभ्यास-वशात्परतत्त्वे दृष्टे पुरुषार्थप्राप्तिर्भवति । तदा—

३१. भ्रूयुगमध्यगतं यच्छिखिविद्युत्सूर्यवज्जगद्भासि ।
केषांचित्पुण्यदृशामुन्मीलति चिन्मयं ज्योतिः ॥

३२. परमानन्दैकरसं परमं ज्योतिःस्वभावमविकल्पम् ।
विगलितसकलक्लेशं ज्ञेयं शान्तं स्वसंवेद्यम् ॥

३३. तस्मिन्नाधाय मनः स्फुरदखिलं चिन्मयं जगत्पश्यन् ।
उत्सन्नकर्मबन्धो ब्रह्मत्वमिहैव चाप्नोति ॥
(र० हृ० १।२१-२३) ।

इस प्रकार हमारे संप्रदाय में कही गई विधि से दिव्य-शरीर बनाकर, योग (ब्रह्म के साथ एकता की स्थापना) के अभ्यास के द्वारा परमतत्त्व देख लेने पर पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है । तब—'दोनों भौंहों के बीच में स्थित रहने वाली तथा जो अग्नि विद्युत् तथा सूर्य की तरह संसार को प्रकाशित करती है वह चित् (चेतनता) के स्वरूप में वर्त्तमान ज्योति किन्हीं-किन्हीं ही पुण्य (पवित्र) दृष्टि वाले (व्यक्तियों) के समक्ष खुलती (प्रकाशित होती) है (३१) । परम आनन्द की प्राप्ति कराने वाला, एक (अद्वैत) रस से परिपूर्ण, परमतत्त्व-के रूप में, ज्योति ही जिसका स्वरूप है, जिसमें किसी विकल्प (पक्षान्तर) का स्थान नहीं जिससे सभी क्लेश (कष्ट) निकल जाते हैं, जो ज्ञान का विषय है, शान्त है, अपने में ही अनुभव की वस्तु है (३२)—उसमें अपने मन को लगाकर, प्रकाशित होने वाले समस्त चिन्मय संसार को देखते हुए मनुष्य, सभी कर्म-बन्धनों के नष्ट हो जाने पर यहीं (पृथ्वी में) ब्रह्मत्व प्राप्त कर लेता है (३३) ।' (रसहृदय १।२१–२३) ।

(१५. रस और परब्रह्म में समता—रसस्तुति)

श्रुतिश्च—'रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (तै० २।७।१) इति । तदित्थं भवदैन्यदुःखभरतरणोपायो रस एवेति सिद्धम् । तथा च रसस्य परब्रह्मणा साम्यमिति प्रतिपादकः श्लोकः—

३४. यः स्यात्प्रावरणाविमोचनधियां साध्यः प्रकृत्या पुनः
संपन्नः सह तेन दीव्यति परं वैश्वानरे जाग्रति ॥
ज्ञातो यद्यपरं न वेदयति च स्वस्मात्स्वयं द्योतते
यो ब्रह्मेव स दैन्यसंसृतिभयात्पायादसौ पारदः ॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे रसेश्वरदर्शनम् ।

वैदिक प्रमाण भी है—'वह (परमात्मा) रस ही है । वह (पुरुष) रस (पारद) को पाकर आनन्दी (मुक्त) होता है' (तैत्तिरीय० २।७।१) । तो इस प्रकार भव (आवागमन) तथा दैन्य-दुःख के भार से बचने का उपाय रस ही है, यह सिद्ध हुआ । उसी प्रकार 'रस की समता परब्रह्म से है' यह सिद्ध करनेवाला श्लोक [देखें]—'प्रावरण [भ्रान्ति] से मुक्ति पाने की इच्छावाले व्यक्ति स्वभावतः जिसकी साधना करते हैं, फिर [यह पारद] पूर्ण हो जाने से, वैश्वानर के जागृत होने पर उसी के साथ खेलता भी है, जो स्वयं ज्ञात होने पर भी दूसरों को ज्ञात नहीं कराता, अपने आप प्रकाशित होता है, जो ब्रह्म के समान है वह पारद दीनता और संसार के आवागमन के भय से हमें बचावे ।'

इस प्रकार श्रीमान् सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में रसेश्वर-दर्शन [समाप्त हुआ] ।

विशेष—उपर्युक्त श्लोक में पारद की स्तुति की गई, जिसमें इसे ब्रह्म के सारे रहस्य-वादी विशेषण दे दिये गये हैं । गफ ने अपने अनुवाद में दूसरी पंक्ति यों रखी है—संपन्नः सहते न दीव्यति० अर्थात् पारद सम्पन्न होने पर सहता नहीं और जागृत वैश्वानर होने पर खेलता भी नहीं ।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य
प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां रसेश्वरदर्शनमवसितम् ।

(१०) औलूक्य-दर्शनम्

भावाः षडेव मुनिना विहितास्तदन्ते
चान्योऽप्यभाव इति सप्तपदार्थशास्त्रम् ।
सामान्यवर्णनपरोऽपि विशेषरूपो-
ऽसौ नित्यमेव जयति प्रथितः कणादः ॥
—ऋषिः ।

(१. दुःखान्त के लिए परमेश्वर का साक्षात्कार)

इह खलु निखिलप्रेक्षावान् निसर्गप्रतिकूलवेदनीयतया निखिलात्मसंवेदनसिद्धं दुःखं जिहासुस्तद्धानोपायं जिज्ञासुः परमेश्वरसाक्षात्कारमुपायमाकलयति ।

१. यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

इत्यादिवचननिचयप्रामाण्यात् ।

इस संसार में जितने बुद्धिमान् लोग हैं वे दुःख का त्याग करना चाहते हैं क्योंकि दुःख का अनुभव करना उनकी प्रकृति के विरुद्ध पड़ता है और इस दुःख की सत्ता का अनुभव सभी लोग अपनी आत्मा में करते ही हैं। उस दुःख के विनाश के लिए कोई उपाय जानना चाहते हैं और निदान उन्हें परमेश्वर का साक्षात्कार करना ही उपाय के रूप में दिखलाई पड़ता है। इसकी पुष्टि के लिए निम्नलिखित रूप में प्राप्त वचन प्रमाण होते हैं—'जब चमड़े की तरह आकाश को भी लोग ढँकने लग जायँगे तभी शिव (परमेश्वर) को जाने बिना ही दुःख का अन्त भी होने लगेगा। (श्वेता० ६।२०)। [जिस प्रकार चमड़े को ढँकते हैं उसी प्रकार आकाश को नहीं ढँक सकते। शिव के ज्ञान के बिना मुक्ति पाना और आकाश को ढँकना तुल्य है। दोनों ही असंभव कार्य हैं।]*

---

* इस ढंग से कहना अतिशयोक्ति अलंकार का एक भेद है। यदि ऐसी-ऐसी (असंभव) बातें हों तभी इस तरह का कार्य संभव है। कालिदास पार्वती के स्मित का वर्णन करते हैं—

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।

विशेष—औलूक्य-दर्शन को मुख्यतया लोग वैशेषिक के रूप में जानते हैं। इसके प्रवर्तक कणाद ऋषि थे जो रास्ते पर गिरे हुए अन्न-कणों को चुनकर उन्हें ही खाकर अपनी जीविका चलाते थे। इनके कणाद या कणभक्ष (कण+अद् या भक्ष्=खाना) नाम पड़ने का यही रहस्य है। उदयनाचार्य की किरणावली के अनुसार ये कश्यप-गोत्र के ब्राह्मण थे। वायु पुराण में इन्हे प्रभास तीर्थ का निवासी, सोमशर्मा का पिता एवं शिव का अवतार माना गया है। परम्परा है है कि ये उलूक ऋषि के पुत्र थे इसलिए इस दर्शन को औलूक्य (उलूक के पुत्र का) दर्शन कहते हैं। यह भी जनश्रुति है कि कणाद तपस्या कर रहे थे जब कि उन्हें स्वयम् ईश्वर ने उलूक का रूप धारण करके छह पदार्थों का उपदेश दिया था इसलिए इस दर्शन को औलूक्य (उलूकेन प्रोक्तम्) कहते हैं।

इस दर्शन के 'वैशेषिक' नाम पड़ने के बहुत–से मत हैं। कुछ लोगों का कहना है कि अन्य शास्त्रों से, विशेषतया सांख्य से, विशेषता होने के कारण इसका नाम वैशेषिक पड़ा। दूसरे कहते हैं कि गौतम के प्रतिपादित १६ पदार्थों में धर्म और धर्मी का स्पष्ट विवेचन न होने के कारण उनका परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य दिखलाते हुए सुव्यवस्थित रूप से द्रव्य, गुण आदि ७ पदार्थों का ही वर्णन कणाद ने किया है। इस विशेष उद्देश्य से आगे बढ़ने के कारण इसका नाम वैशेषिक पड़ा। किन्तु ये सारे कारण कपोल-कल्पनायें हैं। सच तो यह है कि 'विशेष' नामक पदार्थ पर अधिक जोर देकर इसका समीचीन विवेचन करने के कारण ही इसे वैशेषिक-दर्शन कहते हैं (व्यासभाष्य १।४९ योगसूत्र)।

वैशेषिक-दर्शन और न्याय-दर्शन समानतंत्र कहलाते हैं क्योंकि दोनों में सिद्धान्त की अत्यधिक समता है। दोनों का साहित्य भी समान रूप से ही चलता है। जो लोग न्याय के विद्वान् हैं वे वैशेषिक के भी हैं। एक का भी नाम लेना होता है तो न्याय-वैशेषिक ही कहते हैं। फिर भी वैशेषिक साहित्य की विपुलता अपना स्वतंत्र स्थान रखती है।

ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥

(कु० १।४४)

इसी तरह शिशुपाल वध में कृष्ण के वक्षःस्थल का वर्णन—

उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम्।

तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ॥

। (शि० व० ३।८)

इस दर्शन का आरंभ **कणाद** से वैशेषिक सूत्रों से होता है जिसमें १० अध्याय (प्रत्येक के दो-दो आह्निक) और ३७० सूत्र हैं। इस पर **प्रशस्तपाद** का तथाकथित भाष्य है जो एक स्वतंत्र ग्रन्थ ही है। इसे **पदार्थधर्मसंग्रह** भी कहते हैं। वैशेषिक सिद्धान्तों की स्पष्टतर विवेचना होने के कारण इस ग्रन्थ का बहुत अधिक प्रचार हुआ। इसका वही स्थान है जो पाणिनि व्याकरण में सिद्धान्त-कौमुदी का या सांख्य दर्शन में सांख्यकारिका का। बाद की सारी टीकायें इसी पर लिखी गईं (प्रशस्तपाद का समय ४५० ई० है)। इसकी टीकाओं में **व्योमशिवाचार्य** (९८०) की **व्योमवती, उदयनाचार्य** (९८४) की **किरणावली, श्रीधर** की **न्यायकन्दली, श्रीवत्स** (१०२५) की **लीलावती** मुख्य हैं। इन टीकाओं पर भी एकाधिक टीकायें हैं।

कणाद के सूत्रों पर एक रावणभाष्य भी मिलता है किन्तु सबसे प्रौढ टीका है **शंकरमिश्र** की। शंकर (१४२५) मिथिला के बहुत बड़े विद्वान् तथा सुप्रसिद्ध भवनाथ मिश्र (अयाची मिश्र) के पुत्र थे। इनका निवासस्थान सरिसव (दरभंगा) में था। इन्होंने कणादसूत्र पर **उपस्कार**-टीका, प्रशस्तपाद-भाष्य पर **कणादरहस्य**-टीका, आमोद (न्याय-कुसुमांजलि की टीका), कल्पलता (आत्मतत्त्वविवेक की टीका), आनन्दवर्धन (खण्डनखण्डखाद्य की टीका), भेदरत्नप्रकाश (श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य का खण्डन करने वाला ग्रन्थ) इत्यादि अनेक ग्रन्थ लिखे। इसके अतिरिक्त भरद्वाज, जयनारायण, नागेश (१७१४) तथा चन्द्रकान्त (१८८०) ने कणादसूत्र की वृत्तियाँ भी लिखीं।

वैशेषिक-दर्शन पर स्वतंत्र ग्रंथों में ज्ञानचन्द्र (६००) की **दशपदार्थी,** उदयन की **लक्षणावली,** शिवादित्य (१०५०) की **सप्तपदार्थी, वल्लभन्यायाचार्य** (११५०) की **न्यायलीलावती** तथा **लौगाक्षिभास्कर** (१३२५) की तर्ककौमुदी हैं। इन पर कई टीकायें अन्य आचार्यों की हैं।

प्रसिद्धि की दृष्टि से **विश्वनाथ न्यायपञ्चानन** का **भाषा-परिच्छेद** तथा **अन्नंभट्ट** का **तर्कसंग्रह** अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भाषा-परिच्छेद पर लेखक (१६३४) की ही टीका **न्यायसिद्धांतमुक्तावली** है जिस पर रुद्र, दिनकर, त्रिलोचन आदि आचार्यों की टीकायें हैं। रामरुद्र ने तो दिनकरी पर भी टीका लिखी है। अन्नंभट्ट (१६९०) ने अपने तर्कसंग्रह पर स्वयं दीपिका टीका लिखी जिस पर नीलकंठ की प्रकाश-टीका और उस पर भी लक्ष्मीनृसिंह की भास्करोदया टीका है ! तर्कसंग्रह पर बहुत-सी दूसरी टीकायें भी हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ अभीष्ट नहीं। तर्कसंग्रह न्यायवैशेषिक के अध्ययन का प्रथम सोपान है। इसकी शैली अत्यन्त सुबोध, सरल और संक्षिप्त है। इस प्रकार वैशेषिक-दर्शन के प्रमुख ग्रन्थों का उल्लेख करने से इसकी 'विशेषता' प्रकट होती है।

परमेश्वरसाक्षात्कारश्च श्रवणमननभावनाभिर्भावनीयः । यदाह-

२. आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासबलेन च ।

त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥ इति ।

तत्र मननमनुमानाधीनम् । अनुमानं च व्याप्तिज्ञानाधीनम् । व्याप्तिज्ञानं च पदार्थविवेकसापेक्षम् । अतः पदार्थषट्कम् 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' (वै० सू० १।१।१) इत्यादिकायां दशलक्षण्यां कणभक्षेण भगवता व्यवस्थापितम् ।

परमेश्वर का साक्षात्कार (ज्ञान), श्रवण (शास्त्र का), मनन (चिन्तन) तथा भावना (अन्तःकरण में ध्यान करना, निदिध्यासन, Meditation) के द्वारा पाया जा सकता है । जैसा कि कहा गया है—'आगम से, अनुमान से तथा ध्यानाभ्यास के बल से—इस प्रकार तीन तरह से अपनी बुद्धि को परमेश्वर के विषय में लगाकर साधक उत्तम योग प्राप्त करता है ।' [आगम और श्रवण समानार्थक (अनर्थान्तर) हैं । गुरु के पास से परमेश्वर के स्वरूप तथा उसके गुणों के विषय में श्रवण करना परमेश्वर-ज्ञान का प्रथम सोपान है । इस श्रवण में आप्त (प्रामाणिक) वाक्य या आगम की आवश्यकता पड़ती है इसलिए इसे **आगम** भी कहते हैं । जो बात सुन चुके हैं उनमें दृढ़ता लाने या अच्छी तरह उनपर विश्वास करने के लिए अनुमान के नियमों के अनुसार युक्तिपूर्वक चिन्तन करना भी आवश्यक ही है । यही चिन्तन मनन कहलाता है । चूँकि इसमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है । इसलिए इसे **अनुमान** भी कह देते हैं । श्रवण और मनन के पश्चात् उस अर्थ का बार-बार ध्यान करना चाहिए । ऐसा करने से वह बात हृदय में बैठ जाती है । यही **भावना** है । जिस मार्ग से सामान्यपदार्थ का श्रवणादि होता है उसी मार्ग से ईश्वर के विषय का भी । जब बुद्धि ईश्वरविषयिणी हो जाती है उसी समय उत्तम योग अर्थात् ईश्वर का साक्षात्कार प्राप्त होता है ।]

[अब इन तीनों उपायों में] मनन अनुमान पर निर्भर करता है और स्वयम् अनुमान व्याप्ति (Universal relation) के ज्ञान पर । व्याप्ति का ज्ञान भी पदार्थों की पारस्परिक विवेचना (Discussion) की अपेक्षा रखता है । यही कारण है कि छह पदार्थों की व्यवस्था भगवान् कणाद ने दस लक्षणों (अध्यायों) से युक्त [अपने वैशेषिकदर्शन में] की है जिस (दर्शन) का आरम्भ-सूत्र है—अब इसलिए (हम) धर्म की व्याख्या करेंगे (वैशेषिक सूत्र १।१।१) ।

विशेष—श्वेताश्वतर उपनिषद् में एक वाक्य आया है—'तमेवं विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (३।८) अर्थात् उस परमेश्वर को इस रूप में जानकर लोग मृत्यु (दुःख) के बन्धन से छूट जाते हैं, कोई दूसरा मार्ग इससे निकलने का नहीं है। इस श्रुति को ही आधार मानकर वैशेषिक लोग परमेश्वर-साक्षात्कार को ही एकमात्र उपाय बतलाते हैं जिससे मृत्यु से निकल जा सकते हैं। इस साक्षात्कार (Knowledge) के लिए तीन परस्पर क्रमबद्ध उपाय हैं—श्रवण, मनन ओर भावना। प्रस्तुत दर्शन का सम्बन्ध न तो श्रवण से है न भावना से। मनन और विशेषतया उसकी पद्धति का निरूपण करना ही न्याय-वैशेषिक का लक्षण है। मनन के लिए अनुमान और अनुमान के लिए व्याप्तिज्ञान आवश्यक है। व्याप्तिज्ञान के लिए पदार्थों का विवेचन महर्षि कणाद करते हैं। न्याय में मनन की पद्धति—अनुमान—का विशद विचार होता है जब कि वैशेषिक-दर्शन में उस अनुमान की सफलता के लिये पदार्थों का विश्लेषण किया जाता है। दोनों इस दृष्टि से एक दूसरे की सहायता करते हैं। इन दर्शनों के द्वारा ईश्वर की उपासना ही होती है क्योंकि इनकी सारी चर्चायें मनन के अन्तर्गत आती हैं। उदयनाचार्य अपनी न्यायकुसुमाञ्जलि (१।१३) में कहते हैं—

न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक्।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता॥

अर्थात् 'मनन' (Thought) शब्द से अभिहित यह न्यायचर्चा श्रवण के अनन्तर आती है तथा इससे ईश्वर की उपासना ही होती है। यहाँ न्यायचर्चा का अर्थ है अनुमान क्योंकि वही न्याय में विशेष रूप से चर्चित होता है।

कणाद ने अपने सूत्रों में केवल छह पदार्थों का निरूपण किया है। वे हैं—द्रव्य (Substance), गुण (Quality), कर्म (Action), सामान्य (Generality), विशेष (Particularity) और समवाय (Inherence)। प्रशस्तपाद में अभाव (Non-existence) को भी सप्तम पदार्थ (Category) के रूप में स्वीकार किया गया है। तबसे पदार्थ सात माने गये हैं। भावात्मक (Positive) पदार्थ छह ही हैं। इसकी संख्या पर आगे मूल में ही विचार करेंगे। कणाद के दस अध्यायों वाले सूत्र-ग्रन्थ को 'दशलक्षणी' (= दशाध्यायी) कहा गया है। कणाद के पास कुछ ऐसे शिष्य आये जो विधिवत् वेद-वेदाङ्ग का अध्ययन कर चुके थे, असूया (दोषान्वेषण की प्रवृत्ति) से शून्य थे और इस प्रकार 'श्रवण' कर चुके थे। मनन के लिए आये हुए इन शिष्यों पर परम कारुणिक भगवान् कणाद प्रसन्न हो गये और उन्होंने वैशेषिक-

दर्शन की रचना की। उसका प्रथम सूत्र यही है—**अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः**। इस सूत्र में 'अथ' शब्द के द्वारा मंगल या आनन्तर्य (Subsequence) का बोध होता है अर्थात् शिष्यों की जिज्ञासा के पश्चात्। अतः= इसलिए। चूँकि श्रवणादि में निपुण, असूया रहित शिष्य लोग आये हैं इसलिए ज्ञान की पराकाष्ठा के रूप में जो धर्म है उसकी व्याख्या अब करेंगे। धर्म का लक्षण दूसरे ही सूत्र में दिया गया है—**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः** (१।१।२)। जिससे अभ्युदय (स्वर्ग, तत्त्वज्ञान, लौकिक उन्नति) तथा निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति हो वही धर्म है। यहाँ 'धर्म' शब्द अपने शास्त्रीय विषय के अर्थ में लिया गया है।

अब कणाद-सूत्रों की विषय-वस्तु पर विचार आरम्भ होता है।

(२. वैशेषिक-सूत्र की विषय-वस्तु)

तत्राह्निकद्वयात्मके प्रथमेऽध्याये समवेताशेषपदार्थकथनमकारि। तत्रापि प्रथमाह्निके जातिमन्निरूपणम्। द्वितीयाह्निके जातिविशेषयोर्निरूपणम्।

आह्निकद्वययुक्ते द्वितीयेऽध्याये द्रव्यनिरूपणम्। तत्रापि प्रथमेऽध्याये भूतविशेषलक्षणम्। द्वितीये दिक्कालप्रतिपादनम्।

आह्निकद्वययुक्ते तृतीय आत्मान्तःकरणलक्षणम्। तत्राप्यात्मलक्षणं प्रथमे। द्वितीयेऽन्तःकरणलक्षणम्। आह्निकद्वययुक्ते चतुर्थे शरीरतदुपयोगिविवेचनम्। तत्रापि प्रथमे तदुपयोगिविवेचनम्। द्वितीये शरीरविवेचनम्।

प्रथम अध्याय में, जिसमें दो आह्निक (एक दिन का पाठ = आह्निक) हैं, उन सभी पदार्थों का वर्णन है जो समवेत अर्थात् समवाय-सम्बन्ध से युक्त हैं। [समवाय-सम्बन्ध का अर्थ है नित्य-सम्बन्ध, जो कभी भिन्न न हो। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष—इतने पदार्थों का समवाय-सम्बन्ध होता है। द्रव्य अपने अवयवों में समवेत रहता है, गुणों और कर्मों का समवाय-सम्बन्ध द्रव्य के साथ रहता है, क्योंकि गुण और कर्म से युक्त होना द्रव्य-सामान्य का लक्षण ही है। सामान्य तो जाति को ही कहते हैं, जिसका समवाय-सम्बन्ध उपर्युक्त तीनों से है। विशेष नित्य द्रव्यों में समवेत रहते हैं। अवयवहीन परमाणुओं को तथा आकाश आदि को भी यद्यपि समवेत नहीं कह सकते हैं किन्तु नित्य द्रव्यों के साथ उनका समवाय-सम्बन्ध होता है। इसी अर्थ में वे समवेत हैं। षष्ठ पदार्थ समवाय

समवेत नहीं होता है क्योंकि यदि उसे समवेत मानें तो किसी में समवेत होगा। उसका किसी के साथ समवाय होगा—फिर उसका भी दूसरा समवाय होगा। ऐसा करते-करते कहीं अन्त नहीं होगा, अनवस्था हो जायगी। इसलिए प्रथम पाँच पदार्थ ही समवेत होते हैं।]

उसमें भी प्रथम आह्निक में उन पदार्थों का निरूपण हुआ है जिनकी जाति (सामान्य, Class) होती है (अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म का)। द्वितीय आह्निक में सामान्य (जाति) और विशेष का निरूपण किया गया है।

दो आह्निकों वाले द्वितीय अध्याय में द्रव्य का निरूपण हुआ है जिसमें प्रथम आह्निक में भूतों (क्षिति, जल, अग्नि, वायु, आकाश) के लक्षण हैं और दूसरे में दिशा तथा काल का निरूपण है। [स्मरणीय है कि द्रव्य नव हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा और मन। इनमें प्रथम सात का वर्णन द्वितीय अध्याय में ही हो गया है।]

तृतीय अध्याय में जिसमें दो आह्निक हैं, आत्मा और अन्तःकरण (आन्तरिक इन्द्रिय = मन) के लक्षण हैं। इनमें भी प्रथम आह्निक में आत्मा का लक्षण है, द्वितीय में अन्तःकरण का। [इस प्रकार द्रव्यों की विवेचना समाप्त होती है।] दो आह्निकों वाले चतुर्थ अध्याय में शरीर और उसके उपयोगी तत्त्वों (Adjuncts, जैसे—परमाणुकारणता आदि) का वर्णन है। प्रथम आह्निक में शरीर के उपयोगियों का ही वर्णन है और दूसरे आह्निक में शरीर का विवेचन है।

आह्निकद्वयवति पञ्चमे कर्मप्रतिपादनम्। तत्रापि प्रथमे शरीरसंबन्धिकर्मचिन्तनम्। द्वितीये मानसकर्मचिन्तनम्। आह्निकद्वयशालिनि षष्ठे श्रौतधर्मनिरूपणम्। तत्रापि प्रथमे दानप्रतिग्रहधर्मविवेकः। द्वितीये चातुराश्रम्योचितधर्मनिरूपणम्।

दो आह्निकों वाले पंचम अध्याय में कर्म का प्रतिपादन हुआ है। इसमें प्रथम आह्निक में शरीर से निष्पन्न होने वाले कर्मों का विचार हुआ है, दूसरे आह्निक में मानसिक कर्मों का चिन्तन (विचार) किया गया है। दो ही आह्निकों से विभूषित षष्ठ अध्याय में श्रुतियों में प्रतिपादित धर्म का निरूपण किया गया है। जिसमें प्रथम आह्निक में दान (दान करना) और प्रतिग्रह (दान लेना)—इन दो धर्मों पर विचार किया गया है। द्वितीय आह्निक में चारों आश्रमों के लिए उचित धर्म का निरूपण हुआ है।

तथाविधे सप्तमे गुणसमवायप्रतिपादनम् । तत्रापि प्रथमे बुद्धिनिरपेक्षगुणप्रतिपादनम् । द्वितीये तत्सापेक्षगुणप्रतिपादनं समवायप्रतिपादनं च ।

अष्टमे निर्विकल्पकसविकल्पकप्रत्यक्षप्रमाणचिन्तनम् । नवमे बुद्धिविशेषप्रतिपादनम् । दशमेऽनुमानभेदप्रतिपादनम् ।

उसी प्रकार के विभाजनवाले सप्तम अध्याय में गुणों और समवाय का प्रतिपादन हुआ है जिसमें प्रथम आह्निक में उन गुणों का प्रतिपादन हुआ है जो बुद्धि की अपेक्षा नहीं रखते (रूप, रस, गंध आदि)। द्वितीय आह्निक में बुद्धि की अपेक्षा रखने वाले गुणों (द्वित्व, परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व आदि) का तथा इसीमें सामान्य का भी प्रतिपादन हुआ है। [द्वित्व, एकत्व, बहुत्व आदि को संख्या कहते हैं, वह भी बुद्धि पर निर्भर करती है। इसका विशद विचार आगे करेंगे।]

अष्टम अध्याय में निर्विकल्पक (Indeterminate) तथा सविकल्पक (Determinate) प्रत्यक्ष प्रमाण का निरूपण हुआ है। नवम अध्याय में बुद्धि के विशेषों (भेदों) का वर्णन है। दशम अध्याय में अनुमान के भेदों का वर्णन है। [यह आश्चर्य है कि नवम और दशम अध्यायों के विषय में माधवाचार्य इतने भ्रम में हैं। वास्तव में नवम अध्याय में अतीन्द्रिय संयोगादि से होने वाले प्रत्यक्ष का तथा अनुमान का वर्णन है। दशम में सुख-दुःखादि आत्मा के गुणों का वर्णन एवं त्रिविध कारण का भी प्रतिपादन हुआ है। माधव के भ्रम का कारण समझ में नहीं आता !]

(३. शास्त्र की प्रवृत्ति—उद्देश, लक्षण, परीक्षा)

तत्रोद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति त्रिविधास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः (वात्स्यायन० १।१।१)। ननु विभागापेक्षया चातुर्विध्ये वक्तव्ये कथं त्रैविध्यमुक्तमिति चेत्—मैवं मंस्थाः। विभागस्य विशेषोद्देश-रूपत्वात् उद्देश एवान्तर्भावात्। तत्र द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष-समवाया इति षडेव ते पदार्था इत्युद्देशः।

[वात्स्यायन का कहना है कि] इस शास्त्र (न्याय-वैशेषिक) की प्रवृत्ति (प्रतिपादन) तीन प्रकार से होती है—उद्देश (Enumeration, गणना) लक्षण (Definition) और परीक्षा (लक्षणों का आरोपण, Exami-

nation)। [वस्तु का केवल नाम ले लेना या गिना देना ही उद्देश कहलाता है जैसे यह कहना कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, ये छह पदार्थ हैं। लक्षण में वस्तु के उस धर्म का उल्लेख करते हैं जिसके द्वारा वह वस्तु अन्य सजातीय वस्तुओं से पृथक् की जाय जैसे—द्रव्य उसे कहते हैं जिसमें गुण हों। परीक्षा के द्वारा यह विचार होता है कि उक्त प्रकार से दिये गये लक्षण प्रस्तुत वस्तु में ठीक हैं कि नहीं। न्याय-वैशेषिक के प्रतिपादन की एक अपनी विशेषता है कि इन तीन विधियों से शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। उसमें भी परीक्षा पर बहुत जोर दिया जाता है जिसके कारण ये दर्शन अत्यन्त तार्किक माने जाते हैं। यही नहीं, अन्य शास्त्रों पर भी जब विपत्ति आती है तब वे अपनी सुरक्षा के लिए तर्क-शास्त्र का ही आश्रय लेते हैं और पूर्वपक्षियों की खबर इसी परीक्षा के द्वारा लेते हैं।]

[अब प्रश्न यह है कि इन तीन विधियों के अतिरिक्त इनमें] विभाग को भी रखकर चार प्रकार की शास्त्रप्रवृत्ति का वर्णन करना उचित था, आप तीन ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ क्यों मानते हैं ? ऐसा न समझें क्योंकि विभाग भी एक तरह का उद्देश ही तो है। [जब वस्तुओं का नाम-ग्रहण करते हैं तब विभाजन या वर्गीकरण (Classification) करके ही तो नाम लेते हैं, यों ही मनमाने ढंग से तो नहीं।]* इसलिए विभाग को उद्देश के अन्दर ही रख लेते हैं। वैशेषिक-दर्शन में उद्देश यही है—'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, इस प्रकार ये छह ही पदार्थ हैं।'

किमत्र क्रमनियमे कारणम् ? उच्यते। समस्तपदार्थायतनत्वेन प्रधानस्य द्रव्यस्य प्रथममुद्देशः। अनन्तरं गुणत्वोपाधिना सकलद्रव्यवृत्तेर्गुणस्य। तदनु सामान्यवत्त्वसाम्यात्कर्मणः। पश्चात्तत्त्रितयाश्रितस्य सामान्यस्य। तदनन्तरं समवायाधिकरणस्य विशेषस्य। अन्तेऽवशिष्टस्य समवायस्येति।

यहाँ पदार्थों की गणना कराते समय एक विशेष क्रम देखते हैं उसका क्या कारण है ? कहते हैं—सारे पदार्थों का आधार होने के कारण प्रमुख रूप से

---

* उद्देश दो प्रकार का है—**सामान्य** जैसे, द्रव्य गुण कर्मादि पदार्थों की गणना तथा **विशेष** जैसे, पृथ्वी, जल, तेज आदि द्रव्य के भेदों की गणना। गुणों की गणना कराते समय 'विभाग' नाम आता है इसलिए विशेष उद्देश (अवान्तर भेद के अन्तर्गत) होने से विभाग को पृथक् नहीं लेते। उद्देश में ही इसे समझ लेते हैं।

विद्यमान द्रव्य का उद्देश (नामग्रहण) पहले हुआ है। [नींव का ज्ञान पहले करके तब भवन का निर्माण होता है, मनुष्य को जानने पर ही उसके धर्मों का, जैसे स्थूलता आदि का, ज्ञान प्राप्त करते हैं। धर्म का ज्ञान पीछे होता है, धर्मी का पहले। इसी प्रकार सभी पदार्थों का साक्षात् या परंपरा से आधार द्रव्य ही है। गुण और कर्म का तो वह साक्षात् आधार है। द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, घटत्व आदि के रूप में जो सामान्य है उसका भी वह सीधा आधार है। हाँ, गुण और कर्म की जाति (सामान्य) अर्थात् गुणत्व और कर्मत्व आदि के लिए उसे (द्रव्य को) गुण-कर्म का सहारा लेना पड़ता है—गुणत्व और कर्मत्व क्रमशः गुण और कर्म में हैं और द्रव्य इन दोनों का आधार है। विशेषों का भी साक्षात् आधार द्रव्य ही है। समवाय का कहीं तो वह साक्षात् आधार होता है कहीं गुणादि के द्वारा। तात्पर्य यह है कि द्रव्य या तो सभी पदार्थों का साक्षात् आधार है या परंपरा से आधार है। प्रमुख होने के कारण द्रव्य को पहले रखते हैं।]

इसके बाद गुणत्व उपाधि के रूप में सभी द्रव्यों में पाये जानेवाले **गुण** का नाम है। [गुण का अर्थ अप्रधान होता है इसलिए द्रव्य की अपेक्षा अप्रधान रूप से विद्यमान रहनेवाले गुणों को द्रव्य के बाद रखते हैं। यद्यपि गुण, कर्म आदि पाँचों पदार्थों को समान रूप से अप्रधान (गुण) कहा जा सकता है किन्तु वैशेषिक लोग रूप, रस आदि को ही सांकेतिक रूप से गुण कहते हैं। गुण का सामान्य अर्थ बहुत व्यापक होने पर भी शास्त्रीय-दृष्टि से एक विशेष पदार्थ को ही गुण कहते हैं जो सभी द्रव्यों में रहता है। इसका यह अर्थ कभी नहीं समझना चाहिए कि सभी द्रव्यों में सभी गुण रहते हैं—पृथ्वी में रूप, रस आदि नहीं है, न बुद्धि ही है। किन्तु कोई-न-कोई गुण सभी द्रव्यों में रहता ही है। यह सौभाग्य अन्य पदार्थों को नहीं। यही कारण है कि द्रव्य के पश्चात् और अन्य पदार्थों के पहले गुण का नाम लिया जाता है।]

इसके बाद **कर्म** का उद्देश होता है क्योंकि [द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में) सामान्य की सत्ता रहती है, यही समानता है। [द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में जाति (Class) रहती है। इसलिए तीनों को एक साथ ही रखना चाहिए। द्रव्य, गुण अपने विशिष्ट कारणों से पहले आ चुके हैं। अवशिष्ट कर्म ही है इसलिए गुण के बाद उसे रखते हैं। इसके अतिरिक्त यह ध्येय है कि गुण, कर्म के बीच गुण को प्रधानता मिलती है क्योंकि गुणों की पहुँच (वृत्ति) सभी द्रव्यों तक रहती है, कर्म बेचारे कुछ ही द्रव्यों तक पहुँच पाते हैं—आकाश, काल, दिशा, आत्मा इन विभु द्रव्यों में कर्म पहुँच नहीं सकते। गुणों की

अपेक्षा कर्म द्रव्य के पास पैरवी पहुँचाने में पिछड़ जाते हैं इसलिए गुणों के उपरान्त ही इनका स्थान होता है।]

इसके बाद इन तीनों में आश्रय लेनेवाले **सामान्य** या जाति का उद्देश होता है। [ऊपर कह चुके हैं कि आधार के बाद ही आधेय पदार्थ आते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म तीनों ही सामान्य के लिए आधार हैं। इसलिए वे सामान्य की अपेक्षा प्रधान हैं। दूसरों के भरोसे जीनेवाला पहले नहीं रह सकता। पहले उसके आश्रयदाता का नाम रहेगा—तभी उसका नाम रहेगा। यही कारण है कि सामान्य इन तीनों के अन्त में आता है।]

इसके अनन्तर समवाय के आधार के रूप में अवस्थित **विशेष** का नाम लेते हैं और अन्त में बचे हुए **समवाय** का नाम आता है—यही क्रम है। [विशेष और समवाय को सबसे पीछे डालने का यह कारण है कि इनका प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। प्रत्यक्ष होनेवाले पदार्थों से अप्रत्यक्ष पदार्थ पीछे रहेंगे ही। अब ये दोनों निर्णय करें कि कौन पहले रहेगा, कौन पीछे ? फिर आधार-आधेय का संबंध हो गया। समवाय आधेय है, विशेष आधार। आधार पहले होता है, आधेय पीछे। बस, विशेष के बाद समवाय का नाम है।]

(४. पदार्थों की संख्या—छह या सात ?)

ननु षडेव पदार्था इति कथं कथ्यते ? अभावस्यापि सद्भावात् इति चेत्—मैवं वोचः। नञर्थानुल्लिखितधीविषयतया भावरूपतया षडेवेति विवक्षितत्वात्। तथापि कथं षडेवेति नियम उपपद्यते ? विकल्पानुपपत्तेः। नियमव्यवच्छेद्यं प्रमितं न वा ? प्रमितत्वे कथं निषेधः ? अप्रमितत्वे कथंतराम् ?

अब यह प्रश्न है कि आप कैसे कहते हैं कि पदार्थ छह ही हैं ? अभाव की भी तो सत्ता है [जिसे सातवाँ पदार्थ मानते हैं]। इस प्रश्न पर हम कहेंगे कि ऐसा मत कहो। निषेधात्मक (नञर्थ के द्वारा उल्लिखित या बोधित) प्रतीति (ज्ञान, धी, प्रत्यय, Knowledge) को हम अपना विषय नहीं मानते तथा भाव-रूप (भावात्मक Positive) [प्रतीति को ही हम विषय] मानते हैं इसलिए हमारी विवक्षा (कहने की इच्छा) से ही छह पदार्थ माने गये हैं। [नञर्थ के रूप में निषेध को समझ लेने के लिए अभाव भी एक पृथक् पदार्थ रहे, इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं। किन्तु इस अभाव के द्वारा किसी वस्तु की असत्ता का ही तो बोध होगा, सत्ता का तो नहीं। हम सत्ता का विश्लेषण करना चाहते

हैं इसलिए अभाव नहीं स्वीकार करके छह ही पदार्थ मानते हैं जो सब के सब भावात्मक हैं।]

फिर भी प्रश्न हो सकता है कि यह नियम आप कहाँ से लाते हैं कि पदार्थ केवल छह ही हैं। [इसकी सिद्धि के लिए दिये गये] दोनों विकल्प असिद्ध हो जायँगे। देखिए—इस नियम से [कि पदार्थ छह ही हैं] व्यावृत्त किया जाने वाला (being excluded) [सप्तम पदार्थ] प्रमाणों से सिद्ध है कि नहीं ? [तात्पर्य यह है कि जब आप 'छह ही' में 'ही' का प्रयोग करते हैं तब अवश्य किसी आगामी पदार्थ को निकाल बाहर (व्यावृत्त) करते हैं, यह बहिष्करण जिसका हो रहा है उसकी सिद्धि के लिए कोई प्रमाण है या नहीं। या तो सप्तम पदार्थ प्रमाणसिद्ध होगा या असिद्ध। दोनों ही अवस्थाओं में आप पकड़े जाते हैं।]

यदि वह (सप्तम पदार्थ) प्रमाणों से सिद्ध है तब उसका निषेध क्यों कर रहे हैं ? [प्रमाण से सिद्ध पदार्थ तो सदा स्वीकार्य है, उसका निषेध नहीं हो सकता।] यदि प्रमाणों से उसकी सिद्धि नहीं हो रही हो तब तो निषेध करना और भी कठिन है। [असिद्ध या असत् वस्तु का निषेध करने में अपना समय कौन मूर्ख नष्ट करेगा ?]

न हि कश्चित्प्रेक्षावान्मूषिकविषाणं प्रतिषेद्धुं यतते। ततश्चानुपपत्तेर्न नियम इति चेत्—मैवं भाषिष्ठाः। सप्तमतया प्रमितेऽन्धकारादौ भावत्वस्य, भावतया प्रमिते शक्तिसादृश्यादौ सप्तमत्वस्य च निषेधादिति कृतं विस्तरेण।

कोई भी ऐसा विचारशील व्यक्ति नहीं होगा जो चूहे की सींग (असिद्ध वस्तु) का निषेध करने में अपने सारे पाण्डित्य का खर्च करे। [मूषिक-विषाण प्रत्यक्ष-प्रमाण से ही असिद्ध है दूसरों की तो बात ही क्या ? इसलिए असिद्ध वस्तु का निषेध करना मूर्खता नहीं तो और क्या है ?] इस प्रकार दोनों विकल्पों की असिद्धि के कारण 'छह ही' पदार्थ होने का नियम आप नहीं लगा सकते।

[इस प्रश्न का उत्तर यह होगा—] ऐसा नहीं कहना चाहिए। यदि आप लोग अन्धकार या किसी ऐसी ही अभावात्मक चीज में सप्तम पदार्थ की कल्पना करते हैं तब तो हम अपने भावात्मक पदार्थों में इसे ले ही नहीं सकते [क्योंकि भावात्मक पदार्थ में अन्धकार नहीं आ सकता, वह निषेधात्मक है। और हम केवल भावपदार्थों को ही स्वीकार कर रहे हैं]। यदि दूसरी ओर आप लोग भाव के रूप में सिद्ध शक्ति, सादृश्य आदि को ही सप्तम पदार्थ मानते हैं तो यह सप्तम पदार्थ नहीं, [वास्तव में हमारे भावात्मक पदार्थों में ही उसकी सत्ता है।] अधिक विस्तार करना व्यर्थ है।

विशेष – पदार्थों की संख्या छह मानने का कारण वे यह बतलाते हैं कि भावात्मक पदार्थ छह ही होंगे। यदि किसी अभावात्मक वस्तु को सातवाँ पदार्थ मानते हैं तो भाव का प्रतियोगी होने के कारण हमारी परिभाषा (भावरूप पदार्थ) में वह पदार्थ नहीं होगा, यदि किसी भावात्मक वस्तु को ही सातवाँ पदार्थ मानते हैं तब तो वह हमारे भावात्मक पदार्थों के बीच ही कहीं-न-कहीं स्थान पा सकेगा। हमारा वर्गीकरण इतना व्यापक (exhaustive) है कि सभी भाव इसमें आ जायेंगे, फिर सप्तम पदार्थ की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। किसी प्रकार छह से अधिक भाव-पदार्थ नहीं होंगे।

'षडेव' (छह ही) कहने से न केवल सप्तम पदार्थ का निषेध होता है, न केवल भाव का, प्रत्युत सप्तमत्व से विशिष्ट भाव का निषेध होता है। दूसरे शब्दों में यह कहें कि सातवाँ भाव पदार्थ ही नहीं है। केवल सप्तम पदार्थ तो अन्धकार आदि हैं ही, पर ये भाव तो नहीं हैं। अन्धकार का अर्थ है तेज का अभाव। शक्ति और सादृश्य यद्यपि भाव हैं, पर ये केवल भाव हैं, सातवें नहीं है। छह में ही इन्हें स्थान मिलता है। शक्ति के विषय में लोग प्रश्न करते हैं कि जब हथेली पर दाहशक्ति को रोकने वाले मणि आदि पदार्थ रखे रहते हैं तब अग्नि का संयोग होने पर भी हाथ नहीं जलता। यदि खाली हाथ रहे तो जल जाय। इस नियम से लगता है कि शक्ति भी कोई अतिरिक्त पदार्थ है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। अग्नि का दाह-कारण होना ही **शक्ति** है (अग्नेर्दाहं प्रति कारणतैव शक्तिः)। प्रतिबन्धक का अभाव तो सभी कार्यों में कारण रहता है जिसे पाश्चात्य तर्कशास्त्र में Negative Condition कहते हैं इसलिए अग्नि में ही शक्ति है अतिरिक्त तो कुछ नहीं। आधुनिक विज्ञान में शक्ति को एक पृथक् पदार्थ मानते हैं। **सादृश्य** भी भिन्न पदार्थ नहीं है इसका अर्थ है—किसी पदार्थ से भिन्न रहने पर उसमें वर्तमान धर्मों को धारण करना (तद्भिन्नत्वे सति तद्गतधर्मवत्त्वम्)। वैशेषिक लोग भाव पदार्थों का विचार करते समय इन वस्तुओं को कभी नहीं भूलते।

(५. छह पदार्थों के लक्षण—द्रव्यत्व और गुणत्व)

तत्र द्रव्यादित्रितयस्य द्रव्यत्वादिजातिर्लक्षणम्। द्रव्यत्वं नाम गगनारविन्दसमवेतत्वे सति, नित्यत्वे सति, गन्धासमवेतत्वम्। गुणत्वं नाम समवायिकारणासमवेतासमवायिकारणभिन्नसमवेतसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिः।

उनमें द्रव्य आदि प्रथम तीन पदार्थों के लक्षण हैं द्रव्यत्व आदि के सामान्य (जाति) से युक्त होना। [द्रव्य उसे कहते हैं जो द्रव्यत्व-जाति का हो, गुण गुणत्व-जाति का होता है तथा कर्म कर्मत्व-जाति का। इस प्रकार अपने-अपने सामान्य के द्वारा ये लक्षित होते हैं। अब इनके सामान्यों के लक्षण पृथक्-पृथक् नैयायिक-भाषा में दिये जायँगे जिसमें प्रत्येक शब्द और विशेषण साभिप्राय रहेगा, उसके अभाव में लक्षण के अशुद्ध हो जाने की संभावना है।]

द्रव्यत्व का लक्षण—जब आकाश के साथ तथा अरविन्द के साथ अलग-अलग कोई पदार्थ समवेत हो, वह नित्य भी हो तथा गन्ध के साथ समवेत (नित्यरूप से सम्बद्ध, inherent) न हो तो उसे ही द्रव्य-सामान्य कहते हैं।

[अब इस लक्षण की व्याख्या करें। द्रव्य-सामान्य (द्रव्यत्व) से द्रव्य का लक्षण किया जाता है। इसलिए इस द्रव्य-सामान्य को समझना आवश्यक है। द्रव्य-सामान्य के लक्षण में तीन टुकड़े हैं—(१) गगन तथा अरविन्द के साथ समवेत होना, (२) नित्य होना तथा (३) गन्ध के साथ समवेत न होना। गगनारविन्द को वेदान्तियों के समान आकाश का कमल न समझें। यहाँ द्वन्द्व-समास है। द्वन्द्व होने के कारण 'समवेत' शब्द का सबन्ध दोनों पदों के साथ होगा। (द्वन्द्वादौ द्वन्द्वमध्ये द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसंबध्यते)। द्रव्य का समवाय (अपरिहार्य, नित्य) सबन्ध गगन-जैसे नित्य द्रव्य से तथा कमल जैसे क्षणिक द्रव्य के साथ भी है, भले ही सम्बन्ध नित्य है। आकाश तो द्रव्य में है ही, कमल की गणना पृथ्वी में होती है। समूह का सम्बन्ध अपने प्रत्येक व्यक्ति से रहता ही है। दूसरे, द्रव्य का सामान्य नित्य भी है क्योंकि जाति या सामान्य नित्य होता है। व्यक्ति के विनाश के बाद भी जाति की सत्ता रहती है। अन्त में, यह द्रव्य-सामान्य गन्ध से अ-समवेत रहता है क्योंकि गन्ध गुण है। द्रव्यत्व की वृत्ति गुणों में नहीं होती, द्रव्यों में ही होती है।

अब हम लक्षण के शब्दों की अनिवार्यता पर विचार करें। (१) यदि लक्षण से **'गगन से समवेत रहना'** यह विशेषण हटा दें तो पृथिवी-जाति (पृथिवीत्व) का भी लक्षण बन जायगा, केवल द्रव्यत्व का लक्षण नहीं रहेगा। दूसरे शब्दों में, पृथिवीत्व में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। पृथिवी-सामान्य अरविन्द से समवेत होता है तथा नित्य भी होता है (सामान्य होने के कारण)। पुनः गन्ध का समानाधिकरण (पृथिवी-सामान्य) गन्ध में होगा ही नहीं जिससे यह गन्धासमवेत भी है। पृथिवी-सामान्य गगन से समवेत नहीं होता (जो हमने हटा ही दिया है), केवल पृथिवी में पृथिवीत्व की वृत्ति

रहती है। इसलिए 'पृथिवीत्व' का ही लक्षण हो गया। (२) यदि लक्षण से **'अरविन्द से समवेत रहना'** हटा दें तो यह गगन में वर्तमान एकत्व-संख्या का भी लक्षण हो जायगा। एकत्व-संख्या गगन से समवेत रहती है, नित्य भी है। एकत्व-संख्या नित्य द्रव्य में रहने पर नित्य है, अनित्य में रहने पर अनित्य होती है—यहाँ आकाशगत है इसलिए नित्य है। गन्ध से इसे कुछ लेना-देना है ही नहीं क्योंकि एक गुण में दूसरा गुण आ नहीं सकता। अरविन्द से भी यह समवेत नहीं होती। अरविन्द में भी एकत्व है पर वह एकत्व आकाश के एकत्व की अपेक्षा भिन्न है। इस प्रकार ऐसी स्थिति में एकत्व-संख्या का लक्षण हो गया। (३) यदि लक्षण से **'नित्य होने पर'** यह विशेषण निकाल दें तो गगन और अरविन्द दोनों में विद्यमान द्वित्वसंख्या का भी लक्षण बन जायगा। द्वित्व-संख्या गगन और अरविन्द दोनों में समवेत है, गुण होने के कारण दूसरे गुण गन्ध से इसका सम्बन्ध ही नहीं। हाँ, यह नित्य नहीं है। द्वित्व आदि संख्याएँ सर्वत्र अपेक्षा-बुद्धि से उत्पन्न होती हैं इसलिए अनित्य हैं। (इसके विचार के लिए आगे देखें।) निदान, यह लक्षण द्वित्व-संख्या का हो गया। (४) अन्त में यदि लक्षण से **'गन्ध से समवेत न रहना'** यह विशेषण निकाल दें तो यह द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में अधिष्ठित सत्ता का भी लक्षण हो जायगा। सत्ता गगन और अरविन्द में तो है ही, नित्य भी है। लेकिन यह गुणों में भी है, अतः गन्ध से असमवेत नहीं हो सकती। लक्षण से वह पद निकल जाने पर इसकी प्राप्ति हो ही जायगी।

लक्षण ऐसा हो जो लक्ष्य से न तो अधिक को व्याप्त करे, न कम को। अधिक को व्याप्त करने पर अतिव्याप्ति-दोष (Too-wide definition) होता है, कम को व्याप्त करने पर अव्याप्ति-दोष (Fallacy of too-narrow definition) होता है। उपर्युक्त पदों को निकाल देने से लक्षण सदैव अपने लक्ष्य से अधिक को समेट लेता है—द्रव्यत्व के साथ-साथ कभी तो पृथिवीत्व का, कभी एकत्व का, कभी द्वित्व का और कभी सत्ता का भी लक्षण यह बन जाता है, अर्थात् अतिव्याप्ति-दोष हो जाता है। इससे बचने के लिए प्रत्येक पद रखना अनिवार्य है।]

गुणत्व का लक्षण—गुण-सामान्य उस जाति को कहते हैं जो [द्रव्य, गुण, कर्म में अधिष्ठित] सत्ता के द्वारा सीधे ही व्याप्त हो सके, समवायि-कारण (द्रव्य) से समवेत नहीं रहे तथा असमवायि-कारण से भिन्न किसी भी पदार्थ (जैसे—आत्मा के गुण) से समवेत हो।

[गुणत्व के लक्षण में भी तीन विशेषण हैं—(१) ऐसी जाति जो समवायि-कारण से समवेत न हो, (२) जो असमवायि-कारण से भिन्न किसी

पदार्थ से समवेत हो तथा (३) जो सत्ता के द्वारा सीधे (साक्षात्, परंपरा से नहीं) व्याप्त हो सके। **समवायि-कारण** उसे कहते हैं जिसके समवेत होने या मिलने पर कार्य उत्पन्न होता है, जैसे—पट के लिए तन्तु, घट के लिए मिट्टी आदि। समवायि-कारण कोई द्रव्य ही होता है। द्रव्य में गुणत्व नहीं रहता, वह किसी गुण में ही रह सकता है अर्थात् गुणत्व द्रव्य से समवेत नहीं होता है। **असमवायि-कारण** उसे कहते हैं जो कार्य या कारण के साथ किसी वस्तु के मिल जाने पर कारण के रूप में आवे, जैसे—पट में तन्तुओं के मिलने (समवेत होने) पर उन तन्तुओं का संयोग पटरूपी कार्य के लिए कारण है।* असमवायि-कारण से भिन्न आत्मा के विशेष गुण होते हैं क्योंकि आत्मा के गुण कभी भी असमवायि-कारण नहीं हो सकते। इन गुणों से गुणत्व समवेत रहता है। सत्ता तीन पदार्थों में है—द्रव्य, गुण, कर्म। इसके द्वारा साक्षात् तीन जातियों को व्याप्त किया जा सकता है—द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व। पृथिवीत्व आदि द्रव्यत्व के द्वारा सीधे व्याप्त होते हैं, सत्ता के द्वारा परंपरा से। सत्ता पहले द्रव्यत्व को व्याप्त करती है, फिर द्रव्यत्व पृथिवीत्व को व्याप्त करता है। इसीको 'परंपरया व्याप्तिः' कहते हैं। इसीलिए गुण-सामान्य सत्ता के द्वारा साक्षात् व्याप्य है। और भी पदार्थ—द्रव्यत्व, कर्मत्व—सत्ता से व्याप्त होते हैं पर अन्य विशेषण गुण-सामान्य को उनसे पृथक् कर देते हैं। लक्षण में दो चीजें दी जाती हैं—एक तो सामान्य-धर्म (Genus), दूसरा विशेष-धर्म (Differentia)। तीसरा विशेषण सामान्य-धर्म है, प्रथम दोनों विशेषण विशेष-धर्म हैं।

अब विशेषणों की उपयोगिता पर दृष्टिपात करें। ऊपर हम देख चुके हैं कि इस लक्षण में जो सामान्य-धर्म है वह गुणत्व, द्रव्यत्व और कर्मत्व तीनों के लिए समान है। यह तो इसका विशेष-धर्म है जो उन दोनों से गुणत्व को पृथक् करता है। इसलिए यदि विशेष धर्मों में से कोई हटता है तो लक्षण द्रव्यत्व या कर्मत्व को व्याप्त कर लेगा। (१) यदि लक्षण से हम यह विशेषण हटा दें कि 'यह (गुणसामान्य) समवायि-कारण अर्थात् द्रव्य से असमवेत रहता है'. तो यह लक्षण द्रव्यत्व को अतिव्याप्त कर लेगा। द्रव्य का सामान्य सत्ता के द्वारा साक्षात् रूप से व्याप्य होता है तथा असमवायि-कारण से भिन्न द्रव्य में समवेत भी होता है। द्रव्य कभी भी असमवायि-कारण नहीं हो सकता इसलिए द्रव्य में समवेत होने के कारण द्रव्यत्व 'असमवायिकारणभिन्न-समवेत' है ही। हाँ, यह समवायिकारण (द्रव्य) से असमवेत नहीं हो सकता क्योंकि द्रव्यत्व

* इनके अतिरिक्त, इन दोनों से भिन्न निमित्त-कारण (Efficient Cause) भी होता है जैसे—पट-कार्य के लिए जुलाहा, करघा, डंडा आदि।

द्रव्य (समवायि-कारण) में अवस्थित रहता है इस प्रकार यदि पहला विशेषण उक्त लक्षण से हटा दें तो यह द्रव्यत्व का भी लक्षण बन जायगा। (२) यदि उक्त लक्षण से यह विशेषण हटा दें कि 'यह (गुण-सामान्य) असमवायिकारण से भिन्न (आत्मा के विशेष-गुण जैसे--ज्ञान, बुद्धि) वस्तुओं से समवेत होता है', तो यह कर्मत्व को अतिव्याप्त (include) कर लेगा। कर्म का सामान्य सत्ता के द्वारा तो साक्षाद् व्याप्त होता ही है, समवायि-कारण (द्रव्य) से असमवेत भी रहता है। कर्म और द्रव्य में समवाय-संबंध तो है नहीं। केवल एक बात है कि कर्मत्व असमवायि-कारण से भिन्न वस्तु से समवेत नहीं रहता। सभी कर्म असमवायि-कारण हैं क्योंकि उनका संबन्ध संयोग या विभाग से अनिवार्यतः होता है असमवायि-कारण से भिन्न वस्तु में कर्म की कल्पना ही असंभव है। (३) अब यदि अंतिम विशेषण कि 'यह सत्ता के द्वारा साक्षात् रूप में व्याप्य होता है', हटा दें, तो ज्ञानत्व आदि में ही अतिव्याप्ति हो जायगी। ज्ञानत्व की वृत्ति ज्ञान में रहती है, समवायि-कारण (द्रव्य) में नहीं। इसलिए ज्ञानत्व समवायि-कारण से असमवेत है। यह असमवायि-कारण से भिन्न वस्तु में समवेत भी है क्योंकि ज्ञान आदि आत्मा के विशेष गुण हैं, ये असमवायि-कारण नहीं हो सकते—असमवायि-कारण से भिन्न स्थान में, जैसे-ज्ञान में इनकी वृत्ति होती है। किन्तु इस ज्ञान को सत्ता साक्षात् रूप से व्याप्त नहीं करती। गुण के द्वारा ज्ञान सीधे व्याप्त होता है, सत्ता के द्वारा परम्परा से। इस प्रकार गुणत्व का शुद्ध लक्षण यदि चाहते हैं, कोई पद हटा नहीं सकते।]*

(५ क. कर्मत्व, सामान्य, विशेष और समवाय)

कर्मत्वं नाम नित्यासमवेतत्वसहितसत्तासाक्षाद्व्याप्य-जातिः। सामान्यं तु प्रध्वंसप्रतियोगित्वरहितमनेकसमवेतम्। विशेषो नामान्योन्याभावविरोधिसामान्यरहितः समवेतः। समवायस्तु समवायरहितः संबन्धः इति षण्णां लक्षणानि व्यवस्थितानि।

---

* गुणत्व के लक्षण में एक दूसरा पाठ भी है—**समवायिकारणासमवायिकारणभिन्नसमवेतसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिः** अर्थात् गुणत्व वह है जो सत्ता के द्वारा साक्षाद् व्याप्य हो, समवायि-कारण या असमवायि-करण से भिन्न पदार्थों से समवेत हो। द्रव्य समवायि-कारण है, उससे गुण भिन्न है। संयोग विभाग असमवायि-कारण हैं, गुण उनसे भी भिन्न है। दोनों पाठ एक ही अर्थ पर आते हैं।

कर्म की जाति वह है जो नित्य पदार्थों में समवाय-सम्बन्ध के साथ विद्यमान न हो तथा सत्ता के द्वारा सीधे-सीधे व्याप्त होती हो। [यह स्मरणीय है कि द्रव्यत्व या गुणत्व नित्य पदार्थों में समवेत होते हैं—द्रव्यत्व जाति परमाणु, आकाश आदि नित्य पदार्थों में समवेत होती है ; गुणत्व-जाति भी जलादि परमाणुओं में स्थित रूप आदि गुणों में तथा परमात्मा में स्थित ज्ञानादि गुणों में रहती है। ये गुण नित्य हैं तथा इनमें गुण की जाति समवाय-संबंध से रहती है। द्रव्यत्व और गुणत्व नित्य पदार्थों में समवेत हैं, असमवेत नहीं हैं—इसीलिए उन दोनों से पार्थक्य प्रदर्शित करने के लिए कर्मत्व को नित्य से असमवेत कहा गया है। सभी कर्म अनित्य होते हैं। इसीलिए नित्य से उसकी जाति को कभी कोई मतलब ही नहीं रहता। ऊपर कह चुके हैं कि सत्ता द्रव्य गुण, कर्म तीनों में रहती है। इसलिए सत्ता के द्वारा सीधा सम्बन्ध कर्मत्व का है। कर्म के भेदों—आकुंचन, प्रसारण आदि—को सत्ता परम्परा से व्याप्त करती है, पहले कर्मत्व को व्याप्त करती है, तब भेदों को।]

सामान्य—(Generality) उसे कहते हैं जो प्रध्वंस (विनाश) का प्रतियोगी (अर्थात् विनाशी Destructible) न हो तथा अनेक पदार्थों में समवेत (Inherent) हो। [नाश का प्रतियोगी (साथ देनेवाला, सामने पड़ने वाला) विनाशी पदार्थ होता है, इसलिए प्रध्वंस का प्रतियोगी = विनाशी, प्रध्वंस-प्रतियोगित्व = विनाशित्व, उससे रहित = अविनाशी। तात्पर्य यह है कि सामान्य का विनाश नहीं होता। जिस वस्तु की जाति मानी जाती है उसके पदार्थों के नष्ट होने पर भी जाति यथापूर्व स्थित रहती है—उसका विनाश नहीं होता। भारतीयों के मरने पर भी भारतीयता ज्यों की त्यों रहती है, घट के नष्ट होने पर भी घटत्व रहता है। दूसरे, जाति या सामान्य की स्थिति समवाय-सम्बन्ध से अनेक पदार्थों में रहती है, एक ही पदार्थ में नहीं। केवल अविनाशी होने से तो दिक् , काल आदि में भी अतिव्याप्ति हो जायगी। इन्हें व्यावृत्त (Exclude) करने के लिए ही 'अनेक-समवेत' विशेषण लगाया गया है। दिक्, काल अनेक पदार्थों में नहीं रहते जब कि घटत्व एक ही साथ संसार के सारे घटों में है।]

विशेष—(Particularity) वह है जो समवाय-सम्बन्ध से अवस्थित हो तथा जो अन्योन्याभाव का विरोध करनेवाले सामान्य से रहित हो। [अन्योन्याभाव उस अभाव को कहते हैं जब एक दूसरे में एक दूसरे का अभाव होता है, घट और पट का पारस्परिक भेद अन्योन्याभाव है। परमाणुओं में जो आपस में भेद है वह भी अन्योन्याभाव है। इस भेद को समझने के लिए

विशेष की आवश्यकता है। अन्योन्याभाव का विरोध करने वाले सामान्य इसमें नहीं रहते। सामान्य से रहित होने से द्रव्य गुण और कर्म से इसका पार्थक्य प्रकट होता है। अन्योन्याभाव का विरोधी कहने से सामान्य से व्यावृत्ति होती है। सामान्य का सामान्य नहीं होता, यह सर्वविदित है। किन्तु यह ध्यातव्य है कि **सामान्य में सामान्य का अभाव इसलिए मानते हैं कि अनवस्था दोष न प्राप्त हो जाय,** इसलिए नहीं कि वह अन्योन्याभाव का विरोध करेगा। विशेषों में एक दूसरे के साथ अन्योन्याभाव रहता है, कोई विशेष समान नहीं होता कि एक जाति में उन्हें रखें। प्रत्येक विशेष विशेष है (Type in itself)। यदि विशेषों की जाति होने लगे तो विशेषता उनमें छिन जायगी, समानता होने लगेगी। सामान्य और विशेष में सम्बन्ध कैसा ? सभी विशेष अन्योन्याभाव की प्रतीति कराते हैं। इसमें सामान्य लेने से उनके इस स्वभाव की हानि होगी। इसलिए विशेषों में सामान्य का अभाव इसी से सिद्ध होता है कि **इनमें सामान्य मानने से अन्योन्याभाव की प्रतीति नहीं होगी।** यही कारण है कि विशेष अन्योन्याभाव का विरोध होने के कारण सामान्य से रहित होता है। विशेष को समवेत मानने से इसका पार्थक्य समवाय-नामक पदार्थ से स्पष्ट होता है। समवाय में दूसरा समवाय नहीं होता जिससे वह समवेत भी नहीं हो सकता।]*

समवाय से रहित सम्बन्ध को **समवाय** (Inherence) कहते हैं, इस प्रकार छहों पदार्थों के लक्षण पृथक्-पृथक् कहे गये। [जिस सम्बन्ध का समवाय नहीं हो वही समवाय है। इसके द्वारा संयोग-सम्बन्ध का विभेद किया जाता है। संयोग गुण है, संयोगी पदार्थों में वह समवाय-सम्बन्ध से अवस्थित हो सकता है। वास्तव में समवाय वह है जब दो पदार्थों में नित्य सम्बन्ध हो, जैसे पृथिवी और गन्ध में समवाय है। अब इस समवाय में कोई दूसरा समवाय नहीं होगा। दूसरी ओर दो वस्तुओं में संयोग (थोड़ी देर के लिए) सम्बन्ध हुआ है। संयोग और उन वस्तुओं के बीच समवाय हो सकता है। अब आगे नहीं बढ़ सकेंगे कि फिर समवाय का समवाय होगा।]

---

* जिन वस्तुओं में अवयव होते हैं उनके व्यक्तियों (Individuals) को अवयवों का अन्तर देखकर पहचाना जा सकता है। किन्तु ऐसे भी पदार्थ हैं जिनके अवयव नहीं हैं जैसे—आकाश, काल, दिक्, परमाणु (पृथिवी, जल आदि के), जीव आदि। इनके व्यक्तियों को जानने के लिए ही विशेष की आवश्यकता पड़ती है। विशेष का विवेचन वैशेषिकों का अपूर्व प्रयास है जिससे दर्शन का नाम ही पड़ा है।

(६. द्रव्य के भेद और उनके लक्षण)

द्रव्यं नवविधं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि इति । तत्र पृथिव्यादिचतुष्टयस्य पृथिवीत्वादिजातिर्लक्षणम् ।

पृथिवीत्वं नाम पाकजरूपसमानाधिकरणद्रव्यत्वसाक्षाद्-व्याप्यजातिः । अप्त्वं नाम सरित्सागरसमवेतत्वे सति ज्वलना-समवेतं सामान्यम् ।

द्रव्य नौ प्रकार का है—पृथिवी, अप् (जल), तेजस् (अग्नि), वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मन् और मनस् । उनमें पृथिवी आदि प्रथम चार द्रव्यों के लक्षण हैं पृथिवीत्व आदि की जाति । [पृथिवी का लक्षण पृथिवीत्व की जाति, अप् का लक्षण अप्त्व-जाति, तेजस् का लक्षण है-तेजस्त्व-जाति, वायु का लक्षण वायुत्व-जाति । जिस प्रकार द्रव्य, गुण, कर्म के लक्षणों में उनके सामान्यों का उल्लेख होता है उसी प्रकार इन द्रव्यों के लक्षण में भी इनके सामान्य के द्वारा ही इन्हें लक्षित (Define) किया जाता है । अब इनके सामान्यों के लक्षण दिये जाते हैं । यह द्रविड़-प्राणायाम न्याय-वैशेषिकों की विशेषता है । किसी बात को सीधे कहने में नाना प्रकार की आपत्तियाँ होती हैं, इसलिए तौल-तौल कर एक एक शब्द पर ध्यान रखते हुए वे लक्षण देते हैं । इसके लिए चाहे जितना पर्यटन करना पड़े ।]

पृथिवी-सामान्य का लक्षण—जो पाक (अग्नि-संयोग) से उत्पन्न रूप के समानाधिकरण (Identical) हो तथा द्रव्य-सामान्य के द्वारा सीधे व्याप्त हो सके, उसी जाति को पृथिवी-जाति कहते हैं । [पाक = तेज का संयोग । इसी से पृथिवी में रूपादि गुणों का परावर्तन (Reflection) होता है । जिस प्रकार पके हुए आम के फल में पीत-रूप आदि परावृत्त होते हैं उसी प्रकार पृथिवी में भी उक्त क्रिया होती है । यह बात जलादि द्रव्यों में नहीं पायी जाती । जल में अग्नि-संयोग होने पर भले ही उष्ण-स्पर्श का अनुभव होता है किन्तु जल में स्वतः विद्यमान शीत-स्पर्श का परावर्तन नहीं होता । जल में प्रविष्ट होने वाले अग्नि-कणों के साथ-साथ ही उष्णता स्थित है, जल के साथ नहीं । उष्णता की प्रतीति होने के समय भी जल वास्तव में शीतल ही है । उस समय शीतस्पर्श का भान नहीं हो रहा है, यह दूसरी बात है । उक्त लक्षण में 'पाकज-रूप-समानाधिकरण' यह विशेषण लगाने से जलत्व आदि में अतिव्याप्ति नहीं होती । यहाँ यह स्मरणीय है कि जिस जाति का लक्षण

करना अभीष्ट हो उससे भिन्न सभी जातियों को पृथक् कर देना चाहिए। ये पृथक् करने योग्य जातियाँ दो प्रकार की हो सकती हैं—या तो लक्ष्य (Defined) जाति के समानाधिकरण हो या उससे व्यधिकरण हो। सजातीय-विजातीय पदार्थों से पृथक् करके लक्ष्य को लक्षित करना ही लक्षण का काम है। समानाधिकरण जातियाँ भी दो प्रकार की होती हैं—कुछ ऐसी हैं जो लक्ष्य की जाति के द्वारा व्याप्त होती हैं और कुछ उन्हें ही व्याप्त करती हैं। अस्तु, यहाँ 'पाकजरूप-समानाधिकरण' के पृथिवीत्व से व्यधिकरण में पड़ने वाली जलत्व आदि सारी जातियों की व्यावृत्ति होती है। जो दो प्रकार की (व्याप्य + व्यापक) समानाधिकरण जातियाँ हैं उनकी व्यावृत्ति (Exclusion) 'द्रव्यत्व के द्वारा सीधे व्याप्य' इस विशेषण से होती है। पृथिवीत्व को व्याप्त करने वाली जातियाँ हैं—द्रव्यत्व (जो सीधे व्याप्त करती है) और सत्ता (जो परम्परा से व्याप्त करती है)। ये दोनों ही द्रव्यत्व के द्वारा व्याप्त नहीं होतीं क्योंकि व्याप्त करने के लिए अधिक क्षेत्र होना चाहिए। दूसरी ओर, पृथिवीत्व के द्वारा व्याप्त होने वाली घटत्व आदि जातियाँ हैं जो द्रव्यत्व के द्वारा व्याप्त होती तो हैं पर सीधे नहीं। द्रव्यत्व पहले पृथिवीत्व को व्याप्त करता है फिर घटत्व को। इस प्रकार लक्षण के पद अन्य जातियों को व्यावृत्त करते हैं।]

अप्-सामान्य का लक्षण—जलत्व ऐसा सामान्य है जो सरिताओं और सागरों में समवेत हो किन्तु ज्वलन से समवेत न हो। [सरिताओं और सागरों के साथ जल का समवाय-सम्बन्ध होता है। इस विशेषण का प्रयोग होने से उन जातियों की व्यावृत्ति होती है जो जलत्व से व्यधिकरण में हैं जैसे पृथिवीत्व आदि। इसके साथ सरिताओं-सागरों का संयोग भले ही हो समवाय नहीं हो सकता। इसी विशेषण से उन जातियों की भी व्यावृत्ति (निरास exclusion) होती है जो जलत्व के द्वारा व्याप्त हो सकती हैं जैसे सरित्त्व, सागरत्व आदि। सरित् से सरित्त्व भले ही सतवेत हो क्योंकि वह उसकी जाति है किन्तु सागरत्व तो नहीं होगा। उसी प्रकार सागर से सरित्त्व समवेत नहीं हो सकता। जलत्व-जाति सरित्-सागर दोनों से एक ही साथ समवेत है जबकि सरित्त्व और सागरत्व की जातियाँ सरित् और सागर से क्रमशः (Respectively) समवेत होती हैं। यही कारण है कि इस विशेषण से उनकी व्यावृत्ति हो जाती है। यही नहीं, कूपत्व-तड़ागत्व आदि जातियों के लिए तो किसी में चारा नहीं—न सरित् में, न सागर में। अब बचीं वे जातियाँ जो जलत्व को ही व्याप्त करती हैं जैसे द्रव्यत्व और सत्ता। जिस समय 'ज्वलन से समवेत न होना' कहते हैं, उसी समय इनकी व्यावृत्ति हो जाती है, द्रव्यत्व भी ज्वलन से समवेत होता है, सत्ता भी ज्वलन से समवेत है क्योंकि सत्ता या द्रव्यत्व में तेजस् या ज्वलन आता है

तो परम्परया या सीधे वह उक्त दोनों से भी समवेत ही है। जलत्व में ज्वलन नहीं होता, होता है तो समवाय-रूप में नहीं। अग्निकणों का प्रवेश और निस्सरण क्षणिक है।]*

तेजस्त्वं नाम चन्द्रचामीकरसमवेतत्वे सति सलिलासमवेतं सामान्यम्। वायुत्वं नाम त्वगिन्द्रियसमवेतद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिः।

आकाशकालदिशामेकैकत्वादपरजात्यभावे पारिभाषिक्यस्तिस्रः संज्ञा भवन्ति। आकाशं कालो दिगिति।

तेजस्त्व—ऐसा सामान्य है जो चन्द्र और स्वर्ण (चामीकर) के साथ समवेत हो किन्तु जल से समवेत न हो। [उपर्युक्त जलत्व की तरह इसकी भी व्याख्या होगी। तेजस्त्व और चन्द्र-चामीकर में समवाय-सम्बन्ध होता है, इस विशेषण के द्वारा तेजस्त्व से व्यधिकरण में स्थित पृथिवीत्व, जलत्व आदि जातियों का निरास होता है। पृथिवी से चन्द्र या स्वर्ण का संयोग-सम्बन्ध हो जाय (यदि इनमें गन्ध का प्रवेश हो) तो हो जाय पर समवाय-सम्बन्ध संभव नहीं। पुनः, तेजस्त्व के द्वारा व्याप्त होनेवाली चन्द्रत्व, स्वर्णत्व आदि जातियों का भी निरसन इसी से होता है क्योंकि चन्द्र चन्द्रत्व से समवेत हो सकता है, स्वर्णत्व से नहीं। स्वर्ण भी स्वर्णत्व से समवेत हो सकता है, चन्द्रत्व से नहीं। दीपक बेचारा किसी से समवेत नहीं होगा। किन्तु तेजस् दोनों से एक ही साथ समवेत रहता है। तेजस्त्व जल से समवेत नहीं होता, इस विशेषण के द्वारा तेजस्त्व को ही व्याप्त करनेवाली जातियों—जैसे सत्ता, द्रव्यत्व—की व्यावृत्ति होती है। ये दोनों जातियाँ परम्परया या सीधे ही सलिल के साथ समवाय-संबंध रखती हैं। तेजस्त्व (ज्वलनत्व) का अस्थायी रूप में जल से संबंध होता है समवाय नहीं।]

वायुत्व—ऐसी जाति है जो त्वचा की इन्द्रिय (स्पर्शेन्द्रिय) से समवेत हो तथा द्रव्यत्व के द्वारा सीधे व्याप्त हो सके। [वायु के साथ स्पर्शेन्द्रिय संबद्ध है।

---

* यह ध्येय है कि वैशेषिकों की ये सारी परिभाषायें निषेधात्मक हैं—दूसरों की व्यावृत्ति ही मुख्य ध्येय है, स्वरूप का प्रकाशन नहीं। दूसरे शब्दों में ये ऐसा भवन बनाते हैं जिसमें प्रतिरक्षा पर ही विशेष ध्यान रहता है, निवास की सुख-सुविधाओं पर नहीं। भय जो न कराये। कोई चढ़ाई कर दे तो? उस समय सारी सुविधायें व्यर्थ हो जायेंगी।

वायु के कारण ही स्पर्श का अनुभव होता है। द्रव्यत्व में वायु भी आता है इसलिए साक्षाद्व्याप्त होता है।]

आकाश, काल और दिक्—ये तीनों अकेले-अकेले हैं। इसलिए इनके ऊपर कोई जाति नहीं। यही कारण है कि पारिभाषिक संज्ञायें ये तीनों स्वयं हैं—आकाश, काल और दिक्। [उपर्युक्त द्रव्यों में पारिभाषिक संज्ञायें उनकी जातियाँ थीं जैसे—पृथिवी का पृथिवीत्व, जल का जलत्व। परन्तु यहाँ सीधे आकाश का ही लक्षण होगा—आकाशत्व का नहीं। आकाश एक होता है। जाति तभी होती है जब अनेकता हो। अनेक गौ होने पर ही गोत्व का प्रयोग होता है। सामान्य (समानता, जाति) के लिए न्यूनतम दो व्यक्ति रहने ही चाहिएँ अन्यथा समानता किसमें ?]

संयोगाजन्यजन्यविशेषगुणसमानाधिकरणविशेषाधिकरणमाकाशम्। विभुत्वे सति दिगसमवेतपरत्वासमवायिकारणाधिकरणः कालः। अकालत्वे सति अविशेषगुणा महती दिक्।

आकाश का लक्षण—संयोग से उत्पन्न न होने वाले (संयोगाजन्य) तथा अनित्य (जन्य) [आकाश के] विशिष्ट गुण के साथ जो विशेष समानाधिकरण (समान) हो उसी विशेष का आधार आकाश है। [ऊपर देख चुके हैं कि विशेष नामक पदार्थ केवल नित्य द्रव्यों के साथ अवस्थित रहता है। आकाश भी नित्य है, इसीलिए इसमें कोई विशेष अवश्य ही होगा। दूसरे शब्दों में, आकाश विशेष का आधार या अधिकरण है। आकाश में एक विशिष्ट गुण (Special quality) है शब्द। इस शब्द के साथ ही आकाश में अवस्थित विशेष समानाधिकरण है। कारण यह है कि शब्द का आधार भी आकाश है, उस विशेष का भी आधार आकाश है। आधार या अधिकरण की समानता के कारण दोनों समानाधिकरण हैं। इस लक्षण में उस विशिष्ट गुण (शब्द) के दो विशेषण हैं—संयोगाजन्य तथा जन्य। शब्द जन्य अर्थात् अनित्य है, उत्पन्न किया जाता है इसलिए अनित्य है। यह ध्येय है कि मीमांसक और वैयाकरण लोग शब्द को नित्य मानते हैं, जब कि नैयायिक और वैशेषिक उसे अनित्य स्वीकार करते हैं। संयोग से उत्पन्न न होना भी शब्द का धर्म है। वैशेषिकों के यहाँ विभाग से उत्पन्न तथा शब्द से उत्पन्न शब्द की सत्ता मानी जाती है।

अब हम लक्षण के तार्किक पक्ष पर चलें। 'विशेषाधिकरण' कहने से द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि, गुण, कर्म आदि तथा सभी अनित्य द्रव्यों की व्यावृत्ति होती है। विशेष केवल नित्य पदार्थ में ही रह सकते हैं। विशेष गुण को संयोग

से अजन्य तथा जन्य (अनित्य) भी होना चाहिए। देखिए, पृथ्वी के परमाणुओं में स्थित रूपादि गुण यद्यपि जन्य (उत्पन्न होने के कारण अनित्य) हैं किन्तु संयोग से उत्पन्न न होते हों, ऐसी बात नहीं है। ये विशेष गुण पाकज अर्थात् तेज के संयोग से उत्पन्न होते हैं। जल, तेज और वायु के परमाणुओं में जो विशेष गुण हैं वे जन्य ही नहीं हैं, प्रत्युत नित्य हैं। दिक्, काल और मन में कोई विशेष गुण है ही नहीं। परमात्मा में अवस्थित जो बुद्धि आदि विशेष गुण हैं वे नित्य हैं, जन्य नहीं। जीवात्मा के बुद्धि आदि गुण जन्य हैं पर संयोगाजन्य नहीं क्योंकि वे मन के संयोग से उत्पन्न होते हैं (तो संयोगजन्य ही हुए, संयोगाजन्य नहीं)। तो, सभी दशाओं में आकाश ही ऐसा बचता है जो संयोगाजन्य तथा जन्य विशेष गुण को धारण करता है तथा उस गुण के समानाधिकरण विशेष का भी आधार है।

इस लक्षण में कहना केवल इतना ही था कि शब्द जिसका गुण हो वही आकाश है। इतना घटाटोप वैचित्र्य का प्रदर्शन करने के लिए ही हुआ है। हाँ, यह कह सकते हैं कि विशेष का आधार होने पर किन-किन में परस्पर साधर्म्य होगा या विशेष गुण के समानाधिकरण विशेष का आधार होने पर किन में साधर्म्य होगा—इस प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता तब पड़ती है जब इसी लक्षण के अनुमान में हम व्याप्ति के उदाहरण दिखलाने लगते हैं। आकाश का लक्षण वास्तव में संसृष्ट (Complicated) हो गया है।]

काल का लक्षण—काल वह द्रव्य है जो व्यापक (विभु pervasive) हो तथा दिक् (Space) से असमवेत परत्व के असमवायि-कारण का अधिकरण हो। [परत्व (Distance) दो प्रकार का होता है—स्थानगत अर्थात् समीप की वस्तु की अपेक्षा दूरस्थ वस्तु में विद्यमान परत्व (Spatial distance) तथा कालगत अर्थात् छोटी अवस्थावाले पदार्थ की अपेक्षा बड़ी अवस्था वाले पदार्थ में विद्यमान परत्व (Temporal distance)। **स्थानगत परत्व** का असमवायि-कारण होता है दिक् (स्थान) और वस्तु का संयोग। इसमें दिक् समवेत रहता है और काल असमवेत, क्योंकि संयोग दो ही पदार्थों का हो सकता है। **कालगत परत्व** का असमवायी कारण है काल और वस्तु का संयोग। इसमें दिक् असमवेत रहता है, काल समवेत। काल इसी का आधार है अर्थात् काल में ही काल-वस्तु-संयोग होता है। 'विभु' का प्रयोग करने से ज्येष्ठ में अतिव्याप्ति नहीं होती। संयोग चूँकि दो वस्तुओं का होता है इसलिए काल और ज्येष्ठ वस्तु दोनों में उसकी सत्ता रह सकती है। अन्तर यही है कि काल विभु होता है, ज्येष्ठ वस्तु विभु नहीं हो सकती। 'परत्व' का प्रयोग करने

से आकाश और आत्मा में अतिव्याप्ति रुकती है क्योंकि आकाश या आत्मा परत्व का असमवायी कारण नहीं हो सकती। 'दिक् से असमवेत' कहने से दिशा में अतिव्याप्ति रुकती है।]

दिक् का लक्षण—जो काल न हो, किसी विशेष गुण से रहित हो तथा महती (विभु, व्यापक) हो वही दिक् है। [काल में अतिव्याप्ति रोकने के लिए 'अकाल' कहते हैं। काल भी विशेष गुण से शून्य तथा विभु होता है। दिक् उक्त विशेषणों से युक्त होने पर भी काल नहीं है। आकाश और आत्मा में अतिव्याप्ति रोकने के लिए 'विशेष गुण से रहित' ऐसा विशेषण लगाया गया है। आकाश का विशेष गुण शब्द है, आत्मा का बुद्धि आदि। ये दोनों अकाल हैं तथा विभु हैं किन्तु विशेष गुण से रहित नहीं हैं। मन में अतिव्याप्ति रोकने के लिए 'महती' कहा गया है। मन अकाल भी है, विशेष गुण से रहित भी, किन्तु विभु नहीं है। इसीलिए यह लक्षण केवल दिक् का ही हुआ।]

आत्ममनसोरात्मत्वमनस्त्वे। आत्मत्वं नामामूर्तसमवेत-द्रव्यत्वापरजातिः। मनस्त्वं नाम द्रव्यसमवायिकारणत्वरहिताणु-समवेतद्रव्यत्वापरजातिः।

आत्मन् और मनस् के लक्षण हैं आत्मत्व अर्थात् आत्मा का सामान्य तथा मनस्त्व अर्थात् मन का सामान्य। [अब इन दोनों सामान्यों के लक्षण दिये जायँगे।]

आत्मत्व का लक्षण—आत्मत्व ऐसी जाति है जो मूर्त द्रव्यों में समवेत न हो तथा द्रव्यत्व के द्वारा व्याप्त होती है। [पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन—ये पाँच मूर्त द्रव्य हैं। उनमें उन-उन द्रव्यों की जातियाँ समवेत रहती हैं। उन सबों का निरसन इसी विशेषण से होता है—अमूर्तसमवेत। आकाश, काल और दिक् एक-एक ही हैं, इसलिए उनमें तो जाति का ही प्रश्न नहीं उठता। इस प्रकार आत्मत्व-जाति ही लक्षित होती है।]

मनस्त्व का लक्षण—जो अणु (Atoms) द्रव्य का समवायि-कारण नहीं हो सकते उन अणुओं में समवेत (Eternally connected) तथा द्रव्यत्व के द्वारा व्याप्त होनेवाली जाति को मनस्त्व-जाति कहते हैं। [मन के परमाणु ऐसे हैं जो किसी द्रव्य का समवायि-कारण नहीं बन सकते। पृथिवी, जल, तेज और वायु के परमाणुओं का संयोग होने पर उन द्रव्यों के द्व्यणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक आदि बनते हैं। इस प्रकार वे परमाणु द्व्यणुकादि के समवायि-कारण होते हैं। मन इनसे पृथक् है क्योंकि इसके अणु समवायि-कारण

नहीं हैं। अणु कहने से उन पदार्थों की व्यावृत्ति होती है जो विभु है जैसे—आकाश, काल, दिक् आत्मा। मन अणु होता है।

इस प्रकार नौ द्रव्यों के लक्षण समाप्त हुए। उन द्रव्यों में पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आत्मा, मन की जातियाँ हैं, जब कि आकाश, काल और दिक् अकेले हैं।]

(७. गुण के भेद और उनके लक्षण)

रूप-रस-गन्ध - स्पर्श-संख्या - परिमाण -पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-बुद्धि-सुखदुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्नाश्च कण्ठोक्ताः सप्तदश, चशब्दसमुच्चिता गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-संस्कारादृष्ट-शब्दाः सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः।

तत्र रूपादिशब्दान्तानां रूपत्वादिजातिर्लक्षणम्। रूपत्वं नाम नीलसमवेतगुणत्वापरजातिः। अनया दिशा शिष्टानां लक्षणानि द्रष्टव्यानि।

गुण चौबीस होते हैं। उनमें सत्रह तो साक्षात् कणाद के मुख से ही कहे गये हैं—रूप (Colour), रस (Taste), गन्ध (Smell), स्पर्श (Touch), संख्या (Number), परिमाण (Magnitude), पृथक्त्व (Distinctness), संयोग (Conjunction), विभाग (Disjunction), परत्व (Remoteness), अपरत्व (Nearness), बुद्धि (Cognition), सुख (Pleasure), दुःख (Pain), इच्छा (Desire), द्वेष (Aversion), प्रयत्न (Effort)। जिस सूत्र में कणाद ने इनका उल्लेख किया है उसमें 'च (और)' शब्द आया है, इससे सात और गुणों का भी समुच्चय (Addition) होता है—गुरुत्व (Heaviness), द्रवत्व (Fluidity), स्नेह (Viscidity), संस्कार (Tendency), अदृष्ट अर्थात् धर्म (Merit), और अधर्म (Demerit), शब्द (Sound)। [कणाद ने अपने वैशेषिक-सूत्र १।१।५ में सत्रह गुणों का इस प्रकार उल्लेख किया है—रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः। ये सत्रह गुण कणाद के कण्ठ से कहे गये हैं। 'च' (भी) का प्रयोग बतलाया है कि कुछ गुण और भी उन्हें कहने को हैं। उन सात गुणों का समुच्चय होता है। मेरी समझ में वास्तव में 'च' के द्वारा सात

गुणों का समुच्चय नहीं होता। सूत्र में पृथक्-पृथक् गुणों का निर्देश किया गया है। प्रयत्न अंतिम गुण है उसी का सम्बन्ध शेष गुणों के साथ दिखलाना 'च' को अभीष्ट है। बाद में टीकाकारों ने चौबीस गुण बनाये तथा 'च' की नई व्याख्या की।]

उनमें रूप से लेकर शब्द पर्यन्त जितने गुण हैं (अर्थात् चौबीस) उनके लक्षण हैं रूपत्व आदि की जाति। [जिस प्रकार द्रव्यों के लक्षण में जाति द्वारा लक्षण दिया जाता है उसी प्रकार गुणों के लक्षण में भी जाति का प्रयोग होता है।] रूपत्व-जाति वह है जो नील से समवेत हो और गुणत्व के द्वारा व्याप्त होती है। [रसत्व, गन्धत्व आदि जातियाँ नील से समवेत नहीं रहतीं]।

इसी रीति से अवशिष्ट गुणों के लक्षण भी देखे जा सकते हैं। [विशेष ज्ञान के लिए तर्कसंग्रह, सिद्धान्तमुक्तावली या वैशेषिकसूत्र ही देखे जायँ।]

(८. कर्म आदि के भेद)

कर्म पञ्चविधम्। उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनभेदात्। भ्रमणरेचनादीनां गमन एवान्तर्भावः। उत्क्षेपणादीनामुत्क्षेपणत्वादिजातिर्लक्षणम्। तत्रोत्क्षेपणत्वं नामोर्ध्वदेशसंयोगासमवायिकारणसमवेतकर्मत्वापरजातिः। एवमपक्षेपणत्वादीनां लक्षणं कर्तव्यम्।

कर्म के पाँच भेद हैं—उत्क्षेपण (Throwing upwards), अपक्षेपण (Throwing downwards), आकुंचन (सिकुड़ना Contraction), प्रसारण (Expansion) तथा गमन (Motion)। भ्रमण (घूमना), रेचन (खाली करना) आदि कर्मों को गमन में ही समाहित कर लेते हैं। उत्क्षेपण आदि कर्मों का लक्षण है उत्क्षेपणत्व आदि की जाति। तो उत्क्षेपणत्व का अर्थ है वैसी जाति जो कर्मत्व के द्वारा व्याप्त होती है तथा ऊपरी स्थानों के साथ संयोग के असमवायी कारण (अर्थात् कर्मविशेष) से समवेत रहती है। [तात्पर्य यह है कि ऊर्ध्वदेश के साथ संयोग करने का हेतु ही **उत्क्षेपण** नामक कर्म है।] इसी प्रकार अपक्षेपण आदि की जातियों के भी लक्षण कर लेना चाहिए।

विशेष—उत्क्षेपण का अर्थ है ऊपर फेंकना, अपक्षेपण = नीचे फेंकना (अधोदेश से संयोग का कारण)। आकुंचन = वस्तुओं का वक्र होना या वस्तु

के अवयवों का निकटतर आ जाना। प्रसारण = वस्तुओं का सीधा हो जाना या उनके अवयवों का दूर हो जाना। इन कर्मों के अतिरिक्त सारे कर्म गमन में आते हैं। भाषा-परिच्छेद (७) में कहा गया है—

भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च।
तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते॥

घूमना-फिरना, खाली करना, प्रवाहित होना, ऊपर की ओर जलना, तिरछा चलना आदि सारी क्रियायें गमन में ही समझी जाती हैं। गमन का क्षेत्र इतना व्यापक हो जाता है कि हमें उत्क्षेपण आदि प्रथम चार कर्मों की पृथक् सत्ता पर भी संदेह होने लगता है। पर सूत्रकार की स्वतंत्र इच्छा पर कौन प्रश्न करे?

सामान्यं द्विविधं परमपरं च। परं सत्ता द्रव्यगुणसमवेता। अपरं द्रव्यत्वादि। तल्लक्षणं प्रागेवोक्तम्।

विशेषाणामनन्तत्वात् समवायस्य चैकत्वाद् विभागो न संभवति। तल्लक्षणं च प्रागेवावादि।

सामान्य दो प्रकार का है—पर (Highest) और अपर (Lower)। पर सामान्य (Summum Genus) तो सत्ता ही है जो द्रव्य और गुण से समवेत है। [केवल द्रव्य का नाम लेने से द्रव्यत्व में अतिव्याप्ति हो जाती, केवल गुण का नाम लेने से गुणत्व में। इसलिए दोनों में समवेत कहा गया है। यह भी कह सकते हैं कि कर्म में भी समवेत होती है किन्तु दो से ही काम चल जाता है—लक्षण में तो कम से कम शब्द न होने चाहिए ?] अपर सामान्य तो द्रव्यत्व आदि हैं जिनके लक्षण पहले ही दिये जा चुके हैं। [कितने लोग पर, अपर और परापर ये तीन सामान्य मानते हैं। पर तो सर्वोच्च सामान्य है जैसे-सत्ता। अपर नीचे का सामान्य है जैसे-पृथिवीत्व। परापर वह है जो किसी सामान्य की अपेक्षा पर हो, किसी की अपेक्षा अपर, जैसे—द्रव्यत्व पृथिवीत्व की अपेक्षा पर (ऊपर) है किन्तु सत्ता की अपेक्षा तो अपर (नीचे) है।]

विशेष अनन्त प्रकार के हैं और **समवाय** तो एक ही तरह का है, इसलिए इनका विभाजन करना संभव ही नहीं है। जहाँ तक इनके लक्षणों का प्रश्न है, हम उन्हें पहले ही देख चुके हैं।

विशेष—यहाँ पर वैशेषिक-दर्शन के आधारभूत पदार्थों का विवेचन समाप्त हो गया। अब इसके कुछ गम्भीर विषयों में माधवाचार्य प्रवेश कर रहे हैं। वे विषय हैं—द्वित्व की उत्पत्ति, पाकज की उत्पत्ति, विभागज विभाग

इत्यादि। इनका विचार कर लेने पर अभाव का निरूपण होगा और वहीं इस दर्शन का अन्त हो जायगा।

(९. द्वित्व आदि की उत्पत्ति का विवेचन)

३. द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः॥

इत्याभाणकस्य सद्भावाद् द्वित्वाद्युत्पत्तिप्रकारः प्रदर्श्यते।

"पक्का वैशेषिक उसी को कहते हैं जिसकी बुद्धि द्वित्व (Duality) की संख्या के विषय में, पाकज उत्पत्ति (अग्नि-संयोग के कारण होने वाले परिवर्तन) के विषय में तथा विभाग (Disjunction) से उत्पन्न होने वाले विभाग के विषय में स्खलित (च्युत) नहीं होती। (तात्पर्य यह है कि वैशेषिक-दर्शन में इन तीनों की विवेचना विशेष रूप से की जाती है।)" ऐसी लोकोक्ति संसार में प्रचलित है, इसलिए अब यहाँ द्वित्व आदि की उत्पत्ति की विधि दिखलाई जायगी।

विशेष—गुणों में एक गुण संख्या भी है, जिससे हम एक-दो-तीन आदि का व्यवहार करते हैं। इनमें एकत्व ही मुख्य नैसर्गिक संख्या है जो आधार वस्तु की प्रकृति के अनुसार नित्य या अनित्य होती है—यदि नित्य पदार्थ में (जैसे आकाश में) एकत्व हो तो वह नित्य होता है, यदि अनित्य वस्तु में रहे तो यही एकत्व अनित्य हो जाता है। एकत्व के अतिरिक्त सारी संख्यायें कृत्रिम तथा अनित्य हैं। हम अपनी बुद्धि के कारण द्वित्व, त्रित्व, बहुत्व आदि की कल्पना करते हैं क्योंकि व्यावहारिक दशा में उसकी आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार एकत्व जहाँ वस्तु में स्वभावतः स्थित है, द्वित्व बुद्धि (= अपेक्षाबुद्धि) पर निर्भर करता है, बुद्धि के द्वारा ही वस्तुओं पर द्वित्व-त्रित्वादि का आरोपण होता है। अपेक्षाबुद्धि उसे कहते हैं जिससे यह ज्ञान होता है कि यह एक है, यह दूसरा है। अनेक पदार्थों में एक-एक का बोध इसी से होता है (अनेकैकत्व-विषयिणी बुद्धिः)।

अपेक्षाबुद्धि और द्वित्व के सम्बन्ध के विषय में मीमांसकों और वैशेषिकों में मतभेद है। मीमांसक कहते हैं कि जिस समय दो घट एक साथ होते हैं उसी समय द्वित्व संख्या उत्पन्न हो जाती है। बाद में इन्द्रियों के साथ घटों का संनिकर्ष (contact) होने पर 'यह एक घट है, वह दूसरा' इस प्रकार की अपेक्षाबुद्धि के द्वारा द्वित्व का ज्ञान होता है। द्वित्व पहले से वर्तमान है जिसकी अभिव्यक्ति (manifestation) अपेक्षाबुद्धि के द्वारा होती है। अपेक्षाबुद्धि

द्वित्व को उत्पन्न नहीं करती। वैशेषिकों का विचार ठीक उलटा है। वे कहते हैं कि जब द्वित्व संख्या अज्ञात है (जैसा कि मीमांसक अपेक्षाबुद्धि के पहले उसे मानते हैं) तब उसे स्वीकार करना ही निरर्थक है। इसलिए उसकी सत्ता (ज्ञात या अज्ञात भी) तभी होती है जब अपेक्षाबुद्धि उसे उत्पन्न करती है। इस दृष्टि से अपेक्षाबुद्धि के द्वारा द्वित्व संख्या की उत्पत्ति होती है, अभिव्यक्ति नहीं।

द्वित्व के नाश के विषय में भी दोनों के मत विरोधी ही हैं। मीमांसकों के अनुसार दो घटों के वियुक्त होने पर द्वित्व का नाश होता है, जब कि वैशेषिक अपेक्षाबुद्धि को भी लगाकर कई अवस्थाओं के बाद विनाश मानते हैं। वैशेषिकों की द्वित्वोत्पत्ति और द्वित्व-निवृत्ति अभी आगे मिलती है। आठ क्षणों में उत्पत्ति और उतने ही क्षणों में निवृत्ति (नाश) भी होती है। इनका वर्णन देखें।

(९ क. द्वित्व की उत्पति का क्रम)

तत्र प्रथमिन्द्रियार्थसंनिकर्षः (१)। तस्मादेकत्वसामान्यज्ञानम् (२)। ततोऽपेक्षाबुद्धिः (३)। ततो द्वित्वोत्पत्तिः (४)। ततो द्वित्वत्वसामान्यज्ञानम् (५)। तस्माद् द्वित्वगुणज्ञानम् (६)। ततो 'द्वे द्रव्ये' इति धीः (७)। ततः संस्कारः (८)। तदाह—

४. आदाविन्द्रियसंनिकर्षघटनादेकत्वसामान्यधी-
रेकत्वोभयगोचरा मतिरतो द्वित्वं ततो जायते।
द्वित्वत्वप्रमितिस्ततो नु परतो द्वित्वप्रमाऽनन्तरं
द्वे द्रव्ये इति धीरियं निगदिता द्वित्वोदयप्रक्रिया ॥इति।

सबसे पहले इन्द्रियों के साथ वस्तु (object) का संनिकर्ष (संबंध) होता है (प्रथम क्षण में दो घटों के साथ चक्षुओं का संबंध होता है)। उसके बाद दूसरे क्षण में एकत्व की जाति का ज्ञान होता है। तीसरे क्षण में अपेक्षाबुद्धि होती है [कि यह एक घट है, यह दूसरा]। चौथे क्षण में द्वित्व की उत्पत्ति होती है (= वस्तु में द्वित्व संख्या का बोध होता है)। पाँचवें क्षण में द्वित्वत्व की जाति का ज्ञान होता है। [चूँकि जाति का ज्ञान होने पर व्यक्ति का ज्ञान होता है इसीलिए अब] छठे क्षण में द्वित्व संख्या (गुण के रूप में) का ज्ञान होता है। इसके बाद सातवें क्षणमे 'ये दो द्रव्य हैं' इस

प्रकार [द्वित्व-संख्या से विशिष्ट द्रव्य] का ज्ञान होता है। अन्त में आत्मा में उक्त ज्ञान से संस्कार उत्पन्न होता है। [इन आठों क्षणों में उत्पन्न पदार्थों में पहलेवाला पदार्थ दूसरे का कारण होता है। बौद्धों के द्वादश निदान की तरह ये शृंखलाबद्ध हैं। इसीलिए इन्हें इस क्रम में बाँधा गया है।]

यही कहा गया है—"सबसे पहले इन्द्रियों के साथ [वस्तु का] संनिकर्ष होना, फिर एकत्व की जाति को बुद्धि (ज्ञान) होना, फिर दोनों वस्तुओं में एकत्व का अलग-अलग बोध कराने वाली बुद्धि (अपेक्षाबुद्धि) की उत्पत्ति, फिर द्वित्व की उत्पत्ति, उसके बाद द्वित्वत्व का ज्ञान, उसके बाद द्वित्व का ज्ञान, तब दो द्रव्यों की बुद्धि होना, [फिर द्वित्व का संस्कार]—इस प्रकार द्वित्व की उत्पत्ति की विधि बतलाई गई है।"

द्वित्वादेरपेक्षाबुद्धिजन्यत्वे किं प्रमाणम्? अत्राहुराचार्याः—अपेक्षाबुद्धिर्द्वित्वादेरुत्पादिका भवितुमर्हति। व्यञ्जकत्वानुपपत्तौ तेनानुविधीयमानत्वात्। शब्दं प्रति संयोगवदिति। वयं तु ब्रूमः—द्वित्वादिकमेकत्वद्वयविषयानित्यबुद्धिव्यङ्ग्यं न भवति। अनेकाश्रितगुणत्वात् पृथक्त्वादिवदिति।

अब प्रश्न हो सकता है कि क्या प्रमाण है कि द्वित्व आदि की उत्पत्ति अपेक्षाबुद्धि से होती है? इसके उत्तर में आचार्य (उदयन) कहते हैं कि अपेक्षाबुद्धि द्वित्वादि को उत्पन्न करने में समर्थ है। जब अपेक्षाबुद्धि को द्वित्वादि का व्यंजक सिद्ध नहीं कर पाते तब इस द्वित्वादि के द्वारा ही अपेक्षाबुद्धि की अपेक्षा (अनुविधान) की जाती है। जिस प्रकार शब्द के द्वारा अपेक्षित कंठादि स्थानों में संयोग होने से शब्द की उत्पत्ति होती है। [इस अत्यन्त संक्षिप्त उत्तर को यों समझें—जिस प्रकार व्यंग्य-अर्थ व्यंजक शब्द की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार उत्पाद्य अर्थ भी उत्पादक की अपेक्षा करता है। यहाँ पर द्वित्वादि संख्या अपेक्षाबुद्धि की अपेक्षा रखती है। पहले ही आघात में मीमांसकों की यह मान्यता काट देते हैं कि अपेक्षाबुद्धि द्वित्वादि का व्यंजक है। ऐसा तभी होता जब अपेक्षाबुद्धि के पूर्व द्वित्वादि की सत्ता सिद्ध होती, परन्तु उसके लिए तो कोई प्रमाण ही नहीं है। तो, अपेक्षाबुद्धि की व्यंजकता सिद्ध नहीं होती। अब अपेक्ष्यमाणता (अपेक्षा) माननी पड़ेगी।* जहाँ-जहाँ अपेक्षा होती है वहाँ-वहाँ उत्पादकता रहती है (जिसकी अपेक्षा होगी, वह उत्पादक होगा)। उदा-

* सभी कारण या तो ज्ञापक होते हैं या जनक। अपेक्षाबुद्धि यदि ज्ञापक नहीं है, तो जनक है।

हरणार्थ शब्द के द्वारा संयोग की अपेक्षा की जाती है कि कंठ-तालु आदि स्थानों में वायु का संयोग हो तो शब्द उत्पन्न होगा। यहाँ संयोग शब्द का उत्पादक है। इसी अनुमान से, द्वित्वादि संख्या के लिए अपेक्षाबुद्धि की आवश्यकता होने के कारण, द्वित्वादि की उत्पादक अपेक्षाबुद्धि की सिद्धि होती है। अभिप्राय स्पष्ट है, अब दूसरे तर्कों से उसी बात की सिद्धि की जायगी।]

हमारा यह कहना है—द्वित्व आदि की अभिव्यक्ति उस अनित्य बुद्धि (अपेक्षाबुद्धि) के द्वारा नहीं हो सकती जिसमें दो या उससे अधिक एकत्व ही विषय के रूप में आते हैं क्योंकि ये (द्वित्वादि) अनेक पदार्थों में आश्रित रहने वाले गुण हैं जिस तरह पृथक्त्व गुण [अनेक पदार्थों में ही रहता है।]

विशेष—इस दूसरे तर्क का यह अभिप्राय है। दो एकत्वों के विषय में अपेक्षाबुद्धि होती है कि एक यह है, एक यह। यह अपेक्षाबुद्धि अनित्य है। चूँकि द्वित्व अनेक पदार्थों में रहनेवाला गुण है इसलिए अपेक्षाबुद्धि के द्वारा इनकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। अभिव्यक्ति के लिए वस्तु का एकाश्रित रहना जरूरी है। द्वित्व-संख्या दो पदार्थों में रहती है, त्रित्व-संख्या तीन पदार्थों में रहती है इत्यादि। जैसे पृथक्त्व-गुण के लिए अनेक पदार्थों में रहना आवश्यक है—'हरि से श्याम पृथक् है, श्याम से शंकर।' इन उदाहरणों में पृथक्त्व (Separateness) की वृत्ति अनेक व्यक्तियों में है। इस प्रकार पृथक्त्व के विषय में होनेवाली अपेक्षाबुद्धि के द्वारा पृथक्त्व की अभिव्यक्ति नहीं होती। जब कोई वस्तु व्यंग्य नहीं है, तो जन्य होगी। निष्कर्ष यह हुआ कि **अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व आदि की उत्पत्ति होती है।**

(९ ख. द्वित्व की निवृत्ति का क्रम)

निवृत्तिक्रमो निरूप्यते—अपेक्षाबुद्धित एकत्वसामान्यज्ञानस्य द्वित्वोत्पत्तिसमकालं निवृत्तिः। अपेक्षाबुद्धेर्द्वित्वत्वसामान्यज्ञानाद् द्वित्वगुणबुद्धिसमसमयम्। द्वित्वस्यापेक्षाबुद्धिनिवृत्तेर्द्रव्यबुद्धिसमकालम्। गुणबुद्धेर्द्रव्यबुद्धितः संस्कारोत्पत्तिसमकालम्। द्रव्यबुद्धेस्तदनन्तरं संस्कारादिति।

अब द्वित्व की निवृत्ति का क्रम निरूपित किया जाता है। [तृतीय क्षण में उत्पन्न होनेवाली] अपेक्षाबुद्धि से जो [**चतुर्थ क्षण में**] द्वित्व की उत्पत्ति होती है उसी के साथ-साथ [द्वितीय क्षण में उत्पन्न हुए] एकत्व के सामान्य के ज्ञान की निवृत्ति (विनाश) हो जाती है (अर्थात् अपेक्षाबुद्धि एक ओर द्वित्व

की उत्पत्ति करती है और दूसरी ओर एकत्व-जाति के ज्ञान का विनाश करती है।)

[पंचम क्षण में उत्पन्न होनेवाली] द्वित्वत्व की जाति के ज्ञान से जब [षष्ठ क्षण में] द्वित्व संख्या का ज्ञान उत्पन्न होता है ठीक उसी समय [तृतीय क्षण में उत्पन्न हुई] अपेक्षाबुद्धि का विनाश हो जाता है। अपेक्षाबुद्धि के विनाश (षष्ठ क्षण) के बाद [सप्तम क्षण में] जो 'ये दो द्रव्य हैं' ऐसा ज्ञान होता है उसी के साथ द्वित्व-संख्या का विनाश होता है (क्योंकि द्वित्व संख्या के कारणस्वरूप अपेक्षाबुद्धि का विनाश इसके पूर्व ही हो चुका रहता है)। द्रव्य का ज्ञान हो जाने (सप्तम क्षण) के बाद जब [अष्टम क्षण में] संस्कार की उत्पत्ति होती है ठीक उसी समय द्वित्व-संख्या के ज्ञान का भी विनाश हो जाता है। इसके बाद [अष्टम क्षण में उत्पन्न] संस्कार के बाद (= नवें क्षण में) दो द्रव्यों का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। (इस प्रकार द्वित्वादि का क्रमशः विनाश होता है।]

तथा च संग्रहश्लोकाः—

५. आदावपेक्षाबुद्ध्या हि नश्येदेकत्वजातिधीः।
द्वित्वोदयसमं, पश्चात् सा च तज्जातिबुद्धितः॥
६. द्वित्वाख्यगुणधीकाले, ततो द्वित्वं निवर्तते।
अपेक्षाबुद्धिनाशेन द्रव्यधीजन्मकालतः॥
७. गुणबुद्धिर्द्रव्यबुद्ध्या संस्कारोत्पत्तिकालतः।
द्रव्यबुद्धिश्च संस्कारादिति नाशक्रमो मतः॥ इति।

उपर्युक्त बातों का संग्रह इन श्लोकों में हुआ है—"सबसे पहले अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति होने के साथ-ही-साथ एकत्व-जाति का ज्ञान नष्ट हो जाता है। उसके बाद उस द्वित्व की जाति (अर्थात् द्वित्वत्व) के ज्ञान से जिस समय द्वित्व नामक गुण (संख्या) का ज्ञान होता है उसी समय उस (अपेक्षाबुद्धि) का भी विनाश हो जाता है। तदनन्तर अपेक्षाबुद्धि के नाश के बाद दो द्रव्यों के ज्ञान के उत्पन्न होने के ही समय द्वित्व की निवृत्ति हो जाती है। द्रव्यों की बुद्धि (ज्ञान) के बाद संस्कार की उत्पत्ति के समय ही द्वित्व-संख्या (गुण) की बुद्धि का नाश होता है और संस्कार के अनन्तर दो द्रव्यों की बुद्धि का नाश होता है—यही नाश का क्रम निरूपित किया गया है।"

विशेष—निम्नलिखित पाटी से द्वित्वों के उदय और विनाश का क्रम अच्छी तरह समझा जा सकता है ।—

क्षण	उदय	विनाश	(उदय क्षण)
प्रथम	इन्द्रियार्थसंनिकर्ष	×	
द्वितीय	एकत्व-जाति का ज्ञान	×	
तृतीय	अपेक्षाबुद्धि	×	
चतुर्थ	द्वित्व की उत्पत्ति	एकत्वजाति का ज्ञान	(२)
पंचम	द्वित्वत्व-जाति का ज्ञान	×	
षष्ठ	द्वित्व-संख्या का ज्ञान	अपेक्षाबुद्धि	(३)
सप्तम	दो द्रव्यों का ज्ञान	द्वित्वसंख्या	(४)
अष्टम	संस्कार	द्वित्वसंख्या का ज्ञान	(६)
नवम	×	द्रव्यों का ज्ञान	(७)

अब इन ज्ञानों के विनाश के लिए प्रमाण दिये जा रहे हैं जिनसे द्वित्व की निवृत्ति की पुष्टि हो सके ।

बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरविनाश्यत्वे संस्कारविनाश्यत्वे च प्रमाणम्—विवादाध्यासितानि ज्ञानान्युत्तरोत्तरकार्यविनाश्यानि क्षणिकविभुविशेषगुणत्वाच्छब्दवत् । क्वचिद् द्रव्यारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनककर्मसमकालमेकत्वसमकालचिन्तयाऽऽश्रयनिवृत्तेरेव द्वित्वनिवृत्तिः । कर्मसमकालमपेक्षाबुद्धिचिन्तनादुभाभ्यामिति संक्षेपः ।

अब इसके लिए प्रमाण दिया जा रहा है कि एक बुद्धि (ज्ञान) का विनाश दूसरी बुद्धि (ज्ञान) से या संस्कार के द्वारा होता है । इस स्थान पर जिनकी बात चल रही है वे (प्रस्तुत, विवादग्रस्त, under question) ज्ञान उत्तरोत्तर कार्यों के द्वारा क्रमशः नष्ट होते जाते हैं । कारण यह है कि शब्द की भाँति, विभु द्रव्यों के विशेष गुण क्षणिक हुआ करते हैं । [आकाश विभु द्रव्य है, इसका विशेष गुण शब्द है जो क्षणिक है । यह क्षणिक शब्द अपनी उत्पत्ति के दूसरे क्षण में अपने ही सदृश दूसरे शब्द को उत्पन्न करके स्वयं तीसरे क्षण में नष्ट हो जाता है । तो निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रथम क्षण वाले शब्द के द्वारा द्वितीय क्षण में उत्पन्न शब्द कार्य हुआ, प्रथम क्षण वाला शब्द कारण है—वही कार्यरूप में विद्यमान द्वितीय क्षण वाला शब्द प्रथम क्षण वाले

कारणभूत शब्द का विनाशक हो जाता है। कारण का नाश कार्य ही करता है, पिता का वध पुत्र के ही हाथों से होता है। ठीक इसी प्रकार प्रथम क्षण में उत्पन्न ज्ञान द्वितीय क्षण में दूसरे ज्ञान को या संस्कार को उत्पन्न करता है और बदले में उत्तरवर्ती कार्यरूप ज्ञान या संस्कार अपने उत्पादक का ही विनाश कर डालता है। इसलिए ज्ञान को ज्ञान ही खा जाता है।]

[ऊपर यह कह चुके हैं कि अपेक्षाबुद्धि का नाश हो जाने पर द्वित्व का नाश हो जाता है। अब द्वित्वनाश की एक दूसरी विधि भी देखें—] कहीं-कहीं किसी द्रव्य (जैसे घट) को आरंभ करने वाले संयोग (= अवयवों का संयोग) के विनाशक (प्रतिद्वन्द्वी) विभाग (Disjunction) को उत्पन्न करने वाले कर्म के आने के समय में ही एकत्व-जाति की चिन्ता (ज्ञान) होती है और तब आश्रय घट का विनाश हो जाने से द्वित्व का भी नाश हो जाता है। [वस्तु] के अवयवों का विभाग करने वाला कर्म अपनी उत्पत्ति के चतुर्थ क्षण में वस्तु का नाश करता है। प्रथम क्षण में वह कर्म उत्पन्न होता है। उसी कर्म से दूसरे क्षण में वस्तु के अवयवों का विभाग होता है। तीसरे क्षण में अवयवों के संयोग का विनाश होता है। चौथे क्षण में वस्तु (घट) का ही विनाश हो जाता है। द्वित्व की उत्पत्ति का विचार करते हुए हमने आठ क्षण देखे थे जिनमें द्वितीय क्षण में एकत्व की जाति का ज्ञान उत्पन्न होता है जो अपेक्षाबुद्धि को तृतीय क्षण में उत्पन्न करता है। यह एकत्वजातिज्ञान यदि घट का विनाश करने वाले चार क्षणों के मध्य प्रथम क्षण में हो तब स्वभावतः द्वितीय क्षण में अर्थात् विभाग के समय अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति होगी। उसके बाद तृतीय क्षण में संयोग का नाश होने के समय द्वित्व की उत्पत्ति होगी। चतुर्थ क्षण में (वस्तु का नाश होने के क्षण में) द्वित्वत्व-जाति का ज्ञान होगा। इसी क्षण में घट-रूपी आश्रय (आधार) के नाश के कारण इसके बाद वाले क्षण में दो घटों में विद्यमान द्वित्व का विनाश हो जाता है क्योंकि घट (द्रव्य) के नाश के अनन्तर उसमें स्थित द्वित्व (गुण) का स्थित रहना असंभव है। इस प्रक्रिया में अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्वनाश नहीं होता, क्योंकि द्वित्वनाश के पूर्व अपेक्षाबुद्धि के विनाश की कोई बात ही नहीं चलती।]

[मूल में जो 'एकत्वसामान्यचिन्ता' पद है, उसका अर्थ है एकत्व-जाति का ज्ञान। अब इस एकत्वजातिज्ञान को यदि आप पहले ही रख लें—विभाग-जनक कर्म के पहले ही एकत्व जाति का ज्ञान हो जाय तब स्वभावतः उसके बाद आने वाली अपेक्षाबुद्धि प्रथम क्षण में ही (विभागोत्पादक कर्म के समय में ही) उत्पन्न होगी। द्वितीय क्षण में (विभाग के समय) द्वित्व की उत्पत्ति

तथा तृतीय क्षण में (संयोगनाश के समय) द्वित्वजाति का ज्ञान होगा। चतुर्थ क्षण में (घटनाश के समय) अपेक्षाबुद्धि का विनाश होगा। इस क्षण में (चतुर्थ क्षण में) घट-रूपी आश्रय का नाश तथा अपेक्षाबुद्धि का नाश दोनों कारणों से उसके उत्तर क्षण में द्वित्व का नाश होता है। इसे ही कहा जा रहा है—] और यदि विभागजनक कर्म के क्षण में ही अपेक्षाबुद्धि की चिन्ता (उत्पत्ति) करें तो दोनों कारणों से द्वित्व का नाश हो सकता है—यही संक्षेप में [द्वित्व का विचार हो गया।]

विशेष—उपर्युक्त दोनों कारणों का अन्तर इतना ही है कि अपेक्षाबुद्धि की सत्ता कहाँ मानें। यदि अपेक्षाबुद्धि द्वितीय क्षण में (विभाग के समय) मानते हैं तो अपेक्षाबुद्धि के नाश के ही समय द्वित्व का नाश हो जाता है उस समय अपेक्षाबुद्धिनाश कारण नहीं हो सकता क्योंकि कारण को कार्य के पूर्व ही रहना चाहिए, समकाल नहीं। निदान हमें आधारनाश से द्वित्वनाश मानना पड़ेगा। दूसरी ओर यदि सारी प्रक्रिया एक सीढ़ी ऊपर खिसक जाय तथा अपेक्षाबुद्धि को द्वितीय क्षण में न मानकर प्रथम क्षण में स्वीकार कर लें तो चतुर्थ क्षण में उसका नाश हो जायगा और वह नाश आराम से उत्तरवर्ती क्षण में होने वाले द्वित्वनाश का कारण बन जायगा। इसे निम्न पाटी से समझ सकते हैं :—

क्षण	कार्यचतुष्टय	द्वित्वनाश की प्रक्रिया सं० (१)	द्वित्वनाश की प्रक्रिया सं० (२)
१.	विभागजनक कर्म	एकत्वजातिज्ञान (२)	अपेक्षाबुद्धि (३)
२.	विभाग	अपेक्षाबुद्धि (३)	द्वित्वोत्पत्ति (४)
३.	संयोगनाश	द्वित्वोत्पत्ति (४)	द्वित्वत्वजातिज्ञान (५)
४.	घटनाश	द्वित्वत्वजातिज्ञान (५)	अपेक्षाबुद्धिनाश (६)
५.	(आधारनाश से)	द्वित्वनाश, अपेक्षाबुद्धिनाश (६)	द्वित्वनाश (७)

कोष्ठकों में निर्दिष्ट अंक यह सूचित करते हैं कि पूर्वोक्त आठ क्षणोंवाली प्रक्रिया में इन कार्यों का कौन-सा स्थान था। प्रस्तुत प्रक्रिया सं० १ में द्वित्व-नाश का कारण घटनाश अर्थात् आधारनाश है जब कि प्रक्रिया सं० २ में पहले की भाँति अपेक्षाबुद्धि के विनाश से ही द्वित्व का विनाश माना जाता है। वास्तव में नवीनता प्रक्रिया सं० १ में ही है।

अब अपेक्षाबुद्धि का लक्षण देकर द्वित्व का प्रकरण समाप्त किया जायगा।

(९ ग. अपेक्षाबुद्धि का लक्षण)

अपेक्षाबुद्धिर्नाम विनाशकविनाशप्रतियोगिनी बुद्धिरिति बोद्धव्यम् ।

अपेक्षाबुद्धि उस बुद्धि को कहते हैं जिसका विनाश [द्वित्व संख्या का] विनाशक हो। [तात्पर्य यह है कि अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्वसंख्या का नाश होता है—दोनों के विनाशों में कार्यकारण का सम्बन्ध है। अब, यदि अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्वसंख्या का नाश होता है तब तो अपेक्षाबुद्धि अपने नाश की प्रतियोगिनी हुई। नाश धर्मी है, अपेक्षाबुद्धि प्रतियोगिनी है। इसी को कहा गया है कि **अपेक्षाबुद्धि द्वित्वसंख्या को नष्ट करने वाले विनाश की प्रतियोगिनी बुद्धि है।**]

विशेष—इसमें अन्तर्भूत पदों पर विचार करने से यह मालूम होता है कि यदि लक्षण से 'विनाशक' पद हटा दें तो जीव की बुद्धि में अतिव्याप्ति हो जायगी। कारण यह है कि जब हम कहते हैं 'यह घट है' तो इस बुद्धि का भी तृतीय क्षण में विनाश हो ही जाता है—यह बुद्धि भी विनाश की प्रतियोगिनी है, इसलिए 'यह घट है' इस ज्ञान को भी अपेक्षाबुद्धि कहने लगेंगे। इसलिए अतिव्याप्ति रोकने के लिए 'विनाशक' पद का प्रयोग हुआ है। वैसा करने से घट-ज्ञान का नाश होने पर किसी दूसरे का विनाश नहीं होता—इसलिए घट-ज्ञान का नाश किसी का विनाशक नहीं है। द्वित्व का नाश अपेक्षाबुद्धि के ही नाश से सम्भव है।

वैशेषिकों का यह मत दिखलाया गया है कि द्वित्व अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होता है। नैयायिक भी इसी को स्वीकार करते हैं किन्तु इसमें उनकी विशेष रुचि नहीं, विशेष पर वैशेषिक का ही आग्रह है। कुछ लोग जो यह शंका करते हैं कि वैशेषिकों का द्वित्व अपेक्षाबुद्धि से व्यक्त होता है, उत्पन्न नहीं—यह बिल्कुल निरर्थक है।

भाषा-परिच्छेद (गुणखंड, १०९) में अपेक्षाबुद्धि का लक्षण देते हुए विश्वनाथ कहते हैं—**अनेकैकत्वबुद्धिर्या साऽपेक्षाबुद्धिरुच्यते** अर्थात् अपेक्षाबुद्धि उसे कहते हैं जो अनेकत्व में एकत्व का अवगाहन कराये जैसे 'अयम् एकः, अयम् एकः'। मुक्तावली में प्रस्तुत प्रसंग को इस रूप में व्यक्त किया गया है—'न चापेक्षाबुद्धिनाशात्कथं द्वित्वनाश इति वाच्यम्। कालान्तरे द्वित्वप्रत्यक्षाभावात् अपेक्षाबुद्धिस्तदुत्पादिका तन्नाशस्तन्नाशक इति कल्पनात्।' पूर्व पक्षवाले शंका करते हैं कि अपेक्षाबुद्धि के विनाश के बाद द्वित्व का नाश कैसे होता है? उत्तर

यह है कि जब अपेक्षाबुद्धि नहीं रहती तब द्वित्व आदि धर्मों का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता, इसलिए ऐसा निश्चय होता है कि अपेक्षाबुद्धि ही उन्हें उत्पन्न करती है और अपेक्षाबुद्धि के विनाश से उन द्वित्वादि धर्मों का भी विनाश हो जाता है।

द्वित्वादि के कारण के रूप में अपेक्षाबुद्धि किस प्रकार की कब होती है, इस पर विचार करते हुए मुक्तावली में लिखा है कि द्वयणुकादि पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं हो सकता। उनमें द्वित्व के ज्ञान के लिए योगियों की अपेक्षाबुद्धि काम देती है। सृष्टि के आदि-काल में जो परमाणु आदि हैं उनमें द्वित्व के कारण के रूप में या तो ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि काम में आती है या दूसरे ब्रह्माण्ड (जिस ब्रह्माण्ड की सृष्टि हो रही है उससे किसी भिन्न ब्रह्माण्ड) में विद्यमान योगियों की अपेक्षाबुद्धि काम देती है। (मुक्तावली, वहीं)।

(१०. पाकज पदार्थ की उत्पत्ति)

अथ द्वयणुकनाशमारभ्य कतिभिः क्षणैः पुनरन्यद् द्वयणुकमुत्पद्य रूपादिमद्भवतीति जिज्ञासायामुत्पत्तिप्रकारः कथ्यते—नोदनादिक्रमेण द्वयणुकनाशः। नष्टे द्वयणुके परमाणावग्निसंयोगाच्छ्यामादीनां निवृत्तिः। निवृत्तेषु श्यामादिषु पुनरन्यस्मादग्निसंयोगाद् रक्तादीनामुत्पत्तिः।

अब यह प्रश्न होता है कि एक द्वयणुक का नाश होने पर, कितने क्षणों के बाद फिर दूसरा द्वयणुक उत्पन्न होकर रूप-रस आदि से युक्त होता है। इस जिज्ञासा के उत्तर में अब हम द्वयणुक की उत्पत्ति की रूपरेखा (प्रकार) प्रस्तुत करते हैं।

(१) सबसे पहले नोदन (संयोग, अग्नि-संयोग, √नुद् = प्रेरणा, Motion) आदि के क्रम से* द्वयणुक (दो अणुओं के सम्मिलित रूप) का नाश होता है। (२) द्वयणुक के नष्ट हो जाने पर परमाणु में अग्नि-संयोग होता है जिससे श्याम आदि गुणों की निवृत्ति (नाश) होती है। (३) अब श्याम आदि

* अग्निसंयोग (नोदन) से घट के अणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है, तब एक अणु से दूसरे अणु का पृथक्करण (Separation) होता है। फिर कृष्ण (कच्चा) घट का निर्माण करने वाले अणुओं के संयोग का नाश होता है और अन्त में द्वयणुक का विनाश होता है। यह द्वयणुक नष्ट होने पर पुनः नवम क्षण में दूसरा द्वयणुक दूसरे रूप का उत्पन्न करता है।

भूतपूर्व गुणों के हट जाने पर उस परमाणु में पुनः अग्नि-संयोग होता है जिससे रक्त आदि गुणों की उत्पत्ति होती है।

विशेष—'पाक' का अर्थ है तेजःसयोग। अग्नि के साथ संयोग होने पर द्रव्यों में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का अन्तर या परिवर्तन होता है। कच्चा घड़ा काला है किन्तु जब उसमें अग्नि का संयोग होगा तब वह लाल हो जायगा। आम, अमरूद आदि के हरे फलों में तेज के संयोग से पीलापन आ जाता है—यह रूप का परिवर्तन है। कच्चा फल स्वाद (रस) में खट्टा, गन्ध में दूसरी तरह का तथा स्पर्श में कड़ा लगता है जब कि अग्नि-संयोग (धूप से) हो जाने पर जब वह पक जाता है तब उसमें मधुरता, सुगन्ध तथा कोमलता आ जाती है। इसी तरह से द्रव्यों में रूपादि चार गुणों का पाकजत्व देखा जाता है, किन्तु स्मरणीय है कि नव द्रव्यों में केवल पृथ्वी में ही यह पाकजत्व होता है—'एतेषां पाकजत्वं तु क्षितौ नान्यत्र कुत्रचित्' (भा० प० १०५)। जलादि द्रव्यों में पाकजत्व नहीं होता।

अब प्रश्न यह है कि पाक होता किसका है—परमाणुओं का या पूरे द्रव्य (पिण्ड) का ? वैशेषिक कहते हैं कि परमाणुओं में ही पाकज गुणों (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का परावर्तन होता है—तत्रापि परमाणौ स्यात्पाको वैशेषिके नये (भा० प० १०५)। उनके सिद्धान्त को **पीलुपाक-प्रक्रिया** कहते हैं क्योंकि 'पीलु' का अर्थ परमाणु होता है। दूसरी ओर, नैयायिकों की मान्यता है कि पिण्ड में ही रूपादि का परावर्तन होता है। अवयव और अवयवी (जैसे घट) का नित्य संबंध होने के कारण दोनों का एक साथ विनाश और एक ही साथ उदय होता है। अतः पूर्वरूप आदि का नाश या विकास अवयवी (पिण्ड) से संबद्ध है। नैयायिकों का सिद्धान्त **पिठरपाक-प्रक्रिया** के नाम से प्रसिद्ध है (पिठर = पिण्ड या अवयवी जैसे घट)।

प्रस्तुत प्रसंग में वैशेषिकों की पीलुपाक-प्रक्रिया ही महत्त्वपूर्ण है। अतः उसीका विश्लेषण समीचीन है। सामान्यतः तेजःसंयोग के कारण घट के अवयवों या कपालों (घट के टुकड़ों) के पारस्परिक वियोग से घट (अवयवी) का नाश होता है। इन कपालों के भी अवयवों के वियोग या विनाश से इनका नाश होता है। इस प्रकार का नाश त्र्यणुक तक ही होता है। द्व्यणुक का नाश इसके अवयवों के नाश से नहीं होता, प्रत्युत दो परमाणुओं के पारस्परिक वियोग से होता है क्योंकि परमाणु नित्य होने के कारण नष्ट नहीं हो सकते। हाँ, एक दूसरे से वे पृथक् हो सकते हैं। अब इन परमाणुओं के पृथक् होने से इनके पहले के रूप, रस आदि गुण नष्ट हो जाते हैं तथा दूसरे

ही रूप, रस आदि उत्पन्न होते हैं। अब इन परमाणुओं से क्रमशः द्वचणुक, त्र्यणुक आदि के क्रम से नवीन घट उत्पन्न होता है।

मुक्तावली (भा० प० १०५ की टीका) में इस प्रकार कहा गया है—'पृथिवी-द्रव्य में भी केवल परमाणु में ही पाक होता है, ऐसा वैशेषिक लोग कहते हैं। उनका यह अभिप्राय है—अवयवी (घट) के द्वारा निरुद्ध (संबद्ध) अवयवों में पाक का होना [संभव] नहीं। हाँ, अग्नि के संयोग से अवयवियों के नष्ट हो जाने पर प्रत्येक अवयव के स्वतंत्र परमाणुओं में पाक होता है। फिर पक्व (पाक होने के बाद, तेजःसंयोग से रूपादि-परावृत्ति होने पर) परमाणुओं के संयोग से द्वचणुकादि के क्रम से महान् अवयवी (=घट) पर्यन्त उत्पत्ति होती है। अग्नि-पदार्थ में अतिशय वेग होने के कारण पहले के व्यूह (अवयव-समूह के रूप में घट) का नाश होकर तुरन्त दूसरे व्यूह की उत्पत्ति हो जाती है।'

एक द्वचणुक का नाश होने पर दूसरा द्वचणुक कितने क्षणों में उत्पन्न होता है, इस प्रश्न को लेकर वैशेषिकों के यहाँ **क्षणप्रक्रिया** चलती है। विभागज विभाग को स्वीकार करने पर इसमें दस क्षण लगते हैं किन्तु उसे अस्वीकार करें तो केवल नव क्षणों में काम हो जाता है। कुछ दूसरे मतों से इसमें पाँच, छह, सात, आठ या ग्यारह क्षण भी होते हैं। उन सबों का विवेचन मुक्तावली के उपर्युक्त स्थल पर हुआ है।

इस स्थान पर नवक्षण प्रक्रिया की चर्चा चल रही है। ऊपर तीन क्षण हम देख चुके हैं। चौथे क्षण के लिए आगे देखें।

उत्पन्नेषु रक्तादिषु अदृष्टवदात्मसंयोगात्परमाणौ द्रव्यारम्भणाय क्रिया। तया पूर्वदेशाद्विभागः। विभागेन पूर्वदेशसंयोगनिवृत्तिः। तस्मिन्निवृत्ते परमाण्वन्तरेण संयोगोत्पत्तिः। संयुक्ताभ्यां परमाणुभ्यां द्वचणुकारम्भः। आरब्धे द्वचणुके कारणगुणादिभ्यः कार्यगुणादीनां रूपादीनामुत्पत्तिरिति यथाक्रमं नव क्षणाः।

दशक्षणादिप्रकारान्तरं विस्तरभयान्नेह प्रतन्यते। इत्थं पीलुपाकप्रक्रिया। पिठरपाकप्रक्रिया नैयायिकधीसंमता।

(४) रक्त आदि गुणों के उत्पन्न हो जाने पर अदृष्ट (धर्म-अधर्म) से युक्त आत्मा के साथ संयोग होने पर परमाणु में द्रव्य का आरम्भ (उत्पादन)

करने के लिए क्रिया होती है। [चूँकि निर्गुण द्रव्य में क्रिया का रहना असंभव है इसलिए रक्तादि गुणों की उत्पत्ति के अनन्तर ही द्रव्यारम्भक क्रिया उत्पन्न होती है। अदृष्ट अर्थात् धर्म या अधर्म ही सभी पदार्थों का साधारण कारण है क्योंकि अदृष्ट के आश्रय जीव हैं जो विभु होने के कारण सभी कार्यों में अदृष्ट के साथ रहते हैं।] (५) इस क्रिया के द्वारा परमाणु का अपने पूर्व स्थान से विभाग (Disjunction) होता है। (६) विभाग होने पर परमाणु के पूर्व स्थान के साथ विद्यमान संयोग का विनाश होता है। (७) जब संयोग की निवृत्ति हो जाती है तब उस परमाणु का संयोग दूसरे परमाणु के साथ होता है। (८) दो परमाणुओं के संयुक्त होने से द्वयणुक (दो परमाणुओं का समाहार) का आरम्भ होता है और अन्त में (९) द्वयणुक का आरम्भ होने पर कारण के रूप में स्थित गुण आदि से कार्य के रूप में स्थित गुणादि, जैसे रूप, रस, गन्धादि, की उत्पत्ति होती है—इस प्रकार क्रमशः ये नौ क्षण होते हैं।

दस क्षण में होनेवाली या दूसरे प्रकार से (पाँच, छह आदि क्षणों में) होनेवाली प्रक्रियाओं का वर्णन विस्तार के भय से नहीं किया जा रहा है। अस्तु, इस प्रक्रिया को पीलुपाक-प्रक्रिया कहते हैं। नैयायिकों के द्वारा पिठर-पाक-प्रक्रिया स्वीकृत है। [इसकी रूपरेखा ऊपर की टिप्पणी में दी गई है।]*

(११. विभागज विभाग का विवेचन)

विभागजविभागो द्विविधः—कारणमात्रविभागजः कारणाकारणविभागजश्च। तत्र प्रथमः कथ्यते—कार्यव्याप्ते कारणे कर्मोत्पन्नं यदाऽवयवान्तराद्विभागं विधत्ते, न तदाऽऽकाशादि-देशाद्विभागः। यदा त्वाकाशादिदेशाद्विभागः, न तदाऽवयवान्तरादिति स्थितिनियमः।

विभाग से उत्पन्न होनेवाला विभाग दो प्रकार का है—(१) जो केवल

---

* पीलुपाक-प्रक्रिया में कच्चा घट जब पकाया जाता है तब उसका नाश ही हो जाता है क्योंकि इसके द्वयणुक आदि नष्ट हो जाते हैं। पाक (अग्नि-संयोग) से परमाणुओं में लाली आती है तथा घट पक कर लाल हो जाता है। क्रिया इतनी शीघ्र होती है कि घट के परिवर्तन को आँखें नहीं समझ पातीं। घट बदल जाता है। पिठरपाक-प्रक्रिया में अग्नि द्रव्य के अणुओं में सीधे प्रविष्ट हो जाती है तथा कच्चे घट का विनाश बिना किये ही अपना प्रभाव उन अणुओं पर व्यक्त करके उसी घट में गुण-परिवर्तन कर देती है।

कारण (उपादान कारण) के विभाग से उत्पन्न हो तथा (२) जो कारण और अकारण (स्थान) के विभाग से उत्पन्न हो। पहले हम प्रथम भेद का वर्णन करें।

कार्य (द्व्यणुक) के द्वारा व्याप्त कारण (परमाणु) में जो कर्म (क्रिया) उत्पन्न होता है वह जब दूसरे अवयवों से विभाग धारण करता है, उस समय आकाश आदि देशों (Place) से विभाग नहीं होता। दूसरी ओर जब उसमें आकाश आदि देशों से विभाग किया जाता है तब दूसरे अवयवों से विभाग नहीं होता—यह एक स्थिर नियम है।

विशेष—वैशेषिकों के द्वारा प्रदर्शित गुणों में एक गुण विभाग (Disjunction) है। यह तीन प्रकार से होता है—एक पदार्थ की क्रिया से उत्पन्न होने वाला विभाग, दोनों की क्रियाओं से होने वाला विभाग तथा विभाग से ही उत्पन्न होने वाला विभाग। इनके उदाहरण क्रमश यों हैं—श्येन पक्षी से पर्वत का विभाग (एक-क्रियाजन्य विभाग), दो मेषों (भेंड़ों) का विभाग (उभयक्रियाजन्य) तथा कपाल (घड़े के टुकड़े) और वृक्ष का विभाग करने से घट और वृक्ष का विभाग करना (विभागज विभाग)। विभागज विभाग में भी दो द्रव्यों का पृथक्करण होता है किन्तु उनमें पहले एक और विभाग हो जाता है। एक वस्तु (धर्मी) के अवयवों के साथ दूसरी वस्तु (प्रतियोगी) का विभाग कर लेने पर उसी के आधार पर पूरे धर्मी के साथ प्रतियोगी का विभाग मानते हैं। नैयायिक इस प्रकार का विभाग स्वीकार नहीं करते।

इस विभागज विभाग के दो भेद हैं—

विभागजस्तृतीयः स्यात्तृतीयोऽपि द्विधा भवेत्।
हेतुमात्रविभागोत्थो हेत्वहेतुविभागजः ॥ (भा० प० १२०)।

सिद्धान्तमुक्तावली में इसकी विवेचना बहुत सरल और संक्षिप्त रूप से हुई है।

१. कारणमात्र विभागजन्य—पहले कपाल में क्रिया उत्पन्न होती है, फिर दो कपालों का विभाग होता है, फिर घट का आरंभ करने वाले संयोग का नाश होता है, फिर घट का नाश होता है। अब उसी कपाल-विभाग के द्वारा पूर्वोक्त क्रियायुक्त कपाल का आकाश के साथ विभाग उत्पन्न होता है। पुनः आकाशसंयोग का नाश और तब उत्तर देश के साथ कपाल के संयोग का नाश होकर अंत में कर्म का नाश होता है। तात्पर्य यह निकला कि कर्म पहले एक प्रकार का विभाग (कपालद्वय-विभाग) उत्पन्न कर देता है—तब इस विभाग के द्वारा दूसरा विभाग (आकाश अर्थात् स्थान से कपाल का विभाग) उत्पन्न होता है। इस प्रक्रिया में दो विभाग हुए—१. अवयवों से विभाग तथा

२. देशान्तर (दूसरे स्थान) से विभाग। ये दोनों एक साथ नहीं रहते। केवल पूर्वापर का ही नहीं, इन दोनों के बीच कुछ क्षणों का भी अन्तर है।

हम ऐसी शंका नहीं कर सकते कि जिस पहले कर्म से दो अवयवों का विभाग किया गया है उसीसे कपाल का आकाश या देशान्तर के साथ विभाग उत्पन्न होना क्यों नहीं मान लेते हैं ? कारण यह है कि एक ही कर्म आरंभक (उत्पादक) संयोग के विरोध में खड़े होने वाले विभाग को तथा अनारंभक संयोग के विरोधी विभाग को—दोनों को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि दोनों प्रकार के विभागों को उत्पन्न करने वाली क्रिया को हम एक ही समझने की भूल करें तो खिलते हुए कमल की कलिका के टूट जाने की भी संभावना करनी पड़ेगी (विकसत्कमलकुड्मलभङ्गप्रसङ्गात्)। कमल के खिलने के समय जो कर्म उसमें उत्पन्न होता है, वह उस विभाग को उत्पन्न करता है जो कमल के अनारंभक आकाश-प्रदेश के साथ उसके संयोग का विरोधी है। यदि वह कर्म अब कमल के आरंभक संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न करे तो कमल का विनाश निश्चित है। आरंभक संयोग विनाश पर ही आधारित होता है। फल यह निकला कि जो कर्म अनारंभक संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न करता है, वह आरंभक संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न नहीं करता। जो कर्म दूसरे अवयवों से अर्थात् **परमाणुओं से विभाग** (आरंभकसंयोगप्रतिद्वन्द्विभूतं विभागम्) उत्पन्न करता है, वह कर्म द्व्यणुकों का आरंभ न करने वाले **आकाश-प्रदेश के साथ** होने वाले संयोग का विरोधी **विभाग** उत्पन्न नहीं करता। दोनों में से कोई एक ही क्रिया संभव है—दोनों प्रकारों के विभाग को उत्पन्न करने वाली क्रियायें दो हैं।

ऐसी भी शंका नहीं की जा सकती कि कारण-विभाग (अवयवों से विभाग) से ही, द्रव्य-नाश के पहले ही, देशान्तर (आकाश)-विभाग क्यों नहीं उत्पन्न होता ? कारण यह है कि अवयव आरंभक-संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न करता है, द्रव्य के होने पर (बिना द्रव्य-नाश के) देशान्तर से इसका विभाग होना असंभव है। अतः किसी भी दशा में अवयव-विभाग (कारण-विभाग) के होने के बाद ही देशान्तर-विभाग होता है।

२. **कारणाकारण-विभागजन्य**—हाथ में क्रिया उत्पन्न होने से हाथ और वृक्ष के बीच विभाग होता है, इसी से शरीर में भी 'विभक्त' (पृथक्) होने का ज्ञान होता है (स्मरणीय है कि विभाग के द्वारा दो द्रव्यों में विभक्त होने की प्रतीति होती है)। इस प्रकार हस्त-वृक्ष-विभाग (कार्य) के लिए हस्त-क्रिया कारण है। किन्तु यही हस्त-क्रिया शरीर और वृक्ष के विभाग का

कारण नहीं हो सकती क्योंकि दोनों का एक अधिकरण नहीं है। कार्य-कारण का संबंध समानाधिकरण पदार्थों का ही होता है। शरीर-क्रिया को भी शरीर और वृक्ष के विभाग का कारण नहीं मान सकते क्योंकि शरीर में क्रिया तो उस समय हुई ही नहीं। अवयवी (शरीर) के कर्म अवयवों (हाथ, पैर आदि) पर ही निर्भर करते हैं। सभी अवयवों में क्रिया होने पर ही शरीर की क्रिया मानी जाती है। ऐसे स्थलों में कारणाकारण-विभाग से कार्याकार्य-विभाग उत्पन्न होता है। हस्त-वृक्ष का विभाग (कारण) होने के बाद शरीर-वृक्ष का विभाग होता है—हस्त-वृक्ष का विभाग होने से शरीर में भी विभक्त प्रत्यय होता है।

इन सबों का विवेचन मुक्तावली के आधार पर किया गया है। सर्वदर्शन-संग्रह में भी प्रस्तुत प्रसंग में यह विषय आवेगा।

कर्मणो गगनविभागाकर्तृत्वस्य द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधि-विभागारम्भकत्वेन धूमस्य धूमध्वजवर्गेणेव व्यभिचारानुपलम्भात्। ततश्चावयवकर्मावयवान्तरादेव विभागं करोति नाकाशादिदेशात्। तस्माद्विभागाद् द्रव्यारम्भकसंयोगनिवृत्तिः। ततः कारणाभावात्कार्याभाव इति न्यायादवयवनिवृत्तिः।

जिस प्रकार धूम का व्यभिचार धूमध्वज (अग्नि) के साथ कहीं प्राप्त नहीं होता (अग्नि के बिना धूम नहीं मिलता), ठीक उसी प्रकार कर्म (= घटध्वंस-कर्म) जिसे हम स्थान (space) के विचार से होनेवाले विभाग का कर्ता नहीं मानते (= स्थानजन्य विभाग का अनारंभक कर्म), द्रव्य का आरंभ करने वाले संयोग के विरोधी विभाग के उत्पादक के रूप में ही सदा रहता है, व्यभिचरित नहीं होता। [ऊपर कही गई बातों को ही इसमें फैलाया जा रहा है। स्थानगत विभाग को जो कर्म उत्पन्न नहीं करता, वही कर्म द्रव्यारंभक संयोग का विरोध करने वाले विभाग को उत्पन्न करता है—दोनों कर्मों में कार्य-कारण संबंध है। चूँकि संयोग और विभाग में सीधा विरोध है इसीलिए स्थान-स्थान पर 'संयोगप्रतिद्वन्द्विविभाग' की तरह की उक्तियाँ दी जाती हैं।]

इसलिए अवयवों का [घटध्वंस-रूपी] कर्म अपना विभाग दूसरे अवयवों से ही उत्पन्न करता है, आकाश आदि देशों (space) से नहीं। इस विभाग के बाद द्रव्य (घट) का आरंभ करने वाले संयोग की निवृत्ति होती है। उसके बाद, 'कारण का अभाव होने पर कार्य का अभाव होता है'—इस नियम से

[द्रव्यारंभक-संयोग-रूपी कारण के नष्ट हो जाने से उसके कार्य अर्थात्] अवयवी (घट) की भी निवृत्ति हो जाती है।

निवृत्तेऽवयविनि तत्कारणयोरवयवयोः वर्तमानो विभागः कार्यविनाशविशिष्टं कालं स्वतन्त्रं वायवयमपेक्ष्य सक्रियस्यैवाव-यवस्य कार्यसंयुक्तादाकाशदेशाद्विभागमारभते न निष्क्रियस्य। कारणाभावात्।

इस प्रकार जब अवयवी (घट) का विनाश हो जाता है तब उस (विनाश) के कारणस्वरूप जो दोनों अवयव (टुकड़े) हैं उनके बीच विद्यमान विभाग या तो कार्य के विनाश से संबद्ध काल (Time) की अपेक्षा रखता है या किसी स्वतंत्र अवयव की अपेक्षा करके ही केवल सक्रिय अवयव का ही विभाग कार्य-संबद्ध आकाश-देश से आरंभ करता है, निष्क्रिय अवयव का विभाग वह इसलिए आरंभ नहीं करता कि उसका कोई कारण ही नहीं दिखलाई पड़ता। [अभिप्राय यह है कि दो अवयवों का विभाग होने से घट की निवृत्ति होती है। उन दोनों अवयवों में एक को सक्रिय मानते हैं, दूसरे को निष्क्रिय। हम ऊपर देख चुके हैं कि अवयवों का पारस्परिक विभाग होने के बाद उनका विभाग आकाश देश (स्थान Space) से भी होता है। इसलिए अब प्रथम विभाग आकाशदेशविभाग को उत्पन्न करता है। किन्तु यहाँ भी निष्क्रिय अवयव से आकाश-विभाग नहीं माना जा सकता क्योंकि शक्ति के अभाव में वह कारण नहीं बन सकता। सक्रिय अवयव से ही आकाश-विभाग माना जा सकता है। 'स्वतंत्र अवयव' का यहाँ अर्थ है अपने विनाश के पश्चात् आने वाला काल का कोई विशेष अवयव।]

विशेष—विभागज विभाग को स्वीकार करने पर द्व्यणुकोत्पत्ति की दशक्षणा या एकादशक्षणा प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। वह इस प्रकार है। जब हम विभागज विभाग को स्वीकार करते हैं तो साथ-ही-साथ यह भी मानना पड़ेगा कि एक विभाग बिना किसी की अपेक्षा रखे हुए दूसरे विभाग को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि निरपेक्ष होकर विभाग दूसरे विभाग का उत्पादन करता है तब उस पहले विभाग को विभाग समझना भूल है। वस्तुतः वह कर्म है, क्योंकि कणाद ने वैशेषिक सूत्र (१।१।१७) में कहा है—**संयोगविभाग-योरनपेक्षं कारणं कर्म**। इसका अर्थ है कि संयोग और विभाग को उत्पन्न करनेवाला पदार्थ जो अपने बाद किसी की अपेक्षा नहीं रखे वह कर्म है। विभाग (आकाशविभाग) यदि किसी निरपेक्ष विभाग (अवयवविभाग) से

उत्पन्न होने लगे तो वह उत्पादक विभाग कर्म के लक्षण में आने के कारण कर्म ही हो जायगा। इस प्रकार कर्म के लक्षण में अतिव्याप्ति-दोष होता है। दूसरी ओर यदि कर्म के लक्षण में कुछ परिवर्तन करें कि उत्तरसंयोगोत्पत्ति के समय पूर्वसंयोग के नाश की अपेक्षा है तो अव्याप्ति-दोष होगा। अन्ततः यह मानना पड़ा कि विभागज विभाग में विभागारंभ के लिए सापेक्ष विभाग ही कारण हो सकता है।

अब प्रश्न है कि अपेक्षा हो तो किसकी? यदि द्रव्यारंभ करनेवाले संयोग की निवृत्ति करनेवाले काल की अपेक्षा करके विभागज विभाग मानते हैं तो दशक्षण (Ten-moment process) प्रक्रिया होगी। यदि द्रव्यनाश करने-वाले काल की अपेक्षा करेंगे तो एकादशक्षण प्रक्रिया होगी। दोनों की तुलना निम्न चित्र द्वारा की जा सकती है—

दशक्षण

अग्निसंयोग से द्व्यणुक का आरंभ करने वाले परमाणु में क्रिया, उसके बाद विभाग, तब आरंभक के संयोग का नाश। तब—

(१) द्व्यणुकनाश और विभागज-विभाग।

(२) श्यामनाश और पूर्वसंयोग का नाश;

(३) रक्तोत्पत्ति और उत्तरसंयोग;

(४) अग्निनोदन से उत्पन्न हुई परमाणुगत क्रिया का नाश;

(५) अदृष्टयुक्त आत्मा के संयोग से द्रव्य के आरंभ के अनुकूल क्रिया;

(६) विभाग;
(७) पूर्वसंयोग का नाश;
(८) आरंभक-संयोग;
(९) द्व्यणुक की उत्पत्ति;
(१०) अंत में रक्तादि की उत्पति।

एकादशक्षण

अग्निसंयोग से परमाणु में क्रिया, उसके बाद विभाग, तब द्रव्यारंभक संयोग का नाश। तब—

(१) द्व्यणुकनाश;

(२) द्व्यणुकनाश से संबद्ध काल की अपेक्षा रखते हुए विभागज विभाग तथा श्याम का नाश;

(३) पूर्वसंयोग का नाश और रक्तोत्पत्ति;

(४) उत्तरसंयोग;

(५) अग्निनोदन से उत्पन्न परमा-णुगत क्रिया का नाश;

(६) अदृष्टयुक्त आत्मा के संयोग से द्रव्यारंभ के अनुकूल क्रिया;

(७) विभाग;
(८) पूर्वसंयोग का नाश;
(९) द्रव्यारंभक-संयोग;
(१०) द्व्यणुक की उत्पत्ति;
(११) अंत में रक्तादि की उत्पत्ति।

(११ क. विभागज विभाग का दूसरा भेद)

द्वितीयस्तु हस्ते कर्मोत्पन्नम् अवयवान्तराद्विभागं कुर्वत् आकाशादिदेशेभ्यो विभागानारभते। ते कारणाकारणविभागाः कर्म यां दिशं प्रति कार्यारम्भाभिमुखं, तामपेक्ष्य कार्याकार्यविभागमारभन्ते। यथा हस्ताकाशविभागाच्छरीराकाशविभागः।

विभागज विभाग का दूसरा भेद (कारणाकारण विभाग से उत्पन्न विभाग) वह है जिसमें हाथ में उत्पन्न होने वाली क्रिया दूसरे अवयवों से विभाग करती हुई आकाशादि देशों से विभाग आरम्भ करती है। [हाथ का सम्बन्ध घट, पट, तरु आदि से होता है, इन पदार्थों से विभाग उत्पन्न होता है। हाथ शरीर का अवयव होने के कारण शरीर का कारण है किन्तु आकाश आदि शरीर के कारण नहीं हैं। हाथ से विभाग होना **कारण विभाग** है, आकाश से विभाग होना **अ-कारण विभाग** है, दोनों का—कारण और अकारण का—पारस्परिक विभाग ही शरीर का आकाशादि से विभाग उत्पन्न करता है।]

जिस दिशा में क्रिया कार्यारंभ के लिए अभिमुख दिखलाई पड़ती है उसी दिशा की अपेक्षा रखते हुए कारण और अकारण के ये विभाग कार्य और अकार्य के विभाग उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के लिए हाथ और आकाश का विभाग उत्पन्न होने पर शरीर और आकाश का विभाग उत्पन्न होता है।

विशेष—हाथ कारण और शरीर कार्य है। उसी प्रकार आकाश अकारण तथा अकार्य है। इसलिए—

कारण + अकारण का विभाग > कार्य + अकार्य का विभाग,

जैसे, हस्त + आकाश का विभाग > शरीर + आकाश का विभाग।

ये विभाग कर्म के अनुरूप ही होते हैं। उत्तर में चला हुआ हाथ दक्षिण आकाश-देश से विभाग उत्पन्न करता है। वैसे ही पूर्व में चला हुआ हाथ पश्चिम-आकाश से विभाग उत्पन्न करता है।

न चासौ शरीरक्रियाकार्यः। तदा तस्य निष्क्रियत्वात्। नापि हस्तक्रियाकार्यः व्यधिकरणस्य कर्मणो विभागकर्तृत्वानुपपत्तेः। अतः पारिशेष्यात् कारणाकारणविभागस्तस्य कारणमङ्गीकरणीयम्।

शरीर और आकाश का विभाग शरीर-गत क्रिया का कार्य नहीं माना जा सकता क्योंकि उस समय शरीर निष्क्रिय ही रहता है। [तात्पर्य यह है कि

शरीर और आकाश का विभाग हस्ताकाशविभाग से ही उत्पन्न होता है। शरीरस्थित क्रिया से इसकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। हस्ताकाशविभाग होने पर हाथ ही सक्रिय रहता है शरीर तो निष्क्रिय ही रहता है क्योंकि अवयवी (शरीर) तभी सक्रिय होता है जब सभी अवयव सक्रिय होते हैं। देखिये पहले की टिप्पणी।]

शरीराकाश-विभाग को हस्त-कर्म का भी कार्य नहीं कह सकते। [जिस प्रकार हस्ताकाश-विभाग हस्त की क्रिया के कारण होता है वैसे ही हस्तक्रिया से ही शरीराकाश-विभाग क्यों नहीं हो जाता ? यही शंका है।] दूसरे आधार में रहनेवाला (व्यधिकरण) कर्म किसी दूसरे स्थान में विभाग उत्पन्न नहीं कर सकता। [अभिप्राय यह है कि क्रिया अपने आश्रय में ही अपना कार्य करती है दूसरे के आश्रय में नहीं। नहीं तो अतिप्रसंग नामक दोष होगा। यहाँ पर क्रिया हाथ में रहे और उसका कार्य—विभाग—शरीर में रहे, ऐसा कहना कठिन है। कार्य और कारण का समानाधिकरण रहना परमावश्यक है।]

इस प्रकार केवल एक ही विकल्प बच रहने से कारणाकारण विभाग को ही हम उस (शरीराकाश-विभाग) का कारण मान सकते हैं।

(१२. अन्धकार का विवेचन)*

यदवादि—'अन्धकारादौ भावत्वं निषिध्यते' इति तदसंगतम्। तत्र चतुर्धा विवादसंभवात्। तथाहि—द्रव्यं तम इति भाट्टा वेदान्तिनश्च भणन्ति। आरोपितं नीलरूपमिति श्रीधराचार्याः। आलोकज्ञानाभावः इति प्राभाकरैकदेशिनः। आलोकाभाव इति नैयायिकादय इति चेत्—

ऊपर जो आपने कहा कि अन्धकार आदि को भाव नहीं मानते (देखिये—इसी दर्शन के अनु० ४ का अन्तिम भाग)—यह बिल्कुल असंगत है क्योंकि

---

* अन्धकार के विषय में वैशेषिक-मत की श्रेष्ठता श्रीहर्ष ने भी नैषधचरित में शब्दच्छल से स्वीकार की है। नारायणी टीका में इसका व्याख्यान देखें। श्लोक है—

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय॥ (२२।३६)

चूँकि उलूक ही अन्धकार का विश्लेषण करने में समर्थ होता है इसलिए दर्शन का ही नाम 'औलूक' हो गया।

अन्धकार के प्रश्न पर चार प्रकार के विवाद सम्भव हैं। उदाहरणतः (१) भाट्ट मीमांसकों और वेदान्तियों का यह कथन है कि अन्धकार एक द्रव्य है [स्वाभाविक नीलरूप से विशिष्ट द्रव्य ही अन्धकार है जैसे कज्जल, कालिख आदि हैं।] दूसरी ओर (२) श्रीधराचार्य कहते हैं कि अन्धकार वह है जिस पर नील रूप का आरोपण हुआ हो। [वास्तव में अन्धकार द्रव्य ही है किन्तु नीला रूप वास्तविक नहीं है आरोपित किया जाता है, जैसे जल पर श्वेत रूप या आकाश पर नील रूप का आरोपण होता है।] (३) तीसरा पक्ष प्रभाकर-मीमांसकों के दल के कुछ लोगों का है जो कहते हैं कि प्रकाश के ज्ञान के अभाव को अन्धकार कहते हैं। (४) अन्त में नैयायिकों का सिद्धान्त है कि प्रकाश का ही अभाव अन्धकार है। [इसे कुछ दूसरे लोग भी मानते हैं।]

उपर्युक्त शंका होने पर इसका उत्तर निम्नलिखित रूप से देंगे।

तत्र द्रव्यत्वपक्षो न घटते। विकल्पानुपपत्तेः। द्रव्यं भवदन्धकाराख्यं पृथिव्याद्यन्यतममन्यद्वा। नाद्यः। यत्रान्तर्भावोऽस्य तस्य यावन्तो गुणास्तावद्गुणकत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः। निर्गुणस्य तस्य द्रव्यत्वासंभवेन द्रव्यान्तरत्वस्य सुतरामसंभवात्।

(१) इनमें अन्धकार को द्रव्य मानने वाला पक्ष संभव नहीं है क्योंकि निम्नलिखित दोनों ही विकल्प असिद्ध हो जाते हैं। प्रश्न है कि यह अन्धकार नामक द्रव्य पृथ्वी आदि नौ द्रव्यों में ही किसी के अन्तर्गत है या इनके अतिरिक्त दशम द्रव्य है? पहला पक्ष नहीं लिया जा सकता क्योंकि जिस द्रव्य में अन्धकार का अन्तर्भाव (Inclusion) करेंगे उस द्रव्य के सभी गुण अन्धकार के भी अपने गुण होंगे, ऐसी स्थिति हो जायगी। दूसरा पक्ष, कि अन्धकार दशम द्रव्य है, भी स्वीकार्य नहीं है क्योंकि अन्धकार निर्गुण होने के कारण पहले तो द्रव्य ही नहीं हो सकता (∵ द्रव्य सगुण होता है), द्रव्यान्तर होना तो दूर की बात है।

विशेष—अन्धकार को यदि पृथिवी में लेते हैं तो पृथिवी की तरह ही उसमें भी चौदह गुण मानने पड़ेंगे। फिर तो अंधकार में भी शुक्ल, पीत आदि नाना प्रकार के रूप और रस, गन्ध आदि गुण होने लगें। लेकिन बात ऐसी नहीं है! इसी प्रकार जल में अन्धकार का ग्रहण करने से शीतस्पर्श, रस, द्रवत्व आदि गुणों की उपलब्धि होने लगेगी। तेजस् में अन्तर्भाव करने पर

उष्णस्पर्श आदि की उपलब्धि होगी। पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में रहने वाले गुणों का निदर्शन भाषा-परिच्छेद (३०-३४) में किया गया है—

१. **वायु**—स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा वेग नामक संस्कार (९ गुण)।

२. **तेजस्**—स्पर्शादि आठ, रूप, वेग, तथा द्रवत्व (११ गुण)।

३. **जल**—स्पर्शादि आठ, वेग, गुरुत्व, द्रवत्व, रूप, रस तथा स्नेह (१४ गुण)।

४. **पृथिवी**—स्पर्शादि आठ, वेग, गुरुत्व, द्रवत्व, रूप, रस तथा गन्ध (१४ गुण)।

५. **जीवात्मा**—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, भावना नामक संस्कार, धर्म तथा अधर्म (१४ गुण)।

५ क. **ईश्वर**—संख्यादि पाँच, बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न (८ गुण)।

६. **आकाश**—संख्यादि पाँच, शब्द (६ गुण)।

७-८. **काल और दिशा**—संख्यादि पाँच (५ गुण)।

९. **मनस्**—परत्व, अपरत्व, संख्यादि पाँच तथा वेग (८ गुण)।

दूसरे विकल्प में यह कहा गया है कि गुण द्रव्यों में रहता है जब कि अन्धकार में कोई गुण नहीं। फिर अन्धकार को किस आधार पर द्रव्य मानेंगे ? जब द्रव्य ही नहीं तो दशम द्रव्य होने की बात कहाँ से आयेगी ? दरवाजे के भीतर ही आना कठिन है, सभापति होने का स्वप्न कहाँ से देख रहे हैं ?

ननु तमालश्यामलत्वेनोपलभ्यमानं तमः कथं निर्गुणं स्यादिति चेत्—तदसारम्। गन्धादिव्याप्तस्य नीलरूपस्य तन्निवृत्तौ निवृत्तेः।

अथ नीलं तम इति गतेः का गतिरिति चेत्—नीलं नभ इतिवद् भ्रान्तिरेवेत्यलं वृद्धवीवधया। अत एव नारोपितरूपं तमः। अधिष्ठानप्रत्ययमन्तरेणारोपायोगात्। बाह्यालोकसहकारिरहितस्य चक्षुषो रूपारोपे सामर्थ्यानुपलम्भाच्च।

अब आप यह पूछ सकते हैं कि तमालवृक्ष के समान श्यामल-रूप में पाये जाने वाले अन्धकार को आप निर्गुण कैसे कहते हैं ? यह प्रश्न निस्सार है क्योंकि गन्ध, रस आदि गुणों से व्याप्त जो नीलरूप है वह व्यापक (गन्धादि गुणों) के नष्ट होते ही स्वयं भी नष्ट हो जाता है। [जहाँ-जहाँ नीलरूप है

वहाँ-वहाँ गन्ध, रस आदि गुण हैं जैसे प्रियंगु की कलिका आदि। यह व्याप्ति हुई। यहाँ नीलरूप व्याप्य है, गन्धादि व्यापक। व्यापक का यदि अभाव हो तो उस स्थान पर या उस द्रव्य में व्याप्य का भी तो अभाव होगा। अन्धकार में व्यापक (गन्ध, रस, स्पर्श आदि गुण) मिलते ही नहीं, इसलिए व्याप्य अर्थात् नीलरूप भी अन्धकार में नहीं ही है—यह सिद्ध हुआ।]

अब यह पूछा जा सकता है कि [यदि 'नीलरूपं तमः' नहीं कहकर 'नीलं तमः' अर्थात्] अन्धकार नीला होता है, ऐसा कहें तो क्या हानि है ? यह वाक्य ठीक उस वाक्य की तरह भ्रान्तिपूर्ण है जब हम कहते हैं कि आकाश नीला है। [वस्तुतः आकाश शून्य है किन्तु भ्रम से नीला प्रतीत होता है] वृद्धों (भाट्ट मीमांसकों और वेदान्तियों) के दोषों की अधिक आलोचना (वीवधा = दोषालोचन) करना व्यर्थ है।

(२) इसीलिए [श्रीधराचार्य की यह मान्यता कि] 'अन्धकार वह है जिस पर रूप का आरोपण (Imposition) हुआ है' भी ठीक नहीं। [इसीलिए = चूँकि अन्धकार द्रव्य ही नहीं है इसलिए।] कारण यह है कि अधिष्ठान (आधार Substratum) का ज्ञान हुए बिना किसी का आरोपण नहीं किया जा सकता। [रस्सी देखने के बाद ही उस पर साँप का आरोपण होता है, शंख देखने के बाद ही पित्त दोष के कारण उस पर पीतत्व आदि गुणों को आरोपित करते हैं। अन्धकार पर नीलरूप का आरोपण तभी सम्भव है जब कोई आधार हो।] दूसरा कारण यह है कि बाहरी प्रकाश की सहायता जब आँख को नहीं मिलती है तब वह रूप के आरोप में समर्थ नहीं हो सकती। [अन्धकार में कोई प्रकाश तो है नहीं कि आँख उसे देखकर उसपर नील या किसी रूप का आरोप कर सके। बाह्य प्रकाश की सहायता लेने पर ही आँख किसी पदार्थ को पीला, नीला या हरा समझती है, प्रकाशाभाव में किसी भी रूप का आरोप करना उसके लिए नितान्त असम्भव है।]

न चायमचाक्षुषः प्रत्ययः। तदनुविधानस्यानन्यथासिद्धत्वात्। अत एव नालोकज्ञानाभावः। अभावस्य प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वनियमेन मानसत्वप्रसङ्गात्।

अंधकार के ज्ञान को अचाक्षुष (नेत्रेन्द्रिय से असंबद्ध, मानस) ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा तम का ज्ञान होता है, यह विधान निरर्थक (अन्यथासिद्ध) हो जायगा। [भाव यह है कि अन्धकार

का ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय की अपेक्षा रखता है। यह अपेक्षा तब असिद्ध हो जायगी जब हम अन्धकार-ज्ञान को अचाक्षुष मान लेंगे।]

(३) इसलिए (अन्धकार चूँकि चाक्षुषज्ञान से ज्ञेय है इसलिए) आलोक के ज्ञान के अभाव को अन्धकार नहीं कह सकते। यह एक नियम है कि अभाव उसी इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य हो सकता है जो इन्द्रिय उसके प्रतियोगी (विरोधी) का ग्रहण कर सके। इसलिए अभाव मानस ज्ञान है [क्योंकि अभाव का प्रतियोगी यहाँ आलोक-ज्ञान है जिसे मन के द्वारा ग्रहण करते हैं। जिस वस्तु का अभाव होता है वह वस्तु उस अभाव का प्रतियोगी समझी जाती है। अभाव को धर्मी कहेंगे। आलोकज्ञानाभाव धर्मी है, आलोक-ज्ञान प्रतियोगी। जो इन्द्रिय प्रतियोगी का ग्रहण कर सकती है वही धर्मी का भी ग्रहण कर सकती है। आलोकज्ञान चाक्षुष नहीं है, मन के द्वारा ही ग्राह्य होता है इसलिए आलोकज्ञानाभाव भी मानस होगा। यदि मानस है तो अन्धकार का लक्षण आलोकज्ञानाभाव कैसे होगा ? अन्धकार तो चाक्षुष पदार्थ है न ?] इस प्रकार अन्धकार के विषय में प्रभाकर का सिद्धान्त भी समाप्त हुआ।]

(१३. अन्धकार के विषय में वैशेषिक-मत)

तस्मादालोकाभाव एव तमः। न च विधिप्रत्ययवेद्यत्वे-नाभावत्वायोग इति सांप्रतम्। प्रलयविनाशावसानादिषु व्य-भिचारात्। न चाभावे भावधर्माध्यारोपो दुरुपपादः। दुःखा-भावे सुखत्वारोपस्य संयोगाभावे विभागत्वाभिमानस्य च दृष्टत्वात्।

इसलिए प्रकाश का ही अभाव अन्धकार है। यहाँ ऐसा संदेह नहीं किया जा सकता कि अंधकार विधानात्मक (Affirmative) शब्द के द्वारा ज्ञेय है और इसीलिए उसमें अभाव-शब्द का प्रयोग करना ठीक नहीं है। [भावात्मक शब्दों के द्वारा ही अंधकार का बोध कराना ठीक है।] प्रलय (सृष्टि का अभाव), विनाश (सत्ता का अभाव), अवसान (समाप्ति) आदि शब्द यद्यपि अभाव के द्योतक हैं किन्तु इनका प्रयोग विधानार्थक रूप से (जैसे—प्रलयः अस्ति) भी होता है—संदेह करने से इन शब्दों में व्यभिचार (असिद्धि) होगा। [इस प्रकार यह अनुमान गलत हो गया कि जिन शब्दों में नकार का उल्लेख नहीं भाव-रूप ज्ञान के विषय ही हैं। वस्तुतः नञ्_न रहने पर भी अभावार्थ

हो सकता है इसलिए अन्धकार स्वरूपतः भावात्मक होने पर भी अर्थतः अभावात्मक है ।]

ऐसा उदाहरण मिलना कठिन नहीं है कि अभावात्मक पदार्थ (जैसे अन्धकार) पर भावात्मक पदार्थ (जैसे—नीलपुष्प आदि) के धर्मों (जैसे—नीलत्व) का आरोपण हो । दुःख का अभाव होने पर सुखत्व का आरोप देखते हैं तथा संयोग का अभाव होने पर विभाग का बोध होता है । [उसी प्रकार प्रकाशाभाव होने पर अन्धकार का बोध होता है ।]

न चालोकाभावस्य घटाद्यभाववद् रूपवदभावत्वेनालोकसापेक्षचक्षुर्जन्यज्ञानविषयत्वं स्यादित्येषितव्यम् । यद्ग्रहे यदपेक्षं चक्षुः, तदभावग्रहेऽपि तदपेक्षत इति न्यायेनालोकग्रहं आलोकापेक्षाया अभावेन तदभावग्रहेऽपि तदपेक्षाया अभावात् ।

ऐसा भी कहना नहीं चाहिए कि जैसे [रूप से युक्त] घटादि पदार्थों का अभाव, आलोक की सहायता से, आँखों के ज्ञान का विषय होता है (=प्रकाश की सहायता पाकर आँखें देख सकती हैं) उसी प्रकार आलोक का अभाव भी, रूपयुक्त पदार्थ का अभाव होने के कारण, प्रकाशयुक्त आँखों के ज्ञान का विषय होगा । जिस पदार्थ का ग्रहण करने में जिसकी अपेक्षा आँखों को होती है, उस पदार्थ के अभाव का ग्रहण करने के समय भी आँखें उसी की अपेक्षा करती हैं—इस नियम से आलोक का ग्रहण करने में यदि आँखों को किसी दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं रहती है तो आलोक के अभाव का ग्रहण करने के समय भी प्रकाश की अपेक्षा नहीं रहेगी ।

न चाधिकरणग्रहणावश्यंभावः । अभावप्रतीतावधिकरणग्रहणावश्यंभावानङ्गीकारात् । अपरथा, 'निवृत्तः कोलाहलः' इति शब्दप्रध्वंसः प्रत्यक्षो न स्यात्—इति अप्रामाणिकं परवचनम् । तत्सर्वमभिसंधाय भगवान्कणादः प्रणिनाय सूत्रं—'द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः' (वै० सू० ५।२।१९) इति ।

ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि अन्धकार (प्रकाशाभाव) का ग्रहण करने के लिए अधिकरण (स्थान, आधार) का भी ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है,

क्योंकि अभाव की प्रतीति (ज्ञान) के लिए अधिकरण का ग्रहण करना आवश्यक नहीं माना जाता। यदि ऐसा नहीं होता तो 'कोलाहल समाप्त हो गया।' इस वाक्य में जो शब्द (आवाज) का प्रध्वंस समझा जाता है वह प्रत्यक्ष नहीं होता [क्योंकि शब्द का आश्रय आकाश है, वह आकाश प्रत्यक्ष का विषय है ही नहीं—इस तरह शब्द और शब्दाभाव दोनों ही आधार के अप्रत्यक्ष होने के कारण प्रत्यक्षीकृत नहीं होते। किन्तु यह बात लोकसिद्ध है कि दोनों का प्रत्यक्षीकरण होता है। अतः अन्धकार आलोक का ही अभाव है, यह सिद्ध हो गया।] इस प्रकार दूसरे मतवादियों (जैसे—भाट्ट, वेदान्ती आदि) के सिद्धांत अप्रामाणिक हैं।

अतः इन सारी समस्याओं पर विचार करते हुए भगवान् कणाद ने सूत्र लिखा है—'अन्धकार एक अभाव है जो द्रव्य, गुण और कर्म की निष्पत्ति (उत्पत्ति) से विलक्षण होता है।' (वैशेषिक सूत्र ५।२।१९)।

विशेष—अन्धकार की उत्पत्ति और विनाश दोनों होते हैं। इसलिए सामान्य, विशेष और समवाय में तो इसका अन्तर्भाव हो ही नहीं सकता क्योंकि ये पदार्थ नित्य हैं। द्रव्य, गुण और कर्म की उत्पत्ति होती है परन्तु इनमें भी अन्धकार खपाया नहीं जा सकता क्योंकि अन्धकार की उत्पत्ति इनकी उत्पत्ति से बिल्कुल ही भिन्न है। उत्पन्न होनेवाला द्रव्य अवयवों से आरंभ होता है। अंधकार की अनुभूति अकस्मात् ही हो जाती है जब कि प्रकाश का अपसरण होता है। गुण और कर्म की उत्पत्ति द्रव्य को आधार लेकर ही होती है, अन्धकार के साथ ऐसी बात नहीं है।

इस प्रकार निष्कर्ष निकलता है कि अन्धकार अभाव है। परन्तु किसका अभाव ? तो उत्तर होगा कि आलोक का अभाव ही अन्धकार है। अब प्रसंगतः अभाव को सप्तम पदार्थ मानकर इसका विवेचन करना अपेक्षित है।

(१४. अभाव का विवेचन)

अभावस्तु निषेधमुखप्रमाणगम्यः सप्तमो निरूप्यते। स चासमवायत्वे सत्यसमवायः।

संक्षेपतो द्विविधः—संसर्गाभावान्योन्याभावभेदात्। संसर्गाभावोऽपि त्रिविधः—प्राक्प्रध्वंसात्यन्ताभावभेदात्। तत्रानित्योऽनादिमतः प्रागभावः। उत्पत्तिमानविनाशी प्रध्वंसः। प्रतियो-

ग्याश्रयोऽभावोऽत्यन्ताभावः। अत्यन्ताभावव्यतिरिक्तत्वे सति अनवधिरभावोऽन्योन्याभावः।

अभाव निषेधात्मक प्रमाणों से जाना जाता है तथा यह सप्तम पदार्थ माना गया है। अभाव उस पदार्थ को कहते हैं जो समवाय-संबन्ध से रहित होकर समवाय से भिन्न हो। [स्मरणीय है कि द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य और विशेष में समवाय-संबन्ध रहता है। प्रथम विशेषण (असमवायत्वे सति) के द्वारा इन सभी पदार्थों से अभाव के पार्थक्य या व्यावर्तन का प्रदर्शन हुआ है। द्रव्यों का समवाय-संबन्ध अपने पर आश्रित गुणादि के साथ होता है। गुण और कर्म अपने आश्रय द्रव्य के साथ या अपने पर आश्रित सामान्य के साथ समवाय-संबन्ध रखते हैं। सामान्य का भी अपने आश्रयस्वरूप द्रव्य, गुण और कर्म के साथ समवाय-संबन्ध रहता है। विशेष भी किसी से पीछे नहीं। वे आश्रयस्वरूप नित्य द्रव्यों के साथ ही समवाय-संबन्ध रखते हैं। और तो और, अनित्य द्रव्य तक अपने-अपने अवयवों से समवेत रहते ही हैं। समवाय का तो समवाय इसलिए नहीं होता है कि अनवस्था-दोष होगा। 'असमवायत्वे सति' कहने से और पदार्थों की व्यावृत्ति तो हो गई किन्तु समवाय की व्यावृत्ति कैसे हो ? इसलिए साफ कहते हैं कि अभाव समवाय नहीं है (असमवायः)। यदि ऐसा नहीं कहें तो समवाय-पदार्थ में अतिव्याप्ति होगी अर्थात् अभाव का लक्षण समवाय को भी व्याप्त कर लेगा।]

संक्षेप में अभाव दो प्रकार का होता है—संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। [संसर्ग का अर्थ है सम्बन्ध। संसर्ग को प्रतियोगी (विरोधी) मानकर जो निषेध किया जाता है उसे संसर्गाभाव कहते हैं—एक वस्तु में दूसरी वस्तु के सम्बन्ध का निषेध संसर्गाभाव है। प्रागभाव का जो उदाहरण देते हैं कि घटोत्पत्ति के पहले यहाँ घट नहीं था, तो यहाँ मिट्टी के पिंड में घट के सम्बन्ध का ही निषेध होता है। उसी प्रकार प्रध्वंसाभाव के उदाहरण में कहते हैं कि घटनाश के बाद यहाँ घट नहीं है। यहाँ मिट्टी के टुकड़ों में घट के सम्बन्ध का निषेध किया जाता है।' अत्यन्ताभाव के उदाहरण में कहते हैं कि भूतल में घट नहीं है—इसमें भूतल में ही घट के सम्बन्ध का निषेध होता है। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव क्रमशः विनाशशील और उत्पत्तिशील होने के कारण अनित्य हैं। अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव नित्य हैं—उत्पत्ति-विनाश से रहित हैं। संसर्गाभाव जहाँ एक वस्तु में दूसरी वस्तु के सम्बन्ध का निषेध करता है, अन्योन्याभाव एक वस्तु को दूसरी वस्तु मानने का निषेध करता है।

पहले का उदाहरण है—क में ख नहीं है। दूसरे का उदाहरण है—क ख नहीं है।]

संसर्गाभाव तीन तरह का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव। उनमें **प्रागभाव** अनित्य तथा सबसे अधिक अनादि होता है। [अनादितम का अर्थ है वैसा अनादि जिसका आदि हो ही नहीं। यों तो किसी पुराने मन्दिर को देख कर यह कह देते हैं कि यह अनादि काल का है। यहाँ पर यद्यपि मन्दिर अनादि नहीं है, कभी-न-कभी उसका आरम्भ हुआ ही होगा, पर ज्ञान न होने के कारण उसे अनादि कहा करते हैं। प्रागभाव वैसा अनादि नहीं है। घटोत्पत्ति के पूर्व घट का अभाव कब से है, ब्रह्मा भी नहीं बतला सकते, औरों की तो बात ही क्या है ? इस प्रकार प्रागभाव की उत्पत्ति का काल किसी के लिए भी अज्ञेय है।]

प्रध्वंसाभाव वह है जिसकी उत्पत्ति होती है किन्तु जिसका विनाश नहीं होगा। [दूसरे शब्दों में जिसका आरंभ हो किन्तु अन्त नहीं हो वही प्रध्वंसाभाव है। घट के फूट जाने पर अभाव का आरंभ तो हुआ किन्तु इसका अन्त नहीं हो सकता—ब्रह्मा भी घटाभाव की इयत्ता नहीं बतला सकते।] **अत्यन्ताभाव** वह अभाव है जो अपने प्रतियोगी में आश्रय ग्रहण करे। [प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का आश्रय कभी प्रतियोगी (विरोधी) नहीं होता क्योंकि प्रतियोगी (घट) के साथ इनका सम्बन्ध-भेद नहीं होता—हम नहीं कह सकते कि घट में घट का अभाव है (यह उदाहरण अत्यन्ताभाव का होगा जो अनादि और अनन्त होता है)। घटोत्पत्ति के पूर्व जिस समय प्रागभाव रहता है उस समय घटाभाव का प्रतियोगी (घट) नहीं रहता। उसी तरह घटनाश के पश्चात् (प्रध्वंसाभाव के समय में) भी घटाभाव का प्रतियोगी (घट) नहीं रहता है। अन्योन्याभाव में भी यह बात है। घट घटाभाव है—ऐसा हम नहीं कह सकते। केवल अत्यन्ताभाव में ही आश्रय प्रतियोगी होता है। भूतल में घट का अभाव है—इस वाक्य में भूतल आश्रय है, घटाभाव धर्मी जिसका प्रतियोगी घट होता है। अब यह घटाभाव अपने प्रतियोगी में भी रह सकता है—घट में घटाभाव है। कोई पदार्थ अपने में नहीं रह सकता है—घट में घट नहीं रहेगा। अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव का पृथक्करण होता है। अत्यन्ताभाव प्रतियोगी के समानाधिकरण होने पर कभी भी प्रतीत नहीं होता—भूतल में घट की सत्ता होने पर उसमें घटात्यन्ताभाव होता है फिर भी प्रतीत नहीं होता। दूसरी ओर अन्योन्याभाव की प्रतीति प्रतियोगी (घट) के समानाधिकरण होने पर भी होती है। घटयुक्त भूतल में भी घटभेद की प्रतीति होती है। अत्यन्ताभाव के उपर्युक्त

लक्षण में 'अभाव' शब्द नहीं रखें, केवल 'प्रतियोग्याश्रय:' ही कहें तो प्रकाश में अतिव्याप्ति होगी। आकाश के समान सूर्यप्रकाश व्यापक है—इस वाक्य में सादृश्यसम्बन्ध का अनुयोगी प्रकाश है। प्रतियोगी आकाश है। प्रकाश आकाश में आश्रित है अतः यह भी प्रतियोगी में आश्रित होने के कारण अत्यन्ताभाव के लक्षण से ही लक्षित हो जायगा। 'अभाव' कहने से ऐसी समस्या नहीं उठेगी क्योंकि प्रकाश अभाव नहीं है।]

अन्योन्याभाव वह अभाव है जो अत्यन्ताभाव से पृथक् है तथा [कालगत] अवधि से रहित है। [अभाव शब्द का प्रयोग करने से नित्य परमाणुओं तथा आकाशादि भावों में अतिव्याप्ति रोकी जाती है। अनवधि का अर्थ है नित्य।]

ननु अन्योन्याभाव एवात्यन्ताभाव इति चेत्—अहो राजमार्ग एव भ्रमः। अन्योन्याभावो हि तादात्म्यप्रतियोगिकः प्रतिषेधः। यथा घटः घटात्मा न भवतीति। संसर्गप्रतियोगिकः प्रतिषेधोऽत्यन्ताभावः। यथा वायौ रूपसम्बन्धो नास्तीति।

न चास्य पुरुषार्थौपयिकत्वं नास्तीत्याशङ्कनीयम्। दुःखात्यन्तोच्छेदापरपर्यायनिःश्रेयसरूपत्वेन परमपुरुषार्थत्वात् ॥

इति श्रीमत्सायाणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे औलूक्यदर्शनम् ॥



अब यदि कोई यह सोचे कि अन्योन्याभाव ही अत्यन्ताभाव है तो हम कहेंगे कि आप लोगों को राजमार्ग (चौड़ी सड़क) पर भी रास्ता भूलना पड़ रहा है। तादात्म्य के विरोधी प्रतिषेध (Negation) को अन्योन्याभाव कहते हैं जैसे—घट पट की आत्मा नहीं है [यहाँ घट और पट के तादात्म्य (एकरूपता Identity) का प्रतिषेध होता है—घट पट नहीं है, घटात्मा पटात्मा नहीं है।] दूसरी ओर, अत्यन्ताभाव वह प्रतिषेध है जो संसर्ग या सम्बन्ध का विरोध करता है जैसे—वायु में रूप का सम्बन्ध नहीं है [इसका उलटा होगा—'वायु में रूप है', यहाँ सम्बन्ध बतलाया जा रहा है।]

ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए कि यह (अभाव) पुरुषार्थ प्राप्ति का साधन (उपाय) नहीं हो सकता। [तात्पर्य यह है कि छह पदार्थों के तत्त्वज्ञान

से मोक्ष प्राप्त होता है, यह तो सिद्ध है—कणाद ने ही कहा है। परन्तु अभाव के ज्ञान से यह लाभ कहाँ तक हो सकता है ? यही शंकाकार की शंका है, पर यह ठीक नहीं।] दुःख का आत्यन्तिक विनाश होना, जिसे दूसरे शब्दों में निःश्रेयस (मोक्ष) कहते हैं, वही तो परम पुरुषार्थ (Summum bonum) है। [अभाव को पुरुषार्थ का उपयोगी नहीं मानते हैं इसमें कोई क्षति नहीं है। यह अभाव स्वयं ही परम पुरुषार्थ है। दुःख का आत्यन्तिक अभाव ही मोक्ष है। इस प्रकार मोक्ष अभावात्मक शब्द है।]

इस प्रकार सायणमाधव के सर्वदर्शनसंग्रह में औलूक्य-दर्शन [समाप्त हुआ]।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायामौलूक्यदर्शनमवसितम्।



(११) अक्षपाद-दर्शनम्

निःश्रेयसाधिगतिरत्र तु षोडशानां
ज्ञानात्प्रमाणमिह वेत्ति चतुष्टयं यः ।
ईशो जगत्सृजति यस्य मते स्वतन्त्रो
न्यायप्रवर्तकमहामुनये नमोऽस्मै ॥—ऋषिः ।

(१. न्यायशास्त्र की रूपरेखा)

तत्त्वज्ञानाद् दुःखात्यन्तोच्छेदलक्षणं निःश्रेयसं भवतीति समानतन्त्रेऽपि प्रतिपादितम् । तदाह सूत्रकारः—प्रमाणप्रमेये-त्यादितत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः (न्या० सू० १।१।१) इति । इदं न्यायशास्त्रस्यादिमं सूत्रम् ।

हमारे समान ही सिद्धान्तों वाले न्याय-दर्शन (समान-तन्त्र) में कहा गया है कि तत्त्व का ज्ञान हो जाने पर वह निःश्रेयस (मोक्ष) प्राप्त होता है जिसमें दुःखों का आत्यन्तिक (Permanent) उच्छेद (विनाश) हो जाता है (न्या० सू० १।१।२९)। तो सूत्रकार (गौतम मुनि) ने ही कहा है—प्रमाण प्रमेय इत्यादि पदार्थों का तत्त्व जान लेने पर निःश्रेयस की प्राप्ति होती है । यह न्यायशास्त्र का प्रथम-सूत्र है ।

विशेष—वैशेषिकशास्त्र से न्यायशास्त्र के सिद्धान्त बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं इसलिए वे एक दूसरे को समानतन्त्र कहते हैं । तन्त्र = सिद्धान्त । न्यायदर्शन का प्रथम ग्रन्थ न्यायसूत्र है जिसमें पाँच अध्याय हैं । इसके प्रणेता गौतम हैं । गौतम अपने मत के दूषक व्यास (वेदान्त-सूत्रकार) के मुख को अपनी आँखों से न देखने की प्रतिज्ञा कर चुके थे । बाद में व्यास ने हाथ-पैर पड़कर उन्हें प्रसन्न किया तो गौतम ऋषि ने केवल इतनी ही कृपा की कि अपने पैरों में आँखें लगाकर उन्हें देखा । तब से गौतम को लोग अक्षपाद कहने लगे । एक दूसरी किंवदन्ती भी है कि गौतम अपने न्यायशास्त्र की धुन में तर्क करते हुए कहीं जा रहे थे । अन्तरङ्ग में इतने तल्लीन थे कि बहिरङ्ग की सुध-बुध खो बैठे—बस, न देख सकने के कारण एक कुएँ में गिर पड़े । विधाता ने इन्हें निकाला और जिससे रास्ता दिखलाई पड़ सके इसलिए पैरों में भी आँखें दे दीं । इन दोनों

किंवदन्तियों का सार यही है कि नैयायिकों का वेदान्तियों से विरोध है तथा वे अपने शास्त्र में इतना तल्लीन रहते हैं कि बाह्य जगत् का कोई पता नहीं होता।

न्याय-दर्शन नाम पड़ने का कारण वात्स्यायन अपने भाष्य में देते हैं— प्रमाणैर्वस्तुपरीक्षणं न्यायः (१।१।१) अर्थात् प्रमाणों का संग्रह करके उनसे प्रमेय वस्तु की परीक्षा करना न्याय है। न्याय में इन प्रमाणों के स्वरूप तथा वस्तु की परीक्षा-प्रणाली का सम्यक् वर्णन होता है। इसके दूसरे नाम हैं— आन्वीक्षिकी (अनुमान-शास्त्र), तर्कविद्या, वादशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, हेतुविद्या (क्योंकि अनुमान में मुख्य स्थान हेतु का ही होता है) आदि।

न्यायशास्त्रं च पञ्चाध्यायात्मकम्। तत्र प्रत्यध्यायमाह्निकद्वयम्। तत्र प्रथमाध्यायस्य प्रथमाह्निके भगवता गौतमेन प्रमाणादिपदार्थनवकलक्षणनिरूपणं विधाय द्वितीये वादादिसप्तपदार्थलक्षणनिरूपणं कृतम्। द्वितीयस्य प्रथमे संशयपरीक्षणं प्रमाणचतुष्टयाप्रामाण्यशङ्कानिराकरणं च। द्वितीयेऽर्थापत्त्यादेरन्तर्भावनिरूपणम्।

न्यायशास्त्र (गौतमीय न्यायसूत्र) पाँच अध्यायों का है जिनमें प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक (दिन भर का पाठ) हैं। प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक में भगवान् गौतम ने प्रमाणादि नौ पदार्थों के लक्षणों पर विचार करके द्वितीय आह्निक में वाद आदि सात पदार्थों के लक्षणों का निरूपण किया है। द्वितीय अध्याय के प्रथम आह्निक में संशय की परीक्षा करके चार प्रमाणों को अप्रामाणिक मानने वालों की शंकाओं का निराकरण किया गया है। इसी अध्याय के द्वितीय आह्निक में [अन्य दार्शनिकों के द्वारा स्वीकृत अन्य प्रमाणों जैसे] अर्थापत्ति (Implication) आदि का अन्तर्भाव [इन्हीं चार प्रमाणों में] किया गया है।

विशेष - न्यायशास्त्र में सोलह पदार्थों (Categories) के ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति बतलाई गई है। वे पदार्थ गौतमीय न्यायसूत्र के प्रथम सूत्र में ही वर्णित हैं—प्रमाण (Sources of valid knowledge), प्रमेय (Object of valid knowledge), संशय (Doubt), प्रयोजन (Purpose), दृष्टान्त (Familiar instance), सिद्धान्त (Established tenet), अवयव (Members), तर्क (Confutation), निर्णय (Ascertainment), वाद (Discussion), जल्प (Wrangling), वितण्डा (Cavil), हेत्वाभास (Fallacy), छल (Quibble), जाति (Futility) और निग्रहस्थान (Occasion for rebuke)। प्रथम अध्याय में सभी पदार्थों

के लक्षण दिये गये हैं। प्रथम नौ पदार्थ पहले आह्निक में आये हैं, बाद के वादादि सात पदार्थों के लक्षण दूसरे आह्निक में हैं। दूसरे अध्याय में प्रमाणों की परीक्षा करके बाद में तीसरे अध्याय से प्रमेयादि पदार्थों की परीक्षा की गई है। न्याय-शास्त्र में विषय-विवेचन की तीन प्रक्रियायें हैं—उद्देश अर्थात् पदार्थों या उनके भेदों का नाम देना (Enumeration), लक्षण (Definition) और परीक्षा अर्थात् लक्षण का विश्लेषण, विवेचन, प्रामाणिकता आदि पर विचार (Examination)। परीक्षा में विशेषकर कारण और स्वरूप का विचार होता है। द्वितीय अध्याय से ही परीक्षा का क्रम चल पड़ा है।

तृतीयस्य प्रथम आत्मशरीरेन्द्रियार्थपरीक्षणम्। द्वितीये बुद्धिमनःपरीक्षणम्। चतुर्थस्य प्रथमे प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफल-दुःखापवर्गपरीक्षणम्। द्वितीये दोषनिमित्तक(त)त्वनिरूपणमव-यव्यादिनिरूपणं च। पञ्चमस्य प्रथमे जातिभेदनिरूपणम्। द्वितीये निग्रहस्थानभेदनिरूपणम्।

तृतीयाध्याय के प्रथम आह्निक में आत्मा, शरीर, इन्द्रिय और अर्थ की परीक्षा हुई है। इसके द्वितीय आह्निक में बुद्धि और मन की परीक्षा हुई है। चतुर्थाध्याय के प्रथम आह्निक में प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म), फल, दुःख तथा अपवर्ग की परीक्षा हुई है। [इस प्रकार ३ आह्निकों में बारह प्रमेयों (Objects of knowledge) की परीक्षा हुई है।] द्वितीय आह्निक में दोष के निमित्तों* का निरूपण हुआ है (या दोष के निमित्तस्वरूप तत्त्व का निरूपण किया गया है)। साथ ही अवयवी आदि (अवयवी का अवयवों से भेद, परमाणुओं का निरवयव होना, मिथ्योपलब्धि, समाधि, वाद, जल्प और वितण्डा) का निरूपण भी हुआ है। पञ्चमाध्याय के प्रथम आह्निक में जाति के भेदों का निरूपण करके द्वितीय आह्निक में निग्रहस्थान के भेदों का निरूपण हुआ है।

---

* इस स्थान पर कॉवेल ने सुझाव रखा है कि 'दोषनिमित्तकत्व' के स्थान पर 'दोषनिमित्ततत्त्व' ऐसा पाठ होना चाहिए। न्यायसूत्र (४।२।१) की शब्दावली—दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः—देखने से भी यह ठीक लगता है। किन्तु अभ्यंकर का पाठ या कलकत्ता संस्करण का पाठ भी बुरा नहीं; एक ही अर्थ पर पहुँचते हैं।

विशेष—न्यायशास्त्र के सर्वांगीण विकास का बीज न्यायसूत्र में पाया जाता है जहाँ सभी पदार्थों का उद्देश, लक्षण और परीक्षण हुआ है। बहुत दिनों तक इसी रूप में न्यायशास्त्र की रूपरेखा स्थित थी। यों तो सभी दार्शनिकों को विपक्षियों के क्रूर प्रहार से टकराना पड़ा किन्तु नैयायिकों और बौद्धों का संघर्ष भारतीय दर्शन के इतिहास में अमर है। गौतम के आविर्भाव (३०० ई० पू०) के बाद कुछ दिनों तक वृत्तियाँ लिखी जाती रहीं जिन सबों का समावेश करके वात्स्यायन (३०० ई०) ने अपना प्रसिद्ध भाष्य लिखा। दोनों के बीच भी कई आचार्य हो चुके थे किन्तु उनका पता भर ही है, वह भी अनुमान के आधार पर। बौद्धों की ओर से नागार्जुन (१५० ई०) ने न्यायसूत्र का खण्डन किया था जिसका उत्तर वात्स्यायन ने भाष्य में दिया। वात्स्यायन का खण्डन भी बौद्धाचार्य दिङ्नाग (४०० ई०) ने अपने ग्रंथों (प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश आदि) में यथास्थान किया। इनके कुतर्कों का उत्तर देकर न्याय की पुनः प्रतिष्ठा करने वाले भारद्वाज उद्योतकर (५६० ई०) ने न्यायभाष्य पर अपना न्यायवार्तिक लिखा। सुबन्धु ने अपने गद्यकाव्य 'वासवदत्ता' में उद्योतकर का उल्लेख किया है। दिङ्नाग के सुप्रसिद्ध टीकाकार धर्मकीर्ति (६३५ ई०) ने उद्योतकर का भी खण्डन प्रमाणवार्तिक, न्यायबिन्दु आदि ग्रन्थों में किया है—कहीं-कहीं उनके सुझावों के अनुसार अपने पक्ष का परिमार्जन भी किया है। उद्योतकर न्यायशास्त्र तथा बौद्धागम के महान् पंडित थे। बौद्धों के प्रहार से फिर न्याय की रक्षा करने के लिए वाचस्पतिमिश्र (८४१ ई०) ने उद्योतकर के वार्तिक पर तात्पर्य-टीका लिखी। ये मिथिला के निवासी थे, तथा सभी शास्त्रों में इनकी प्रतिभा चमकती थी। तात्पर्यटीका की प्रसिद्धि का एक प्रबल प्रमाण है कि वाचस्पति को 'तात्पर्याचार्य' का ही नाम दे दिया गया। उसके बाद न्यायसूत्रों पर न्यायमञ्जरी नामक वृत्तिटीका लिखने वाले जयन्तभट्ट (८८० ई०) आते हैं जिन्होंने विरोधियों के तर्कों का खण्डन करते हुए प्रबल प्रमाणों से न्यायदर्शन की विवेचना की है। न्यायदर्शन में सबसे अधिक विषयों का विश्लेषण इसी में है। भासर्वज्ञ (९२५ ई०) ने न्यायसार लिखा जिसके विषय भी न्यायमंजरी की तरह के ही हैं। न्यायदर्शन की इस धारा के सबसे बड़े रत्न उदयनाचार्य (९८४ ई०) थे जिन्होंने वाचस्पति की तात्पर्यटीका पर तात्पर्यपरिशुद्धि, ईश्वर की सिद्धि के लिए न्यायकुसुमांजलि* और बौद्धों के

---

* उदयनाचार्य ने भक्त के रूप में ईश्वर का उपालंभ किया है—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे।
पराक्रान्तेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥

खण्डन के लिए आत्मतत्त्वविवेक (या बौद्धधिक्कार)—ये तीन प्रसिद्ध पुस्तकें लिखीं। पिछली दोनों पुस्तकें कई टीकाओं से अलंकृत हैं।

अभी तक न्यायदर्शन में प्रमाण के साथ प्रमेय पर भी विचार-विमर्श हो रहा था। बौद्धों के तर्कों से नैयायिक लोग परेशान हो उठे थे—इसीलिए एक नई धारा चल पड़ी जिसमें प्रमाणों के विश्लेषण तथा बुद्धिवाद पर अधिक जोर दिया गया। सूक्ष्मता के लिए नये प्रकार के शब्दों—जैसे, अवच्छेदक (व्याप्त करने वाला), अवच्छिन्न (व्याप्त), प्रकारतानिरूपित (विशेषण के द्वारा विशिष्ट), निष्ठता (अभेद-संबन्ध) आदि—का प्रयोग होने लग गया। इस भाषा का चाकचिक्य इतना प्रभाव डालने लगा कि न्याय तो न्याय, दूसरे दर्शनों और शास्त्रों में भी इस तरह की भाषा का बेधड़क व्यवहार होने लगा। न्याय की इस धारा को पुरानी धारा से पृथक् करने के लिए नव्य-न्याय कहा गया और गौतम से लेकर उदयन तक को प्राचीन-न्याय की शब्दावली से विभूषित किया गया।

नव्यन्याय के प्रवर्तक गङ्गेश उपाध्याय (११७५ ई०) थे जिन्होंने तत्त्वचिन्तामणि लिखकर प्रमाणशास्त्र का बीज-वपन किया। ये मिथिला के निवासी थे जहाँ न्याय की धूम मच गई। गंगेश के पुत्र वर्धमान ने चिन्तामणि पर 'प्रकाश' नाम की टीका लिखी। इसके बाद से गंगेश के ग्रंथों की टीका ही पाण्डित्य की कसौटी मानी जाने लगी। जयदेव मिश्र (या पक्षधर मिश्र १२७८ ई०) ने तत्त्वालोक-टीका लिखी। नव्यन्याय का प्रसार नवद्वीप (बंगाल) में वासुदेव सार्वभौम (१२७५ ई० ?) ने किया। ये चैतन्य के समकालिक थे तथा इन्होंने तत्त्वचिन्तामणि पर अपनी टीका की थी। इनके बहुत से शिष्य हुए जिनमें रघुनाथ भट्टाचार्य अत्यन्त प्रसिद्ध थे। इन्होंने (१३०० ई०) तत्त्वचिन्तामणि पर तत्त्वदीधिति टीका लिखी जो कालान्तर में स्वतंत्र ग्रन्थ बन गई तथा जिस पर ही टीका लिखना पांडित्य माना गया। मथुरानाथ तर्कवागीश ने आलोक, चिन्तामणि तथा दीधिति पर अपनी टीकायें लिखीं (१५८० ई०)। अंतिम टीका मथुरानाथी के नाम से प्रसिद्ध हुई। ठीक इसी समय जगदीश भट्टाचार्य (१५९० ई०) ने तत्त्वदीधिति पर अपनी टिप्पणी की और जिसकी भी टीका मिथिला के शंकर मिश्र (१६२५ ई०) ने लिखी थी। जगदीश की दूसरी कृति शब्दशक्तिप्रकाशिका है जिसमें शब्दशक्ति पर वैदुष्यपूर्ण विचार दिये गये हैं। गदाधर भट्टाचार्य ने भी तत्त्वदीधिति पर अपनी बृहत् व्याख्या प्रस्तुत की जो सर्वसाधारण में गदाधरीके नाम से प्रचलित है। व्युत्पत्ति-वाद और शक्तिवाद जैसे सुप्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना का श्रेय भी इन्हीं को प्राप्त

है। इस प्रकार न्यायशास्त्र के प्रमुख आचार्यों और ग्रन्थों का उल्लेख किया जा सकता है।

(२. प्रमाण का विचार)

मानाधीना मेयसिद्धिरिति न्यायेन प्रमाणस्य प्रथममुद्देशे तदनुसारेण लक्षणस्य कथनीयतया प्रथमोद्दिष्टस्य प्रमाणस्य प्रथमं लक्षणं कथ्यते—साधनाश्रयाव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमाव्याप्तं प्रमाणम्।

प्रमाण के अधीन प्रमेय की सिद्धि होती है (=प्रमाण का विचार करने पर ही प्रमेय का विचार होता है)—इस नियम के अनुसार प्रमाण का प्रथम उल्लेख किया है। चूँकि उद्देश (नामग्रहण) के बाद लक्षण का विचार करना चाहिए इसलिए प्रथम उल्लिखित प्रमाण का ही लक्षण पहले कहा जाता है—प्रमाण वह है जो साधनों (यथार्थ अनुभव के साधन जैसे आँख, कान, नाक, बुद्धि) तथा आश्रय (यथार्थ अनुभव के आश्रय अर्थात् आत्मा) से व्यतिरिक्त (पृथक्) न हो और जो प्रमा (यथार्थ अनुभव) के द्वारा व्याप्त भी हो। [यथार्थ अनुभव को प्रमा कहते हैं जैसे पीत का ज्ञान पीतरूप में होना, नीलरूप में नहीं। प्रमा का करण प्रमाण है अर्थात् जिससे (जिस साधन से) यथार्थ अनुभव हो। प्रमा का साधन प्रमा से नित्य संबद्ध रहेगा ही—वही प्रमाण है। प्रमा का आश्रय परमेश्वर भी नित्यसंबद्ध है किन्तु दूसरा आश्रय जीव नित्य-संबद्ध नहीं होता, उसे भ्रम हो सकता है। इसकी व्यावृत्ति के लिए 'प्रमाव्याप्त' पद रखा गया है जिससे जीव से पृथक् न रहने पर भी प्रमाण को यथार्थ अनुभव से नित्य-संबद्ध रहना अनिवार्य है। इससे परमेश्वर की प्रामाणिकता भी सिद्ध होगी क्योंकि वही सबसे अधिक आप्त (विश्वसनीय) है।]

एवं च प्रतितन्त्रसिद्धान्तसिद्धं परमेश्वरप्रामाण्यं संगृहीतं भवति। यदचकथत् सूत्रकारः—मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् (न्या० सू० २।१।६८) इति। तथा च न्यायनयपारावारपारदृश्वा विश्वविख्यातकीर्तिरुदयनाचार्योऽपि न्यायकुसुमाञ्जलौ चतुर्थे स्तवके—

१. मितिः सम्यक्परिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमातृता।
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते॥ (४।५) इति।

इस प्रकार ही प्रतितन्त्र-सिद्धान्त (केवल एक तन्त्र या शास्त्र में प्रचलित सिद्धान्त) से जो परमेश्वर की प्रामाणिकता सिद्ध की जाती है उसका संकलन भी होता है। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—'जिस प्रकार मन्त्रों की और आयुर्वेद की प्रामाणिकता [आप्त प्रमाण से] सिद्ध होती है उसी प्रकार उस (परमेश्वर) की प्रामाणिकता भी यथार्थवक्ता (आप्त) की प्रामाणिकता से सिद्ध होती है' (२।१।६८)। [मन्त्रों से विषादि का निवारण होता है तथा आयुर्वेद-शास्त्र से उचित औषधियों का परिज्ञान होता है। इनकी प्रामाणिकता इनके उपदेशकों पर आधारित है क्योंकि वे आप्त अर्थात् यथार्थ का ज्ञान कराने वाले ऋषि हैं। ये इसलिए आप्त हैं कि इन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया है, जीवों पर दया की भावना से प्रवृत्त हैं तथा अपने सत्यज्ञान को मानवों तक पहुंचाते हैं। जैसे मन्त्र और आयुर्वेद की बातों पर विश्वास करते हैं। उसी प्रकार आप्त के उपदेश पर विश्वास करना चाहिए। यह सूत्र वेद की सत्ता के विषय में सूचना देता है कि वेद के द्रष्टा मन्त्रों और आयुर्वेद के भी लेखक हैं अतः वेद की प्रामाणिकता भी उसी विश्वास के साथ माननी चाहिए। इसलिए यह अभिप्राय निकलता है कि सर्वाधिक आप्त (Reliable) परमेश्वर की प्रामाणिकता भी सूत्रकार को अभीष्ट है।]

इसी ढंग से न्यायमार्ग-रूपी समुद्र के पार तक देखने वाले तथा विश्व भर में विख्यात कीर्ति वाले उदयनाचार्य भी न्यायकुसुमांजलि के चतुर्थ स्तबक (गुच्छ, अध्याय) में कहते हैं—'सम्यक् रूप से (यथार्थ रूप में) ज्ञान प्राप्त कर लेना (परि च्छत्तिः) मिति (यथार्थ ज्ञान) है। उससे (प्रमा से) युक्त प्रमाता (यथार्थ वक्ता) होता है [उस प्रमा से युक्त होना ही प्रमाता बनना है।] उस (मिति या प्रमा) से सम्बन्धाभाव (अयोग) न रहना (व्यवच्छेद) अर्थात् मिति से आवश्यक सम्बन्ध रहना ही गौतम के अनुसार प्रामाण्य (प्रामाणिकता Authority) है।' (न्यायकुसुमांजलि ४।५)।

विशेष—प्रतितन्त्रसिद्धान्त का लक्षण न्यायसूत्र में इस प्रकार दिया गया है—'समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः' (१।१।२९) अर्थात् जो समानतन्त्र में माना जाय, किन्तु दूसरे तन्त्र में स्वीकृत न हो वह प्रतितन्त्र-सिद्धान्त कहलाता है। शब्द को अन्तिम मानना या परमेश्वर को प्रमाण मानना, ये प्रतितन्त्र सिद्धान्त हैं। समानतन्त्र अर्थात् वैशेषिक दर्शन में इन्हें मान्य ठहराते हैं किन्तु परतन्त्र में जैसे मीमांसा-दर्शन में इन्हें अस्वीकृत किया गया है।

उदयनाचार्य के विषय में व्यक्त किये गये माधवाचार्य के प्रशंसात्मक उद्गार बड़े प्रेरक हैं। पारदृश्वा—पार + √दृश् + क्वनिप् = पारं दृष्टवान् (जो पार

तक देके हुए हो)। देखिये—अ० सू० ३।२।९४ दृशेः क्वनिप्। न्यायकुसुमांजलि में पाँच स्तवक हैं।

२. साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ
भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रमः।
लेशादृष्टिनिमित्तदुष्टिविगमप्रभ्रष्टशङ्कातुषः
शङ्कोन्मेषकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः॥
(न्या० कु० ४।६) इति।

तच्चतुर्विधं प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात्।

'मेरे लिए तो वे शिव ही प्रमाण हैं; सिद्ध पदार्थों के विषय में जिन (शिव) का अनुभव प्रत्यक्ष रूप से होता है, नित्य के साथ युक्त है (क्षणिक नहीं है) तथा किसी भी दूसरे साधन की अपेक्षा नहीं रखता; इस प्रकार के अपने अनुभव में जिन्होंने सभी (निखिल) वर्तमान (प्रस्तावी = प्रस्तुत) वस्तुओं का उत्पादनादि क्रम स्थिर कर लिया है; लेशमात्र भी [पदार्थों के] न दिखलाई पड़ने देने वाले (अदृष्टि-निमित्त) दोषों को दूर हटाकर, जिन्होंने शंका-रूपी भूसों को भस्मीभूत कर दिया है। शंकाओं की उत्पत्ति से कलंकित दूसरे प्रमाणों से क्या लाभ है ?' (न्यायकुसुमांजलि ४।६)। [ईश्वर का ज्ञान प्रत्यक्ष ही है—सारे पदार्थों का वे साक्षात्कार करते हैं। यह साक्षात्कार भी मनुष्यों के ज्ञान की तरह क्षणिक नहीं, प्रत्युत नित्य है। अन्त में, ईश्वर को ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी भी बाह्य-साधन की अपेक्षा नहीं पड़ती। हमलोग भी कुछ वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं, योगी लोग अपने योग-बल से ही यह संभव कर दिखाते हैं। उन परमेश्वर के विषय में क्या कहना जिनकी शक्ति अचिन्तनीय है ? सृष्टि के आरम्भ में पहले के कल्प में जो-जो पदार्थ सिद्ध थे उनकी केवल कल्पना करके ही ईश्वर देखना आरम्भ करते हैं और उधर वे पदार्थ तैयार होने लगे ! पुरुषसूक्त में 'यथापूर्वमकल्पयत्' के द्वारा इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है। उन ईश्वर के ज्ञान में ही सारे पदार्थों की उत्पत्ति आदि का क्रम (Order) निहित है। सारा संसार ही ज्ञानमय (Spiritual, idealistic) है। इन पदार्थों की स्थिति या क्रम के विषय में हम लोग अपने अज्ञानवश नाना प्रकार की शंकायें करते रहते हैं किन्तु मूल वस्तु को नहीं समझ सकने के कारण ही ऐसा होता है। परोक्ष ज्ञान में तो शंकायें होती ही हैं, प्रत्यक्ष ज्ञान में भी पूर्ण रूप में वस्तु का ज्ञान न होने के कारण किसी एक अंश के अदर्शन से अनेक प्रकार की विपरीत भावनायें चली आती हैं। ये दोष परमेश्वर से सर्वथा

पृथक् रहते हैं। अपने ज्ञान-पवन से ईश्वर इन शंका-तुषों को उड़ा कर कहाँ से कहाँ ले जाते हैं। शंकाओं से दूसरे प्रमाण कलंकित हैं, कोई न कोई शंका उन प्रमाणों को धर ही दबाती है। इसलिए अन्त में उदयन निष्कलंक शिव को ही प्रमाण मानते हैं।]

यह प्रमाण चार प्रकार का है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

विशेष – प्रमाणों की संख्या के विषय में प्रायः सभी दर्शनों में कुछ-न-कुछ विचार किया गया है। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष (Perception) को ही प्रमाण मानते हैं। जैन और बौद्ध प्रत्यक्ष के साथ अनुमान (Inference) को भी प्रमाण मानते हैं। वैशेषिकों के लिए भी प्रमाण ये ही हैं। माध्व लोग (द्वैतवादी) प्रत्यक्ष और शब्द (Testimony) को लेते हैं। रामानुजीय, पातंजल तथा जरन्नैयायिक (प्राचीन नैयायिक) प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द से संतुष्ट हैं। दूसरे नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान (Comparison) तथा शब्द को प्रमाण मानते हैं। माहेश्वर दार्शनिक भी यही कहते हैं। इनके साथ अर्थापत्ति (Implication) को लगाकर गुरु-मीमांसक पाँच प्रमाण तथा अभाव को भी मिलाकर छह प्रमाण मानने वाले भाट्ट-मत के मीमांसक एवं अद्वैतवादी लोग हैं। सम्भव (Possibility) तथा ऐतिह्य (Tradition) को भी मिलाकर आठ प्रमाण मानने वाले पौराणिक लोग हैं। तान्त्रिक लोग चेष्टा (Activity) को भी प्रमाण मानकर संख्या नौ तक पहुँचा देते हैं। यहाँ पर नैयायिकों के प्रमाणों को समझ लेना अपेक्षित है—

१. **प्रत्यक्ष**—जो ज्ञान इन्द्रियों और पदार्थ के संनिकर्ष से उत्पन्न होता है तथा भ्रम से रहित (अव्यभिचारी) होकर नाम लेने योग्य (व्यपदेश्य) न हो तथा निश्चयात्मक हो। जब हम आँखों से घट का ज्ञान प्राप्त करते हैं तब यह शुद्ध ज्ञान है; ज्ञान के समय घट शब्द का कोई प्रयोजन नहीं क्योंकि ज्ञान अशाब्द अर्थात् निर्विकल्पक है। दूसरे, प्रत्यक्ष ज्ञान निश्चयात्मक होता है, दूर से देखकर किसी पदार्थ को धूम या धूल मानने की भूल होने पर उसे प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कहेंगे। कुछ निश्चय होने पर ही उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कह सकते हैं। वात्स्यायन इन्द्रियों के साथ वस्तु के सन्निकर्ष का तथ्य निरूपित करते हुए कहते हैं कि आत्मा का संबन्ध मन से होता है, मन का इन्द्रियों से और इन्द्रियों का वस्तुओं से। तभी प्रत्यक्ष होता है। किन्तु यह प्रक्रिया कारण का अवधारण (Determination) करना है—विशिष्ट कारण तो इन्द्रिय-विषय-संयोग ही है। प्रत्यक्ष में छह प्रकार के संनिकर्ष हुआ करते हैं। चूंकि प्रत्यक्ष का साधन इन्द्रिय है इसलिए इन्द्रिय को ही प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। निर्विकल्पक और सविकल्पक के भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। निर्विकल्पक में प्रकार या विशेषण का ज्ञान